stamped on the [illegible] book before taking it out. You will be responsible for any damage done to the book and will have to replace it, if the same is detected at the time of return.

books. A fine of 5 P. for general books, 25 P. for text books and Re. 1-00 for over-night books per day shall be charged from those who return them late.

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

नवम भाग

हिंदी साहित्य का परिष्कार

द्विवेदी काल : (सं० १९५०–१९७५ वि०)

संपादक

सुधाकर पांडेय

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०३४ वि०

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०३४ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, २६०० प्रतियाँ, सं २०३४ वि०

मूल्य : ४५.००

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चित ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से ही साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जन-जीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसीलिये, इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले पचास वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाए।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित ही है। लोककथाओं और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों

के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते । इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेक पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो । साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी ।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा । काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ ।

नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १९०१ ई० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। इस क्षेत्र में धीरे धीरे अतुल सामग्री का भांडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोजनिरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने मिश्रबंधु विनोद में सन् १९१० ई० तक उपलब्ध सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सां द तासी (सं० १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३४ वि०), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (सं० १९४६ वि०), एफ० ई० की (सं० १९७७) द्वारा क्रमशः हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास, शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान, ए हिस्ट्री ऑव द हिंदी लिटरेचर प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और मिश्रबंधु विनोद की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के रूप में सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। वह इतिहास अपने गुणधर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अबतक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है, तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से से आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में १९९६ वि० तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया, हिंदी का भी प्रसार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रताप्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी शब्दसागर और हिंदी विश्वकोश के साथ ही हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रस्तुत करने की भी योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति तथा इस योजना के प्रधान संपादक स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्त रूप

ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संघटन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपये २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमें विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन भी होता रहा। प्रत्येक विभाग के अलग अलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत् इतिहास का पहला खंड सं० २०१४ वि० में, छठा खंड २०१५ में सोलहवाँ खंड २०१७ में, दूसरा और तेरहवाँ खंड २०२२ में, चौथा खंड २०२५ में, चौदहवाँ खंड २०२७ में, दसवाँ खंड २०२८ में, सातवाँ खंड २०२९ में, आठवाँ खंड २०३० में और पाँचवाँ खंड २०३१ में प्रकाशित हो गए। अब यह नवाँ खंड प्रकाशित हो रहा है। शेष खंडों का कार्य भी आगे बढ़ रहा है। उनके लेखन और संपादन में विद्वान् मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं। इस योजना पर अब तक ४, २०, ४२६ रुपया व्यय हो चुका है जिसमें से मध्य प्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तर प्रदेश और केंद्रीय सरकारों ने १ लाख ७६ हजार ६ सौ रुपए के अनुदान दिए हैं। शेष २, ४३. ८३६ रुपए सभा ने इसपर व्यय किए हैं और आगे व्यय करती जा रही है। यदि सरकार ने सहायता न की तो योजना का आगे संचालन कठिन होगा। देश के व्यस्त तथा निष्णात् लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। पर इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अतिव्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। लगभग दो दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों और लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया था। किंतु ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें अब और अधिक विलंब न हो। संवत २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे और इसके पश्चात् सं० २०२० तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया और इसके लिये एक संपादकमंडल गठित किया गया जिसके प्रधान महामहिम डा० संपूर्णानंद जी थे। अब इसके सदस्य निम्नलिखित हैं :

श्री डा० वेणीशंकर झा

श्री डा० हरवंशलाल वर्मा

श्री डा० नगेंद्र

श्री करुणापति त्रिपाठी

श्री डा० विजयपाल सिंह

श्री डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय

श्री डा० वासुदेव सिंह—संपादन सहायक

श्री पं० सुधाकर पांडेय—संयोजक

इस योजना का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित है :

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय (प्रकाशित)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास (१४०० वि० तक)	तृतीय	पं० करुणापति त्रिपाठी डा० भोलाशंकर व्यास
भक्तिकाल (निर्गुण) १४००—१७०० वि०	चतुर्थ (प्रकाशित)	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुण) १४००—१७०० वि०	पंचम (प्रकाशित)	डा० दीनदयाल गुप्त डा० देवेंद्रनाथ शर्मा डा० विजयेंद्र स्नातक
रीतिकाल (रीतिबद्ध) १७००—१९०० वि०	षष्ठ (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
रीतिकाल (रीतिमुक्त)	सप्तम (प्रकाशित)	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदु काल १९००—५० वि०)	अष्टम (प्रकाशित)	डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल १९५०—७५ वि०)	नवम (प्रकाशित)	पं० सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (काव्य १९७५—९५ वि०	दशम (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र, डा० अंचल, पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष नाटक १९७५—९५ वि०)	एकादश (प्रकाशित)	डा० सावित्री सिनहा, डा० दशरथ ओझा, डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (कथा साहित्य १९७५—९५ वि०)	द्वादश	डा० कल्याणमल लोढ़ा, श्री अमृतलाल नागर
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष समालोचना, निबंध, पत्रकारिता (१९७५—९५ वि०)	त्रयोदश (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

हिंदी साहित्य का अद्यतन काल (सं० १९९५ वि० से २०१७)	चतुर्दश (प्रकाशित)	डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० कैलाशचंद्र भाटिया
हिंदी में शास्त्र और विज्ञान	पंचदश	श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर', डा० गोपाल शर्मा
हिंदी का लोक साहित्य	षोडश (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, डा० कृष्णदेव उपाध्याय

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

१—हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३—साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभाव-ग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, तिरोभाव, अंतर्भाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जाएगा।

४—संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके; ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जाएगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे।

५—हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जाएगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी—

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।

ख—दार्शनिक।

ग—सांस्कृतिक।

घ—समाजशास्त्रीय।

ङ—मानववादी, आदि।

च—विभिन्न राजनीतिक और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विचार के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। संपादकमंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा।

पद्धति—

६—प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उसके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निर्देशन किया जायगा।

७—तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

८—प्रत्येक निष्कर्ष के लिए प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

९—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा : संकलन, वर्गीकरण समीकरण (संतुलन), आगमन आदि।

१०—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

११—प्रत्येक अध्याय के अंत में संदर्भग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

१२—संपादकों के यहाँ से विभिन्न भागों की संपादित पांडुलिपियाँ आने पर प्रधान संपादक को अथवा जिन्हें सभा निश्चित करे, उन्हें दिखा दी जाया करेंगी। भली भाँति देख परख लेने पर ही लेखन और संपादन के पुरस्कारों का भुगतान किया जाया करेगा। एतदर्थ प्रति भाग २५०) रु० तक का व्यय स्वीकार किया जायगा।

१३—सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति इतिहास में अवश्य होनी चाहिए।

१४—बृहत् इतिहास पर लेखकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ ६) रु० की दर से और संपादक को प्रति मुद्रित पृष्ठ १) रु० की दर से पुरस्कार दिया जायगा।

१५---किसी भाग में संपादक यदि अपने भाग के किसी अंश के लेखक भी होंगे तो उन्हें अपने लिखे अंश पर केवल लेखन पुरस्कार दिया जायगा, संपादन पुरस्कार (उतने अंश का) पृथक् से न दिया जायगा।

१६---बृहत् इतिहास के लेखकों और सभा के बीच परस्पर अनुबंध होगा जिसमें यह भी उल्लेख रहेगा कि इतिहास की पुरस्कृत सामग्री पर सभा का स्वत्व सदा सर्वदा और सर्वत्र के लिये होगा तथा उसका उपयोग आवश्यतानुसार करने के लिये सभा स्वतंत्र रहेगी।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात् विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का तो सहयोग सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों---डा० पांडेय और डा० शर्मा---के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा, स्व० पं० गोविंदवल्लभ पंत तथा स्व० डा० संपूर्णानंद की स्मृति जाग उठती है। जीवनकाल में निष्ठापूर्वक इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है। विश्वास है, उनके आशीर्वाद से यह योजना सन् १९७८ तक अवश्य पूरी हो जाएगी।

अबतक प्रकाशित इतिहास के खंडों को, त्रुटियों के बावजूद, हिंदी जगत् का स्नेह और आदर मिला है। मुझे विश्वास है, आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता और विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के लेखक हिंदी के अधिकारी विद्वान् हैं। उनका मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा किया। संपादकमंडल के संपादन सहायक, काशी विद्यापीठ के प्राध्यापक श्री डा० वासुदेव सिंह की तत्परता, कुशलता और निष्ठा के भी हम आभारी हैं। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवं हितैषियों के प्रति सभा अनुगृहीत है और विश्वास करती है, उन सबका सहयोग इसी प्रकार उसे निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पाडेय
संयोजक
बृहत् इतिहास उपसमिति, तथा
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

१ जनवरी, १९७८

विषयसूची

प्रथम अध्याय

द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि

आधुनिक भारत में सन् १८५७ का विद्रोह जन आकांक्षाओं की प्रतिष्ठा का तथा जीवन की चेतना के नए भावलोक की स्थापना का श्रीगणेश था। इस महासंघर्ष में सत्ता का जहाँ तक संबंध है वह अंग्रेजों को पूर्णतः प्रतिष्ठित करने में सहायक हुई किंतु यह पराभूत जनता की आकांक्षा के स्वप्नों को चरितार्थता की दिशा में ले जाने का प्रेरणामंत्र भी बनी। देश ने १८५७ की असफलता के शव पर जनमानस की सिद्धि के लिये शवसाधना की।

यह देश सहस्राब्दियों से सभ्य रहा है। इसकी अपनी अजेय संस्कृति रही है क्योंकि धरती के धर्म को और काल के मर्म को पहचानने की भारत की दृष्टि सनातन होते हुए भी आधुनिक और आधुनिक होते हुए भी परंपरागत है। देशकाल को अतीत की विभूति से वैभवमय बनाने की ऊर्जा भारतीय प्रगतिचेतना का प्राण है। १८५७ में ही नहीं, देश अनेक बार गिरा है और संज्ञाशून्य हुआ है किंतु काल को जीतने की उसकी मृत्युंजयी शक्ति कभी संकल्पहीन नहीं हुई। यह विकल्प और विसंगतियों का देश नहीं है, संगतियों और समुद्रमंथन का देश है। इस देश के लोग जहर पीकर उसे अमृत के रूप में लुटाते हुए लोक को जीवनी शक्ति और हमारी चेतना के विकास के इतिहास को अनंतता प्रदान करते हैं। काल यदि अनंत है तो जीवन का भी अंत नहीं। इन दो अनंतताओं का योग भारतीय जीवन सदा से करता आया है और जहाँ इसमें विशृंखलता हुई है वहीं हम पराभव देखते रहे हैं। केवल भौतिक योग को ही जीवन का चरम साध्य हमारे यहाँ नहीं माना गया है अपितु अंतर की एकता और मानव की अखंडता को ही उपासना का सद्धर्म माना गया है। अंधकार में चिरंतन प्रकाश का मंत्र ही इस आर्जव से प्रदीप्त किया जाता है। ऐसे लोगों की कमी नहीं रही है जो भौतिक सुख लिप्सा को ही जीवन का चरम साध्य मानते रहे हैं और शक्ति तथा सत्ता के सेवक के रूप में आत्मविस्तार की लीला को जीवन की चरम उपलब्धि समझते रहे हैं। ऐसे लोगों का विस्तार जब समाज में होता है और वे बिजली की तरह कौंधने लगते हैं, तब भले ही लोक पर दुर्दिन की घटाएँ मँडराएँ किंतु शरद और वसंत की आभा को ही लोक की मर्यादा प्राप्त होती है। इसीलिये इस देश में राजा, महाराजा या सम्राट् के संमुख नहीं, इस देश का जनमानस साधु संतों, महात्माओं और साहित्यकारों

के संमुख झुकता रहा है जो समाज का विष पीकर अमृत का दान करते रहे हैं। यह जीवनपद्धति भारत की अपनी है।

ब्रिटिश शासन एवं पश्चिमी प्रभाव

अभी तक भारत का संपर्क जिन लोगों से हुआ था वे बाहर से आने के बाद भी, सत्ता प्राप्त हो जाने पर इसी धरती के पुत्र बन गए थे। इन धरापुत्रों का घर-द्वार, आँगन और अंतः सब कुछ यहाँ की विभूति से रंजित हुआ। विविधता में एकता की भारतीय जीवनधारा में वे भी उसी प्रकार रम गए जिस प्रकार यहाँ के मूल निवासी। किंतु, ब्रिटिश शासन ऐसे विजेता का शासन था जो संसार में अपनी शक्ति और प्रतिभा के कारण अनन्य आकर्षण और शक्ति के केंद्रपीठ के रूप में अभिनंदित और प्रतिष्ठित था। उन्होंने विश्व के रंगमंच पर शताब्दियों तक शक्ति और बुद्धि की क्रीड़ा की थी और अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी। विज्ञान और परंपरा के वे धनी थे। प्रकृति का रहस्य जानकर उसका दोहन शक्ति के विस्तार के लिये करने में वे सफल हुए थे। वे सेवा के लिये शासक नहीं बने थे, धन दोहन उनका मूल ध्येय था। किंतु इसके लिये सत्ता का केंद्र शासन को बनाकर उन्होंने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने का चिरंतन प्रयत्न किया। उनकी अपनी कार्यप्रणाली और जीवनपद्धति थी, वे कोरे वैज्ञानिक या सत्तावादी व्यक्ति ही नहीं थे। आत्मविस्तार के लिये धर्म और संस्कृति का प्रसार भी वे आवश्यक मानते थे। उन्होंने अनेक राष्ट्रों को अपने रंग में रँग लिया था और यह रंग धर्म और संस्कृति का था। वे केवल शोषणशक्ति में ही अपने को महान् नहीं मानते थे अपितु धर्म, संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में भी वे अपने को महान् मानते थे। वे उच्चासन पर आसीन थे किंतु अपनी शक्ति और सत्ता को स्थायी बनाने के लिये देश के मनोभावों को अपने रंग में रँगना चाहते थे। रंजन की यह कला इस देश में भी व्यापक विस्तार की भूमिका बने, इसके लिये भी वे संनद्ध थे। जो शासन में होता है सुलभ स्वार्थ उसके लिये सहज आकर्षण पैदा कर देता है। इसलिये ईसाई मिशनरियों के माध्यम से, शिक्षा के विस्तार से, यंत्रीकरण की वैज्ञानिकता से अंग्रेज, देश के मानस को भी ब्रिटेन के तेज का स्थायी भारवाहक बनाने का यत्न कर रहे थे। और भारत के लोगों को वे मानव और अपनी समानता की दृष्टि के विलोम में, द्वितीय कोटि की नागरिकता प्रदान कर रहे थे। भारत के लोगों को पहली बार यह अनुभव हुआ कि वे उनसे शासित हैं जो सात समुंदर पार रहते हैं और उनके अमला-फैला जो चाहे सो कर सकते हैं; उसे अस्वीकार करने का अर्थ था दंड, प्रतारणा, उत्पीड़न, और प्रपीड़न।

नव जागरण

भारत के लोग यह जानते थे कि उनका पतन क्यों हुआ है। साक्षरता विवेक

की रचना में सहायिका हो सकती है, किंतु निरक्षर भी विवेकशील हो सकता है और उसका विवेक अधिक प्रभावपूर्ण और प्रभावशाली हो सकता है, ऐसा अनुभव इतिहास में बिखरा पड़ा है। भारत के लोग साक्षर भले ही न रहे हों किंतु सदा से विवेकी रहे हैं और मूल्यों का मर्म समझते हैं। केवल आर्थिक और काम जगत् के मूल्य उनके नियामक नहीं रहे हैं अपितु वे इनका संचालन भी धर्म और मुक्ति की दृष्टि से करते रहे हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय का योग ही भारत की कर्मभूमि की पीठिका का आधार स्तंभ है। तब तक सिद्धि की परिकल्पना भारत की मनीषा नहीं कर सकती जब तक कि इन चारों की यौगिक उत्पत्ति से जीवन का संचालन न हो। फूट, परस्पर द्वेष, घृणा, सत्ता का लोभ, ज्ञान विज्ञान की कमी भारत के पराभव का कारण बनी थी और उन्होंने ऐसी प्रथाओं को जन्म दिया था जिनके कारण देश पराभूत हुआ था। इनके मर्म के अंतर तक भारत की मनीषा पहुँच चुकी थी और यह देश अपने इन मूल्यों की स्थापना के लिये व्याकुल था जिनके कारण यह मुक्त और विराट् रहा है। सन् १८५७ के विप्लव ने उन मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिये राष्ट्रीय मंच की नींव रखी।

भारतभूमि मानव और धरती माता की उपासना की लीलाभूमि रही है। यहाँ भारतमाता की प्रतिष्ठा जनमानस में आरंभ हुई, विवेक ने इसे रूप दिया, ज्ञान ने इसे तेज दिया और संगठन ने इस रूप को विस्तार दिया। ब्रिटेन एक राष्ट्र था और संसार के अन्य राष्ट्रों पर उसने अपनी शक्ति के द्वारा आधिपत्य स्थापित किया, यह बात भारत के लोग समझने लगे थे और जिसे अंग्रेज उपनिवेश मानता था उसे हम अपनी माता मानने लगे। माँ की रक्षा का भार देश ने उठाने का संकल्प किया और उस संकल्प का उद्घोष सन् १८५७ के विप्लव से हुआ।

सन् १८५७ की क्रांति का प्रभाव

सन् १८५७ के विप्लव ने जहाँ विश्व को हमारी मनीषा का पता बताया वहीं ब्रिटिश सरकार अपनी शक्ति को स्थायी और साम्राज्य को अनंतकाल तक स्थापित करने के लिये सजग रही। ब्रिटेन केवल दस बीस वर्षों की फौजी शक्ति के कारण भारत पर हावी नहीं हुआ था। सैकड़ों वर्ष तक वह भारत की भूमि पर यहाँ का अध्ययन मनन करने के उपरांत यहाँ पर शासनारूढ़ हुआ था। योरोप के लोग व्यापारी होकर आए थे और यहाँ पर पुर्तगाल, फ्रांस आदि विश्व की जो शक्तियाँ थीं, सबको पराभूत कर ब्रिटेन सस्थित हुआ था। भारत के लोग कितने जुझारू और कितने दृढ़व्रती हैं, इसका उन्हें बोध था। किंतु, वे नहीं जानते थे कि बिखराव की धूल भस्म बन जायेगी और प्रत्येक ध्वंस, नाश और अंधकार में भी निर्माण और प्रकाश की सत्ता छिपी रहती है। इसीलिये १८५७ के बाद साम, दाम, दंड, भेद की नीति वे अपनाने लगे थे। संकल्प के धनी अंग्रेज लोग अपने उद्देश्य पर अधिक

रहे किंतु शोषण के विकल्प के प्रासाद की रचना वे करते रहे, धर्म के द्वारा आत्म-विस्तार की उनकी नीति चलती रही, किंतु वह उतनी सफल नहीं हो पाई जितनी कि वे अपेक्षा करते थे। स्वार्थी, अपढ़, अज्ञानियों और दलितों को वे धर्म के रंग में परिवर्तित करने में एक सीमा तक ही सफल हो पाए, क्योंकि इस क्षेत्र में जिस संस्कृति से वे संघर्ष कर रहे थे वह उनसे कम जीवंत और पुरानी नहीं थी. फलत: इस उपाय के साथ ही सत्ता को और शोषणवृत्ति को दृढ़ करने के लिये विज्ञान का सहारा लिया गया। देश में यातायात के साधन वे दुरुस्त और चुस्त करने लगे ताकि उनके माध्यम से जहाँ एक ओर धन के दोहन का काम हो सके वहीं दूसरी ओर सेना और फौज आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सके। रेल्वे लाइन देश में बिछाई जाने लगी, तार और डाक की व्यवस्था का विस्तार किया जाने लगा। शासन को अधिक व्यापक भित्ति और दृढ़ आधार दिया जाने लगा। इसमें संदेह नहीं कि इन कार्यों के माध्यम से उन्होंने अपनी शक्ति को अधिक सुदृढ़ एवं कारगर बनाया, लेकिन इस क्रिया की एक प्रतिक्रिया भी हुई—देश के बिखरे हुए जनमानस को एक संपर्क सूत्र में बाँधने का भी काम, अपने आप हुआ। रेल और डाक व्यवस्था ने देश के लोगों में एकता की भावना का उदय किया, देश के लोग परस्पर एक दूसरे के निकट आने लगे और एक दूसरे के सुख दुःख के साथी बनने के लिये भी सकल्पबद्ध होने लगे। गरीबी और पीड़ा संवेदना प्रकट करती है और लोगों को जोड़ती है। धन और शक्ति विलास और मद की सर्जना करती है, उससे बिखराव उत्पन्न होता है, और यही हुआ भी है। सभी क्षेत्रों में संगठन की ओर देश की जनता का ध्यान गया। राजनीतिक संगठन उस युग में करना संभव नहीं था, इसलिये सामाजिक संगठनों की ओर लोगों का ध्यान गया। इस देश के लोग परम धार्मिक होते हैं और धर्म उस युग में एक सीमा तक निरापद भी था, इसलिये भी विभूतियों ने इस क्षेत्र में अपनी साधना की सर्जनात्मक दीपशिखा प्रज्वलित की।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

इस क्षेत्र में, जो धार्मिक होते हुए भी सामाजिक था और सामाजिक होते हुए भी धार्मिक था, सबसे पहला नाम राजा राममोहन राय का आता है। राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी साहित्य और संस्कृति का अध्ययन किया था, वे भविष्य की संकल्पना से संसिद्ध और जागृत पुरुष थे। वे पाश्चात्य विद्याओं का देश को ग्रहण कराना चाहते थे। वह यह जानते थे कि अन्य क्षेत्रों में हमारा साहित्य और हमारी संस्कृति भले ही महान् हो किंतु जो अभिनव आ रहा है, और योरोप के माध्यम से आ रहा है, उसका संयोग देश के मानस से कराना होगा, तभी देश प्रगति कर सकेगा। लेकिन इसके साथ ही वे अपने धर्म और रूढ़िमुक्त परंपराओं के प्रति आस्थावादी भी थे। दोनों के सुंदर पक्षों का, जो

समाज के लिये मंगलमूलक थे, वे संयोजन करना चाहते थे और यह मानते थे कि भारत का भविष्य इससे ही उजागर हो सकता है। ऐसा करनेवाला व्यक्ति निश्चय ही सामाजिक जागरण, धार्मिक सुधार, बौद्धिक संचेतना और देश के उत्थान के लिये अपनी नीतियाँ निर्मित करेगा। ऐसी नीति निर्मित करनेवाले को न केवल धार्मिक संगठन ही करना पड़ेगा अपितु अपने विचारों के प्रचार प्रसार के लिये भी संगठन करना पड़ेगा और विचारों के चिंतन और प्रसार के लिये इन सब साधनों को अपनाना पड़ेगा जो उसमें सहायक हों, जैसे संगोष्ठियाँ पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन, पुस्तक लेखन, जन सभाएँ आदि। इसके साथ ही उसे भविष्य की रचना करने के लिये अपने ढंग की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना भी करनी होगी। यह सारा का सारा कार्य राजा राममोहन राय ने अपने ढंग से किया।

राजा राममोहन राय ने विविध भाषाएं पढ़ी और यह भी उनकी उपलब्धि रही कि कंपनी की नौकरी से लेकर शिक्षा के क्षेत्र तक में अपने उद्देश्य से वे विरत नहीं हुए। उन्होंने यह माना कि देश के संगठन के लिये एकेश्वरवाद ही सहायक हो सकता है और उसे ही उन्होंने अपनाया। यह उन्होंने बंद दृष्टि से नहीं बल्कि बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसकर किया। बौद्धिकता अतीत का विश्लेषण ही नहीं करती वर्तमान की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भविष्य की रचना के लिये सबल भी जुटाती है; सनातन में नूतन का संयोग बौद्धिकता का परिणाम हुआ करता है। उनके पहले तक हमारे पास आस्था थी, विश्वास था, किंतु भविष्य की संकल्पना नहीं थी। हम यह मानते थे कि यही सब कुछ है और इसके द्वारा ही सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। भारतीय दृष्टि इसके विरोध में रही है। रीति रिवाज और प्रथाएं समय और सुविधा के कारण बनती और मिटती हैं। कर्मकांड धर्म का अंग हो सकता है धर्म नहीं। कर्मकांड देशकाल सापेक्ष है। अपनी यह नई विचारधारा स्थापित करने के लिये उन्होंने आंदोलन किया। बौद्धिकता के जनक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा है। उन्होंने न केवल बुद्धिवादी आंदोलन चलाया अपितु सत्य का साक्षात्कार भी किया। वे बँगला के जहाँ लेखक और साहित्यकार थे वहीं अंग्रेजी में भी उन्होंने लिखा है, अरबी फारसी भी वे जानते थे। अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान तो उन्हें था ही। मूल रूप में बाइबिल पढ सकें, इसलिये उन्होंने हिब्रू भाषा भी पढ़ी। यद्यपि वे ब्रिटिश साम्राज्य को सम्मान की दृष्टि से देखते थे और वह इसलिये था कि यूरोप के अभ्युदय की कहानी के मूलरूप को वह जानते थे। इसलिये वह अंधविश्वास, बहुदेववादी सांप्रदायिकता आदि से देश को मुक्त कर नए विचारों की ओर ले जाना चाहते थे। उन्होंने पहली

बार दृढ़ता से नई परिस्थिति का मूल्यांकन किया और पश्चिम की बौद्धिक जीवन धारा और भारतीय परंपरा के बीच सेतु का कार्य किया।

उन्होंने ईसाई धर्म से हिंदू धर्म की रक्षा का भार बड़े विवेकपूर्वक उठाया। उनका कहना था कि 'मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि हिंदुओं की वर्तमान धर्मव्यवस्था ऐसी है कि जिससे उनके राजनीतिक हितों की पूर्ति नहीं हो सकती। उनके भी विभाजन और उपविभाजन को जन्म देनेवाली असंख्य बातें हैं। जाति प्रथा ने उन्हें राजनीतिक चेतना से पूरी तरह वंचित कर दिया है। अगणित धार्मिक कर्मकांडों तथा संस्कारों एवं सिद्धिकरण के नियमों ने उन्हें कठोर और साहसपूर्ण कार्यों के अयोग्य बना दिया है। मेरे विचार से आवश्यक है कि कम से कम उनके राजनीतिक और सामाजिक कल्याण के लिये उनके धर्म में कुछ परिवर्तन होने चाहिए।' इस प्रकार राजा राममोहन राय ने धर्म को सामाजिक और राजनीतिक जीवन से जोड़ने का यत्न पहली बार किया। इसीलिये हिंदू धर्म के मूल, वेदांत को उन्होंने आधार बनाया, कर्मकांड को नहीं। वे धार्मिक प्रथाओं और अंधविश्वासों के विरोधी थे। इसलिये उनके धार्मिक विचार वेदांती होते हुए भी समयसिद्ध थे और इसकी पूर्ति के लिये उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। वे निराकार निर्विकार सर्वशक्तिमान एकेश्वर उपासना के साधक थे और इसे ही हिंदू धर्म का मुख्य आधार मानते थे। इस प्रकार उन्होंने हिंदू धर्म को व्यावहारिक और लचीला बनाने का यत्न किया। सामाजिक क्रांति और राजनीतिक चेतना की भूमिका धर्म निभा सके, इसकी साधना के वे अग्रदूत थे। इसीलिये ब्रह्मसमाज की इन्होंने स्थापना की जो अद्वैतवादी हिंदू संस्था थी। इसके साथ ही वे सभी धर्मों का आदर करनेवाले व्यक्ति थे और सभी धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से धार्मिक एकता का मंच वे ब्रह्मसमाज को बनाना चाहते थे। वे वास्तव में धार्मिक आंदोलन के प्रणेता नहीं, आधुनिक भारत में धर्म को समाज से जोड़नेवाले नायक मनीषी थे।

जो धर्म को जीवन से जोड़ना चाहेगा वह शास्त्र के सहारे समाज की उन बुराइयों का उन्मूलन करना चाहेगा ताकि परिवर्तन को शास्त्रीय मान्यता मिल सके। इसके लिये लोकमत को भी जागृत करना पड़ेगा। इसीलिये बाल विवाह, सती प्रथा, नारी संमान आदि की दिशा में भी उन्होंने अभूतपूर्व वातावरण बनाया और जनमानस में अपनी मान्यताओं को प्रतिष्ठित किया। बाद में सन् १८२९ में इस संबंध में सती प्रथा के विरुद्ध कानून भी बना। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के संदेश की उन्होंने प्रसारणा की, विपिनचंद्र पाल जैसे व्यक्ति उन्हें भारत में स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित करनेवाले पहले व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा देते थे। विचारों के प्रसार के लिये उन्होंने युग के अनुरूप एक कार्यप्रणाली तैयार की जिसके माध्यम से देश की भावी संस्थाओं

ने अपनी कार्यपद्धति तैयार करने में सहायता ली, चाहे वे राजनीतिक दल हों, सांस्कृतिक संस्थाएँ या धार्मिक पीठ हों। उन्होंने केवल चिंतन की प्रणाली ही नहीं निकाली, उन साधनों का भी सहारा लिया जिनका उपयोग ईसाई अपने धर्मप्रचार के लिये कर रहे थे। निजी धन से उन्होंने सन् १८२१ में 'संवाद कौमुदी' और सन् १८२२ मे 'मिरातुल' अखबार निकाला एवं अन्य पुस्तकें प्रकाशित करवाईं।

वे भावी परिवर्तन के लिये भी व्यापक तैयारी करनेवाले चिंतक थे। यूरोप से जो वैचारिक लाभ भारत को मिल सकता है वह मिल सके और भारतीय जीवनदर्शन के बीच आधुनिक ज्ञान विज्ञान समाविष्ट हो सके, इसलिये उन्होंने भारतवर्ष में अनेक कालेजों की स्थापना कराई या उनमें योगदान दिया। आधुनिक शिक्षा प्रणाली को भारत में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय जिनको है उनमें उनका नाम सर्वोपरि है। सन् १८१८ में हिंदू कालेज की स्थापना के पीछे उनका वह प्रार्थनापत्र था जो आधुनिक शिक्षा प्रणाली स्थापित करने के लिये गवर्नर जनरल को दिया गया था। उन्होंने क्रमशः सन् १८२२ और सन् १८२५ में ऐंग्लो हिंदू स्कूल एव वेदांत कालेज की स्थापना कराई। कलकत्ता और उसके आस-पास का क्षेत्र विभिन्न श्रेणियों के विद्यालयों के शुभारंभकर्ता के रूप में उनका ऋणी तो रहेगा ही, नई शिक्षा प्रणाली के स्थापनकर्ता के रूप में भी भारतीय शिक्षा जगत् में उनकी महिमा सदा ऐतिहासिक महत्व की रहेगी। वे सन् १८३० में यूरोप यात्रा पर गए और वहीं पर इंगलैंड में सन् १८३३ में उनकी मृत्यु हो गई। उनके व्यक्तित्व का व्यापक वर्णन इसलिये किया जा रहा है कि उन्होंने आधुनिक भारत को प्रगति का एक ढाँचा दिया जिसमें समाज की धर्म और ज्ञान की जीवंत परपरा को आधुनिकता से जोड़ने का निदान था। उनकी समस्त भावभूमि भारत के भविष्य के निर्माण के लिये ही थी। केशवचंद्र सेन आदि ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया और आधुनिक सामाजिक जीवन के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। कलकत्ता ही उस समय नई वैचारिक क्रांति की भूमि थी इसलिये सारा देश उधर ही देखता था।

स्वामी दयानंद और आर्यसमाज

स्वामी दयानंद भारत के क्षितिज पर नवोन्मेषशाली भारतीय सांस्कृतिक चेतना के जीवंत प्रतिनिधि के रूप में उदित हुए। सन् १८८३ तक उन्होंने देश की सेवा की। सन् १८४५ में ज्ञान की खोज में निकले। इस महापुरुष ने स्वामी विरजानंद का शिष्यत्व ग्रहण कर सत्य की प्राप्ति की। उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन, चिंतन एवं मनन किया। सन् १८६६ में काशी में एक शास्त्रार्थ के उपरांत देश ने इन्हें महान् विचारक और चिंतक मान लिया। वे केशवचंद्र सेन से भी मिले और उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना भी की। सन् १८७५ में इन्होंने आर्यसमाज नामक एक संगठन की स्थापना की। संपूर्ण देश में अपने विचारों को फैलाने

का यत्न किया, सबसे मिले और अपने उद्देश्यों की चरितार्थता के लिये हिंदी को माध्यम मानकर उसका प्रयोग किया। ब्रह्मसमाज सीमित बुद्धिजीवियों के बीच में अपना भावलोक बनाए हुए था किंतु आर्यसमाज ने सामाजिक और धार्मिक जागृति का नया सबेरा देश को दिया। आर्यसमाज एक आंदोलन था। उन्नीसवीं शताब्दी में लोकमंगल का अधिष्ठान करनेवाली ऐसी पीठिका इसके माध्यम से शुरू हुई जिसपर देश के जागरण की नई नींव रखी गई। प्रेरणा की भूमि आर्यसमाज ने विदेशों को नहीं भारत को ही माना जिसके माध्यम से राष्ट्रीय भावना का व्यापक प्रसार हुआ। आर्यसमाज ने जहाँ रूढ़ियों, अंधविश्वासों और बाह्य आडंबर का विरोध किया वहीं निराकार ईश्वर का, जो अनादि, अजन्मा, सर्वेश्वर तथा सर्वव्यापक है, समर्थन भी किया। अवतारवाद और मूर्तिपूजा के वे कट्टर विरोधी थे। वेद और उपनिषद् के आधार पर उनकी सारी मान्यताएँ स्थापित हुईं। उन्होंने अपने समाजसुधार के आंदोलन को वैदिक आधार दिया। आधुनिक युग में वेदांत को लोकजीवन से जोड़ने का उन्होंने जो कार्य किया है, इतिहास उसे सदा आधुनिक भारत के निर्माण में एक प्रेरणा स्तंभ के रूप में स्मरण करेगा। धर्मपरिवर्तन को वे स्वीकार करते थे और इसीलिये उन्होंने शुद्धि आंदोलन भी चलाया था, किंतु राष्ट्रीयता से वे कभी विमुख नहीं हुए। उन्होंने जाति और वर्ण का भेद अपने सिद्धांत के अनुसार प्रतिष्ठित किया। चारों वर्णों की महिमा उन्होंने मानी किंतु जातिभेद के वे कट्टर विरोधी थे। जन्म नहीं किंतु कर्म और गुण के आधार पर वे वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वे यह भी मानते थे कि गुण के द्वारा व्यक्ति एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जा सकता है। वे वर्ण ही नहीं स्त्रियों को भी सही प्रकार के अधिकार दिलाने के घोर समर्थक थे। शिक्षा में स्त्रियों के समान अवसर की बात के हामी थे और अछूतोद्धार के प्रबल समर्थक। आर्यसमाज ने जगह जगह पर स्कूल और कालेज खोले जिनके द्वारा अपने सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करनेवाले युवकों की मंडलियाँ सारे देश में तैयार कीं। आर्यसमाज ने स्कूलों और कालेजों की जो श्रृंखला निर्मित की वह हिंदी एवं आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में भावी तेजस्वी जीवनदर्शन की नियामक बनी। आर्यसमाज धार्मिक और सामाजिक सुधार के ऐसे राष्ट्रवादी आंदोलन के रूप में उभरा जो हिंदुओं में उनके धर्म के स्वाभिमान और एकता की स्थापना में सहायक हुआ। आधुनिक भारत में क्रांति के वे वैदिक महर्षि थे, उन्होंने भविष्य का दर्शन किया था और भविष्य की रचना में उनका अवदान परम महत्व का है।

स्वामी विवेकानंद

देश में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज की अपनी भूमिका थी किंतु इस भूमिका से एक बहुत बड़ा वर्ग प्रभावित नहीं था। ऐसे लोगों को यह अनुभव होता

था कि हिंदू धर्म के समग्र रूपों को इन दोनों वर्गों में एक साथ स्वीकार नहीं किया गया है। उस समय परंपरावादी हिंदू धर्म को नया आर्जव देने का कार्य विवेकानंद ने किया और ऐसे लोगों में, जो धार्मिक परंपराओं में पूर्ण आस्था रखते थे, आत्मविश्वास जगाया। विवेकानंद ने विश्व में अपनी आध्यात्मिकता और दर्शन की श्रेष्ठतात प्रमाणित करने का व्रत लिया। देश विदेश सर्वत्र घूमे और हिंदू धर्म की मानववादिता तथा विश्व में उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की प्रस्थापना का अभूतपूर्व प्रयत्न किया जिसके द्वारा राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना का तेज दीप्त हुआ। वे पश्चिमी ढंग के विद्यालयों में पढ़े, अंग्रेजी में निष्णात् ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत भाषा के ग्रंथों का भी आलोड़न किया था। उन्होंने शास्त्र, गुरु और भारत माता तीनों को आधार बनाया। शास्त्र से उन्होंने ज्ञान ग्रहण किया, गुरु रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें विवेक दिया। सन् १८८६ में गुरु के देहावसान के उपरांत वे स्वयं ज्ञान के नियामक बने। सन् १८८८ से सन् १८९२ तक उन्होंने देश की आत्मा का दर्शन देश भर की तीर्थयात्राएँ करके किया। सन् १८९३ में सर्वधर्म संमेलन में वे अमेरिका गए। वेदांत के माध्यम से वहाँ उन्होंने भारत का जीवनदर्शन और सिद्धांत संसार के समक्ष रखे। सन् १८९६ में वे भारत लौटे और सन् १९०२ तक जीवित रहे। भारत के मान को और भारत के दर्शन की श्रेष्ठता को विश्व में भारतीय आर्जव के साथ प्रतिष्ठापित करनेवाला यह देवदूत ३९ वर्ष की आयु में ही इस संसार से चला गया। वे स्वयं सत्य की खोज करनेवाले थे और यह मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य की खोज स्वयं करे। भाईचारे, मानवतावादी एवं उदारवादी जीवनदर्शन को वह हिंदू धर्म का आवश्यक अंग मानते थे। वे समग्र रूप से हिंदू धर्म को स्वीकार करनेवाले ऐसे मनीषी थे जिन्होंने भारत के आत्मगौरव और आत्मविश्वास को परंपरावादी ढंग से पुनर्प्रतिष्ठित किया। वे आदान प्रदान में विश्वास करनेवाले ऐसे जीव थे जो भारत का सर्वोत्तम विश्व को देना चाहते थे और इसीलिये यूरोपीय जीवन की अच्छी बातों से उन्हें घृणा नहीं थी और उसकी अच्छी बातें वे अंगीकार करने के पक्षधर थे। जनमंगल का माध्यम वे धर्म को मानते थे, उनका धर्म मानव मात्र के अभ्युदय में विश्वास करता था और मुक्ति के वे परम उपासक थे। 'रसोईघर' से धर्म को लोक में उतारनेवाली परंपरा के वे पोषक और पालक थे। वे भी जाति प्रथा की बुराइयों के विरोधी थे, गरीब अज्ञानी और अनाथों के वे प्रेमी थे। यद्यपि वे जीवन भर राजनीतिक विचारधारा से निरपेक्ष रहे किंतु उनकी विचारसरणि उग्रवादी, क्रांतिकारी, राष्ट्रवादी नेताओं के लिये प्रेरणा का मंत्र रही। उन्होंने कहा था—"भावी ५० वर्षों तक हमारा मूल मंत्र होगा, यही हमारी भारत माता है, तब तक के लिये मस्तिष्क से अन्य देवी देवताओं को हटा देना चाहिए। भारत माता एक ऐसा ईश्वर है

जो आवृत है और उसके कर, वाक् और श्रवण चतुर्दिक् व्याप्त हैं, उसमें सभी कुछ समाया हुआ है।" राष्ट्र भक्तों को, उन्होंने ईश्वर के रूप में भारत माता को समर्पित किया और रामकृष्ण मिशन ने सेवा की जो परंपरा स्थापित की वह भारत के अभ्युदय की कहानी के लिये और भारत के जीवंत स्वाभिमान के लिये उन लोगों द्वारा पूजित और प्रतिष्ठित रहेगी जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता को धर्म से शक्तिदान के आकांक्षी रहेंगे।

थियोसोफिकल सोसायटी

अमेरिका के एक दार्शनिक कर्नल आलकाट और रूस की एक महिला पेत्रोवा ब्लात्सकी ने थियोसाफिकल सोसायटी की स्थापना अमेरिका में की थी। ये दोनों सन् १८७९ में भारत आए और मद्रास के एक स्थान अदयार में थियोसाफिकल सोसायटी स्थापित की। भारत में इस सोसायटी का यह आदि केंद्र था और इसके कार्यों का संचालन यहीं से हुआ। श्रीमती ऐनी बेसेंट सन् १८९३ में इस संस्था की एक प्रमुख सदस्या के रूप में भारत आईं और उन्होंने इस देश में थियोसोफिकल सोसायटी के कार्यों का संचालन और नियमन किया। सन् १९१० से १९३३ तक वे इस संस्था की अध्यक्षा रहीं। भारत के नवोन्मेष में इस संस्था ने सामाजिक, सांस्कृतिक आध्यात्मिक और राजनीतिक भूमिका अपने ढंग से निभाई। विदेशियों द्वारा स्थापित यह संस्था, जो ब्रह्म विद्या के ज्ञान के लिये तथा आध्यात्मिक शक्तियों के प्रत्यक्षीकरण एवं आत्माओं के साक्षात्कार के लिये मूलतः स्थापित हुई थी, भारत की स्थिति, परिस्थिति और हवा पानी ने उसका स्वरूप बदल दिया। यह संस्था सांप्रदायिक नहीं थी। यह मानव के बंधुत्व को स्थापित करने के लिये धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का सहारा लेती थी। अपने अपने धर्मों को मानते हुए भी आदमी थियोसोफिस्ट हो सकता है। सभी धर्मग्रंथों, विशेषकर भारतीय धर्मग्रंथों, के प्रति गौरवभाव जगाने का, बुद्धिजीवियों में यह विदेशियों द्वारा किया गया ग्राह्य यत्न था। यद्यपि ऐनी बेसेंट अंग्रेज थीं, तथापि स्वतः समुचित प्रेरणा से भारतीय हो गई थीं। गीता का अनुवाद, रामायण और महाभारत का भाष्य तथा भारतीय धर्मग्रंथों से संगृहीत कर आधारभूत तथ्यों का विदेशों में प्रचार इस बात का साक्षी है कि वे आध्यात्मिक आंदोलन कर्त्री ही नहीं थीं, देश की शिक्षा व्यवस्था को भी उन्होंने महत्वपूर्ण अवदान दिया था। ऐनी बेसेंट केवल कोरी आध्यात्मिक नेता ही नहीं थीं, उन्होंने सन् १९१० से सन् १९२० तक कांग्रेस का नेतृत्व भी किया था। सन् १९२० में गांधी जी के असहयोग आंदोलन को लेकर हुए मतभेद के कारण वे राजनीति से विरक्त हो सोसायटी के कार्यों में ही संलिप्त हो गई थीं। वे पश्चिम की नकल की विरोधी थीं और भारतीय समाज की रचना उसके प्राचीन स्वरूप के आधार पर करना चाहती थीं और इसके लिये उन्होंने अनेक शिक्षा संस्थाएँ भी खोली थीं।

ये सारे के सारे धार्मिक आंदोलन सामान्यतः एक दूसरे के विरोधी लगते हैं किंतु वास्तव में वे एक दूसरे के पूरक थे। मनुष्य को केंद्रबिंदु बनाकर मानव सेवा और राष्ट्रीयता को इनके माध्यम से बल मिला। सत्ता यदि शोषण का साधन है तो धर्म समाज सेवा का और रीति रिवाज. धर्म आदि सभी समाज के उन्नयन के लिये ही हैं, इसका भावोदय जनमानस में अपने अपने क्षेत्रों में सभी संस्थाओं ने किया। ये सभी संस्थाएँ समाज के संतापित पक्षों को शीतलता, सेवा के माध्यम से जीने का वरदान देना चाहती थीं। सभी ने अपने अतीत के स्वाभिमान को भास्वर किया और उसके माध्यम से एकता और सर्जनात्मक चिंतन को जीवन दिया। कुरीतियाँ धर्म का अंग नहीं हो सकतीं; उनका नाश ही धर्म है क्योंकि धर्म से अभ्युदय होता है। जो रीति रिवाज इसमें बाधक होते हैं उनके त्याग का संकल्प भी समाज में उदित हुआ।

राजनीतिक चेतना का उदय

केवल धर्म ने ही या ऋषि और महात्माओं ने ही ऐसा नहीं किया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर और महादेव गोविंद रानडे जैसे व्यक्तियों ने भी अपने अपने स्तर पर समाज को संजीवनी शक्ति प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सैद्धांतिक आधारों को रूप देने में इन मनीषियों का योगदान स्वयं में इतना महान् है कि आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास इनके कृतित्व के अभाव मे निर्धन रहेगा। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के लिये केवल कानून ही नहीं बनवाया, उन्होंने स्वयं विधवा विवाह कराए, दहेज पर चोट की, शराबखोरी पर हमला किया। शराबखोरी रोकने के लिये उन्होंने संगठित प्रयास भी किया, साथ ही साहित्य और विद्या के क्षेत्र भी उनका अवदान हैं। हिंदी को भी उनसे बल मिला।

महादेव गोविंद रानडे राजनीतिक अवदान के साथ ही साथ देश के सामाजिक कार्यों में भी सहयोग देते रहे। उन्होंने सामाजिक सुधार के लिये आंदोलन किए एवं राष्ट्रीय सुधार समिति बनाई जिसका अधिवेशन कांग्रेस अधिवेशन के साथ ही होता था। वे बंबई उच्च न्यायालय के जज थे। वे नारी जाति के उन्नायक थे और पश्चिमी प्रभाव से डरनेवाले व्यक्ति नहीं थे। वे मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन में कुरीतियों का विरोध करने का व्रत ले और अपनी अंतरात्मा को जाग्रत करे। समाज सुधार को प्राचीन से बल मिले, इनकी पूर्ति के लिये भी कार्य किया जाय, जातीय संगठन तैयार हों जो अपनी जाति के संस्कारों में सुधार करें, इनके लिये भी उन्होंने कार्य किया। वे मानते थे कि सनातनता, सहिष्णुता और आत्मबोध भारतीय संस्कृति के प्रधान गुण हैं और इनके ही ढाँचे में समाज सुधार के लिये राष्ट्रव्यापी संगठन कर राष्ट्रीय आंदोलन से उसे जोड़ने का कार्य उन्होंने किया।

वे विधायी तरीकों की अपेक्षा समाज सुधार में परंपरागत मूल्यों को नया आर्जव देकर उन्हें ग्रहण करने के पक्षधर थे ।

इस समय देश में जो स्थिति थी वह यह थी कि सामाजिक सुधार के प्रश्न राजनीति से अलग रखे जाते थे । यद्यपि रानडे ने इनमें परस्पर सहयोग का प्रयत्न किया था फिर भी राजनीति की स्वतंत्र सत्ता बनी रही । गांधी जी ने सन् १९२० के बाद उसे सामाजिकता से जोड़ा ।

सन् १८५७ के बाद भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर एक विचित्र दृश्य उपस्थित हुआ । अंग्रेजी शासन विप्लव को दबाने में सफल हुआ और उसने इस बात का यत्न किया कि अपनी जड़ मजबूत कर ली जाये । इसीलिये जहाँ एक ओर उसने प्रशासनिक सुधार का कार्य आरंभ किया, वहीं दूसरी ओर उसने देशी राज्यों को शक्तिहीन करने का भी सुविचारित यत्न आरंभ किया ।

अफगानिस्तान की राजनीतिक स्थिति

पास पड़ोस के देशों, विशेषकर अफगानिस्तान, की ओर उनका ध्यान गया। सन् १८५५ में अफगानिस्तान और भारत की सरकार के बीच स्थायी शांति और मैत्री की एक संधि हुई थी और सन् १८५६ में ईराक पर पर्शिया की सेनाओं द्वारा कब्जा हो जाने पर, वहाँ पर बंबई से सेना भेजी गई । सन् १८५७ में अमीर से दूसरी संधि हुई जिसके अनुसार काबुल में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि रहने लगा । सन् १८७६ तक लारेंस, मेयो और नार्थब्रुक अफगानिस्तान के प्रति उदासीन रहे । सन् १८७६ में पुनः यह नीति बदली और ब्रिटिश सरकार यह सोचने लगी कि रूस का प्रभाव अफगानिस्तान पर बढ़ने न पाए । फिर भी लारेंस अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों में नहीं पड़ना चाहता था । इसके साथ ही भारत की सारी पश्चिमी सीमा का प्रश्न भी उठा। सिंध सीमा के समानांतर उस सीमा से आगे जहाँ से पर्वतीय शृंखला आरंभ होती है, लारेंस सुरक्षा की तैयारी के पक्ष में नहीं था। भारत और अफगान सीमा के बीच एक लंबा पहाड़ी क्षेत्र था जहाँ नाना प्रकार की पठान जातियाँ हैं। इसलिये यह माँग बढ़ी कि इस मध्यवर्ती क्षेत्र में कबीलों पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित किया जाय । किंतु लारेंस की नीति इस संबंध में पूर्ववत् ही अहस्तक्षेप की रही। अफगानिस्तान में गद्दी के संघर्ष में भी वह तटस्थ था। लारेंस सन् १८६८ में शेरअली को पूर्ण सहायता देने के लिये तैयार हो गया क्योंकि उसने आंतरिक अफगान संघर्ष में विजय प्राप्त कर ली थी। लारेंस की यह नई नीति भी हस्तक्षेप की नहीं अपितु तटस्थता की थी। लारेंस के बाद मेयो और नार्थब्रुक ने भी इसी नीति का पालन किया। सन् १८७६ के बाद लिटन ने आते ही अफगानिस्तान की राजनीति पर प्रभाव जमाना शुरू कर दिया। यद्यपि यह नीति ब्रिटिश सरकार ने ही

अपनाई थी किंतु इस दायित्व का कार्यान्वयन लार्ड लिटन ने ही किया। द्वितीय अफगान युद्ध इस नीति के फलस्वरूप ही हुआ और अमीर का विश्वास न जीतकर, बहाना बनाकर, उसे शत्रु घोषित कर दिया गया। रूस और टर्की के बीच युद्ध शुरू होने पर ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने यह धमकी दी कि वह रूस के खिलाफ सेनाएँ जुटाएगा। रूस ने भी अफगान सीमा पर अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। अंततोगत्वा २० सितम्बर, सन् १८७८ को एक ब्रिटिश मिशन काबुल भेजा गया और यह मिशन असफल हुआ। २० नवंबर, सन् १८७८ को ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान भेजी गई और उसने वहाँ कब्जा कर लिया। शेरअली रूसी सीमा में भाग गया जहाँ फरवरी, सन् १८७९ में उसकी मृत्यु हो गई। इस बीच ब्रिटिश सेनाओं के कब्जे के समय उसे अंग्रेजों के इशारे पर नाचना पड़ता था। मई, सन् १८७९ में अमीर के पुत्र याकूब खाँ और भारत सरकार के बीच गंडमक की संधि हुई जिसमें उसने ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। अफगान स्वतंत्र विचार के व्यक्ति हैं। केवेग्नरी वहाँ ब्रिटिश रेजिडेंट नियुक्त हुआ और उसने उसी वर्ष जुलाई मे कार्यारंभ कर दिया। दो महीने के बाद ही अफगानिस्तान में विद्रोह भड़क उठा। ब्रिटिश रेजिडेंट मारा गया। ब्रिटिश सेनाएँ पुनः अफगानिस्तान भेजी गईं और काबुल पर कब्जा कर लिया गया। सन् १८८० में डिजरेली की सरकार के पराजित होने पर नई नीति के अनुसार रिपन को भारत का वाइसराय बनाया गया और उसने अफगानिस्तान से संबंध सुधारने की बात उठाई।

लार्ड डलहौजी

लार्ड डलहौजी ने बर्मा के दो तिहाई भाग पर कब्जा कर लिया और बाद में शेष भाग को भी हड़प लिया गया। यहाँ तक कि सन् १८८२ में बर्मी राजा के सभी राजनीतिक अधिकार समाप्त हो गए। बर्मा को पूर्णतः ब्रिटिश राज्य में मिलाने की कार्यवाही सन् १८८५ में पूरी हो गई। तिब्बत पर भी ब्रिटिश प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न किया गया और अंततोगत्वा सन् १९०४ में गुरु नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें दो हजार तिब्बती सैनिकों में से आठ सौ चालीस सैनिक मारे गए। अप्रैल, सन् १९०४ में ग्यान्तसी पर ब्रिटिश अधिकार हो गया और अगस्त, सन् १९०४ में लासा पर अंग्रेज सेना का कब्जा हो गया। लासा से जो समझौता हुआ उसमे रूस की तो कोई हानि नहीं हुई किंतु भारत को भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, केवल तिब्बत ब्रिटिश चंगुल में फँसा रहा। जब ब्रिटिश सेना लासा से हटी तो चीनियों ने उसपर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया। सन् १९०७ मे रूस और ब्रिटेन के बीच जो समझौता हुआ उसमे यह तय किया गया कि चीन की इच्छा के विरुद्ध वे दोनों शक्तियाँ तिब्बत से न तो कोई समझौता करेंगी और न ही वहाँ कोई प्रतिनिधि भेजेंगी। कर्जन की इस नीति ने तिब्बत को चीन की शरण में सौंप दिया। सन्

१८८८ और सन् १८९० के बीच जब यह प्रयत्न किया गया था कि तिब्बत के संबंध में चीन और भारत सरकार के बीच एक द्विपक्षीय समझौता हो तब तिब्बत की सरकार सिक्किम के मामले में समझौते के लिये तैयार नहीं थी। सन् १८९० में भारत और चीन के बीच यह समझौता हुआ कि सिक्किम ब्रिटिश सरकार के अधीन एक संरक्षित राज्य है जिसके आंतरिक प्रशासन और वैदेशिक मामलों पर भारत का पूर्ण नियंत्रण रहेगा। तिब्बत और सिक्किम की सीमा भी तय हो गई और सिक्किम एक प्रकार से ब्रिटिश एजेंट के करतलगत हो गया तथा सिक्किम का राजा तिब्बत चला गया। यह सब कार्य हो रहा था और इस पर खर्च भारत का हो रहा था। अपार धनराशि का ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और व्यापार के संरक्षण के लिये उस समय व्यय किया जा रहा था जब भारत अकाल और सूखे से त्रस्त था। देश का मानस यह सब समझता था और उद्विग्न था। ब्रिटिश सत्ता के विस्तार के लिये भारत के धन का शोषण किया गया, यह आग भारत के बौद्धिक जीवन में सुलग रही थी।

प्रशासनिक सुधार की ब्रिटिश नीति

एक तरफ अंग्रेजी शासन अपना विस्तार कर रहा था और दूसरी ओर सन् १८५७ की क्रांति के कारण लोगों को पुष्टि देने के लिये केंद्रीय तथा प्रांतीय ढांचे में सुधार भी करना था। लिटन, रिपन और कर्जन विद्रोह के बाद इस प्रशासनिक स्वरूप के निर्माता बने। उन सब की नीति यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में बनाए रखने के लिये दूरगामी, प्रभावशाली, सुव्यवस्थित, सुसंगठित शासन व्यवस्था चलाई जाये। वे कुशल शासन इसलिये चाहते थे कि ब्रिटेन का शासन प्रभुत्व यहाँ स्थायी रूप से बना रहे। उन्होंने इसके लिये राजनीतिक सुविधाएँ और रियायतें देने की छिछली नीति से जनता के बुद्धिजीवी वर्ग को संतुष्ट नहीं कर पाए। जो उदारता वे बरतते थे वह बाध्य होकर बरतते थे, हृदय की उदारतावश नहीं, यह भारत के लोग भली भाँति समझते रहे। भारत से ब्रिटेन के शासक भयभीत थे और भारतीय जनता तथा उनमें परस्पर विश्वास नहीं था। विश्वास की यह कमी उनके द्वारा किए गए यत्नों को शंकालु बना देती थी। यह शंका उस समय और भी बढ़ी जब अकाल के समय प्रशासन ने सेवा भावना से कार्य नहीं किया। अकाल को दूर करने के प्रश्न पर कमीशन दो साल तक विचार ही करता रहा। सन् १८७८ में लार्ड लिटन को यह स्वीकार करना पड़ा कि अकाल का मुकाबला और अधिक तैयारी के साथ करना चाहिए था। अकाल का सामना करने के लिये लगभग एक करोड़ रुपया खर्च किया गया किंतु केवल बंबई प्रांत में ही पचास लाख आदमी मरे। इस स्थिति ने और भी अधिक घृणा पैदा की। आयातित कपड़े पर सन् १८७६ में, नार्थब्रुक के जाने के बाद, कर लगा दिया गया जो ब्रिटिश सरकार के पक्ष में था। इससे

ब्रिटिश सरकार कुछ संतुष्ट हुई जबकि देश अकाल और युद्ध के व्यवहार से त्रस्त था। इसके साथ ही लिटन ने भारतीय भाषाओं के पत्रों पर नियंत्रण भी लगा दिया ताकि सत्य प्रकट न हो। लार्ड लिटन ने प्रशासकीय सेवाओं में भी यह परिवर्तन किया कि न्यायाधीशों एवं कुछ कम जिम्मेदारी के पदों पर भारतीयों की नियुक्ति हो सकती है लेकिन उच्च पदों पर अंग्रेज ही बने रहेंगे। यह निर्णय राजनीतिक कारणों से किया गया था ताकि ब्रिटेन का स्वत्व सुरक्षित रहे। लिटन का शिक्षित वर्ग पर विश्वास नहीं था इसलिये सेवा के लिये प्रभावशाली और संमानित परिवार में जन्मे लोगों की ही व्यवस्था की गई। अकाल के समय में भी लाखों रुपए फूंककर ब्रिटिश साम्राज्य का वैभव प्रदर्शित किया गया। ब्रिटेन का दृष्टिकोण सर्वथा साम्राज्यवादी था लेकिन इससे लाभ यह हुआ कि शिक्षाप्राप्त मध्यम वर्ग विद्रोही बन बैठा। सामंतवादी तत्वों के प्रति आंतरिक रोष प्रकट होना प्रारंभ हुआ। समाचारपत्रों पर लगा अंकुश भी भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जगाने में सहायक हुआ।

लार्ड रिपन की उदारवादी नीति

सन १८८० में उदारवादी परंपरा के लार्ड रिपन भारत आए और उन्होंने एक नया दृष्टिकोण अपनाया। स्वतंत्र प्रेस की स्थापना, शिक्षा को प्रोत्साहन और भारतीयों को प्रशासनिक सेवा में अधिक से अधिक स्थान देने के वे हामी थे। वे दमन में नहीं, प्रगति में विश्वास करनेवाले व्यक्ति थे। उनके इरादे नेक थे और इसीलिये उन्होंने उदारवादी परंपरा को अपनाया। रिपन ने अफगान युद्ध का अंत किया और ब्रिटिश सेना को वापस बुला लिया। फैक्टरी अधिनियम बनाया जिसमें मजदूर बच्चों और मजदूरों के लिये सुख सुविधा की व्यवस्था थी। प्रेस अधिनियम रद्द कर दिया गया, प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पर ध्यान दिया गया। हंटर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार विद्यालयों को अनुदान मिलने लगा। सरकारी प्रभाव के स्थान पर निजी व्यवस्था में शिक्षण को प्रोत्साहन देना प्रारंभ हुआ। नैतिक शिक्षा की बात भी उठी और कमीशन के अधिकतर सुझाव स्वीकार कर लिए गए, किंतु उसके बाद रिपन चला गया। रिपन ने स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह यह चाहता था कि स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था में भी सरकारी हस्तक्षेप कम से कम हो किंतु इन सभी अच्छे कार्यों का विरोध भी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति ब्रिटेन में करने लगे थे और रिपन को इलबर्ट जैसे बिल के कारण नीचा भी देखना पड़ा। ब्रिटिश नौकरशाही रिपन के सभी अच्छे कार्यों के विरोध में थी। अंततः रिपन को भारत से बुला लिया गया।

लार्ड कर्जन

सन् १८९९ में कर्जन भारत आया और वह सन् १९०५ तक यहां रहा।

वह योग्य व्यक्ति था किंतु साम्राज्यवादी था। वह बराबर यही सोचा करता था कि कैसे सौ वर्ष बाद भी हम भारत पर शासन करते रहेंगे ? उसने भारतवासियों द्वारा उठाई गई प्रतिनिधि शासन की माँग को ठुकरा दिया, कांग्रेस की उपेक्षा की और रिपन के आश्वासनों को अस्वीकार कर दिया। उसने शासन प्रणाली में सुधार किए लेकिन अपने साम्राज्य को दृढ़ करने के लिये। राष्ट्रवादियों का वह भयंकर विरोधी था। जहाँ तक आंतरिक सुधार का प्रश्न था उसने प्रशासनिक मशीनरी का सुधार किया। वह समितियों और कमीशन के माध्यम से अपने लिये सामग्री प्राप्त करता था और स्वयं भी परिश्रम करता था। उसने प्रशासनिक चुस्ती पेश की और कामों में विलंब के अंतर को कम किया। अकाल का मुकाबला करने के लिये नई नीति अपनाई गई। भूमिकर तथा अन्य संबंधित समस्याओं पर ध्यान दिया गया। सहकारी समितियों की स्थापना की गई, रेलवे संगठन तथा उसकी व्यवस्था में भी सुधार किया गया। पुलिस विभाग में भी सुधार हुआ और पुलिस की संख्या बढ़ाई गई। खुफिया विभाग बनाया गया जो राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता संग्राम पर नजर रखने लगा। प्राचीन इमारतों की रक्षा के लिये सन् १६०४ में एक अधिनियम बनाया गया। आगरा के ऐतिहासिक भवन और अजंता के मामले में उसने स्वयं रुचि ली। सन् १८६६ में कलकत्ता कार्पोरेशन का ऐक्ट बनाया गया। कर्जन ने जनशिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। उसने सितंबर, सन् १६०१ में शिमला में एक व्यापक संमेलन आयोजित किया जिसमें शिक्षा से संबंधित एक सौ पचास प्रस्ताव स्वीकृत किए गए। प्रायमरी और माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन को चुस्त और दुरुस्त बनाया गया, नए स्कूल खुले, अध्यापकों का प्रशिक्षण प्रारंभ हुआ। उसकी शिक्षा नीति का इसलिये विरोध हुआ कि वह शिक्षा संस्थाओं पर सरकारी प्रभाव व्यापक रूप में बढ़ाना चाहता था। सन् १६०३ मे शिक्षा के संबध में जो बिल धारा सभा में पेश किया गया, श्री गोखले ने उसकी आलोचना की क्योंकि वह यह मानते थे कि इस बिल के द्वारा सरकार विश्वविद्यालयों को सरकार के विभाग के रूप में बनाने जा रही है। कर्जन शिक्षा का लक्ष्य तो निर्धारित न कर सका लेकिन शिक्षा की व्यवस्था और प्रशासन में सफल रहा। बुद्धिजीवी वर्ग ने इस नीति का खुलकर विरोध किया। बुद्धिजीवी की शत्रुता सदा बुरी होती है, भले ही कोई तत्काल सत्ता और शक्ति के पाशविक बल से इसे दबा दे. किंतु अंततोगत्वा लंबी अवधि मे जीत बुद्धिजीवी की ही होती है।

देश में क्रांतिकारी और राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ रहा था। कांग्रेस भी दिनोंदिन तेजस्वी और जुझारू होती जा रही थी और इस सब का केंद्र बंगाल था। बंगाल ब्रिटिश साम्राज्य के लिये परेशानी का कारण बन गया था इसलिये बंगाल के विभाजन का आयोजन भी कर्जन ने किया और देश में तथा बंगाल में इसका बड़ा भयंकर विरोध हुआ। बंगाल का एक हिस्सा आसाम में मिलाया जा रहा था और

दूसरा इस प्रकार बनाया जा रहा था कि बँगला भाषी वहाँ अल्पमत में हो जाएँ। पहले हिस्से में मुसलमानों का बहुमत होता और इस प्रकार सांप्रदायिकता की दीवार खड़ी करके वे राष्ट्रीय आंदोलन को आत्मनिग्रह की दीवारों में कैद कर देना चाहते थे। इसी बीच कर्जन और सेनापति किचनर में विवाद उत्पन्न हुआ और कर्जन को इस देश से जाना पड़ा। कर्जन को दो बार गवर्नर जनरल और वाइसराय का कार्यकाल मिला था किंतु दूसरी बार वह अपनी कार्यावधि पूर्ण न कर सका और १९०५ में उसे इस्तीफा देना पड़ा। बंगभंग न करने की जनता की मांग स्वीकार कर ली गई। कर्जन युग की माँग के विरोध में था। उसका केवल एक उद्देश्य था कि सर्वविधि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि ब्रिटिश सत्ता यहाँ स्थायित्व ग्रहण कर सके। उसने व्यापक रूप से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपने में केंद्रीकरण किया। छोटी से छोटी सामान्य बातों पर भी वह नियंत्रण करता था। समय को जो नहीं पहचानता वह निराशा की गर्त में उसी प्रकार जाता है जिस प्रकार कर्जन गया।

स्थानीय स्वशासन एवं अन्य सुधारों का वास्तविक स्वरूप

सन् १८५७ के बाद समय समय पर प्रशासनिक सुधार किए गए। विधान परिषदें भी बनाई गईं, उनका विस्तार किया गया, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अपनाई गई लेकिन सबका उद्देश्य एक ही था—भारत पर अपनी सत्ता जमाए रखना। सन् १९०९ में भारत सचिव मॉर्ले ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि "मैं भारत में संसदात्मक व्यवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु क्षण भर के लिये भी प्रयास करने को तैयार नहीं हूँ।" यही नहीं, हिंदू मुस्लिम मताधिकार का अलगाव भी किया गया। सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली निकाली गई। सीमित तथा भेदभाव पूर्ण मताधिकार की व्यवस्था की गई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन तीव्र से तीव्रतर होता गया और दमन तथा सुधार की नीति असफल रही। सन् १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और सन् १९०९ मे जो सुधार किए गए उनका उद्देश्य मुसलमानों को शासन की ओर उन्मुख करना था। नरम दल के लोगों को भी इससे चोट पहुँची। भारत के लोगों को प्रजातांत्रिक व्यवस्था तथा प्रतिनिधित्व प्रणाली के अयोग्य माना गया। वर्गभेद की नीति अपनाई गई। इससे भारतवासियों में निराशा और क्षोभ उत्पन्न हुआ। नरम दल कमजोर होता गया और अंततोगत्वा सन् १९१९ में दोनों दलों में समझौता हुआ। गोखले, दादाभाई नौरोजी और फीरोजशाह मेहता की मृत्यु से नरम दल का प्रभाव घटने लगा और सन् १९०७ में कांग्रेस में जो दरार पड़ गई थी वह पाट दी गई। तिलक और ऐनी बेसेंट ने स्वशासन की माँग की, संगठन तैयार किए गए और होमरूल आंदोलन भी सक्रिय हुआ। इसी समय मुस्लिम

लीग और कांग्रेस के बीच लखनऊ में समझौता हुआ जिसमें इन दोनों ने भावी संवैधानिक योजना तैयार की, फलतः एक ऐतिहासिक भूल हुई कि कांग्रेस ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। २० अगस्त, सन् १९१७ को भारत सचिव मांटेग्यू ने ब्रिटिश संसद् में स्वीकार किया कि "धीरे धीरे उत्तरदायी शासन की स्थापना के उद्देश्य से स्वशासन संस्थाओं का भारत में क्रमिक विकास किया जायेगा।" इस घोषणा में भारतीयों को आश्वासन दिया गया था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सिद्धांत स्थिर किए गए थे कि भारत के शासन में, शनैः शनैः उसके प्रत्येक विभाग में भारतीयों को अधिक से अधिक संख्या में शामिल किया जाएगा। भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना धीरे धीरे की जायेगी; एतदर्थ भारतीयों को स्वशासन के अवसर प्रदान किए जाएँगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति क्रमिक विकास के द्वारा की जाएगी। ब्रिटिश सरकार इन आदर्शों की स्थापना के लिये समय समय पर आवश्यक निर्णय लेगी। इसी के आधार पर मांटे फोर्ड रिपोर्ट के अनुसार मई, सन् १९१९ में ब्रिटिश संसद् में प्रस्ताव पारित हुआ। सन् १९१९ के इस नियम के तहत गृह सरकार का स्वरूप, गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्य प्रणाली का स्वरूप, केंद्रीय तथा प्रांतीय विषयों का विभाजन, केंद्रीय विधानमंडल का संगठन और अधिकारों का निर्णय केंद्रीय विधान परिषद् ने किया। प्रशासनिक सुधार का यह एक महत्वपूर्ण कदम था लेकिन यह वादा भी अधूरा था। देश की राजनीतिक स्थिति इसे स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी। विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जो आशा देश को थी वह पूरी नहीं हुई।

राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म और विभिन्न सुधारों का प्रभाव

सन् १८८५ में जो राष्ट्रीय आंदोलन देश में शुरू हुआ उसे संगठनात्मक रूप सन् १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना द्वारा मिला। विदेशी शासन का कुप्रभाव देश की जनता पर था। यह साम्राज्यवादी शोषक सत्ता थी जो स्थायी रूप से भारत पर शासन करना चाहती थी। ब्रिटिश शासन निरंकुश नौकरशाही का शासन था। इन कारणों से सांस्कृतिक चेतना के साथ ही राजनीतिक चेतना भी देश में उदित हुई। पश्चिमी विचारधारा और पश्चिमी शिक्षा ने देश का ध्यान स्वतंत्रता और मुक्ति की ओर आकृष्ट किया। देश फ्रांस की क्रांति और प्रजातांत्रिक विचारधारा तथा मेजिनी और गैरीबाल्डी की राष्ट्रवादिता से परिचित हुआ और उसी स्थिति में आने के लिये राष्ट्रीय संगठन को बल मिलने लगा। बुद्धिजीवी एकचित्त हो राष्ट्र कल्याण की बात सोचने लगे। भारत की अर्थव्यवस्था शोषण के कारण पंगु हो गई। भारत से कच्चे माल का निर्यात जहाँ सन् १८५८ में साठ करोड़ का था वहीं वह चालीस वर्षों में बढ़कर दो सौ तेरह करोड़ का हो गया। यह निर्यात इसलिये बढ़ाया गया कि ब्रिटेन को अच्छा बाजार मिल सके और भारत का व्यापार चौपट हो जाए।

स्वदेशी की भावना देश में बढ़ी और ग्रामीण आत्मनिर्भरता की समाप्ति अंग्रेजों ने की। कार्नवालिस के समय में जमीदारों और शोषकों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो जनता के शोषण में साधक बना। इसके अलावा आर्थिक परिवर्तनों ने सामाजिक परिवर्तन की भावभूमि भी प्रस्तुत की। सामाजिक परिवर्तन के लिये भारतीय धर्म के सभी वर्ग आगे आए जो रीतिरिवाजों में परिवर्तन के द्वारा जनता को जागृत और चेतना संपन्न करने लगे। समाज में मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग राष्ट्रीयता की धारा से प्रभावित हुए और संगठनात्मक तथा वैचारिक भावभूमि के साथ ही साथ राजनीतिक चेतना से भी संपृक्त हुए। पढ़े लिखे युवक योग्य होने पर भी ऊँची नौकरी नहीं पाते थे। उनका अपराध यह था कि वे भारतीय थे और इसीलिये केवल छोटे पदों पर ही नियुक्त किए जा सकते थे। सभी उच्च पद अंग्रेजों के लिये थे। सन् १८५७ की क्रांति के तेरह वर्ष बाद भी केवल एक ही व्यक्ति इंडियन सिविल सर्विस में आ सका था। इन नवयुवकों ने भी कलकर राष्ट्रहित के लिये काम किया। आवागमन के साधनों का भी दिनोंतर विकास हो रहा था। डाक-तार-व्यवस्था भी चालू हो गई थी। शासन में एकता की स्थापना राजनीतिक एकता के नियमन में भी सहायक हुई। सन् १८५८ के बाद देश में दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों की बाढ़ सी आ गई। इन्होंने जनता को राजनीतिक शिक्षा दी, उसके सुख-दुःख-निराशा में दिशा निर्देशक का काम किया, राष्ट्रीय विचारधारा पनपाई, राजनीतिक विवेक की सृष्टि की और अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता का भाव जनता में जागृत किया। अजानुकीय निर्णय देशहित में नहीं थे इसलिये भी क्षोभ फैला तथा राष्ट्रीय चेतना और संगठन भी दृढ़ हुए। सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और धीरे धीरे यह संस्था बुद्धिजीवियों के आकर्षण का केंद्र बनी। माँग और प्रस्ताव करनेवाली यह संस्था दिनोत्तर जुझारू होती गई। मि० ह्यूम इसके संस्थापक थे किंतु उनका नियंत्रण इस संस्था पर नहीं रह गया था। उन्हें भारत छोड़कर इंगलैंड जाना पड़ा। कांग्रेस शुरू में एक सुधारवादी संस्था थी जिसपर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, रमेशचंद्र बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानडे और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे उदारवादी नेताओं की छाप थी जो संवैधानिकता में ही विश्वास करते थे। आरंभ में यह संस्था सरकारी नौकरी, प्रतिनिधि शासन व्यवस्था और प्रशासनिक सुधार तक सीमित थी। वह ब्रिटेन और भारत के हित को एक मानती थी लेकिन जनता नहीं। सन् १९०५ तक यह राजनीतिक साधुवाद चलता रहा, किंतु इससे लाभ भी हुआ और वह लाभ था राष्ट्रीय एकता का विकास और राष्ट्र की सेवा के लिये जागरण। किंतु सन् १९०५ से १९२० के बीच उग्रवादी राष्ट्रीयता की विचारधारा भी पनपी। उग्रवादी वे समझे जाते थे जो जुझारू प्रकृति के थे। उग्रवादी आंदोलन के नेता तिलक हुए जिन्होंने स्वतंत्रता को जन्मसिद्ध अधिकार माना। क्रांतिकारी आंदोलन भी स्थान स्थान पर

संगठित और छिटपुट रूप में हुए। उग्रवादी आंदोलन इसलिये भी ज़ोर पकड़ने लगा कि सरकार द्वारा जनता की माँगों की निरंतर अवहेलना होती रही लाला लाजपत राय जैसे लोगों को ब्रिटेन से लौटने पर यह मानना पड़ा कि भारत की समस्या को समझने का अवकाश न तो ब्रिटेन के नागरिकों को ही है और न वहाँ की संसद् को ही। अनुनय विनय के स्थान पर संघर्ष और पुरुषार्थ की राजनीति ने जन्म लिया और अंग्रेजों ने रोटी के बदले सदा पत्थर ही दिए। इस स्थिति का मुकाबला उग्रवादी करना चाहते थे। आर्थिक असंतोष तो था ही, अकाल आदि के समय अंग्रेजों का भारतवासियों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार भी भारतीयों को ठेस पहुँचानेवाला था। राष्ट्रवादियों में आत्मसंमान की भावना ने आत्मविश्वास को जन्म दिया और राष्ट्रीय भावना को जागृत किया। कर्जन की प्रतिक्रियावादी शासन प्रणाली ने उनके पुरुषार्थ को उत्तेजित किया, बंग भंग की योजना ने संघर्ष के लिये प्रेरित किया। इसी बीच सन् १८९४ में इटली को अफ्रीकी देश अबीसीनिया ने पराजित किया और सन् १९०५ में रूस पर जापान ने विजय प्राप्त की, इससे लोगों में अफ्रीका और एशिया की शक्ति पर विश्वास जगा और यूरोपीय श्रेष्ठता की भावना को ठेस पहुँची। राजनीतिक परिपक्वता के कारण यह उग्रवादी राष्ट्रीय आंदोलन उभरा था जो आत्मविश्वास से दीप्त था और जिसका नेतृत्व लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपत राय जैसे नेता कर रहे थे। तिलक ने केवल स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार ही नहीं बताया, यह भी कहा कि 'इसे हम लेकर रहेंगे'। जो देश की मनीषा चाहती थी, जनता चाहती थी, वही ये नेता भी कहते थे और जनता पर इनका अगाध विश्वास था। स्वदेशी आंदोलन भी आरंभ किया गया, सविनय अवज्ञा आंदोलन करने की बात भी उठी। उग्रवादी आंदोलन केवल वैचारिक आंदोलन ही नहीं था, राष्ट्रीय नेता उसका संगठन भी अपने क्षेत्र में कर रहे थे। यद्यपि उग्रवादी सन् १९०७ से १९१६ तक कांग्रेस से अलग रहे, परस्पर फूट और राजनीति के कारण. किंतु सन् १९१३ में फिर दोनों में समझौता हुआ। ये नेता अपनी विचारधाराओं की रक्षा के लिये जेल भी जाते रहे और दूसरी ओर क्रांतिकारी, साहसपूर्ण और जीवनोत्सर्गी कार्यों के द्वारा राष्ट्रीयता का अलख जगाते रहे। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों ने अंग्रेजों का साथ दिया किंतु पुरस्कार स्वरूप उन्हें जलियाँवाला कांड मिला। किंतु रूस की क्रांति नई चेतना जगाने में सहायक हुई और स्वतंत्रता के संघर्ष को इससे प्रेरणा मिली। युद्ध में सहयोग के बदले में देश को दमन मिला। यह सब तो हुआ लेकिन भारत के बुद्धिजीवियों और जनता ने कभी हार स्वीकार नहीं की। निराशा के क्षणों को भी आशा के मंत्र से

अभिषिक्त किया। नवोन्मेष की यह भूमिका केवल जनजीवन पर ही छाई हुई नहीं थी, साहित्य भी उससे संपुष्ट और संवलित था।

देश की आंतरिक स्थिति

सन् १८५७ में शस्त्र की लड़ाई में भारत पराभूत हुआ। अंतरात्मा में आदर्श की पवित्रता भी संस्थित हो तो उच्चादर्श की प्राप्ति के लिये शास्त्र की अवतारणा होती है। पवित्र उद्देश्य शस्त्र से नहीं, शास्त्र से पूरा होता है। सन् १८५७ के पराभव के बाद लोकमानस स्तब्धता और ग्लानि से भर उठा पर तत्काल ही निराशा ने आशा को जन्म दिया। विप्लव के बाद का समय आशा की चेतना से दीप्त था और आस्था की भाषा से मुखर। शास्त्र केवल ज्ञान और विज्ञान का पुंजीभूत विवेक ही नहीं अपितु अनुभूतियों के माध्यम से भी शास्त्र की सृष्टि होती है। वह युग वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही समुन्नत न रहा हो लेकिन पुनरुत्थान के लिये प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक क्षेत्र का व्यक्ति चाहे वह प्रगतिशील हो, रूढ़िवादी हो अथवा समयोपयोगितावादी हो, अपने ढंग से लगा था। राष्ट्र का एक नकशा बन रहा था जिसे राष्ट्रीयता के रंग से रँगा जा रहा था। अतीत का आलोड़न हो रहा था और वर्तमान से संबल एकत्र किया जा रहा था। भविष्य की रचना के लिये संकल्पबद्ध हो अंतःप्रेरणा से जनमानस प्रस्थान कर रहा था। सबका ध्येय जनकल्याण और लोकमंगल का अधिष्ठान तथा दैहिक, दैविक और भौतिक बंधन से मुक्ति का था। गजब का समां सभी क्षेत्रों मे था। जनता की भाषा के शिल्पी भी रचना के क्षेत्र में उतने ही आगे थे जितना किसी देश के साहित्यकारों को होना चाहिए।

उस युग में प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श से अनुप्राणित लोग थे और सभी आदर्शवादी थे। स्वार्थी लोग भी आदर्श के खिलाफ बोलने की हिमाकत नहीं करते थे। अनाप शनाप गलत सही काम करनेवाले लोग भी आदर्श के परिवेष्ठन में ही अपने स्वार्थसाधन की भूमिका प्रस्तुत करते थे। वे चाहे वैष्णव हों, आर्यसमाजी हों, ब्रह्मसमाजी हों, शाक्त हों, वेदांती हों या सर्वसिद्धांती हों, सबके सब अपने आदर्श के दीवाने थे। ये आदर्श ऊपर से देखने में भले ही एक दूसरे के विलोम में हों परंतु भीतर से एक दूसरे के अनजाने ही स्वतः-पूरक भी थे। आदर्शों का ऐसा युग जो किसी उद्देश्य से मंडित हो, विरले ही किसी राष्ट्र के जीवन में आता है।

साहित्यिक अवदान

निर्माण की प्रक्रिया जब आरंभ होती है तो उसके लिये देशकाल वातावरण प्रस्तुत करता है और समाज का संकल्प नई मूर्ति गढ़ना आरंभ करता है। मूर्ति की

रचना में केवल समाज का ही संकल्प सहायक नहीं होता अपितु समाज की मनीषा को कांतिदान करने वाले साहित्यकार का अवदान भी कम महत्व का नहीं होता।

भारतेंदु युग में जो साहित्यकार उत्पन्न हुए वे देश की दशा और समाज की स्थिति से पूर्णत: परिचित थे। वे समाज से कटे हुए केवल एकांतवादी बौद्धिक चमत्कार के व्यक्तिवादी रचनाकार नहीं थे अपितु समाज के भीतर रहकर उसका सुख दु:ख, आशा निराशा और संकल्प को भोगने और सँवारनेवाले लोग थे। जिस प्रकार धर्म और शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिभाओं का उन्नयन हो रहा था उसी प्रकार साहित्य का क्षेत्र भी उर्वर था। अभाव रचना की प्रेरणा देता है और अभाव की अनुपस्थिति में स्वभाव नष्ट हो जाता है। नष्ट स्वभाव भावलोक की सृष्टि नहीं कर सकता। अपने चित्त को जब तक लोकचित्त बनाने की क्षमता साहित्यकार में नहीं आती तब तक साहित्य समाज की संपदा नहीं बन सकता। साहित्य एकांत सृष्टि होते हुए भी सामाजिक कृति है, असामाजिकता साहित्य धर्म की विरोधी है।

इस युग में जो साहित्यकार आए थे वे साधनसंपन्न नहीं थे और न उनके पास सुख सुविधा का वह रूप था जो आज है। पर कुछ कर गुजरने की जो भावना उनमें थी उसने उनके साहित्य को जीवंत और जनचेतना का साहित्य बनाया।

भारत में अतीत का साहित्य महान् रहा है। हिंदी साहित्य का अतीत भी विश्व के किसी भी गौरवशाली साहित्य के अतीत से कम गौरव का नहीं। हिंदी की अपनी परंपरा रही है। छपाई आदि के साधन न होने के कारण काव्य के माध्यम से साहित्य की सृष्टि होती रही। नाटक को भी काव्य का अंग ही माना गया था और प्रदर्शन के लिये चंपू की सृष्टि भी होती रही। औद्योगिक उन्नयन, वैज्ञानिक अनुसंधानों और यांत्रिकता के द्वारा जीवन और विस्तार पाता है। औद्योगिक रचनाप्रक्रिया में एकरसता होती है। इस रचनाप्रक्रिया द्वारा एकरसता की सृष्टि होती है इसलिये विज्ञान का क्षेत्र इसके द्वारा सपुष्ट होता है। विज्ञान जीवन का अंग है किंतु अनुभूति जीवन का रस। रस के बिना जीवन फीका है और विज्ञान के बिना जीवन की प्रगति अवरुद्ध। भोग और भाव का समन्वय युगसापेक्ष है और यह जीवन के अंतर का युग है। साहित्य भी एक यौगिक प्रक्रिया है, इस यौगिक प्रक्रिया की रचना में उपलब्ध सभी साधन सहायक होते हैं। साहित्य केवल वर्तमान का संदेशवाहक ही नहीं, भविष्य का नियामक भी होता है। इस युग में पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता का भारत की भावगत सभ्यता से योग होने के बाद नवोन्मेष की नई दिशा का उदय हुआ। भारत ने पश्चिम से सीखा, यद्यपि पूरब के लोग अनेक क्षेत्रों में उनसे आगे थे। आत्मसंमानी और स्वाभिमानी जब कुछ सीखता है तो निश्चय ही उसे अपने रंग में ढालता है और उतना ही ग्रहण करता है जितना उसके काम का होता है।

हिंदी जगत् के लोग संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों से ही परिचित नहीं थे, केवल हिंदी की महान् साहित्यिक परंपरा का ही अवगाहन नहीं कर रहे थे अपितु इस क्षेत्र में उनके सामने पश्चिम का अवदान भी था। बंगाल से ही देश का शासन चलता था और वहीं पर वाइसराय और गवर्नर जनरल रहते थे। बंगाल में पश्चिम का कृतित्व सबसे पहले आता था और बंगाल में ही प्रतिभा का तेज दीप्त होता था। उसका मंगलमय पक्ष पहले बँगला साहित्य में आता था। बँगला से भी हिंदी का साहित्यकार सहज ही परिचित था। हिंदी क्षेत्र के लोग केवल बँगला से ही नहीं सीधे अंग्रेजी से भी परिचित होने लगे थे। संस्कृत और हिंदी तो वे जानते ही थे। इसके साथ ही मुद्रण की सुविधा का प्रचार और प्रसार बड़े पैमाने पर सर्वत्र हो रहा था। उस युग के लोग उपाधि परीक्षाएँ तो बहुत बड़ी बड़ी पास नहीं थे लेकिन गंभीर स्वाध्यायी थे। इसलिये माध्यमिक स्तर का व्यक्ति भी जितनी अच्छी अंग्रेजी उस समय जानता था वैसी स्थिति आज प्रायः उच्च से उच्च शिक्षाप्राप्त व्यक्ति की भी नहीं है। मुद्रण की सुविधा के कारण तथा वैज्ञानिक प्रगति के कारण गद्य के विस्तार की बात बड़े व्यापक पैमाने पर उस युग में हुई। आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माण कार्य को भावभूमि भारतेंदु युग में मिली। भारतेंदु को यह श्रेय जाता है कि आधुनिक हिंदी के वे युगनिर्माता बने और उन्हीं के नाम पर युग चला।

साहित्यिक मंडल

सभी क्षेत्रों में, उन्नीसवीं शताब्दी में प्रगति को बात अंगीकार कर ली गई थी। मौलिक व्यक्तित्व के धनी साहित्यकार जो व्यक्तिगत अनुभूतियों का समाज को दान देते हैं, वे संगठन के कच्चे होते हैं। फिर भी इस युग का साहित्यकार उठा और अन्य क्षेत्रों में जिस प्रकार का संगठन हो रहा था उसके लिये सक्रिय हुआ। प्रारंभ में बड़ा संगठन बनाना कठिन कार्य था इसलिये मित्र मंडलियों के बीच साहित्य रचना का कार्य प्रारंभ हुआ और इनका अग्रगण्य भारतेंदु मंडल बना। पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हो चुका था इसलिये प्रायः सभी साहित्यकार प्रकाशन करते थे। इनके भीतर एक दूसरे के सहयोग की भावना थी क्योंकि वे सभी मौलिक तो थे ही, निर्माण की शक्ति भी उनमें थी। उनमें अधिकांश अंग्रेजी या बँगला के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य से परिचित थे। गद्य का विकास भारत में बहुत कम हो पाया था लेकिन पश्चिम में गद्य साहित्य बहुत अधिक रचा गया था इसलिये गद्य की उन सब विधाओं पर भी भारतेंदु युग में प्रयोग किया गया जो पश्चिम में थीं।

गद्य की विधाओं की यह बात व्यापक रूप से प्रयोग में आई और प्रयोग के द्वारा उसमें निखार हुआ। शिक्षा की व्यवस्था के साथ ही खड़ी बोली का भी प्रसार हो रहा था। खड़ी बोली को ही गद्य की भाषा बनाया गया। पद्य की भाषा ब्रजभाषा बनी रही। पत्र पत्रिकाओं के व्यापक प्रसार ने गद्य को निखारा। पूरे भारतेंदु युग में

गद्य के क्षेत्र में निबंध, प्रहसन, नाटक, समालोचना, समीक्षा और व्यंग्य विनोद का साहित्य रचा गया जो पुस्तकों के माध्यम से सामने आया या धारावाहिक रूप से पत्र पत्रिकाओं में छपा मंडलों द्वारा रचे साहित्य ने संस्थाओं को रूप प्रदान करना शुरू कर दिया।

साहित्यिक संस्थाएँ

साहित्य के संवर्धन और प्रवर्धन के लिये अनेक छोटी मोटी स्थानीय संस्थाएँ गठित हुईं और काल के प्रवाह में विलीन हो गईं। किंतु हिंदी जगत् में इस क्षेत्र में सबसे बड़ा प्रयत्न सन् १८९४ में हुआ और वह प्रयत्न काशी में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना का था। देश के धार्मिक और सामाजिक आंदोलन में जो महत्व आर्य-समाज का है, राजनीतिक क्षेत्र में जो महत्व कांग्रेस का है वही महत्व हिंदी जगत् में नागरीप्रचारिणी सभा का है। नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी को केवल मंच ही नहीं दिया, रचना का अनंत स्रोत भी दिया। साहित्य रचना के क्षेत्र में इस संस्था का अवदान अनन्य विभूतिमय है। संस्था ने स्थापित होते ही नागरीप्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया जो गंभीर साहित्य का बीज बिंदु है। यह आज भी हिंदी की सर्वमान्य महान् शोध पत्रिका है। सभा की ओर से ही 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में पड़कर युग नियामक बनी। पं० मदनमोहन मालवीय हिंदी जगत् के नेता बने और हिंदी के रथ के संचालन का कार्य उन्होंने अपने हाथ में लिया। नागरी लिपि की स्थापना उन्होंने कचहरियों में कराई। इस युग में हिंदी के दो विधायक नेता सामने आए---बाबू श्याम-सुंदर दास और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य की सृष्टि में आचार्य का कार्य किया और बाबू श्यामसुंदर दास ने हिंदी वाङ्मय को भारतीय भाषाओं के उच्चतम धरातल पर स्थापित करने का सार्थक और सिद्ध प्रयत्न। एक ने हिंदी वाङ्मय और शिक्षा को नया जीवन दान दिया और दूसरे ने 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य की सृष्टि की और प्रतिभाओं का उन्नयन किया। भारतेंदु युग की जो प्रवृत्तियाँ किशोरावस्था में थीं उन प्रवृत्तियों को दोनों महारथियों ने यौवनदान दिया। 'सरस्वती' ने ही केवल साहित्य की रचना में युगविधायक कार्य नहीं किया अपितु हिंदी क्षेत्र के कोने कोने से पत्र पत्रिकाएँ निकलीं जिन्होंने हिंदी की साहित्य सर्जना को विभूति के द्वार पर पहुँचा दिया। इस युग में जितनी पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन हुए वे सब की सब विविध विषयों से विभूषित थीं। विशेष वर्ग के लोगों को प्रोत्साहन देने के लिये बालकों और स्त्रियों से संबद्ध पत्र पत्रिकाएँ भी निकलीं। इनके माध्यम से उन विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने हिंदी साहित्य को अनन्य श्री प्रदान की। इनमें से प्रमुख पत्र पत्रिकाओं की सूची अकारादि क्रम से इस प्रकार है—

१. अबला हितकारक—सन् १९१२ ई०
२. अभ्युदय—सन् १९०६-७-८ ई०
३. आर्य वनिता—सन् १९०६ ई०
४. आनंद कादम्बिनी—सन् १९०४, ६, ७, ८ ई०
५. आर्य दर्पण—सन् १९०५ ई०
६. आज—सन् १९२० ई०
७. औदुम्बर—सन् १९१२-१३ ई०
८. इंदु—सन् १९१०-१५ ई०
९. उपन्यास बहार—सन् १९०७ ई०
१०. उषा—सन् १९१४, १५ ई०
११. उपन्यास सागर—सन् १९०३, ४, ५ ई०
१२. उदय—सन् १९०६ ई०
१३. कमला—सन् १९०७, १९१६ ई०
१४. कलवार क्षत्रिय मित्र—सन् १९१८, १९ ई०
१५. कन्या सर्वस्व—सन् १९१३ ई०
१६. कलाकुशल—सन् १९०६ ई०
१७. कवींद्र वाटिका—सन् १९०७-८ ई०
१८. किसानोपकारक—सन् १९१९, २० ई०
१९. कन्या मनोरंजन—सन् १९१४ से १९१९ ई०
२०. श्रीकृष्ण चैतन्य चंद्रिका—सन् १९११ ई०
२१. गृहलक्ष्मी—सन् १९११, १२, १३, १४ ई०
२२. गृहस्थ—सन् १९१५, १६ ई०
२३. चाँद—सन् १९१०, ११, १२, १३ तथा १९१६ ई०
२४. चित्रमय जगत—सन् १९२० ई०
२५. छत्तीसगढ़ मित्र—सन् १९०० तथा १९०२ ई०
२६. जैन पथ प्रदर्शक—सन १९२० ई०
२७. देवनागर—सन् १९०५ ई०
२८. देहाती—सन् १९११, १३ ई०
२९. धर्माभ्युदय—सन् १९१८, १९ ई०
३०. नृसिंह—सन् १९०७ ई०
३१. नवनीत—सन् १९१३, १४, १५ ई०
३२. निगमागम चंद्रिका—सन १९०२, १७ ई०
३३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका,—सन् १९१० से १९१९ ई०

३४. नागरी हितैषिणी पत्रिका—सन् १९०६ ई०
३५. पाटलिपुत्र—सन् १९१४ ई०
३६. प्रभा—सन् १९१३, १४, १५, २० ई०
३७. प्रतिभा—सन् १९१८ ई०
३८. प्रताप—सन् १९१४-१५ ई०
३९. परोपकारी—सन् १९०८, १९०९ ई०
४०. प्रियंवदा—सन् १९०९, १४ ई०
४१. बाल प्रभाकर—सन् १९०७, ८, १० ई०
४२. ब्राह्मण सर्वस्व—सन् १९०५, ६, ७, १२, १४, १५ ई०
४३. बालहितैषी—सन्—१९११, १२, १३, १५ ई०
४४ भास्कर—सन् १९११ से १९२० ई०
४५. भारती सर्वस्व—सन् १९०५ ई०
४६. भारत भानु—सन्१९०६ ई०
४७. भारतोदय—सन् १९११, १३, १९ ई०
४८. भारत भगिनी—सन् १९०५ ई०
४९. भारत जीवन—सन् १९०६ ई०
५०. भारतमित्र—सन् १९०३, ४, ५, ६ ई०
५१. भाषा चंद्रिका—१९०० ई०
५२. भारतेंदु—सन् १९०५, ६, ८, ९ ई०
५३. मर्यादा—सन् १९११ से १९२० ई०
५४. मनोरमा—सन् १९१२, १३, १४, १८ ई०
५५. मनोरंजन—सन् १९१३, १४, १५, १६ ई०
५६. माधुरी—सन् १९१३ ई०
५७. मित्र—सन् १९०६, १५ ई०
५८. राजपूत—सन् १९०१, २, ३, ८ ई०
५९. रसिक रहस्य—सन् १९०७, ८, ९, १० ई०
६०. ललिता—सन १९१८ ई०
६१. लक्ष्मी—सन् १९०८–१९२० ई०
६२. वैष्णव सर्वस्व—सन १९१५ ई०
६३. वैश्योपकारक—सन् १९०५, ६ ई०
६४. विश्वमित्र—सन् १९१५ ई०
६५. सरस्वती—सन् १९००–१९२० ई०
६६. स्वदेश बान्धव—सन् १९०५, १७ ई०

६७. समालोचक—सन् १६०२ ई०
६८. स्त्रीधर्मशिक्षक—सन् १६०३, ६, १०, १६ ई०
६६. सारस्वत खत्री सेवक—सन् १६१४, १७, १८, १० ई०
७०. साधु—
७१. सुदर्शन—
७२. सुवर्णमाला—सन् १६१५ ई०
७३. हिंदी प्रदीप—सन् १६०१-१६०७ ई०
७४. हित वार्ता—
७५. हिंदी बंगवासी—
७६. हिंदी ग्रंथमाला—सन् १६०६ ई०
७७. हिंदी केसरी—सन् १६०७ ई०
७८. हरिश्चंद्र चंद्रिका—सन् १६०७ ई०
७६. क्षत्रिय हितकारिणी—सन् १६१८, १६ ई०
८०. क्षत्रिय हितकारी—सन् १६१५, १७, १८, २० ई०
८१. ज्ञानशक्ति—सन् १६२० ई०

इन पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से गुलेरी, प्रेमचंद, प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, वृंदावनलाल वर्मा, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुंदर दास, मिश्रबंधु, शिवपूजन सहाय, हरिऔध, बालमुकुंद गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, गोविंदनारायण मिश्र, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' जैसे गद्यकार और श्रीधर पाठक, हरिऔध, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला जैसे कवि प्रकट हुए। गद्य के क्षेत्र में कहानियाँ, निबंध, नाटक, उपन्यास, आलोचना, रेखाचित्र, लिखे गए। काव्य के क्षेत्र में भारतेंदु युग में खड़ी बोली काव्य की भाषा नहीं बन पाई थी। उन्नीसवीं शताब्दी तक यही स्थिति रही। खड़ी बोली काव्य की भाषा हो सकती है या नहीं, इसपर भयंकर विवाद हुआ लेकिन इस युग में काव्य के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई। द्विवेदी युग के अंत में ही छायावाद का शुभारंभ हुआ। इस कार्य में जिन पत्रिकाओं का विशेष योगदान है उनके नाम हैं—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, हिंदी प्रदीप, भारत मित्र, भारत जीवन, मित्र, भारत भगिनी हिंदी बंगवासिनी, भाषा चंद्रिका, छत्तीसगढ़ मित्र, सुदर्शन, समालोचक, हितवार्ता, लक्ष्मी, अबला, हितकारक, स्त्रीदर्पण वैश्यापकारक, भारतेंदु, बालप्रभाकर, हिंदी ग्रंथमाला, आर्य वनिता, हिंदी केसरी, नृसिंह, अभ्युदय, कमला, देवनागर, इंदु, गृहलक्ष्मी, चाँद, प्रताप, साधु, मर्यादा, भास्कर, चित्रमय जगत मनोरंजन, प्रभा, नवनीत, ज्ञान शक्ति, ललिता आदि। द्विवेदी युग के अंतिम वर्ष सन् १६२० में 'आज' दैनिक का प्रकाशन हुआ और उसके साथ ही अनेक अन्य दैनिक भी प्रकाशित हुए।

किंतु 'आज' हिंदी क्षेत्र का युग विधायक पत्र सिद्ध हुआ। द्विवेदी युग में सभी क्षेत्रों में खड़ी बोली की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और भारतेंदु युग में जो कार्य उठाया गया था वह बड़ी सतर्कता, सावधानी और मर्यादा के साथ श्रीसंपन्न हुआ।

जहाँ तक काव्य के क्षेत्र का प्रश्न है, इस युग का काव्य स्वतंत्रता और मानवतावाद का संदेशवाहक तथा पीड़ित, प्रताड़ित और उपेक्षित के प्रति स्नेह और संवेदना का साहित्य है। किसान से लेकर श्रमिक तक इस युग में काव्य के विषय बने। सामाजिक सुधार के जो आंदोलन चल रहे थे उन सब की छटा तो इस युग के काव्य में थी ही, पौराणिक जीवन और चरित्रों के संबंध में भी युगसापेक्ष काव्य की रचना हुई। इस युग के कवियों ने केवल जीवनवादी स्थूल काव्य की रचना नहीं की, अपितु प्रकृति, शुभ भावों तथा प्रेम और सौंदर्य के लिये भी काव्य की सृष्टि हुई। जहाँ तक काव्य के रूपविधान का प्रश्न था, काव्य में खड़ी बोली की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई, यद्यपि पुरानी परिपाटी के जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएँ करते रहे। 'प्रिय प्रवास', 'रामचरित चिंतामणि' आदि महाकाव्य जहाँ लिखे गए वहीं खंडकाव्य और स्फुट कविताएँ भी लिखी गईं जिनमे गीत और प्रगीत तो थे ही, पुराने छंदों में भी खड़ी बोली की कविताएँ लिखी गईं। इस युग में सही अर्थों में उपन्यास का लेखन आरंभ हुआ और कहानियों की रचना का शुभारंभ।

जहाँ तक निबंधों का प्रश्न है, द्विवेदी युग में निबंध अपने वैभव के चरम उत्कर्ष पर पहुँचे, रेखाचित्र भी इस युग में लिखे गए तथा निबंधों के विषय का विस्तार भी हुआ। इस युग का साहित्यकार प्रत्येक क्षेत्र में जीवन से ओतप्रोत था। नाटक के क्षेत्र में पारसी रंगमंच के लिये नाटक लिखे गए, प्रहसन भी लिखे गए। प्रसाद जी की बहुत सी रचनाएँ हैं जिनमें 'राजश्री' भी है। यह युग, जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है, हिंदी नाटकों को गंभीर रूप से स्थापित करने का युग है। इस युग में भावी साहित्य के विधायक प्रसाद को वह संबल और शक्ति मिली कि प्रिय पात्रों को उन्होंने आगे जाकर मूर्तित किया जिससे हिंदी का आधुनिक साहित्य नाटक और काव्य के क्षेत्र में चरम धरातल पर पहुँचा। रामचंद्र शुक्ल जैसा निबंधकार इसी युग की देन है। आलोचना और समीक्षा का श्रीगणेश भी इस युग से ही हुआ। सच्चे अर्थों में बीसवीं शताब्दी के ये यह दो दशक हिंदी के आधुनिक साहित्य के इतिहास के अनन्य वैभवशाली दशक हैं जिनकी शक्ति और क्षमता हिंदी को भारतीय भाषाओं में उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है।

अनुवाद का कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में ही आरंभ हो गया था। जहाँ कालिदास की रचनाओं, अंग्रेजी साहित्य और बँगला साहित्य का अनुवाद हुआ वहीं अनुवाद की परिधि बड़ी व्यापक हुई। भारतीय और विदेशी भाषाओं के, यहाँ तक कि मूल अरबी

फारसी से भी अनुवाद का कार्य इस युग में हुआ और बड़े व्यापक पैमाने पर हुआ।

द्विवेदी युग में वैचारिक उत्तेजना का साहित्य भी बड़े व्यापक पैमाने पर आया। साहित्यिक विषयों से लेकर जीवन के अन्य क्षेत्रों तक का साहित्य भी इस युग में प्रस्तुत हुआ। पुरातत्व और शोध का कार्य भी गंभीर धरातल पर अवस्थित हुआ। प्रामाणिक शब्दकोश और व्याकरण भी आए। इस दृष्टि से देखा जाए तो द्विवेदी युग हिंदी साहित्य का एक ऐसा नियामक युग है जिसने भावी साहित्यिक रचना को नई दिशा दी।

केवल साहित्य की रचना ही इस युग में नहीं हुई, हिंदी और देवनागरी के प्रचार का कार्य भी किया गया। देश को एक भाषा देने का आंदोलन नागरी-प्रचारिणी सभा ने उठाया और सन् १६११ में उसने हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना कर इस आंदोलन को परिपुष्ट किया। भाषा और साहित्य के चिंतन का मंच बनकर हिंदी साहित्य संमेलन ने बड़ा व्यापक कार्य किया। हिंदी को घर घर पहुँचाने के लिये हिंदी की परीक्षाएँ चलाई गईं। इस प्रचार का यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस के मंच से भी हिंदी को देश के भावों की अभिव्यक्ति की भाषा माना जाने लगा। द्विवेदी युग में केवल हिंदी भाषा भाषी क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि सारे देश में हिंदी साहित्य की रचना हो रही थी और हिंदी की संपन्नता में इसके द्वारा अभिवृद्धि हो रही थी। द्विवेदी युग के साहित्य में जीवन के मूल्यों का जो बोध है वह जीवन की जय का साहित्य है उस युग के साहित्य में समाज का धर्म है, उस युग का साहित्य अनुभूति की चेतना में विलसित है और भाषा के शिल्प में सुसंगठित है।

द्विवेदी युग के नामकरण को लेकर बहुत से विद्वानों में मतभेद है। काल के प्रवाह को देखने पर ऐसा लगता है कि एक से एक अनूठी प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में उद्भूत हुईं। व्यक्ति के ऊपर युग का नामकरण अच्छा न माना जाए तो भाव या धारा के ऊपर युग का नाम रखना वैज्ञानिक माना जाता है। लेकिन इस युग में एक धारा नहीं थी, अनेक धाराएँ थीं और सब की सब रससिक्त थीं, लेकिन सबके उत्स में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का हाथ था। जो उनके अनुगामी थे उन्होंने उनसे प्रेरणा और आशीर्वाद लिया। जो उनके विरोधी थे उनमें भी विरोध की प्रेरणा का उत्स पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की रीति नीति और व्यवहार के कारण ही उत्पन्न हुआ। जो समसामयिक और मित्र थे वे भी उनके सहकर्मी या प्रतिस्पर्धी थे, इसलिये उन्हीं को केंद्रबिंदु समझकर साहित्य की सृष्टि हुई। 'सरस्वती' में उन्होंने जो श्रम किया उससे साहित्यकारों की एक जमात पैदा हुई। कहानी का

श्रीगणेश हुआ, आलोचना का सर्जन और साहित्यिक विचारों का आंदोलन हुआ, साहित्यिक पत्र पत्रिकाओं को नया मोड़ मिला। इतना विविधपक्षीय रूप किसी भी आचार्य का अवदान की दृष्टि से उस युग में साहित्य के क्षेत्र में नहीं था और उनको जो मान्यता प्राप्त थी या उनका जो विरोध था वह सबका सब इस बात का परिचायक है कि वे इस युग के विधायक हैं। इसलिये 'द्विवेदी युग' के नाम से इस युग की संज्ञा निश्चय ही उचित है।

—:o:—

द्वितीय अध्याय

द्विवेदी युग का नाट्य साहित्य

नामकरण की समस्या

भारतेंदु के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणाकेंद्र पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इसीलिये साधारणतया यह युग द्विवेदी युग के नाम से अभिहित किया किया जाता है। इस दूसरे उत्थान में काव्य, उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना आदि साहित्यांगों की उत्तरोत्तर वृद्धि तो होती रही, पर नाटक की प्रगति अवरुद्ध होती हुई दिखाई पड़ी। भारतेंदु युग के लेखकों का जो अभूतपूर्व उत्साह बहुसंख्यक नाटकों के प्रणयन का कारण बना था, वह इस युग में आकर मंद पड़ गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'भारतेंदु के पीछे नाटकों की ओर प्रवृत्ति कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक न दिखाई पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत्ता चलती रही'। वस्तुतः भारतेंदु जी का समय हिंदी नाटकों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है और उनके बाद ही नाटकों के क्षेत्र में जो ह्रासोन्मुखता दिखाई पड़ी थी उससे उस समय के विद्वानों और लेखकों को मार्मिक कष्ट हुआ था। 'चोपट चपेट' नामक प्रहसन में उपलब्ध किशोरीलाल गोस्वामी का कथन इसका प्रमाण है—'हिंदी के अभाग्यवश जब से भारतेंदु बाबू हरिश्चंद जी परलोक सिधारे हैं, तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है। गद्य की तो जो हुई है सो हुई है, पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर काँप उठता है। बहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं अस्तु और नाटक विद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने संग ही ले गये हों। उनके दो रूपक कि जिनसे भंग भर जी लगे, छोड़ के और आज तक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिंदी भाषा की पुष्टि होय यह अभाग्य नहीं तो क्या ?'

इसी प्रकार रामकृष्ण वर्मा ने भी अपने 'कृष्णकुमारी' नाटक में भारतेंदु के पीछे नाटकों की हीन अवस्था पर खेद प्रकाश किया है—

'....जब से श्रीयुत भारतभूषण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने और विशेषतः विद्वद्शिरोमणि लाला श्रीनिवासदास जी ने इस भारतवर्ष को छोड़कर स्वर्ग को भूषित किया, तब से अभागिनी हिंदी में कोई भी नाटक, उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रंथ देखने में न आया। नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनों है वह केवल वे ही लोग जान सकते हैं, जो नाटक के गुण-दोष और लक्षणों से अभिज्ञ हैं। इन दिनों यह

परिपाटी पड़ गई है कि दो तीन पुरुषों की बातचीत अथवा रंगभूमि पर व्यर्थ ही हाथ पैर हिलाने ही को लोग नाटक कह देते हैं। स्वर्गवासी बाबू हरिश्चंद्र जी ने इन दोषों को दूर करने और लोगों को नाटक के लक्षण और लाभ समझाने के लिये 'नाटक' नामक उत्तम ग्रंथ लिखा था परंतु आलसी लोग उसे कब देखते हैं· · ·?'

भारतेंदु युग की तुलना में द्विवेदी युग के प्रारंभ में नाटकों के प्रति लेखकों का जो उपेक्षा भाव दिखाई पड़ा, उसी का यह परिणाम है कि हिंदी-नाटक-साहित्य के इतिहास अथवा विकास पर लिखनेवाले प्रायः सभी लेखकों ने उसको निर्महत्व समझकर उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की है। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि 'भारतेंदु जी तथा उनके मंडल के अस्त होने पर हिंदी-साहित्य-प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिन के लिये बंद कर ली[1]'। इसीलिये संभवतः उन्होंने अपने हिंदी नाट्य साहित्य में भारतेंदु काल के नाटकों का स्वतंत्र रूप से विवरण देने के बाद वर्तमान काल का विवेचन प्रारंभ कर दिया है और नाटकों की दृष्टि से द्विवेदी युग का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार डा० सोमनाथ गुप्त ने भी 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में १९०५ ई० से १९१५ ई० तक के समय को, जो पूर्ण रूप से द्विवेदी जी का ही युग है, संधिकाल की संज्ञा प्रदान की है। आश्चर्य है, गुलाब राय जी ने भी इसी प्रकार संधिकाल कहकर द्विवेदी युग की उपेक्षा की है[2]। प्रसिद्ध विद्वान् डा० दशरथ ओझा जैसे अन्य लेखकों में भी नाटकों के उत्कर्ष की दृष्टि से द्विवेदी युग के संबंध में ऐसी ही धारणा पाई जाती है। पर हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग के प्रति इस प्रकार के दुर्लक्ष्य या उपेक्षा भाव को प्रश्रय देना समीचीन नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु युग में जितने नाटक लिखे गए संभवतः उसके आधे भी द्विवेदी युग में नहीं लिखे गए। यह भी सत्य है कि युगधर्म और अपने युग की सभी समस्याओं को नाटकीयता प्रदान करने का जो अदम्य उत्साह भारतेंदु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था, उसके दर्शन हमें द्विवेदी युग के लेखकों में नहीं होते। हिंदी नाटक और रंगमंच के उत्थान और निर्माण के लिये भारतेंदु जी ने ऐतिहासिक महत्व का जैसा कार्य किया, वैसा द्विवेदी जी नहीं कर सके। फिर भी द्विवेदी जी ने नाटक की नितांत उपेक्षा की, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' नामक एक पुस्तिका इस विषय के संस्कृत, अँगरेजी, मराठी और हिंदी के उस समय के सब उपलब्ध ग्रंथ पढ़कर लिखी है। इस पुस्तिका को

१—ब्रजरत्नदास कृत हिंदी नाट्य साहित्य, पृष्ठ १२३, द्वितीय संस्करण।
२—गुलाबराय कृत काव्य के रूप, पृष्ठ ८३।

पढ़कर यह प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी जी को अपने समय के नाटकों को देखकर बड़ा दुःख हुआ था[1], और वे अभीष्ट दिशा में उनका अधिक से अधिक उत्कर्ष साधन करना चाहते थे। पर नाट्य शास्त्र के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से विहीन जो अनधिकारी लेखक अपनी लेखनी की कालिख नाटक साहित्य के मुख पर पोतने लगे थे, उनकी अवश्य उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में भर्त्सना की है—

'नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें स्वल्प भी ज्ञान नहीं उन्होंने भी हिंदी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि इस प्रकार ऊटपटाँग लिखकर उसे प्रकाशित करने से हिंदी की ही नहीं स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं है, उसके लिये उपयुक्त विद्या बुद्धि के अतिरिक्त लोकव्यवहार और मनुष्य प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए'।[2]

इसी प्रकार उन्होंने उन लेखकों को भी कड़ी फटकार बताई है, जो पारसी कंपनियों के लिये अत्यंत निकृष्ट श्रेणी के ऐसे नाटक लिख रहे थे, जिनसे सदाचार की मर्यादा का हनन हो रहा था—

'नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो और चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है, अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है और दर्शक का नेत्र व्यापार भी व्यर्थ। है जो लोग इंद्रसभा और गुलाबकावली आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्राय. खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि लाभ सोच कर वहाँ पधारना चाहिए'।[3]

इन अवतरणों से यह सिद्ध है कि आचार्य द्विवेदी हिंदी नाटक की गति विधि को बहुत ध्यान से देखते रहते थे, कम से कम वे उस ओर से असावधान तो कदापि नहीं थे। उनके द्वारा हिंदी भाषी जनता के प्रायः दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन के परिणामस्वरूप जिस साहित्यिक आदर्शवाद का जन्म हुआ था, उसने नाटक साहित्य की प्रगति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। अवश्य इस

१—देखिये—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नाट्यशास्त्र' का उपसंहार—
'अभाग्यवश हिंदी में दो चार को छोड़कर कोई अच्छे रूपक ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है।'

२—देखिए—वही, पृष्ठ ५७।

३—देखिए—वही, पृष्ठ ५७।

साहित्यिक आदर्शवाद से अनुप्राणित ऐसा कोई महान् व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ा, जैसा आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का, कविता के क्षेत्र में, मैथिलीशरण गुप्त का और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद का था। द्विवेदी जी का रोषपूर्ण भृकुटिभंग देखकर अनधिकारी और व्यवसायी दोनों ही प्रकार के नाटक लेखकों के दिल दहल गये थे और उनके आतंक के कारण उनके समय के नाटकों की वेगवती धारा मंद पड़ गई थी और क्षीण भी। किंतु मंद और क्षीण होकर इस धारा में जो निर्मलता आई, वह हिंदी नाटक के इतिहास की निर्महत्व घटना नहीं है। अतएव भारतेंदु युग की परिसमाप्ति के बाद हिंदी नाटक की विकास दिशा में जो परिवर्तन लक्षित होता है, उसका सम्यक् श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। द्विवेदी जी का प्रभाव हिंदी नाटक साहित्य पर कई रूपों में प्रतिफलित प्रतीत होता है। एक तो, जैसा उपर कहा जा चुका है, आचार्य जी के आतंक के कारण अनधिकारी लेखक हिम्मत हार बैठे जिसके परिणामस्वरूप उस कूड़े कचरे की बाढ़ रुक गई जो नाटक साहित्य के नाम पा हिंदी के कलेवर को मलिन बना रहा था। दूसरी बात यह हुई कि अपनी 'नाट्यशास्त्र' नामक पुस्तिका में आचार्य द्विवेदी ने जो निर्देश दिये,[1] उनके प्रकाश में लेखकों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता को ठीक-ठीक पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ की मौलिक नाटक रचना की सहज क्षमता रखनेवाले कुछ इने गिने व्यक्ति ही पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत में टिके रह पाये। अन्य लोग, जिनको हिंदी नाटक साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन थी, संस्कृत, बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ नाटकीय कृतियों के सफल अनुवाद करने में दत्तचित्त हुए। इसीलिये आलोच्य काल में उत्तम अनूदित नाटकों की बहुत अच्छी संख्या हमें उपलब्ध होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि, पारसी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध व्यवसायी रंगमंच पर हिंदी और हिंदूपन दोनों का थोड़ा बहुत प्रवेश हुआ। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखक और प्रेक्षक को पारसी थियेटर वाले अभिनयों के संबंध में जो चेतावनी दी[2] उसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। इसी समय पारसी रंगमंच पर राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों को स्थान मिला, जिनकी रचनाओं में हिंदीपन के साथ साथ भारतीय आचार की मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार हम आचार्य द्विवेदी जी के साहित्यिक आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रंगमंच को भी थोड़ा बहुत प्रभावित पाते ही हैं। चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि द्विवेदी जी के समकालीनों के अधिकांश मौलिक नाटक उनके साहित्यिक की मुद्रा धारण करते हैं। इन सब नाटकों में हमें द्विवेदी जी द्वारा अनुष्ठित 'नीतिवाद,

---

१—देखिए—आचार्य द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र का उपसंहार।

२—देखिए,—वही।

व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक 'बुद्धिवाद' का ही प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष व्याख्यान सुनाई पड़ता है। परंतु नाटक मनुष्य की मूलतः विविध शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं का अनुकरण है[1]। इसलिए इतने कठोर प्रतिबन्धों के बीच उसके सहज विकास का रुक जाना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि द्विवेदी युग के मौलिक नाटक सजीवता, सरसता और कलात्मक परिपाक की दृष्टि से भारतेंदु युग के नाटकों से आगे नहीं जाते। अवश्य, उनकी भाषा कुछ अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है जो द्विवेदी काल की सर्वप्रमुख विशेषता है। संभवतः इसी कारण वे अनेक अव्यवसायी नाटक मंडलियाँ जो भारतेंदु युग के उन्मुक्त वातावरण में प्रादुर्भूत हो चली थीं, द्विवेदी युग के घोर नीतिवादी तथा शुद्धिवादी वातावरण में साँस न ले सकीं और कुछ समय बाद कालकवलित हो गईं। पं० माधव जी शुक्ल जैसे उत्साही नाटक लेखकों और श्रेष्ठ अभिनेताओं ने भी लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ते आदि में जाकर नाटक-मंडलियों की स्थापना में योग दिया। हम आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव को हिंदी नाटक के लिये पाषाणधर्मी तो नहीं मानेंगे, फिर भी समष्टि रूप से उनके व्यक्तित्व की सीमाओं से हम उसको चारों ओर से मर्यादित अवश्य पाते हैं। पर आचार्य के आदर्श निष्ठ व्यक्तित्व की सीमाओं से मर्यादित होकर हिंदी नाटक का हानि ही हानि हुई, ऐसा समझना बहुत भारी भ्रम होगा। अपने कठोर साहित्यिक अनुशासन में आचार्य ने हिंदी नाटक को संयम का जो पाठ पढ़ाया, उसी से वह प्रसादकालीन नव्योत्थान के उपयुक्त शक्ति संकलित कर सका। तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी के प्रभाव का हिंदी नाटक के लिये परिणाम हम शुभावह ही पाते हैं, और इसलिये इस आलोच्य अवधि को यदि कोई द्विवेदी युग कहे तो हम उसे अनुपयुक्त नहीं समझते।

परंतु आधुनिक हिंदी साहित्य के इस द्वितीय उत्थान काल में, जिसे काव्यरचना आदि के क्षेत्र में द्विवेदी युग कहा जाता है, मौलिक नाटकों की रचना की अपेक्षा अनुवाद का कार्य बहुत अधिक हुआ। इसीलिये कतिपय विद्वान् इसे 'अनुवाद काल' कहना अधिक संगत समझते हैं। भारतेंदु के जीवनकाल में हमें जैसा उत्साह मौलिक नाटकों के प्रणयन में दिखाई पड़ता है, वैसा ही उत्साह अब नाटकों के अनुवाद कार्य में लक्षित होता है। वे अनुवाद विभिन्न भाषाओं से किये गये; पर इनमें बँगला से अनूदित नाटकों की संख्या संभवतः सब से अधिक है और संस्कृत, अँगरेजी, मराठी, गुजराती, आदि का स्थान क्रमशः उसके बाद आता है। द्विवेदी जी ने स्वयं विभिन्न भाषाओं से अनेक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया था और इस कार्य को वे निरंतर प्रोत्साहित भी करते रहते थे। अतएव उस युग के लेखकों में अनुवाद कार्य के प्रति विशेष उत्साह होना स्वाभाविक ही था।

१—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'—दशरूपक।

इस युग के मौलिक नाटक पूर्ववर्ती पीढ़ी के नाटकों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम तो हैं ही, भाषा-परिष्कार को छोड़कर अभिनेयता आदि नाटक के अन्य अंतर्वर्ती व्यावर्तक गुणों में भी हीन हैं। भारतेंदु युग के नाटकों में जीवन के यथार्थ के अभिव्यंजन और अनुकरण का जो अदम्य उत्साह परिलक्षित होता है, वह भी इनमें नहीं हैं। भारतेंदु और उनके सहयोगियों के नाटकों में व्यंग्य और परिहास की भी जो सहज वेगवती कल्लोलिनी प्रवहमान है, उसका उत्स भी अब कुछ सूखता सा प्रतीत होता है। इन सब दृष्टियों से हम इसे भारतेंदु युग के नाटक का ह्रासकाल कह सकते हैं।

किंतु इस युग में मौलिक नाटकों की सर्जना का प्रयास भले ही मंद पड़ गया हो, पर हिंदी रंगमंच की स्थापना और हिंदी नाटकों के अभिनय की कलापूर्ण परंपरा के प्रवर्तन का जैसा संगठित प्रयास इस युग में हुआ, वैसा उसके बाद आज तक नहीं हो पाया है। भारतेंदु के आदर्श से अनुप्राणित अनेक साहित्यकारों और साहित्यप्रेमियों ने स्थान स्थान पर नाटक मंडलियों की स्थापना कर हिंदी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान का जो संगठित प्रयत्न किया, वह हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास का सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य अत्यंत गौरवशाली अध्याय है। खेद है, वह अब तक विस्मृत है। जिस समय यह प्रयत्न किया गया उस समय व्यावसायिक पारसी रंगमंच का साम्राज्य था। उसकी होड़ में बिना किसी सहयोग, सहायता या समर्थन के यह महाप्राण आंदोलन असफल अवश्य हो गया, पर आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिये एक महान् आदर्श छोड़ गया। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि आचार्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद इन प्रयत्नों को नहीं प्राप्त हुआ। कम से कम उसका कोई उल्लेख या प्रमाण नहीं मिलता। मैं आगे इन प्रयत्नों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करूँगा। भारतेंदु युग की नाट्य चेतना के इस प्रतिभापूर्ण प्रसार को देखकर इस युग को मैं भारतेंदु युग का उत्तरार्ध कहना ही अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

पीठिका

आलोच्य काल प्रारंभ होने के पूर्व राष्ट्र के जीवन में ऐसी कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हो चुकी थीं जिनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। एक तो राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया था जिसके परिणामस्वरूप देश की सांस्कृतिक भाषा संस्कृत और विविध देशी भाषाओं को पूर्ण रूप से अपदस्थ कर उनके स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित कर दिया गया था। अँगरेजी के द्वारा अंग्रेजियत का व्यापक प्रवर्तन करके देश की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना को निःशेष कर देने की मैकाले की व्यापक योजना अब पूर्ण रूप से व्यवहृत हो चली थी। सन् १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड ने अपनी आयोजना में हाई स्कूल तक की प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ और उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी रखने की

संमति प्रकट की। परंतु सरकार ने अपने हितसाधन के लिये उन बातों को कार्य रूप में परिणत नहीं किया और न उसने उनको प्रोत्साहन ही दिया। अँगरेजी ही शिक्षा का माध्य बनी रही। अंग्रेजी के माध्यम से उच्च शिक्षा देने के लिये कलकत्ता, बंबई और मद्रास आदि में विश्वविद्यालयों की भी स्थापना हुई। पर अँगरेजी भाषा को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का बड़ा ह्रास हो गया। अँगरेजी शिक्षा पानेवालों पर पाश्चात्य शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा। परंतु उससे उनकी मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हुआ। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर जो कुठाराघात हुआ, वह शायद संसार के किसी अन्य देश में न हुआ होगा। तात्पर्य यह कि भारतवर्ष में जो शिक्षा प्रणाली इस समय प्रचलित की गई थी, वह यहाँ की जनता के लिये सर्वथा अनुपयुक्त थी। वह देशीय आवश्यकताओं के प्रतिकूल एवं मनोवृत्तियों के प्रति उदासीन थी। उसका आधार पूर्ण रूप से अँगरेजी था। भारतेंदु ने अँगरेजी शिक्षा के दुष्परिणामों का अनुमान लगा लिया था, इसलिये समय समय पर उन्होंने जनता का ध्यान अपनी सहज मनोहारी शैली द्वारा इस दिशा में आकृष्ट किया है। उनकी यह मुकरी बहुत प्रसिद्ध है—

सब गुरुजन को बुरो बतावैं, अपनी खिचड़ी आप पकावैं।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेजी॥

द्विवेदी युग तक पहुँचते पहुँचते इस शिक्षा व्यवस्था के परिणाम चारों ओर अच्छी तरह प्रकट होने लगे थे। इसीलिये सन् १९०२ में यूनिवर्सिटी कमीशन नियुक्त हुआ और उसके परिणामस्वरूप सन् १९०४ में जो यूनिवर्सिटीज ऐक्ट पास हुआ, उन दोनों का ही भारतीय जनता द्वारा घोर विरोध किया गया।

परतु प्रबल भारतीय संस्कारों की प्रेरणा से अँगरेजी शिक्षा प्राप्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी कालांतर में निकल आए, जिनमें अपने देश की हीनावस्था के प्रति असंतोष का उदय हुआ। उन्होंने अँगरेजी शासन की अनीति और अत्याचार के यथार्थ स्वरूप को समझा, इसलिये वे इस स्थिति के प्रतिरोध के लिये कृतसंकल्प हुए। ऐसे ही लोगों द्वारा इस देश में राजनीतिक संघर्ष का बीजारोपण हुआ। राष्ट्रीय आत्म-संमान का यह उन्मेष राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, उसके परिणाम-स्वरूप सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी असाधारण प्रगति हुई। अतः चारों ओर सुधार की माँग होने लगी। समाजसुधारक राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इस समाज ने हिंदुओं के पारस्परिक भेदभाव, को दूर करने के लिये मूर्तिपूजा और जातिभेद का विरोध किया। उधर स्वामी दयानंद सरस्वती ने सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की। इस समाज ने वेदवर्णित उच्च भारतीय

संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रशंसनीय प्रयास किया। इसके प्रचार कार्य से भारतीयों में अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति गौरव भाव और अपने अतीत के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न हुए। इन सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने भारतीयता को संबल प्रदान किया और राष्ट्रीयता की उन्नति में योग दिया। लोगों ने समझ लिया कि हमारी सामाजिक एवं धार्मिक अवनति का मुख्य कारण हमारी राजनीतिक परतंत्रता है।

इन्हीं दिनों प्लेग और दुर्भिक्ष के देशव्यापी भीषण प्रकोप के कारण चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई थी। मरी और भुखमरी के हृदयविदारक दृश्यों को देखकर भारतेंदु काल के लेखकों की चेतना किस प्रकार आंदोलित हुई थी, इसका विवरण यथास्थान दिया जा चुका है। इस युग में भी स्थिति प्रायः ज्यों की त्यों रही। सन् १८९९ ई० में जब लार्ड कर्जन वायसराय होकर आया उस समय देश प्लेग और दुर्भिक्ष की दुःसह यंत्रणाओं के कारण छटपटा रहा था। कर्जन ने सारे देश का दौरा करके असंख्य भारतवासियों को कीड़ो मकोड़ों की तरह बिलबिलाते, तड़पते और मरते देखा और द्रवीभूत होकर उसने स्वयं देश विदेश के लोगो से पीड़ितों की सहायता के लिये अपील की। कर्जन जैसे घोर साम्राज्यवादी को द्रवीभूत कर देनेवाली इस स्थिति ने राष्ट्र की उदीयमान राजनीतिक चेतना को भी उद्दीप्त किया। चारों ओर अंग्रेजी की शासन नीति की कटु आलोचना और तीव्र से तीव्र निंदा हुई। इन सब बातों का एक परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस, जिसकी स्थापना ए० ओ० ह्यूम नामक एक सिविलियन अफसर द्वारा संभवतः राष्ट्रीय चेतना को प्रवंचित करने के लिये हुई थी, एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। अब कांग्रेस दादाभाई नौरोजी, सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, सर फिरोजशाह मेहता, श्री गोखले, महामना मालवीय प्रभृति नेताओं के प्रभाव में आ गई, जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ी और वह लोकहित और लोकमत की अभिव्यक्ति का एकमात्र प्रभावशाली साधन बनने लगी। इस प्रकार देश में जिन दिनों चारों ओर असंतोष और क्षोभ बढ़ रहा था, १९ जुलाई, सन् १९०५ को वंग विच्छेद की योजना घोषित की गई। इस योजना ने भारतीयों के जले हृदय पर नमक छिड़का और वह आग जो भीतर भीतर सुलग रही थी, उसमें मानों घृत की आहुति पड़ गई। सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि, 'यह घोषणा एक बम के गोले की भाँति गिरी। हमें ऐसा लगा कि हम अपमानित, उपेक्षित और प्रवंचित किए गए हैं।' बंग भंग की इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने की भीषण प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह ऐतिहासिक स्वदेशी आंदोलन चला जो सात वर्षों तक निरंतर जारी रह कर अंत में सन् १९१२ में तभी रुका जब वंग विभाजन का कानून रद्द कर दिया गया। इस स्वदेशी आंदोलन को निर्मूल करने के लिये

सरकार ने कठोर दंड का आश्रय लिया, पर उसकी दमन नीति विराट जन-आंदोलन के समक्ष असफल सिद्ध हुई।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बंगभंग से पूर्व राजनीतिक चेतना का प्रसार थोड़े से शिक्षित उच्च और उच्च मध्यवर्ग तक ही हो पाया था। इसलिये उस समय की राजनीति ने जो वैधानिक नीति ग्रहण की थी वह लिबरल अथवा नरमदलीय कही जाती है। सन् १९०५ तक नरम दलवालों की इस नीति का ही देश की राजनीति में प्राधान्य रहा। पर सन् १९०७ के लगभग देश की राजनीति का सूत्र गरम दलवालों के हाथ में चला गया जो लिबरलों की वैधानिक नीति को निर्बल और व्यर्थ समझते थे तथा उग्रातिउग्र मार्ग का अवलंबन करके शीघ्र से शीघ्र अंग्रेजी सत्ता का उन्मूलन कर डालना चाहते थे। गरम दलवालों में प्रधान लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे, जिनका 'केसरी' अंग्रेजी शासन का सबसे प्रभावशाली शत्रु था। लोकमान्य तिलक की ही नीति के प्रबल पोषक बंगाल के विपिनचंद्र पाल और पंजाब के लाला लाजपत राय थे। इन गरम दलवाले नेताओं के प्रभाव से राजनीति की चेतना का प्रसार निम्न मध्यवर्ग और जनसाधारण में भी हो चला और बगभंग विरोधी आंदोलन ने इसे पूर्ण रूप से सर्वसाधारण तक पहुंचा दिया। सन् १९०६ में कांग्रेस ने भी वैधानिक सुधारों की क्षुद्र याचना का मार्ग छोड़कर अपना ध्येय स्वराज घोषित कर दिया था। इतना ही नहीं, आलोच्य काल के भीतर ही सावरकर जैसे राष्ट्रप्राण तेजस्वी तरुणों ने अभिनव भारत जैसी संस्थाओं का भी संगठन किया था जिनकी पहली प्रतिज्ञा सशस्त्र क्रांति के द्वारा राजनीतिक दृष्टि से संपूर्ण भारतवर्ष को स्वतंत्र करना थी।

इसी अवकाश में अंतरराष्ट्रीय क्षेत्रों में भी कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिन्होंने हमारी अभ्युदयशील राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित और पुरस्कृत करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार की एक उल्लेखनीय घटना रूस और जापान का युद्ध है जिसमें छोटे से एशियाई देश जापान ने रूस को करारी पराजय दी। अभी तक योरोपीय अजेय समझे जाते थे। परंतु जब सन् १९०५ में एशियाई देश जापान ने रूस जैसे विशाल यूरोपीय देश को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया तो एशिया के अन्य परतंत्र देशों की आशा बलवती हो गई।[1] इसके अतिरिक्त विवेकानंद और रामतीर्थ जैसे महापुरुषों ने यूरोप और अमरीका आदि जाकर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे भारतवर्ष की सर्वोपरिता प्रतिपादित और प्रचारित की। इसके पहले ही कालिदास के मेघदूत और अभिज्ञान शाकुंतल आदि ग्रंथ यूरोपीय भाषा में अनूदित हो चुके थे, जिनकी पश्चिमी विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। इन

१—डा० ईश्वरीप्रसाद कृत आधुनिक भारत, पृष्ठ ३८०।

सभी बातों से राष्ट्र के प्रबुद्ध आत्मसंमान की अभिवृद्धि हुई। इसीलिये सन् १६१३ में जब रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ, देश में चतुर्दिक् हर्ष और उत्साह की लहर फैल गई।

वस्तुत: सन् १६०५ से १६२० तक का समय भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास का काल है। राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास में सहायता देनेवाली शक्तियों और परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण पहले दिया जा चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि राष्ट्रीयता का यह नव्योत्थान अंग्रेजों के पास अधिकाधिक अधिकारों और राजनीतिक सुधारों के आवेदनपत्र भेज करके ही संतुष्ट रहनेवाला नहीं था, अब वह संगठित और उग्र होकर स्वराज्य तथा होमरूल के लिये आग्रह और आंदोलन करने लगा था। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि हमारे आलोच्य काल का आरंभ लगभग उसी समय होता है जब देश बंगभंग विरोधी विराट् जनांदोलन में प्रवृत्त होनेवाला था और इसका अंत भी प्राय: उस समय होता है जब सारा राष्ट्र महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् १६२० का ऐतिहासिक सत्याग्रह आंदोलन आरंभ करने तैयारी कर रहा है। ऐतिहासिक महत्व के इन दो राष्ट्रीय जनांदोलनों के बीच अवस्थित द्विवेदी युग के साहित्य ने सदैव शक्ति भर राष्ट्रीयता का पोषण और संवर्धन किया।

पर यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता का सांचा राजनीति में भी पूर्ण स्वदेशी था। उसपर विदेशी छाप तब तक नहीं पड़ पाई थी। उस समय के प्राय: सभी प्रमुख राजनीतिक नेता भारत के ही गौरवमय अतीत से अनुप्राणित थे। गीता के महान् व्याख्याता लोकमान्य तिलक ही उस समय की राजनीतिक चेतना के प्रमुख सूत्रधार थे। उनके द्वारा राष्ट्रीयता के जिस स्वरूप का निर्माण हो रहा था था, वह विशुद्ध भारतीय था। उसका विकास भारत की अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक परंपराओं के बीच से हो रहा था। निःसंदेह हमारे राजनीतिक नेताओं के समक्ष मेजिनी और गैरीबाल्डी के आदर्श भी आ चुके थे और इन विदेशी देशभक्तों के प्रति हमारे देश के नेताओं और नवयुवकों में श्रद्धा भी थी। पर, वे लोग राम, कृष्ण, प्रताप और शिवा को भूले नहीं थे प्रत्युत इन्हीं अपने महापुरुषों के आदर्श उनके जीवन में सतत क्रियाशील थे। इन लोगों के हृदय में अपने देश के लिये जितनी भक्ति थी, उतनी ही भक्ति अपने धर्म के लिये भी थी। इसीलिये सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखनेवाले तरुण भी जब फाँसी पर चढ़ते थे तो उनके हाथ में गीता और मुख में उसके श्लोक होते थे।

राष्ट्रीयता का यह स्वरूप द्विवेदी युग के साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होता है, हमने इस काल में नाटकों के अनुवाद की ओर अधिक प्रवृत्ति होने का उल्लेख किया है। अनुवाद के लिये चुने गए नाटकों का अध्ययन करने से भी इस धारणा की

पुष्टि होती है। इस काल में लिखे गए मौलिक नाटकों में प्रतिपादित विषयवस्तु से भी इस प्रवृत्ति की सूचना मिलती है कि यह स्वदेशी ढांचे की धर्मप्रवण राष्ट्रीयता के उत्थान का युग था। भारतवर्ष का धर्म और धर्मप्रवणता दोनों ही सदैव नितांत असांप्रदायिक रहे हैं और उनकी व्यवहारभूमि सर्वथा आध्यात्मिक रही है। फिर भी इस युग के साहित्य में किसी को कहीं सांप्रदायिकता का आरोपण प्रतीत हो, तो उसे उस सांप्रदायिकता की सहज प्रतिक्रिया या परिणाम माना जा सकता है जिसका पोषण सर सैयद अहमद खां जैसे लोगों की छत्रच्छाया में अलीगढ़ आदि स्थानों में हुआ था और जो अब अंगरेजों से प्रोत्साहन पाकर निरंतर वृद्धि करती जा रही थी।

इस युग की राष्ट्रीयता का स्वरूप सबसे अधिक उन अव्यवसायी नाटक मंडलियों के अभिनयों द्वारा प्रकाश में आया है, जो उन दिनों विभिन्न नगरों में स्थापित हुई थीं। इन अभिनयात्मक प्रयासों को महामना मालवीय जी का आशीर्वाद और राजर्षि टंडन जी का सहयोग प्राप्त रहता था और माधव शुक्ल, रासबिहारी शुक्ल तथा महादेव भट्ट जैसे उस समय के प्रमुख अभिनेता सन् १६१५ के आगे पीछे पुलिस की सूची में प्रथम श्रेणी के क्रांतिकारी गिने जाते थे। उसी से हिंदी के इस युग के नाटकीय प्रयत्नों का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है।

इस युग के नाटकों का स्वरूप और उनके प्रकार

इस युग के मौलिक नाटककारों की धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना की परिधि और परिवेश बहुत कुछ वही है, जो पिछली पीढ़ी के नाटककारों में उपलब्ध है। पर दो बातों में अंतर अत्यंत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। एक तो यह कि भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों की हास संज्ञा जितनी विकसित है, उतनी इन परवर्ती लेखकों की नहीं। हास्य और व्यंग्य अब भी लिखा जाता है और उनके लिखनेवालों की संख्या भी नितांत नगण्य नहीं है, पर भारतेंदु और उनके सहयोगियों की जिंदादिली इस हास्य और व्यंग्य में नहीं रह गई है। संभवत: द्विवेदी युग का कठोर नीतिवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद इसके लिये उत्तरदायी है। दूसरी बात यह है कि भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने देश की आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की पीड़ा को जितने अप्रच्छन्न तथा मार्मिक रूप मे व्यक्त किया है, वैसा ये लेखक नहीं कर पाए हैं। इसका कारण संभवत: यह था कि अब अंगरेजों का दमनचक्र अधिक सक्रिय एवं जागरूक हो गया था और राष्ट्र की साहित्यिक गतिविधि को अधिक शंका और संदेह की दृष्टि से बड़ी सूक्ष्मता के साथ जांचा जाने लगा था। विशेषत: हमारे नाटक और रंगमंच पर साम्राज्यशाही की शनिदृष्टि थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

प्रयाग में बालकृष्ण भट्ट और मुरलीधर मिश्र जैसे साहित्यसेवियों की प्रेरणा से 'नागरी प्रवर्धिनी सभा' की स्थापना हुई थी। इसी के अवधान में सन् १९०० के आसपास वहाँ 'हिंदी नाट्य समिति' की स्थापना हुई, जिसके मुख्य संचालक माधव शुक्ल थे। यह समिति लगभग १९१५ तक चलकर टूट गई। इसके टूटने का कारण यह था कि इसके प्रमुख अभिनेता राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्ता भी थे। सन् १९११ ई० में इस समिति ने लोकमान्य तिलक को 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय करके दिखाया था। नाटक का आरंभ इस गीत से हुआ था—'जय जय श्री तिलकदेव भारत हितकारी'। इसी कारण समिति को सरकार का कोपभाजन होना पड़ा और माधव शुक्ल को प्रयाग से हटना पड़ा। समिति के अन्य सामान्य सदस्यों ने यह समझा कि इसमें रहना पुलिस के अत्याचारों को निमंत्रण देना और जेल जाना है। इसलिये माधव शुक्ल के चले जाने पर वह चल न सकी। यही कारण है कि इस काल के मौलिक नाटककार देश की आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की चर्चा अब उतना खुलकर नहीं करते थे। उन्हें सामयिक समस्याओं पर जो कुछ कहना होता था, उसे वे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक रूपकों में प्रतीकात्मक या सांकेतिक शैली में कहते थे। विदेशी शासन के निग्रह का प्रभाव इन नाटकों में प्रत्यक्ष है[1]।

नाट्यकला के स्वरूप और विषयवस्तु का निर्माण और निर्णय अंततः दर्शक मंडली के द्वारा होता है। कहा गया है कि नाटक के प्रनियमों का विधान उसके संरक्षक करते हैं[2]। वस्तुतः नाटक के प्रेक्षक ही उसके संरक्षक होते हैं और और प्रेक्षक का भावजगत ही नाटक की रूपरचना का अधिष्ठान होता है। अतएव भारतेंदु युग के इस उत्तरार्ध अथवा ह्रासकाल के नाटक का स्वरूप

१—देखिए—बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती' पृष्ठ १०० :

कर्मचारी—क्या तुम विदेशियों के पंजे से अपनी स्वतंत्रता, अपने सुख अपने घर, अपने भाई बंधु, अपने खेत और अपने मंदिरों की रक्षा करके संसार में अपनी बात बनाए रखना चाहते हो ?

गँवार—हाँ।

२—देखिए—माखनलाल चतुर्वेदी कृत कृष्णार्जुन युद्ध :

नारद—सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या दुर्घटनाएँ होती हैं, यह सबको मालूम हो जायगा. . . . । राजमद में आकर श्रेष्ठ राजा भी न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन करने में नहीं हिचकते। ऐसी अवस्था में दीन निर्बल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं रहता।

समझने के लिये तत्कालीन दर्शकमंडली की रुचि और प्रवृत्ति से परिचय हो जाना आवश्यक है।

यह बताया जा चुका है कि भारतेंदु ने हिंदी की स्वकीय नाट्य परंपराओं को ध्यान में रखते हुए अपने नाटक लिखे थे और स्वयं उनका अभिनय करके उनके लिये अपने आदर्शों से अनुप्राणित दर्शकमंडली तैयार करने का प्रयत्न भी किया था। पर उनके युग के उत्तरार्ध का कोई भी मौलिक नाटक लेखक भारतेंदु जी के इस प्रयत्न को प्रगति न प्रदान कर सका। इस समय के प्रधान मौलिक नाटककार थे मिश्रबंधु, बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, जी० पी० श्रीवास्तव आदि। इनमें से किसी का भी अभिनय या रंगमंच से सीधा संबंध नहीं था। अतएव नाटक लिखते समय इन लोगों का ध्यान जिन लोगों (प्रेक्षकों) पर रहता था, उनकी रुचि या प्रकृति के निर्माता भारतेंदु जी की तरह ये लोग स्वयं नहीं थे। वस्तुतः इन प्रेक्षकों की रुचि और प्रकृति का यथार्थ दर्पण उस समय की बहुसंख्यक व्यावसायिक पारसी नाटक कंपनियाँ थीं। आलोच्य अवधि के बीच इन कंपनियों का बढ़ता हुआ प्रभाव तत्कालीन दर्शक की रुचि की सच्ची कसौटी है। किंतु पारसी नाटक कंपनियों के प्रभाव को समाज के लिये अनिष्टकर समझकर भारतेंदु के चरणचिह्नों का अनुगमन करनेवाले अभिनय और रंगमंच की कला के कुछ साधनावान् उपासकों ने हिंदी का अव्यवसायी रंगमंच प्रतिष्ठित करके प्रेक्षकों की रुचि को परिष्कृत कर उसे अभीष्ट दिशा में प्रेरित करने का प्रयत्न किया। इस व्यवसायी और अव्यवसायी रंगमंच और उसकी दर्शकमंडली का प्रभाव ज्ञानाज्ञात रूप में उस समय के सब मौलिक नाटककारों पर पड़ा था। इसलिये मौलिक नाटककारों की रचनाओं का अनुशीलन प्रारंभ करने के पूर्व तत्कालीन व्यवसायी एवं अव्यवसायी रंगमंच की गतिविधि का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

व्यवसायी रंगमंच

पारसी नाटक कंपनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का उद्भव और प्रसार भारतेंदुकाल में ही हो चुका था। पर भारतेंदु के नाटक व्यवसायी कंपनी के रंगमंच पर अभिनीत नहीं हुए थे। हेमेंद्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है कि व्यवसायी रंगमंच पर पहला हिंदी नाटक १८६८ ई० में खेला गया था।[1] यह कौन सा नाटक था और किस कंपनी द्वारा खेला गया था, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। संभवतः पहली पारसी नाटक कंपनी ओरिजिनल

१. इंडियन स्टेज, चतुर्थ भाग, पृष्ठ २२७।

थियेट्रिकल कंपनी थी जिसका सन् १८७० ई० तक वर्तमान रहना निर्विवाद माना जाता है।[1] इसमें दो मुसलमान नाटक लेखक थे—मोहम्मद मियाँ 'रौनक' तथा हुसने मियाँ 'जरीफ'। जरीफ ने तीन नाटक लिखे थे। सन् १८७७ ई० में खुरशेद बल्लीवाला ने विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी की स्थापना की जिसके लिये काशी के मुंशी विनायकप्रसाद ने गोपीचंद, हरिश्चंद्र, रामायण, कनकतारा आदि अनेक नाटक लिखे। इन नाटकों की भाषा जरीफ के नाटकों की अपेक्षा हिंदी की प्रकृति के अधिक निकट है। इसी समय के आस पास विक्टोरिया पारसी आपेरा कंपनी की स्थापना हुई जिसने सन् १८८२ ई० में कलकत्ते के प्रसिद्ध कोरिंथियन स्टेज पर कई नाटक दिखलाए। बंबई के पारसी एल्फिस्टन ड्रैमेटिक क्लब के कुछ हिंदी नाट्य प्रयोग कलकत्ते में बहुत लोकप्रिय हुए थे। सन् १८८४ की फरवरी में बंगाली भद्रजनों के अनुरोध पर इस कंपनी ने कोरिंथियन स्टेज पर गिरीशचंद्र घोष के प्रसिद्ध नाटक 'नल दमयंती' के हिंदी अनुवाद का अभिनय किया था।[2]

सन् १८७७ ई० में कावसजी खटाऊ ने फारसी अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी की स्थापना की। इस कंपनी ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की जिसका बहुत कुछ श्रेय इसके दो लेखकों को जिनके नाम हैं सैयद मेहदी हसन 'अहसान' और पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'। महाभारत, रामायण, गोरखधंधा, पत्नी प्रताप, कृष्ण सुदामा आदि व्यवसायी रंगमंच के सबसे सफल नाटक समझे जाते थे। कावसजी खटाऊ ने बर्मा तक में अपने नाटकों का अभिनय करके लोकप्रियता प्राप्त की थी। सन् १६१० के पश्चात् कावसजी खटाऊ के अभिनयों की कलकत्ते में बड़ी धूम थी। उनके द्वारा प्रस्तुत महाभारत, रामायण, बिल्वमंगल, यहूदी की लड़की, पत्नी प्रताप, धर्मजय आदि के हिंदी अभिनय बंगाली और हिंदी भाषी दोनों ही प्रकार की जनता में अतिशय समादृत थे। महाभारत में विशेष रूप से शुद्ध हिंदी शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया था।[3] दिसंबर, १६१३ ई० में बंबई की पारसी थियेट्रिकल कंपनी तथा एलफिंस्टन थियेट्रिकल कंपनी दोनों मिलकर एक हो गईं। इस विलयन के पश्चात् कंपनी के लिये पंडित नित्यबोध विद्यारत्न ने विशेष रूप से रामायण, महाभारत, श्रीकृष्ण चरित्र, सती सावित्री, नल दमयंती, मधुर मुरली, वीर बालक, ध्रुव चरित्र आदि नाटक लिखे। इन नाटकों के अभिनय ने बंगाली प्रेक्षकों को भी मुग्ध कर लिया। इस कंपनी की अभिनेत्री कुमारी जोहर

१. डा० सोमनाथ गुप्त : हिंदी नाट्य साहित्य का इतिहास, पृ० १००–१०१।

२. दे० हेमेंद्रनाथ दासगुप्त, 'दि इंडियन स्टेज', पृ० २२२।

३. वही, पृ० २२२।

ने स्त्री पात्रों के अभिनय में असाधारण सफलता और प्रसिद्धि प्राप्त की थी। पुरुष पात्रों के अभिनय में मास्टर मोहन, दोराबजी मेहबूबवाला, शोभाराम नक्षत्र आदि को भी ऐसी ही प्रसिद्धि मिली थी।

हिंदी नाटक रचना की दृष्टि से इन पारसी कंपनियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय न्यू अल्फ्रेड कंपनी मानी जा सकती है जिसके नाटककार आगा मोहम्मद हश्र काश्मीरी और पं० राधेश्याम कथावाचक थे। हश्र ने उर्दू के अतिरिक्त हिंदी में भी लगभग नौ नाटक लिखे हैं। पं० राधेश्याम कथावाचक ने लगभग एक दर्जन हिंदी नाटक लिखे हैं। इनके कथानक पौराणिक हैं और ये सबकी सब आदर्शवादी कृतियां हैं। पारसी रंगमंच पर सुरुचि के संचार और हिंदी के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय राधेश्याम कथावाचक को ही दिया जा सकता है। इनके लिखे हुए वीर अभिमन्यु का पारसी रंगमंच पर प्रवेश एक स्मरणीय घटना है, क्योंकि इतने हिंदीपन का कोई नाटक इसके पहले पारसी स्टेज पर नहीं गया था। इसके बाद ही हरिकृष्ण जौहर के पतिभक्ति एवं वीरभारत तथा शैंदा जी के नल दमयंती आदि हिंदी प्रधान नाटक पारसी रंगमंच पर पहुँचे थे। उपर्युक्त कंपनियों के अतिरिक्त अन्य अनेक पारसी कंपनियों का भी उद्भव हुआ जिनमें न्यू अल्फ्रेड शेक्सपियर थियेट्रिकल कंपनी, ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कंपनी, जुबिली कंपनी, अलेक्जेंड्रिया कंपनी आदि हैं। इन व्यवसायी नाटकों के शिल्प का अनुसरण करनेवाले अन्य उल्लेखनीय नाटककार किशनचंद जेबा, तुलसीदत्त शैंदा, हरिकृष्ण जौहर और श्रीकृष्ण हसरत थे।

पारसी नाटकों के अतिरिक्त व्यवसायी रंगमंच के क्षेत्र में कुछ और भी उल्लेखनीय उपक्रम हुए थे। इनमें काठियावाड़ की श्री सूरविजय और मेरठ की व्याकुल भारत नाटक मंडली के नाट्य प्रयोग भुलाए नहीं जा सकते। इन व्यवसायी नाटक मंडलियों ने अपने अभिनयों को पारसी रंगमंच की बहुत सी कुरुचिपूर्ण एवं असांस्कृतिक प्रवृत्तियों से मुक्त रखने का कुछ प्रयत्न किया था। व्याकुल भारत कंपनी का बुद्धदेव नाटक अपने समय में बहुत लोकप्रिय हुआ था। इसी कंपनी में रहकर द्विवेदी युग के प्रसिद्ध नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत ने नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की थी। पर व्याकुल जी के असमय देहावसान से यह कंपनी भी दीर्घजीवी नहीं हो पाई। अहिंदी प्रदेश काठियावाड़ की सूरविजय नाटक कंपनी की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसने अपने सब नाटकों का अभिनय हिंदी में ही किया। राधेश्याम कथावाचक का अत्यंत प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटक श्रवणकुमार विशेषतः इसी कंपनी के लिये लिखा गया था। यह कंपनी भी दीर्घजीवी नहीं हुई, संभवतः संपन्न पारसी कंपनियों की प्रतियोगिता में यह टिक नहीं पाई।

हिंदी नाटक के इतिहास में पारसी रंगमंच के प्रभाव और योगदान का मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया जा सकता है। पारसी कंपनियों ने अपने रंगमंच

द्वारा कुरुचिपूर्ण असांस्कृतिक प्रवृत्तियों का खुलकर प्रचार किया, यह स्पष्ट ही है। जनार्दन भट्ट ने माधुरी में लिखा था[1]—'कलकत्ते की एक बड़ी प्रसिद्ध पारसी कंपनी के संबंध में एक प्रसिद्ध नाटककार से मुझसे बातचीत हुई। उन्होंने बताया, कंपनीवाले कहते हैं—हम यहाँ रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाजसुधार का हमने ठेका नहीं ले रखा है, हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे'। उन्होंने यह भी लिखा है[2] कि पारसी कंपनियों ने पहले तो कुरुचिपूर्ण आशिक माशूक के उर्दू नाटक खेलकर खूब धन कमाया, पर जब जनता का ध्यान हिंदी नाटक की ओर गया, यहाँ तक कि उर्दू नाटक देखने वाली मुसलमान जनता भी हिंदी नाटक पसंद करने और अपनाने लगी, तब तो इन पारसी कंपनियों ने अपना रुख इधर भी किया। इनका ध्येय रुपया पैदा करना है।... ये कभी नहीं चाहते कि जनता का ध्यान सुरुचि की ओर खिंचे। ये एक मात्र व्यवसायी हैं, रुपया खींचना ही इनका काम है। अब ये पारसी कंपनियाँ हिंदी के नाटक करने लग गई हैं, अच्छे अच्छे सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक न करके बे सिर पैर के नाटक बनवा और लाखों रुपये सीन सीनरी में नष्ट कर, मेमों को नचवा, जनता के धन और समय का अपहरण करती हैं...।' पारसी रंगमंच की इन असांस्कृतिक प्रवृत्तियों को उदाहृत करते हुए आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा था—पारसी थियेटर की मिस पुटी भी तो 'सीता' की भूमिका में कलकत्ते के अल्फ्रेड, कोरिंथियनि के रंगमंच पर उतरती है। नेपथ्य से रंगमंच तक आते आते तक न जाने कितनी बार उसकी कमर बल खा जाती है।...उसकी हर एक चंचल चितवन में सीता के आदर्श की हत्या और हर एक मनहर मुसकान में राम की मर्यादा की अवहेलना होती है और वहाँ के राम भी बड़े रसीले होते हैं। नेपथ्य की ओर जाते समय वे ऐसी तिरछी निगाहों के साथ सीता को अपना लटपटी गलबाहियों में समेट ले जाते हैं कि तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य बार बार उन्हें प्रस्थान और प्रवेश करना पड़ता है। इसी प्रसंग में आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने पारसी नाटक के प्रेक्षक पर भी बड़ी सटीक टिप्पणी जड़ी है। वे कहते हैं—रंगमंच तो वास्तविकता, स्वाभाविकता और आदर्श के प्रकृत प्रदर्शन का स्थान है, चोरों के फँसाने का शिकारगृह नहीं, अपने हुनर और नाटकों का इश्तिहार चिपकाने के लिये पोस्टरबोर्ड नहीं, किंतु इसे समझे कौन ? हमारे समाज की जनता ही ऐसी बूढ़ है कि नाटक को वेश्यानृत्य की तरह सिर्फ दिलबस्तगी का एक सामान समझती है[3]।

---

१. माधुरी, कार्तिक, ३०५ तुलसी संवत्, पारसी रंगमंच और हिंदी नाटक।

२. वहीं, शीर्षक वही।

३. माधुरी, जुलाई, १९२७ ई०।

इन व्यवसायी पारसी कंपनियों के पेशेवर लेखकों की सामान्य विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं---सारी रचनाएँ कंपनी की सुविधा और विशेषता के भीतर ही सीमाबद्ध हैं। इनके अधिकांश पात्र गद्य में भी तुकबंदियाँ जोड़कर बोलते हैं, वार्तालाप में भी पद्यों की भरमार करते हैं और सब गाना गाते हैं। हँसते भी गीत में हैं, रोते भी गीत में हैं, किसी काम को करते भी गीत में हैं और किसी काम के करने का आदेश भी गीत ही में देते हैं। फिर गीतों का क्या कहना? एक ही में दादरा भी है सारंग भी है और भैरवी भी। एक ही में चार चार और पाँच पाँच राग रागिनियाँ मिश्रित हैं। ताल में भी अभी सुरफाख्ता, अभी तीन, अभी डेढ़ और अभी भड़कनाली है। संगीत में सामयिकता भी अनिवार्य नहीं। नौ बजे रात में बिहाग या भैरवी तथा दो बजे रात में मालकोश या बागेश्वरी अलापे जाते हैं। पुराण-वर्णित या कथाप्रसिद्ध घटनाओं को तो जाने दीजिए, काल्पनिक कथानक में भी ये लेखक केवल ट्रांसफर सीन की शोभा के लिये बेचारे कृष्ण, नारद और धर्मादि देवताओं को जब चाहते हैं बेरहमी से हर जगह घसीट लाते हैं। इनके विदूषक का अपना परिवार ही अलग है[1]। इसके अतिरिक्त पारसी रंगमंच का सामान्य लेखक अस्वाभाविक आवेश और मस्ती की सर्जना करता था, उसके स्त्री पात्रों की लोच लचक और भावभंगी फाहिशापन की स्थिति तक पहुँची रहती थी।

इन दोनों के रहते हुए भी पारसी रंगमंच को दो उपलब्धियों का श्रेय दिया जाता है। उनमें से एक यह है कि उनके द्वारा हिंदी का प्रचार हुआ। विचारणीय यह है कि इन पारसी कंपनियों ने हिंदी के प्रचार के लिये न तो हिंदी के नाटक लिखवाए और न उनका अभिनय करवाया। बताया जा चुका है कि पहले ये उर्दू के नाटक ही खेलती थीं। हिंदी के नाटक तो इन्होंने व्यावसायिक दृष्टि से यह समझकर लिखाए और खेले कि उनके प्रेक्षक देश के कोने कोने में उपलब्ध हैं और उन्हीं की संख्या सर्वाधिक है। आज भी यह कहकर कि सिनेमा के द्वारा देश में हिंदी का प्रचार हो रहा है, एक उल्टी बात प्रचारित की जा रही है। वस्तुतः सिनेमा-व्यवसायी सारे देश में हिंदी का व्यापक प्रचार देखकर ही हिंदी फिल्मों का अधिक से अधिक निर्माण करते हैं। पारसी रंगमंच की दूसरी उपलब्धि थी उसके सुशोभन सीन सीनरियाँ। उनके दृश्यविधान की यह कला हिंदी रंगमंच के विकास की एक निश्चित अवस्था मानी गई है[2]।

---

१. ललितकुमार सिंह नटवर कृत हमारा रंगमंच और अभिनय कला, माधुरी, वैशाख, तुलसी संवत् ३०६।

२. हेमेंद्रनाथ दासगुप्त, इंडियन स्टेज, चतुर्थ भाग, पृ० २३२-२३३।

अव्यवसायी रंगमंच

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदी युग का व्यवसायी रंगमंच अत्यंत समृद्ध और साधनसंपन्न था। दुर्भाग्य से उसे साहित्यिक सुरुचि, संस्कृति और सदाचार की चिंता नहीं थी। इसके विपरीत इस काल का अव्यवसायी रंगमंच व्यवसायी रंगमंच के अभावों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील हुआ था। उसके स्थान के लिये कुछ संगठित प्रयत्न भी हुए थे, कुछ ऐसे व्यक्तियों ने उसके उन्नयन में योगदान दिया था जिनके नाम भारतीय इतिहास में अमर हैं। फिर भी यह अव्यवसायी रंगमंच साधन और समुचित संरक्षण के अभाव में अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। इस रंगमंच को उस समय की सरकार से सहयोग मिलने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि जनता भी इतनी शिक्षित, संस्कृत और सुरुचिसंपन्न नहीं थी कि इस रंगमंच के प्रयत्नों का महत्व समझती और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से उसके विकास की साधक बनती।

इस युग की अवधि में साहित्यिकों और साहित्यप्रेमियों द्वारा लोकरुचि के परिष्कार और संस्कार के लिये जिन हिंदी नाट्य परिषदों की स्थापना हुई थी, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—प्रयाग की हिंदी नाट्य मंडली और हिंदी नाट्य समिति, काशी की नागरी नाटक मंडली तथा भारतेंदु नाट्य समाज, जबलपुर के सप्तम हिंदी साहित्य संमेलन के अवसर पर स्थापित नाट्य समिति, आरा का मनोरंजन नाटक मंडल, मुजफ्फरपुर की नवयुवक समिति और बालोपकारिणी समिति, छपरा की शारदा नवयुवक समिति आदि। इन हिंदी नाट्य परिषदों के विषय में ज्ञातव्य यह है कि इनके अधिकांश संचालक और अभिनेता बड़े उग्र राष्ट्रवादी थे और अपने नाट्य प्रयोगों के द्वारा यथासंभव राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार प्रसार का कोई अवसर नहीं चूकते थे। इन नाट्य परिषदों के इतिहास का यह पक्ष बड़ा गौरवशाली है। जिन दिनों पारसी कंपनियाँ विलासिता और आचारहीनता का प्रचार कर रही थीं उन्हीं दिनों ये साधनहीन नाट्य परिषदें राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करनेवाले अभिनय आयोजित करती थीं।

आचार्य शिवपूजन सहाय के अनुसार उल्लिखित नाट्य परिषदों में प्रयाग की हिंदी नाट्य समिति सबसे पुरानी थी[1]। सन् १८९३ ई० में यह रामलीला नाटकमंडली के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे पं० माधव शुक्ल, पं० बालकृष्ण भट्ट के दूसरे पुत्र महादेव भट्ट, अलमोड़ा के लक्ष्मीकांत भट्ट, महामना मालवीय जी के सुपुत्र रमाकांत मालवीय। बाद को 'अभ्युदय' के यशस्वी संपादक कृष्णकांत

---

१. माधुरी, मार्गशीर्ष, तुलसी संवत् ३०६, पृष्ठ ८५३।

मालवीय, बेणीप्रसाद गुप्त, देवेंद्रप्रसाद बनर्जी आदि भी इसमें संमिलित हुए। सन् १९०५ ई० की जनवरी फरवरी के 'हिंदी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने 'प्रयाग की रामलीला नाट्य मंडली' शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'घुणाक्षर न्याय से बहुधा असंभव भी संभव और असाध्य बात भी सुसाध्य हो जाती है, पर तभी जब धुन बांध नोन सतुआ ले उसके पीछे पड़ता है—दृढ़ अध्यवसाय न रहने से बहुधा लोग यत्न करने पर भी पूरी तरह कामयाब नहीं होते। यहाँ मुद्दत से कुछ लोग यत्न करते थे कि नाटक की एक मंडली कायम करें पर बीच में थोड़ा भी विघ्न आ पड़ने से सब लोग निरस्त हो जाते थे। विघ्न आ पड़ने के अनेक कारण होते थे, बड़ा कारण अगुआ बनने का था। हम अपने एक साधारण विद्यार्थी को धन्यवाद देते हैं जो लोगों से अनुत्साहित होने पर भी अनेक कठिनाइयों को झेल रामलीला नाटक मंडली के नाम से अभिनय करनेवालों का एक दल कायम ही तो कर डाला और तीन रात तक बराबर रामायण का बड़ी सफाई के साथ नाटक के आकार में अभिनय किया जो दर्शकों को बहुत ही रुचा। इस मंडली का दूसरा अभिनय ७ जनवरी को भारतेंदु बाबू रचित सत्य हरिश्चंद्र का किया गया। सूत्रधार ने अपने पाठ में हिंदी की वर्तमान दशा को अच्छा दरसाया और सिद्ध कर दिया कि भाषा की उन्नति में एकमात्र नाटक बड़ा सहारा है। उपन्यासों की भरमार और नए नाटकों का लिखना एकदम गुम हो जाना अभिनय के बंद होने से हुआ है। नाशकारी पारसी थिएटर में भी इसीलिये लोगों की रुचि बढ़ गई है—मंडली ने अभिनय बहुत उत्तम किया। हरिश्चंद्र, शैव्या, रोहित, नारद, विश्वामित्र, कलि सबों ने अपना अपना भाग बहुत अच्छा दरसाया। अभिनय भी इन सबका सब भाँति निर्दोष था—छोटा सा बालक रोहित का अभिनय देख दर्शक बड़े चकित और मुदित हुए। अब मंडली से यही वक्तव्य है कि आपस में फूट का बीज न बो सब लोग मेल मिलाप से रह नित्य नया नाटक तैयार कर खेलते रहें, तो भाषा और देश दोनों का बहुत कुछ सुधार हो।' इस उद्धरण में जिस साधारण विद्यार्थी का उल्लेख है, वे संभवतः माधव शुक्ल थे।

आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने बताया है कि इस नाटक मंडली का पहला खेल 'सीतास्वयंवर' था जिसके दर्शकों में पुण्यश्लोक महामना मालवीय जी भी थे जो उस समय राजनीतिक विचारों की दृष्टि से पूरे माडरेट थे। सीतास्वयंवर के अभिनय के बीच एक बड़ी स्मरणीय घटना घटित हुई। राष्ट्रीय चेतना के भावित अभिनेताओं में से एक, जो जनक का अभिनय कर रहा था, बड़े जोश से कह बैठा—ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर इस शिवधनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी नहीं कर सके, यह अत्यंत दुःख का विषय

है। हाय ! इस कथन पर प्रेक्षकों में आफत मच गयी, मालवीय जी भी उठ खड़े हुए। फिर भी इस मंडली के संचालकों ने अपने नाट्यप्रयोगों में राजनीति और राष्ट्रीयता का पुट बराबर रखा, इस प्रकार की घटनाओं से वे विचलित नहीं हुए। यह 'रामलीला नाटक मंडली' १६०७ तक बराबर चलती रही। माधव शुक्ल इसके मुख्य संचालक थे और उनके मुख्य सहयोगी थे महादेव भट्ट तथा पं० गोपालदत्त। पं० माधव शुक्ल असाधारण प्रतिभासंपन्न नाट्यप्रयोक्ता थे। नाटक के प्रणयन में वे जितने कुशल थे, उतनी ही कुशलता और पटुता से वे रंगमंच पर उसके अभिनय की भी प्रभावशाली व्यवस्था करते थे। उन्होंने भाषा, वेश भूषा, भाव आदि में नवीनता एवं सामयिकता का समावेश किया था। किंतु मालवीय जी के परिवार के नवयुवकों से कुछ मतभेद हो जाने के कारण यह मंडली भंग हो गई। फिर भी अप्रतिहत उत्साहसंपन्न पं० माधव शुक्ल ने १६०८ ई० में हिंदी नाट्य समिति के नाम से इसका पुनर्गठन किया। इस कार्य में उन्हें पं० बालकृष्ण भट्ट का पूरा सहयोग मिला। माधव शुक्ल ने जौनपुर, लखनऊ आदि में भी घूम घाम कर हिंदी नाटक मंडलियों की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य शुद्ध हिंदी के नाटकों का प्रचार था। माधव शुक्ल जी की इस साधना के पीछे पं० बालकृष्ण भट्ट की बलवती प्रेरणा बराबर काम करती रहती थी। कहा जाता है कि माधव शुक्ल के अनेक नाट्य प्रयोगों में पं० बालकृष्ण स्वयं सूत्रधार के रूप में उपस्थित होकर अपनी ओजस्वी वाणी से प्रेक्षकों को नाटक के आदर्श और उद्देश्य की भावना से आविष्ट कर देते थे। कुछ और तरुण भी माधव शुक्ल के आदर्शों से अनुप्राणित होकर उनके सहयोगी बन गए थे जिनमें कुछ के नाम हैं--प्रधान चंद्रप्रसाद, बाबू भोलानाथ, बाबू मुद्रिकाप्रसाद, पं० लक्ष्मीनारायण नागर, रासबिहारी शुक्ल, मैत्रेय बाबू, देवेंद्रनाथ बनर्जी, प्रमथनाथ भट्टाचार्य आदि। हिंदी के अव्यवसायी रंगमंच के इतिहास के ये अविस्मरणीय व्यक्तित्व हैं। माधव शुक्ल वीर एवं करुणा रस का बहुत अच्छा अभिनय करते थे और प्रेमथनाथ भट्टाचार्य शांत के तथा महादेव भट्ट हास्यरस के सफल अभिनेता थे। रासबिहारी शुक्ल खलनायक के अभिनय के लिये प्रसिद्ध थे, तथा देवेंद्रनाथ बनर्जी और मुद्रिकाप्रसाद स्त्री पात्रों का अभिनय बड़ी स्वाभाविकता से करते थे।

श्री रामलीला नाटक मंडली के विघटन के बाद जिस हिंदी नाट्य समिति का पुनर्गठन हुआ उसके उन्नायकों में तरुण (राजर्षि) पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे कई अपूर्व उत्साही युवक थे। इस समिति के इतिहास की सबसे स्मरणीय घटना राधाकृष्णदास लिखित महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय है। इसको देखने के लिये अत्यंत अस्वस्थ होते हुए भी बाबू राधाकृष्णदास स्वयं प्रयाग आए थे। इस समिति ने प्रयाग में अखिल भारतवर्षीय हिंदी साहित्य संमेलन के छठे अधि-

वेशन के अवसर पर माधव शुक्ल का लिखा हुआ 'महाभारत (पूर्वार्ध)' नाटक का अभिनय किया था जिसके दर्शकों में भारतेंदु सखा बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और आचार्य द्विवेदी जी भी थे। माधव शुक्ल जी ने भीम की भूमिका में अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन पं० वेणीप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे पं० महादेव भट्ट। इन तीनों का अभिनय ऐसा हुआ कि न भूतो न भविष्यति। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, आजतक मैंने किसी हिंदी रंगमंच पर वैसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है[1]। इसी प्रकार इस समिति के लखनऊ के अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन के अवसर पर 'हिंदू पंच' के यशस्वी संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा उपस्थित थे जो पं० माधव शुक्ल के साहित्य गुरु भी थे। वे इस अभिनय से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लौटकर अपने नगर आरा में मनोरंजन नाटक मंडली की स्थापना की थी। शुक्ल जी नाटक को ही हिंदी प्रचार का अमोघ साधन मानते थे। आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने उनके संबंध में जो कुछ लिखा है उससे प्रतीत होता है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा विशाल और तेजस्वी था, उनका शरीर सुगठित एवं स्वस्थ, डीलडौल प्रकांड एवं वाणी गंभीर थी[2]। तात्पर्य यह कि वीर रस के अभिनय के लिये मानों प्रकृति ने ही उनके व्यक्तित्व को गढ़ा था। उनके साहित्यिक जीवन का निम्नलिखित प्रसंग[3] महाकवि निराला की चारित्रिक दृढ़ता का स्मरण दिलाता है। शुक्ल जी वीर रसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय थे। वे केवल स्वाँग भरनेवाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धांत भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आंदोलन के कारण जेल में थे। यह कहने पर कि क्षमायाचना करके सांत्वना देने चलिए, उन्होंने कहा—"मैं हरिश्चंद्र, महाराणा प्रताप का अभिनय करनेवाला व्यक्ति हूँ, ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा प्रार्थना करना असंभव है। हिंदी का रंगमंच अब भी माधव शुक्ल जैसे तपस्वी अभिनेता और रंगमंच के उन्नायक की प्रतीक्षा कर रहा है।

प्रयाग की हिंदी नाट्य समिति के साथ महामना मालवीय जी का घनिष्ठ संबंध था। एक विवरण यह भी मिला है कि एक बार समिति ने मुद्राराक्षस नाटक का अभिनय किया था जिसमें बालकृष्ण भट्ट ने रंगमंच पर अभिनेता के रूप में अपने पिता का श्राद्ध किया जिससे उनके घरवाले बड़े रुष्ट हुए थे। जिन परिस्थितियों में प्रयाग की 'हिंदी नाट्य समिति' सरकार का कोपभजन बनी, उसका

१—दे० शिवपूजन सहाय का 'स्व० कविवर माधव शुक्ल' शीर्षक लेख, विशाल भारत, मई, १९४४।

२—वही।

३—वही।

विवरण पहले दिया जा चुका है। संभवतः सरकार के विशेष कोपभजन होने के कारण ही पं० माधव शुक्ल १६१६ ई० में प्रयाग छोड़कर कलकत्ता चले गए और वहाँ जाकर उन्होंने हिंदी नाट्य परिषद् की स्थापना की। उनके कलकत्ता चले जाने के बाद प्रयागस्थ 'नाट्य समिति' को पं० महादेव भट्ट, रासबिहारी शुक्ल आदि ने कुछ दिन चलाते रहने का प्रयत्न तो किया, पर पं० महादेव भट्ट का स्वर्गवास हो जाने के कारण वह आगे न चल सकी। पं० शुक्ल ने कलकत्ते में जिस नाट्य परिषद् की स्थापना की थी, वह कुछ दिन बड़ी सक्रिय रही। तत्कालीन परिस्थिति में पारसी कंपनियों से आक्रांत कलकत्ता जैसी महानगरी में उनके नाट्य प्रयोगों ने हिंदी का गौरव बढ़ाया। उस समय बँगला रंगमंच भी पारसी कंपनियों से प्रभावित था। इसके विपरीत शुक्ल जी अपनी नाट्य परिषद् द्वारा पारसी कंपनियों के प्रभाव से मुक्त शुद्ध राष्ट्रीय परंपरा और चेतना के नाटक प्रस्तुत करते थे। दुर्भाग्य से यह नाट्य परिषद् भी अधिक दिन जी नहीं पाई। इसके दो कारण थे—एक तो शुक्ल जी राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेते थे और जेल जाते थे। वे कम से कम चार बार तो जेल गए ही थे और लंबी सजाएँ भोगी थीं। दूसरा कारण यह था कि उनके जैसा ध्येयनिष्ठ दूसरा समर्थ नाटक लेखक और अभिनेता आगे नहीं आया जो उनके रिक्थ को सहेजकर उसे आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता।

प्रयाग की नाट्य परिषदों से पं० रासबिहारी शुक्ल का घनिष्ठ संबंध रहा था। कुछ वर्ष पूर्व इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये मैं उनसे लखनऊ में मिला था। वे अलमोड़ा के निवासी हैं परंतु अवकाश प्राप्त कर लखनऊ में रहने लगे थे। उन्होंने बताया था कि उपर्युक्त परिषदों के आविर्भाव के पूर्व प्रयाग में 'ग्लैड्स्टन थियेट्रिकल क्लब' नाम की एक अव्यवसायी नाट्य संस्था थी, पर उसके रंगमंच और अभिनय का आदर्श पारसी कंपनियाँ ही थीं। इसके अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित नागरी प्रवर्धिनी सभा भी वर्ष में एकाध बार नाटकों के अभिनय कर लेती थी। दशहरे के अवसर पर यह सभा मालवीय जी के निवास स्थान पर कोई न कोई नाटक अवश्य खेलती थी। उन्होंने यह भी बताया कि वसंत पंचमी के अवसर पर पं० गंगानाथ जी झा के निवास स्थान पर भी संस्कृत, हिंदी, अँगरेजी आदि के अभिनय होते थे। हिंदी नाटकों के अभिनय के लिये वे माधव शुक्ल आदि उपर्युक्त नाट्य समिति के संचालकों को आमंत्रित करते थे। इन राष्ट्रवादी युवकों का अभिनय देखकर पं० गंगानाथ झा कहा करते थे कि तुम लोग सर्वत्र देश घुसेड़ दिया करते हो। रासबिहारी शुक्ल से यह भी ज्ञात हुआ कि सन् १६१० ई० में प्रयाग की प्रसिद्ध प्रदर्शनी के अवसर पर ग्रैंड ओरियंटल पीजेंट का जो वैभवशाली प्रदर्शन हुआ था, उसमें प्रेमघन जी के 'प्रयाग रामागमन' नाटक के कई दृश्य बड़ी सफलतापूर्वक दिखाए गए थे। सूरत कांग्रेस के

अधिवेशन में नरम दल और गरम दल के बीच जो मतभेद हो गया था, उसको लेकर पं० बालकृष्ण भट्ट ने सूरत की बेडौल सूरत नाम का जो प्रहसन लिखा था, वह भी नाट्य परिषद् द्वारा अभिनीत हुआ था। रासबिहारी शुक्ल जी से ही यह सूचना भी मिली थी कि किसी नाट्यप्रयोग में मालवीय जी ने शकुंतला का अभिनय किया था। उन्होंने यह भी बताया था कि राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन भी कभी कभी अभिनय में योगदान करते थे।

पं० माधव शुक्ल के प्रयाग से चले जाने पर वहाँ की रंगमंचीय क्रियाशीलता मंद पड़ गई, पर कलकत्ता पहुँचकर शुक्ल जी ने वहाँ भी हिंदी के अव्यवसायी रंगमच की स्थापना कर विशुद्ध राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रसार का उपक्रम किया। पहले बताया जा चुका है कि वहाँ उन्होंने हिंदी नाट्य परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् की स्थापना सन् १९१६–१९१८ ई० के बीच किसी समय हुई थी। कहा जा चुका है कि इन दिनों कलकत्ता में पारसी रंगमंच का प्रभाव सर्वत्र छाया हुआ था। बँगला का साहित्यिक रंगमंच भी उसके कुसंस्कारों से सर्वथा मुक्त नहीं था; ऐसी स्थिति में भी पं० माधव शुक्ल ने हिंदी नाट्यपरंपरा के प्रवर्तन का अनुष्ठान किया, यह उनकी क्रांतदर्शी नाट्यप्रतिभा का परिचायक है। संभवत: पं० माधव शुक्ल के ही प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा क्रांतिकारी महाकवि पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला जैसे साहित्यिक भी कलकत्ते के हिंदी रंगमंच पर अभिनेता के रूप में उतरे। निराला जी ने इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं बतलाया था कि उन्होने कलकत्ते में कुछ नाटक लिखे थे और उनके अभिनय में भाग भी लिया था। दुर्भाग्य से वे सब नाटक अब अप्राप्य हैं। वस्तुत: उपर्युक्त नाट्य परिषद् को पं० माधव शुक्ल ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार प्रसार का शक्तिशाली साधन बनाया था। संभवत: उन्हीं के आदर्श से अनुप्राणित होकर सन् १९३० में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन के बीसवें अधिवेशन में हिंदी रंगमंच की स्थापना की योजना बनी, दुर्भाग्य से जो कभी कार्यान्वित नहीं हो पाई।

पं० माधव शुक्ल ने काव्य और नाटक दोनों ही लिखे हैं, और उत्कट तथा उद्दाम राष्ट्रीयता ही इन दोनों की प्रमुख विशेषता है। उनके भारत गीतांजलि नामक काव्यसंग्रह की भूमिका में भारत में अँगरेजी राज्य के लेखक श्री सुंदरलाल जी ने लिखा है—पं० माधव शुक्ल की कविताएँ देशभक्ति, देशसेवा की लगन, मुल्क की आजादी के लिये तड़प, त्याग और कुर्बानी की उमंगों से ओतप्रोत रहती हैं। खासकर उस जमाने में जब कि देशभक्ति पर कविता करना जबरदस्त खतरे से खाली नहीं था, पं० माधव शुक्ल के राष्ट्रीय गान और कविताओं ने, देश के हजारों बड़े बड़े जलसों के अंदर, सभाओं, कान्फ्रेंसों और अखबारों के कालमों में हजारों और लाखों के दिलों को हिला दिया और उनके अंदर देशभक्ति के बीज बो दिए। इसमें कोई शक नहीं कि

हिंदुस्तान की आजकल की राष्ट्रीयता या आजादी की मुहब्बत का महल खड़ा करनेवालों में पं० माधव शुक्ल का नाम सबसे पहले आता है। वस्तुस्थिति यह है कि पं० माधव शुक्ल ने राष्ट्रीयता या आजादी की मुहब्बत का महल खड़ा करने का काम कविताओं की अपेक्षा अपने नाटकों और अभिनयों के द्वारा बहुत अधिक किया। दुःख की बात है कि नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में उनके असाधारण कर्तृत्व का समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। शुक्ल जी की कविताओं के संबंध में जवाहरलाल नेहरू जी ने भी कहीं कहा है कि शुरू शुरू में राष्ट्रीय कविताओं द्वारा मुल्क को जगाने का काम जिन थोड़े से कवियों ने किया है, उनमें शुक्ल जी का पहला स्थान है[1]।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्य युग में पं० माधव शुक्ल की साधना से प्रयाग और कलकत्ता अव्यवसायी हिंदी रंगमंच की सक्रियता के प्रधान केंद्र बन गए थे। इस प्रसंग में अव्यवसायी रंगमंच के इतिहास में वाराणसी का योगदान भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वाराणसी ने हिंदी के दो महान् नाटककारों—भारतेंदु और प्रसाद—को जन्म दिया, और वहीं भारतेंदु जी के प्रयत्नों से हिंदी के अव्यवसायी रंगमंच की साहित्यिक परंपरा का प्रवर्तन हुआ। इस प्रकार वाराणसी आधुनिक हिंदी नाट्य परंपरा की धात्री के रूप में प्रतिष्ठित है। वहाँ अव्यवसायी साहित्यिक रंगमंच की परंपरा कभी निःशेष नहीं हुई। जिस ओज तेज के साथ उसका आविर्भाव भारतेंदु युग में हुआ था, भले ही उसका सम्यक् निर्वाह परवर्ती युग में न हो पाया हो। भारतेंदु युग के पश्चात् वाराणसी की रंगमंचीय प्रतिभा को प्रकाश में लानेवाली दो नाट्य संस्थाएँ मानी जा सकती हैं—वे हैं भारतेंदु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली। इन नाट्य मंडलियों के आविर्भाव और भारतेंदुयुगीन नाटकीय क्रियाशीलता के बीच एक व्यवधान दिखाई पड़ता है, जिसे दूर करने का प्रयास १९०४-५-६ ई० के आसपास कुछ तरुणों ने 'ब्वायज ड्रैमेटिक क्लब' नाम की एक संस्था स्थापित करके आरंभ किया था। इन तरुणों में जिन लोगों का उल्लेख प्राप्त हुआ है उनमें भारतेंदु जी के भ्रातृष्पुत्र बाबू व्रजचंद, झूठे गोटेवाले गोपालदास मुख्य हैं। बल्ली बाबू के कथनानुसार इस क्लब का पहला कार्यक्रम राय जगन्नाथदास के घर पर एक छोटे कमरे में एक छोटा पर्दा लगाकर भारतेंदु के अंधेर नगरी और नीलदेवी के अभिनय द्वारा संपन्न हुआ था। इस क्लब का यही प्रथम और अंतिम कार्यक्रम था, वह आगे नहीं चल सका। इस क्लब के असफल होने पर इसके जैन अग्रवाल सदस्यों ने जैन नाटक मंडली की स्थापना की जिसमें उपर्युक्त क्लब के कुछ को छोड़कर प्रायः सब सदस्य संमिलित थे। इन लोगों ने जैनधर्म संबंधी नाटकों के अभिनय किए। कुछ समय बाद इस मंडली की प्रवृत्ति

---

१. गिरिधर शुक्ल, हिंदी प्रकाशन, दिसंबर, १९६३, पृष्ठ २०।

बदल गई और इसने पारसी कंपनियों के सिलवर किंग और काली नागिन आदि नाटक खेलने प्रारंभ कर दिए। इसी बीच में सेंट्रल हिंदू कालेज में भी एक ड्रैमेटिक क्लब की स्थापना हुई जिसके प्रधान कार्यकर्ता रामगोपाल मिश्र नाम के एक सज्जन थे। रामगोपाल मिश्र ने ड्रैमेटिक क्लब के अवधान में कालेज में राधाकृष्ण दास के महाराणा प्रताप के अभिनय का आयोजन किया। इसके लिये उन्होंने बाबू ब्रजचंद से प्रार्थना की कि वे जैन नाटक मंडली से पर्दे आदि दिलवा दें। बाबू ब्रजचंद ने जैन नाटक मंडली के कर्णधार श्री नंद जी के सामने वचन दे दिया, पर समय पर आपने वचन का पालन नहीं किया। इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर बाबू ब्रजचंद ने सन् १९०७ के उत्तरार्ध अथवा १९०८ के पूर्वार्ध में नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मंडली नामक नाट्य संस्था की स्थापना की।

इस मंडली के संस्थापकों में ब्रजचंद जी के अतिरिक्त भारतेंदु जी के दूसरे भ्रातुष्पुत्र कृष्णचंद्र एवं शाह वंश के बाबू कृष्णदास प्रमुख थे। प्रारंभ में काशी के कई प्रमुख नागरिकों में से प्रत्येक ने इसके वस्त्र, सीन सीनरी, पर्दे आदि बनवाने के लिये दो सौ रुपयों की सहायता की। इसके प्रथम सभापति श्रीकृष्णचंद्रजी थे, और मंडली के द्वारा अभिनीत पहला नाटक भारतेंदुरचित सत्य हरिश्चंद्र था। इस नाटक के अभिनय के अवसर पर मंडली के संचालकों में बड़ा उग्र मतभेद उत्पन्न हो गया। जब इस नाटक के अभिनय की तिथि निकट आ गई, तो कृष्णचंद्र जी ने मंडली में यह प्रस्ताव रखा कि इसका नाम बदल कर भारतेंदु नाटक मंडली कर दिया जाय। मंडली की बैठक में सबने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और सब लोगों ने निमंत्रणपत्रों के इस नाम से बँट जाने के बाद बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई। कुछ सदस्यों ने यह कहना प्रारंभ किया कि बाबू कृष्णचंद्र अपने ताऊ की ख्याति चाहते हैं, इसलिये उन्होंने प्रबंधकारिणी में इस नाम का विरोध किया। इस विरोध से परिस्थिति ऐसी विषम हो गई कि नाटक का अभिनीत होना ही संदिग्ध हो गया। कृष्णचंद्र जी भारतेंदु नाटक मंडली के नाम से ही नाटक अभिनीत करने को कृतसंकल्प थे और विरोधी अपना हठ नहीं छोड़ रहे थे। इस बात को लेकर आपस में बड़ी कटुता उत्पन्न हो गई। अंत में कुछ लोगों के उद्योग से यह निश्चय हुआ कि यह नाटक भारतेंदु नाटक मंडली के नाम से ही अभिनीत हो और उसके बाद इस मतभेद को दूर करने के लिये उचित उपाय कर लिया जाय। अतएव ऐसा ही हुआ, पर इसके परिणामस्वरूप नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मंडली दो शाखाओं में विभक्त हो गई— एक भारतेंदु नाटक मंडली और दूसरी नागरी नाटक मंडली।

जब ये दोनों मंडलियाँ अलग हुईं, तो दोनों के मार्ग भी अलग हो गए। दोनों में नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मंडली की प्रत्येक वस्तु आधी आधी बाँटी गई। भारतेंदु नाटक मंडली का सारा उत्तरदायित्व बाबू कृष्णचंद्र और बाबू ब्रजचंद्र के

मत्थे पड़ा। बाबू व्रजचंद्र भारतेंदु नाटक मंडली में खूब रुचि लेते थे और उसके लिये अधिक से अधिक समय देते थे। इस मंडली का पहला अभिनय भारतेंदुरचित सत्य हरिश्चंद्र का किया गया जिसको लेकर नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मंडली का विघटन हुआ था। यह अभिनय अत्यंत सफलतापूर्वक संपन्न हुआ था। इस नाटक के अभिनय में भाग लेनेवालों में गोविंद शास्त्री दुगवेकर (हरिश्चंद्र), (हरिदास माणिक) शैव्या, जगमोहनदास शाह (नारद), धर्मदत्त गुर्जर (विश्वामित्र), वृंदावनदास गुजराती (इंद्र), बल्ली बाबू (धर्म), हरिभाऊ (सत्य) आदि प्रमुख थे। सत्य हरिश्चंद्र, नारद एवं विश्वामित्र का अभिनय अत्यंत उत्तम हुआ था। इस नाटक के सीन सीनरी प्रसिद्ध शिल्पी श्री टी० के० मित्र ने प्रस्तुत किए थे और उन्होंने अपनी शक्ति भर प्राचीन वातावरण का ध्यान रखा था। फिर भी यह कमी रह गई थी कि पौराणिक पात्रों के अनुरूप वेश भूषा की व्यवस्था नहीं हो पाई थी। इस नाटक के अंत में भगवान् के प्रकट होने के समय ट्रांसफर सीन के प्रयोग द्वारा श्मशान का दृश्य स्वर्ग में परिवर्तित किया गया था। बाबू कृष्णचंद्र और व्रजचंद्र के जीवनकाल में इस मंडली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किए--एक था 'महाराणा प्रताप' और दूसरा 'सौभद्रहरण'। 'सौभद्रहरण' का अनुवाद गोविंद शास्त्री दुगवेकर ने मराठी से हिंदी में किया था। इन दोनों भाइयों ने भारतेंदुरचित विद्यासुंदर तथा उत्तर रामचरित (हिंदी अनुवाद) के अभिनय की योजना भी बनाई थी। उसका अभ्यास भी पूरी तैयारी के साथ आरंभ हो गया था किंतु किन्हीं अनिवार्य कारणों से यह योजना कार्यान्वित नहीं हो पाई। इस योजना के असफल होने पर दोनों भाइयो को बड़ा दुःख रहा।

नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मंडली के विघटन के पश्चात् भारतेंदु नाटक मंडली की स्थापना हो जाने पर बाबू व्रजचंद्र के प्रयत्न और बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सहयोग से भारतेंदु प्रकाशन मंडल नाम की एक संस्था स्थापित की गई। इस संस्था के अवधान में 'भारतेंदु' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला गया जिसका संपादन गोविंद शास्त्री दुगवेकर करते थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं अदम्य राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित यह साप्ताहिक थोड़े ही दिनों में सरकार का कोपभाजन बना और बंद हो गया था, इसके साथ ही प्रकाशन मंडल भी बैठ गया। भारतेंदु नाटक मंडली कृष्णचंद्र और व्रजचंद्र के संरक्षण में कुछ दिन और चली। पर सन् १९१२-१४ के बीच दुर्भाग्यवश बाबू व्रजचंद्र का स्वर्गवास हो गया। भाई की मृत्यु के दारुण आघात से कृष्णचंद्र मंडली की ओर से उदासीन हो गए और मंडली बिलकुल निष्क्रिय हो गई।

भारतेंदु नाटक मंडली की इस निष्क्रियता से खिन्न होकर रायबहादुर बटुकप्रसाद खत्री ने सन् १९१६ ई० के आसपास इसको पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न

किया। संभवतः सन् १९१८ के सितंबर में बाबू कृष्णचंद्र जी की भी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् बटुकप्रसाद खत्री आदि ने इसे दो तीन वर्ष तक 'भारत धर्म महामंडल' के तत्वावधान में चलाया। इस अवधि में मंडली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किए—एक था गोविंद शास्त्री दुगवेकर का लिखा हुआ हर हर महादेव और दूसरा पं० माधव शुक्ल रचित महाभारत।

भारतेंदु नाटक मंडली को निष्क्रिय देखकर काशी के कुछ कलाप्रेमी नागरिकों में, जिनमें बाबू मनोहरदास, पं० आत्माराम, बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री, विष्णु बोआ, कालविद आदि प्रमुख थे, आदर्श भारतेंदु नाटक मंडली नाम की एक नवीन संस्था चलाई। इस नाटक मंडली ने श्री माधव शुक्ल के महाभारत नाटक का अभिनय किया। इस प्रकार के उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में पं० माधव शुक्ल अभिनेता और नाटककार दोनों ही रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे।

सन् १९२० ई० के आसपास एक बार पुनः 'भारतेंदु नाटक मंडली' के उद्धार का सफल प्रयत्न किया गया। केशवराम टंडन के प्रयत्नों से मंडली को 'भारत धर्म महामंडल' के प्रभुत्व से मुक्ति मिली। इन्होंने मंडली को नवजीवन प्रदान किया, नए नए सदस्यों की भरती की और अनेक नाटकों के अभिनय आयोजित किए। कहा जाता है कि इन्होंने अभिनेता के रूप में अनेक प्रतिभाशाली तरुण साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त किया, जिनमें महेंद्रलाल मेढ़, कुंवरकृष्ण कौल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा (अब डाक्टर), पंड्या पुरुषोत्तम, बल्ली बाबू आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मंडली ने जिन नाटकों का अभिनय कर लोकप्रियता अर्जित की उनमें राधेश्याम का अभिमन्यु, द्विजेन्द्रलाल राय के मेवाड़ पतन, दुर्गादास, शाहजहाँ आदि तथा बिलक्षण कृत भीष्म, द्रोण और नादिरशाह आदि है। किंतु इस मंडली के कृतित्व का सबसे गौरवशाली पक्ष प्रसाद के नाटकों का सफल अभिनय है। प्रसाद के नाटकों के सर्वथा अनभिनेय होने का जो प्रवाद उस समय प्रचारित कर दिया गया था, उसे इस मंडली के अभिनयों ने असत्य प्रमाणित कर दिया। इस मंडली ने नागरीप्रचारिणी सभा के अर्धशती महोत्सव पर चंद्रगुप्त नाटक का सफल अभिनय किया। काशी में हिंदी साहित्य संमेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर स्कंदगुप्त नाटक का बड़ा सफल अभिनय हुआ जिसके प्रेक्षण का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथोत्सव के अवसर पर 'ध्रुवस्वामिनी' का सफल अभिनय हुआ था। उस समय तक ध्रुवस्वामिनी प्रकाशित नहीं हुई थी, यह अभिनय प्रसाद जी की पांडुलिपि के आधार पर किया गया था। संभवतः प्रसाद जी के नाटकों के अभिनय के प्रमुख सूत्रधार बाबू बालकृष्णदास (बल्ली बाबू) थे।

नागरी नाटक मंडली

यद्यपि भारतेंदु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली दोनों एक ही मूल संस्था से आविर्भूत हुईं, तथापि नागरी नाटक मंडली प्रायः एक वर्ष बाद क्रियाशील हुई, इसलिये कुछ लोग भारतेंदु नाटक मंडली को उससे एक वर्ष ज्येष्ठ मानते हैं। इस मंडली ने पहले पहल २७ जुलाई, १९०९ को भारतेंदु जी के एक नाटक का अभिनय किया था जिसमें हरिदास माणिक और धर्मदत्त गुर्जर का अभिनय अत्यंत प्रशंसनीय हुआ था। उसी वर्ष २७ नवबंर को इस मंडली ने राधाकृष्णदास जी के महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय किया। इस नाटक के प्रेक्षकों में कई राजा, महाराजा और संमानित नागरिक थे जिन्होंने अभिनय से प्रसन्न होकर इस मंडली को विशेष प्रोत्साहन और सहायता प्रदान की। काशी विश्वविद्यालय के शिलान्यास महोत्सव के अवसर पर देश के कई नरेशों ने इस मंडली का अभिनय देखा था और प्रसन्न होकर उसके लिये नाट्यशाला के निर्माण के निमित्त पुष्कल सहायता देने का वचन दिया था। काशीनरेश को स्वाधीन शासक का अधिकार प्राप्त होने के अवसर पर इस मंडली ने युधिष्ठिर नाटक का अभिनय किया था। इस मंडली ने एक बार महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय कर काशी विश्वविद्यालय के लिये चंदा भी एकत्र किया था। ९ जनवरी, १९२९ ई० को इस मंडली ने अत्याचार नामक नाटक का अभिनय कर संयुक्त प्रांत के बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये चार सौ बीस रुपए भेजे थे। इन उल्लेखों से यह सिद्ध है कि यह मंडली साहित्यिक कार्यों के साथ साथ अनेक लोकोपकारी कार्य भी करती रहती थी। इस मंडली के उन्नायकों में डा० भगवानदास जी भी थे और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के वंशज राजा नित्यानंद सिंह ने भी इसके उत्कर्ष में विशेष योग दिया था।

इस मंडली ने जिन नाटकों के अभिनय द्वारा विशेष लोकप्रियता प्राप्त की थी, उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय थे——महाराणा प्रताप, सम्राट् युधिष्ठिर, सम्राट् अशोक, महाभारत, भीष्म पितामह, वीरबालक अभिमन्यु, भक्त सूरदास, बिल्वमंगल, संसार स्वप्न, कलियुग पाप-परिणाम, अत्याचार आदि। मंडली के अभिनयों में जिन लोगों की प्रतिभा अभिनेताओं के रूप में विशेष रूप में प्रकाश में आई उनके नाम हैं पं० राधाकुमार व्यास, काशीनाथ (बच्चू जी), दुर्गाप्रसाद खत्री, बाबू श्यामसुंदरदास, हरिदास माणिक, बाबू आनंदीप्रसाद कपूर, मंगलीप्रसाद अवस्थी, बनारसीदास खन्ना, बाबू ठाकुरदास, बाबू शिवप्रसाद, पं० श्रीकृष्ण शुक्ल, पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री, पं० विश्वेश्वरनाथ, पं० रलियाराम आदि। बाबू आनंदीप्रसाद कपूर नाटककार भी थे, वे बहुत दिनों तक मंडली के संचालक रहे थे। उनका अभिनय कौशल असाधारण था। अध्यवसायी रंगमंच के सफल अभिनेताओं में उनका स्थान बहुत ऊंचा था। आचार्य शिवपूजन सहाय

ने लिखा है---'मैंने भी मंडली का अभिनय देखा है। देखने से अनुभव हुआ कि मंडली के अभिनयों में अभी पारसीपन की बू बाकी है। किंतु इसके लिये मंडली नहीं, हमारा समाज दोषी है। मंडली के पास काफी फंड है, सुयोग्य स्टेज मैनेजर हैं, निपुण हार्मोनियम मास्टर हैं, अच्छे से अच्छे भेस हैं सुंदर सीन सीनरी है, पर साहित्यिक दृष्टि से अभिनय में दिलचस्पी लेनेवाले पात्रों का बड़ा टोटा है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि उस काल का अव्यवसायी रंगमंच सक्रिय तो था, पर ध्येयनिष्ठ सूत्रधारों एवं अभिनेताओं के अभाव में उसपर पारसी रंगमंच का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पं० माधव शुक्ल जैसे सूत्रधार, अभिनेता और नाटक लेखक उस समय अवश्य थे, पर वे साधनहीन थे। नागरी नाटक मंडली जैसी साधनसंपन्न मंडलियाँ उनकी प्रतिभा का उपयोग नहीं करना चाहती थी।

झालावाड़ (राजस्थान) की भवानी नाट्यशाला

आलोच्य युग की कतिपय ऐसी नाट्य समितियों और नाट्य परिषदों का विवरण पहले प्रस्तुत किया गया है जिनके संचालक और अभिनेता माधव शुक्ल जैसे उच्च कोटि के साहित्यिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। यदि उन्हें साधन, सुविधा और अभीष्ट सहयोग मिलता, तो वे अवश्य सफल होते, किंतु हिंदी नाटक के इन उन्नायकों को किसी दिशा से आवश्यक सहकार और समर्थन नहीं मिला। परिणाम यह हुआ कि ये नाट्य परिषदें अकाल ही काल कवलित हो गईं। किंतु इसी काल में एक ऐसी नाट्य संस्था भी अस्तित्व में आई जो सब प्रकार के साधनों से संपन्न थी। इस नाट्य संस्था का अपना रंगमंच था जो उस समय के इस देश के सर्वोत्तम रंगमंचों में से एक कहा जा सकता है। इस नाट्य संस्था के पास योगक्षेम की चिंता से मुक्त अनेक अभिनेता, गायक, वादक, नर्तक और नाट्यलेखक भी थे। सीन सीनरियों तथा वेशभूषा एवं प्रसाधन आदि की भी प्रचुर सामग्री इसके पास थी। फिर भी यह नाट्य संस्था हिंदी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान अथवा विकास में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दे सकी। इसका एक कारण यह था कि झालावाड़ हिंदी क्षेत्र में होते हुए भी काशी एवं प्रयाग जैसे साहित्यिक और सांस्कृतिक सक्रियता के प्रधान केंद्रों से दूर पड़ता था। तीसरा कारण यह था कि यह संस्था शुद्ध राज्याश्रय में पोषित होने के कारण जनजीवन के संपर्क में पलनेवाली साहित्यिक धारा के संपर्क में नहीं आ सकी थी।

इस नाट्य संस्था के संस्थापक झालावाड़ के कलाप्रेमी एवं विद्याव्यसनी महाराजा सर भवानी सिंह जी थे। सन् १९०३ ई० के दिल्ली दरबार में बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, मेरठ, कानपुर, आगरा आदि से बहुत सी नाटक कंपनियाँ गईं

थीं। यहीं आगरा की एक कंपनी के डाइरेक्टर मिर्जा नजीरबेग महाराजा के होम मिनिस्टर के विशेष कृपापात्र बन गए। अतएव अपने होम मिनिस्टर की संस्तुति के फलस्वरूप महाराजा भवानी सिंह ने मिर्जा नजीरबेग को अपने कुछ चुने हुए अभिनेताओं के साथ झालावाड़ बुलाया। इनके झालावाड़ पहुँचते ही वहाँ परिधान शाला की नींव पड़ी। राजकीय आदेश से बहुसंख्यक कारीगर और मजदूर रंगमंच के निर्माण में लग गए। अनेक पेंटर पर्दे और सीनरियों की रचना में नियुक्त कर दिए गए तथा अभिनेता और संगीतज्ञ अभिनय एवं गायन का अभ्यास करने लगे। अनेक जरदोज अभिनेताओं के लिये मखमली और सादी सभी प्रकार की परिधान सामग्री की तैयारी करने लगे। इस उत्साहपूर्ण आयोजन का परिणाम यह हुआ कि डाइरेक्टर नजीरबेग ने सन् १९०४ के आरंभ में ही चार नाटकों के अभिनय की तैयारी पूरी कर ली। ये चार नाटक थे—गुलरूजरीना गुलेनार, फिरोज, खूने नाहक और हरिश्चंद्र। इनमें से सबसे पहला नाटक गुलरूजरीना था। इन चार नाटकों के अतिरिक्त चंद्रावली, लैला मजनू, अलीबाबा चालीस चोर, मोरध्वज, गुलबकावली, चित्रावकावली, हकीकतराय, पूरन भक्त, फिसाना अजायब, खुदा दोस्त, इंद्रसभा, नलदमन, जहरे इश्क, शीरीं फरहाद, रामलीला, भूलभुलैया, माहीमीर, अलादीन का चिराग, और कत्ल नजर नामक नाटक भी मिर्जा नजीरबेग के निर्देशन में लगभग दो वर्ष के भीतर अभिनीत हुए। स्वयं महाराजा भवानी सिंह ने भी इनमें से कुछ नाटक देखे और उनकी प्रशंसा की।

उल्लिखित नाटकों के नाम से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से अधिकांश नाटक उर्दू के थे। मोरध्वज, नल दमन और हरिश्चंद्र जैसे नाटकों की भाषा भी अधिकांश उर्दू थी। मुसलमान डाइरेक्टरों के निर्देशन में तैयार नाटकों की भाषा का ढाँचा उर्दू होना स्वाभाविक ही था। लगभग दो वर्ष तक झालावाड़ में मिर्जा नजीरबेग महाराजा के विशेष कृपापात्र बने रहे। परंतु अकस्मात् एक घटना ऐसी घटी जिससे उन्हें अपने आगरा के साथियों के साथ झालावाड़ छोड़कर जाना पड़ा। मिर्जा के द्वारा आयोजित एक विशेष अभिनय में महाराजा स्वयं पधारनेवाले थे। परंतु उसी दिन सहसा राजमाता अस्वस्थ हो गईं और रात्रि में उनकी मृत्यु हो गई। इस घटना के कारण मिर्जा नजीरबेग के अभिनय अशुभ माने जाने लगे तथा महाराजा एवं उनके सरदारों ने उनका प्रेक्षण अमांगलिक मानकर त्याग दिया। फलत: मिर्जा तथा उनके साथी अभिनेताओं को झालावाड़ छोड़ देना पड़ा।

तृतीय अध्याय

द्विवेदी काल (सं० १९५०-१९७५) : कहानी

आधुनिक कहानी का इतिहास लगभग डेढ़ सौ वर्षों का है और आधुनिक हिंदी कहानी तो लगभग सत्तर वर्ष पहले ही प्रारंभ हुई। एक प्रकार से द्विवेदी काल ही हिंदी कहानी का आविर्भाव काल है। आधुनिक विशिष्ट अर्थ मे हिंदी कहानी यहीं से आरंभ होती है। वैसे सामान्य अर्थ में कहानी साहित्य की आदि विधा है। उसका इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव का। कहानी कहना सुनना मनुष्य की सहज नैसर्गिक विशेषता है। आदिम अवस्था में मनुष्य अपने चतुर्दिक् जिस परिवेश को देखता था, जिन प्राकृतिक वस्तुओं के संपर्क में आता था अथवा जिन घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी होता था, उन्हें अपने स्वजनों, परिजनों को सुनाने के लिये उत्कंठित हो जाता था। सामान्यतया कहानी का जन्म यही से होता है। विश्व की प्रत्येक भाषा के साहित्य मे भी इसीलिये आदिकाल से ही कथा के तत्व विद्यमान रहे है--वह चाहे गद्य में लिखा गया हो अथवा पद्य में।

कहानी के प्राचीन पर्याय

प्राचीन भारतीय साहित्य में कहानी के लिये कथा, आख्यायिका, आख्यान, वृत्तांत, आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। कथा शब्द 'कथ्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है--'जो कहा जाय'। संस्कृत मे गद्य काव्य के दो भेद किए गए हैं—कथा और आख्यायिका। 'अमरकोष' ने आख्यायिका और कथा का भेद बताते हुए कहा गया है कि जिसका विषय ज्ञात पर सत्य हो उसे आख्यायिका कहते हैं—'आख्यायिकोपलब्धार्था' (१.६-५) और जिसका विषय काल्पनिक हो उसे 'कथा' कहते हैं---'प्रबंध कल्पना कथा' (१-६-६)। 'हर्षचरित' को आख्यायिका और 'कादंबरी' को कथा माना गया है। भामह (छठी शती) ने 'काव्यालंकार' में आख्यायिका और कथा का लक्षण निरूपण करते हुए दोनों काव्यरूपों में अंतर का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार आख्यायिका एक ऐसी गद्य विधा है जो प्रकृत्यानुकूल हो, जिसमें उदात्त अर्थ हो, वक्त्र और अपर वक्त्र छंदों के द्वारा भावी घटनाओं का संकेत दिया गया हो, कथानक कन्याहरण, संग्राम विप्रलंभ तथा नायक की विजय से संबद्ध हो, तथा वह उच्छ्वासों में विभक्त हो और अपना वृत्त नायक स्वयं कहे। इसके विपरीत कथा में वक्त्र या अपर वक्त्र नहीं होते, कथानक उच्छ्वासों में विभक्त नहीं होता, वृत्त स्वयं नायक द्वारा नहीं कहा जाता और वह

संस्कृत या अपभ्रंश दोनों में लिखी जा सकती है।[1] भामह के बाद दंडी (सातवीं शताब्दी) ने कथा और आख्यायिका के उपर्युक्त भेद को नहीं स्वीकार किया। उन्होंने आख्यायिका और कथा में केवल नामभेद बताते हुए कहा कि 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता' (काव्यादर्श १।२८)। किंतु आगे चलकर आचार्य रुद्रट ने (काव्यालंकार, अध्याय १६) और आचार्य विश्वनाथ ने (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद) कथा और आख्यायिका को पुनः स्वतंत्र और एक दूसरे से भिन्न गद्य काव्य माना। साहित्यदर्पणकार ने आख्यायिका का लक्षण बताते हुए लिखा कि उसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है, यत्र तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है, जहाँ तहाँ सूचियाँ रहा करती हैं और कथानक आश्वासों में विभक्त होता है।[2] कथा का लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा कि उसका वृत्त सरस होता है, वह गद्य में निर्मित होती है, उसमे कहीं पर 'आर्या' छंद और कहीं पर 'वक्त्र तथा अपवक्त्र' छद होते हैं तथा खल निंदा और सज्जन प्रशंसा होती है।

संस्कृत में 'आख्यान' शब्द का प्रयोग सामान्य कथा के लिये भी मिलता है और ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के लिये भी मिलता है। साहित्यदर्पण में पुरावृत्त कथा को 'आख्यान' कहा गया है--'आख्यानं पूर्व वृत्तोक्तिः'। सुपर्ण, पुरुरवा आदि के आख्यान ऋग्वेद में मिलते हैं।

कहानी की कहानी

भारतवर्ष मे कहानी का उद्भव वैदिक काल से ही माना जा सकता है। ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा-पणिगण आदि संवाद, ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों के रूपकात्मक व्याख्यान, शृंग, नहुष, ययाति, नल आदि के उपाख्यान तथा

---

१. प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थं पदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ॥ २५ ॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यार्थ शांसि च ॥ २६ ॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः केश्चिदंकिता।
कन्याहरण संग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥ २७ ॥
न वक्त्रापवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यापि।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ॥ २८ ॥
(काव्यालंकार, प्र० परिच्छेद, पृ० ३।४)

२. दे० साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३३४, ३३५।

३. दे० साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद श्लोक ३३२, ३३३।

पुराणों की कथाएँ भारतीय कहानी के प्राचीनतम रूप कहे जा सकते हैं। औपनिषदिक कथाओं में श्वेतकेतु और उद्दालक की कथा, गार्गी-याज्ञवल्क्य-कथा, शौनक तथा अंगिरस की कथा और नचिकेता की कथा उल्लेखनीय हैं। इनके बाद शौर्य, प्रणय, नीति, भक्ति, वैराग्य, साहसिक एवं न्यायपरक कथाओं का क्रम प्रारंभ होता है, गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' जिनका आदि स्रोत है। संस्कृत की इस कथा परंपरा में दंडी के दशकुमार चरित, बाणभट्ट की 'कादंबरी', सुबंधु की 'वासवदत्ता', धनपाल की 'तिलक मंजरी' आदि को गिनाया जा सकता है। नीति-प्रधान कथाओं का संग्रह 'पंचतंत्र' है, जिसकी परंपरा में 'तंत्राख्यायिका', बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर, हितोपदेश, भावप्रपंच-कथा आदि ग्रंथ लिखे गए। विक्रमादित्य, भोज, भरथरी, मुंज आदि राजाओं के प्रेम, शौर्य, न्यायप्रियता, विद्यानुराग आदि की कहानियाँ उसी प्राचीन कथा परंपरा की परवर्ती कड़ियाँ हैं। वेताल पंचविंशतिका, कथार्णव, सिंहासनद्वात्रिंशिका, कथा कौतुक, माधवानल कथा, शुक-सप्तति, भोज प्रबंध आदि रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं।

संस्कृत के अतिरिक्त पालि-प्राकृत-अपभ्रंश में भी उक्त कथा परंपरा गृहीत होती है। बौद्ध और जैन मतावलंबी लेखक अपने धर्म के प्रवर्तकों, तीर्थंकरों तथा महापुरुषों की जीवन कथाओं में अलौकिक चमत्कारों का समावेश करके नीति-उपदेश-प्रधान कथासाहित्य की रचना करते हैं। बौद्ध जातक कथाओं, अवदानग्रंथों, प्राकृत-अपभ्रंश के शताधिक कथाकाव्यों, चरितकाव्यों एवं आख्यायिकाओं में न केवल मनुष्यों द्वारा, अपितु मानवेतर पात्रों—पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं, भूत-प्रेतों—आदि के द्वारा नाना प्रकार की शिक्षा दिलाई गई है। जातक कथाओं में बोधिसत्व के ५४७ जन्मों की कथाएँ हैं, जो चार भागों में विभक्त हैं—पंचुपन्नवत्थु कथा, अतीतवत्थुकथा, अन्थ वर्णना और समोधान। जैन कथाकारों में हेमचंद्र, सिद्धकवि, जिनकीर्ति, मेरुतुंग और सोमचंद्र प्रमुख हैं। हेमचंद्र का 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित', जिनकीर्ति का 'चंपक श्रेष्ठि कथानक', मेरुतुंग का 'प्रबंध चिंतामणि, सोमचंद्र का 'कथामहोदधि' श्रेष्ठ कहानी संग्रह हैं। इन कहानियों में उपदेश तथा नीति की प्रधानता है।

हिंदी का प्राचीन कथा साहित्य

आधुनिक कहानी के उदय के पूर्व हिंदी में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा में कथा साहित्य की रचना पर्याप्त मात्रा में हुई है। इन कथा कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन अथवा उपदेश होता था। इनमें अप्राकृतिक तथा अतिप्राकृतिक घटनाओं का बाहुल्य होता था, कहानी के भीतर कहानी निकलती जाती थी तथा मानवेतर पात्रों का समावेश रहता था। प्राचीन हिंदी में यह कथा-साहित्य कई रूपों में लिखा गया है। चारण तथा चारणेतर कवियों द्वारा लिखित रासों अथवा चरितकाव्यों में कथातत्व

की ही प्रधानता है। ये कथाएँ प्रायः पक्षियों द्वारा कहलाई गई हैं, जिनके माध्यम से पुरुष नारी का लोभ दिखाया गया है। 'कीर्तिलता' की कथा भृंग-भृंगी संवाद से चलती है और पृथ्वीराजरासो में शुक-शुकी-संवाद से कथा बढ़ती है। संस्कृत में 'कादंबरी' में भी कथा शुक के द्वारा कहलाई गई है। वस्तुतः मध्यकाल में लिखे गए ऐतिहासिक काव्यों में इतिहास कम है, कल्पना अधिक। एक प्रकार से इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को निजंधरी कथाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिये प्रायः सभी चरितकाव्य लेखकों ने अपनी रचनाओं को 'कथा' भी कहा है। चरितकाव्यों अथवा कथाकाव्यों की यह परंपरा निश्चय ही प्राकृत-अपभ्रंश से आई थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्राकृत और अपभ्रंश में उन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था, जिन्हें 'कथा' कहा जाता था। प्राकृत में लिखी कथाएँ पद्यबद्ध भी होती थीं और गद्य में भी लिखी जाती थीं।[1]

हिंदी में कथा की दूसरी परंपरा सूफियों द्वारा विकसित हुई। उनके द्वारा लिखे गए प्रेमाख्यानों में कथातत्व की ही प्रमुखता है। इन कथाकाव्यों में अनिद्य पद्मिनी नायिकाओं के सौंदर्यवर्णन, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन या गुणश्रवण से प्रेमोदय, प्रेमी द्वारा प्रेमिका प्राप्ति के लिये कठिन यात्रा, तथा योगी बनना, समुद्रयात्रा, पक्षियों के द्वारा संदेश, युद्ध और अंत में प्रिय-प्रेमी-मिलन द्वारा रोमांचक एवं कुतूहलवर्धक कहानियों की सृष्टि हुई है। चंदायन (मौ० दाऊद), मृगावती (कुतुबन), मधुमालती (मंझन), पद्मावत (जायसी), चित्रावली (उसमान), ज्ञानदीप (शेख नबी), इंद्रावती (नूर मुहम्मद), यूसुफ जुलेखा (शेख निसार), प्रेम चिनगारी (नजफ अली) आदि प्रेम कथाएँ इसी कोटि में आती हैं।

हिंदी कहानी का तीसरा प्राचीन रूप वह कहा जा सकता है जो 'वार्ता', 'वृत्तांत', 'किस्सा', 'स्वप्न', आदि के नाम से लिखा गया है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' एक प्रकार की धार्मिक कथाएँ ही हैं। प्राचीन ढंग की कथा कहानियों की यह परंपरा आधुनिक काल में द्विवेदी युग के पूर्व तक चली आती है। भारतेंदुयुगीन पत्र पत्रिकाओं कवि वचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन, हरिश्चंद्र चंद्रिका, हिंदी प्रदीप, ब्राह्मण, भारत मित्र, सारसुधानिधि आदि में प्राचीन ढंग की कहानियाँ प्रकाशित होती रहती थीं। बीरबल अकबर का उपहास, ठग लीला, किस्सा गुलबकावली, जवानी की कहानी, सालिग सदावत का वृत्तांत, हातिमताई का किस्सा, छबीली भठियारिन, शीरीं फरहाद, मर्द औरत किस्सा आदि कतिपय ऐसी ही कहानियाँ हैं। लल्लू लाल द्वारा अनूदित सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, माधोनल आदि कथा संग्रह, इंशा अल्ला खाँ की रानी

---

१. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५४।

केतकी की कहानी या उदयभानु चरित, सबल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों का कोड़ा, वामा मनोरंजन, लड़कों की कहानी, भारतेंदु की कुछ आप बीती कुछ जग बीती, एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न, हमीर हठ, राजसिंह, मदालय, सुलोचना, पं० गौरीदत्त शर्मा की कहानी टका कमानी, देवरानी जेठानी, मुंशी शादीलाल का किस्सा शाहरूम, आदि कहानियाँ प्राचीन कथा परंपरा की अंतिम कड़ियाँ हैं।

इस प्रकार संस्कृत में कथा कहानियों की जो पद्धति प्रारंभ हुई, वह किंचित् परिवर्तन के साथ भारतेंदु युग तक चली आती है। कथा, आख्यायिका, वृत्तांत, स्वप्न, किस्सा, उपाख्यान आदि विभिन्न नामों से कहानियाँ लिखी जाती हैं। किंतु यहाँ तक उनका स्वरूप लक्षण निर्धारित नहीं हो सका। कहानी का रचना विधान, उसकी रचना प्रक्रिया तथा तत्व आदि स्पष्ट नहीं हो सके। इन कहानी लेखकों में सामाजिक चेतना का भी अभाव था। अतः ये कहानियाँ समसामयिक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। एक प्रकार से ये अपने समाज के प्रति तटस्थ एवं उदासीन हैं तथा प्राचीन कथाओं के रूपांतर मात्र हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक कहानी का जन्म इस युग तक नहीं हो सका। नई कहानी अथवा आधुनिक कहानी का उदय या आरंभ द्विवेदी काल में हुआ। इस प्रकार हिंदी कहानी की दृष्टि से द्विवेदी काल का विशेष महत्व है। आधुनिक कहानी की रचना प्रक्रिया, शिल्प विधि, कथा विन्यास आदि पर पाश्चात्य एवं बंगला कहानियों का विशेष प्रभाव है। अतः इनके संबंध में संक्षेप में जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

आधुनिक हिंदी कहानी की शिल्पस्रोत पाश्चात्य एवं बँगला कहानियाँ

आधुनिक हिंदी कहानी का स्वरूप, शिल्प और लक्षण बँगला के माध्यम से पाश्चात्य कहानियों से निर्मित और निश्चित हुआ है। एक प्रकार से आधुनिक हिंदी कहानी पश्चिम की ऋणी है। अमेरिका और यूरोप में आधुनिक कहानी का आविर्भाव १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। वहाँ के प्रारंभिक कहानी लेखकों में ई० टी० डब्ल्यू० हौफमैन, जेकोब, ग्रिम, हाथार्न, पुश्किन, एडगर ऐलेन पो, ब्रेटहार्ट, जार्ज वाशिंगटन, कोबल, न्यू आलिएन्स आदि के नाम लिए जाते हैं। हौफमैन के कहानी संग्रह सन् १८१४ और १८२१ के मध्य प्रकाशित हुए। इनके बाद हाथार्न (१८०४-६४ ई०) और पो (१८०९-४९) की कहानियाँ प्रकाशित हुई। पो का नाम कहानीकार की अपेक्षा कहानी के शिल्प-विधि निर्माता के रूप में अधिक ख्यात है। सर्वप्रथम उसने कहानी को एक निश्चित स्वरूप दिया, कहानी के आदि, मध्य, अंत की विवेचना की, उसकी एक सीमा निश्चित की तथा प्रभावान्विति पर जोर दिया।

अमेरिका तथा युरोप में जर्मनी, साथ ही साथ फ्रांस और रूस में भी कहानी कला

का आरंभ हुआ। तत्कालीन रूसी कहानी लेखकों में निकोलाई गोगोल (१८०१–५२), बाल्जक (१७९९-१८५०) और इवान तुर्गनेव (१८१८-८३) की कहानियाँ साहसिक घटनाओं और यथार्थ चित्रणों की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावोत्पादक हैं। राजेंद्र यादव का कहना है कि 'कहानी में उभरनेवाले यथार्थ जीवन ही नहीं, शिल्प और शैली के लिहाज से भी मैं समझता हूँ कि गोगोल की 'ओवरकोट' को विश्व की पहली यथार्थ-वादी, सशक्त, सफल और आधुनिक कहानी मानना चाहिए। वह आज भी विश्व कहानी में उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी हिंदी में 'उसने कहा था'।[1]

गोगोल, बाल्जक, तुर्गनेव की त्रयी के बाद कहानी को नया स्वरूप देने का श्रेय अमेरिका के ओ हेनरी, फ्रांस के मोपासाँ और रूस के चेखव को है। ओ. हेनरी की कहानियों की विशेषता है "शिकार पर सीधे टूटनेवाले बाज जैसा प्रारंभ, द्वंद्व, क्लाइमेक्स, उतार और अप्रत्याशित अंत। कहीं एक शब्द व्यर्थ नहीं, कहीं एक घटना निरर्थक नहीं और संयोग ऐसा कि चतुर पाठक भी घबरा जाए।"[2] अत्यधिक प्रतिभासंपन्न कहानीकार मोपासाँ की कहानियाँ उसके यायावरी जीवन के व्यापक अनुभव, विविध वर्गों के मनुष्यों के चरित्रभेद तथा नव्यशिल्प की दृष्टि से बेजोड़ हैं। चेखव की कहानियों में उपेक्षित, दलित वर्ग के दुःख दर्द तथा उनपर किए गए अमानवीय अत्याचार उभरकर आए हैं। इस प्रकार १९वीं शताब्दी में यूरोप और अमेरिका में साहित्य की यह विधा प्रारंभ, पुष्ट और शिल्पगत वैशिष्ट्य को परिमार्जित करती हुई भारत को भी आकृष्ट करती है। भारतवर्ष का पश्चिम से संपर्क केवल अंग्रेजी माध्यम से था और स्वयं अंग्रेजी में ही कहानी का प्रवेश बहुत बाद में हुआ। अतः भारत में नए ढंग की कहानी का प्रवेश विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आस पास हो सका। भारत में हिंदी भाषा भाषियों की अपेक्षा बंगालवासी अंग्रेजों के संपर्क में पहले आए। अतः आधुनिक कहानी का आरंभ हिंदी की अपेक्षा बँगला में पहले हुआ। बँगला में संवत् १८८२ के आस पास से पाश्चात्य ढंग की कहानियों का लेखन मौलिक तथा अनूदित रूप में प्रारंभ हो गया था। सं० १९०० और १९२५ के मध्य बँगला में पर्याप्त संख्या में समृद्ध कहानियाँ लिखी गईं। बँगला के प्रारंभिक कहानीकारों में कृष्णकमल भट्टाचार्य, हरप्रसाद शास्त्री, भूदेव, भवानीचरण वंद्योपाध्याय, रवींद्रनाथ ठाकुर, श्रीमती नीरदनिवासिनी घोष आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिंदी में आधुनिक कहानी का जन्म तथा प्रथम हिंदी कहानी

आधुनिक हिंदी कहानी का आरंभ द्विवेदी काल में सं० १९५० के बाद अंग्रेजी

१–कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० १४।

२–वही, पृ० १५।

और बँगला के संपर्क, नई शक्तियों के उदय, सुधारवादी आंदोलन, आर्थिक-धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति, नई शिक्षापद्धति, गद्य के परिष्कार तथा नवीन चेतना के फलस्वरूप हुआ। सरस्वती (सं० १९५७), सुदर्शन (सं० १९५७) और इंदु (सं० १९६६) नामक पत्रिकाएँ आधुनिक कहानी की जन्मदात्री प्रमुख पत्रिकाएँ कही जा सकती हैं। इनमें भी सरस्वती का स्थान सर्वोपरि है। उसके प्रकाशन के प्रथम वर्ष में ही उसमें 'इंदुमती', 'चंद्रलोक की यात्रा' और 'आपत्तियों का पर्वत' नामक तीन कहानियाँ छपी थीं। हिंदी के अधिकांश विद्वान् 'इंदुमती' (किशोरीलाल गोस्वामी) को हिंदी की प्रथम कहानी मानते हैं। 'चंद्रलोक की यात्रा' (केशवप्रसाद सिंह) हिंदी की पहली वैज्ञानिक कहानी है। कहानी के क्षेत्र में 'सरस्वती' के योग पर विचार करते हुए श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'कहानियों के क्षेत्र में उसकी सेवाएँ अनुपम हैं। वास्तव में आधुनिक हिंदी कहानी का जन्म ही 'सरस्वती' में हुआ। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' सर्वसंमति से हिंदी की पहली आधुनिक कहानी मानी जाती है। 'बंगमहिला' की कहानियों ने उस नूतन प्रवृत्ति को पुष्ट किया। बाबू वृंदावनलाल वर्मा की पहली कहानी सरस्वती में सन् १९०७ में छपी। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में ही प्रकाशित हुई थी। मुं० प्रेमचंद की पहली कहानी छापने का सौभाग्य भी सरस्वती को प्राप्त हुआ था। उस समय सरस्वती की कहानियों से अनुप्राणित होकर वे लोग भी, जो कवि या गंभीर लेखक थे, कहानी लिखने का प्रयोग करने लगे थे। उदाहरण के लिये पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपनी (शायद एकमात्र) कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' और बालकृष्ण शर्मा ने 'संतू' नामक कहानी लिखी और वे सरस्वती में प्रकाशित हुईं[1]।' सरस्वती के अतिरिक्त 'सुदर्शन' तथा 'इंदु' पत्रिकाओं ने कहानीरचना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रसाद जी की प्रथम कहानी 'ग्राम' सं० १९६८ में 'इंदु' में ही प्रकाशित हुई थी। जी० पी० श्रीवास्तव की पहली हास्यरस की कहानी उसी वर्ष 'इंदु' में छपी थी। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की अत्यंत प्रसिद्ध भावुकतापूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' सं० १९७० में इंदु में प्रकाशित हुई थी। इसी समय 'सुदर्शन' में माधव मिश्र की पौराणिक कहानियाँ निकल रही थीं।

हिंदी की प्रथम आधुनिक कहानी किसे माना जाए, इसपर विद्वानों में मतभेद है। इस संबंध में निम्नलिखित कहानियों को प्रस्तुत किया जाता है :—

१—रानी केतकी की कहानी	(सं० १९४६)	इंशा अल्ला खाँ
२—इंदुमती	(सं० १९५७)	किशोरीलाल गोस्वामी
३—गुलबहार	(सं० १९५९)	,, ,,
४—प्लेग की चुड़ैल	(सं० १९५९)	मास्टर भगवानदास

१. सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० १५–१६।

५—ग्यारह वर्ष का समय (सं० १९६०) रामचंद्र शुक्ल
६—पंडित और पंडितानी (सं० १९६०) गिरिजादत्त वाजपेयी
७—दुलाईवाली (सं० १९६४) बंगमहिला
८—उसने कहा था (सं० १९७२) चंद्रधर शर्मा गुलेरी

ऊपर गिनाई गई आठ कहानियों में रचनाकाल की दृष्टि से 'रानी केतकी की कहानी' प्रथम है और 'उसने कहा था' अंतिम। एक अनुसंधायक के मत से "'रानी केतकी कहानी' हिंदी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। इसमें कहानी की मौलिक परंपरा का पालन हुआ है। इसकी भाषा चमत्कारपूर्ण और वर्णनशैली आकर्षक है।"[1] कुछ इसी प्रकार का मत डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का भी है। उनके अनुसार 'इंशा की कहानी को हम कहानीकला की दृष्टि से देखें तो यहाँ भी हम उनको नवीन धारा के प्रवर्तक के रूप में देखते हैं'।[2] स्पष्ट है कि मात्र मौलिकता अथवा भाषाशैली में चमत्कार के कारण किसी रचना को 'कहानी' संज्ञा से अलंकृत नहीं किया जा सकता। वस्तुतः 'आधुनिक कहानी' एक निश्चित अर्थ का द्योतक शब्द है, उसका एक निश्चित स्वरूप और लक्षण है तथा वह शिल्प की दृष्टि से प्राचीन कहानी से नितांत भिन्न है। 'रानी केतकी की कहानी' के कथानक में अप्राकृतिक और अतिप्राकृतिक तत्वों का समावेश उसी रूप में हुआ है जैसा कि पूर्ववर्ती कथा कहानियों में। इसकी भाषा भी अनुप्रासप्रधान, पद्यात्मक तथा प्राचीन ढंग की है तथा इसमें अस्वाभाविक और अयथार्थ घटनाओं के द्वारा कौतूहल सृष्टि का प्रयास किया गया है। इसका रचनाशिल्प प्राचीन और रूढ़ है, न कि आधुनिक। वस्तुतः कुछ विद्वानों ने उक्त रचना में 'कहानी' शब्द देखकर ही उसे हिंदी की प्रथम कहानी मान लिया। अतः डा० लक्ष्मीनारायण लाल का यह निष्कर्ष अधिक तर्कसंगत लगता है कि "हिंदी के कुछ आलोचकों ने 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी की पहली कहानी माना है। लेकिन यह पूर्णतः अवैज्ञानिक है। यहाँ उन्होंने कहानी का तात्पर्य केवल कथा से लिया है।"[3]

'रानी केतकी की कहानी' के अतिरिक्त ऊपर जो सात कहानियाँ गिनाई गई हैं, उनमें अधिक विवाद 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'दुलाईवाली' और 'उसने कहा था' कहानी को लेकर है। वैसे इनके कुछ पहले 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और 'पीयूष प्रवाह' में एक दो कहानियाँ और छप चुकी थीं, जैसे पं० अंबिकादत्त व्यास

---

१. डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन।

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, साहित्य चिंतन।

३. डा० लक्ष्मीनारायण लाल, हिंदी कहानी की शिल्पविधि का विकास, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

की 'आश्चर्य वृत्तांत' और पं० बालकृष्ण भट्ट की 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक कहानी। किंतु कहानीकला की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है। अतः यदि इनको छोड़ दिया जाय तो कालक्रम की दृष्टि से 'इंदुमती' प्रथम कहानी है, किंतु कुछ लोग इसे शेक्सपियर के 'टेंपेस्ट' का रूपांतर मानते हैं।

रामचंद्र शुक्ल इसे हिंदी की प्रथम कहानी मानने को तैयार हैं, बशर्ते कि वह मौलिक हो। कहानियों का आरंभ कहाँ से माना जाए, इसके लिये वह 'सरस्वती' में प्रकाशित छह कहानियाँ—इंदुमती, गुलबहार, प्लेग की चुड़ैल, ग्यारह वर्ष का समय, पंडित और पंडितानी तथा दुलाईवाली को चुनते हैं। फिर अपना निर्णय देते हैं कि ' इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं इंदुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाईवाली। यदि 'इंदुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय' फिर 'दुलाईवाली' का नंबर आता है।"[1] शुक्ल जी को 'इंदुमती' के मौलिक होने में संदेह है, किंतु कहानीकला की दृष्टि से उसकी आधुनिकता में उन्हें संदेह नहीं है। इधर कुछ नए कहानी समीक्षकों ने अवश्य उपर्युक्त प्रारंभिक कहानियों को 'आधुनिक' मानने से इन्कार कर दिया है। डा० परमानंद श्रीवास्तव के मत से "इस काल में रचित अधिकांश कहानियों के कथानक स्थूल वर्णनात्मक हैं और घटनाओं के कुतूहलपूर्ण चमत्कार पर आधारित हैं। इनमें कहानी के संपूर्ण प्रभाव को नुकीला बनाकर प्रस्तुत करने की कलात्मक क्षमता है ही नहीं।"[2] वह अपने विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यह बात हम 'प्लेग की चुड़ैल' और 'चंद्रलोक की यात्रा' जैसी अति साधारण कहानियों को ध्यान में रखकर नहीं, किशोरीलाल गोस्वामी की प्रसिद्ध कहानी 'इंदुमती' (जिसे कुछ लोग हिंदी की पहली साहित्यिक कहानी मानते हैं) तथा रामचंद्र शुक्ल की प्रख्यात कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को ध्यान में रखकर कह रहे हैं।"[3] कुछ इसी प्रकार का मत राजेंद्र यादव का है। उनके अनुसार "किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती'—१९०१—पर टेंपेस्ट की छाप है, रामचंद्र शुक्ल का 'ग्यारह वर्ष का समय'—१९०३—और एक बंग महिला की 'दुलाईवाली'—१९०७—अपनी मौलिकता के बावजूद कहानी होने की माँग पूरी नहीं करती। यों इन दिनों कहानियाँ तो बहुत निकली होंगी, लेकिन मैं समझता हूँ कि पहली मौलिक और कलापूर्ण कहानी चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था'—१९१६—है और उससे हो

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (बारहवाँ, संस्करण), पृ० ४६२।

२. हिंदी कहानी की रचना-प्रक्रिया, प्र० ग्रंथम्, रामबाग, कानपुर, पृ० ६८।

३. वही, पृ० ६८।

हिंदी की आधुनिक कहानी का प्रारंभ मानना चाहिए।"[1] 'उसने कहा था' एक अत्यंत प्रौढ़ कहानी है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। वातावरण की सजीवता, कथानक के सांकेतिक विधान, फ्लैश बैक तथा शिल्प की दृष्टि से वह हिंदी की ही अन्यतम कहानी नहीं है, अपितु विश्व की इनी गिनी श्रेष्ठ कहानियों में से है।

किंतु इसकी पूर्ववर्ती 'सरस्वती' में प्रकाशित सभी कहानियों को छोड़कर इसे प्रथम कहानी कहना शायद ठीक नहीं है। ऊपर गिनाई गई कहानियों में 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली' निश्चय ही कथानक, शिल्प तथा विचारधारा की दृष्टि से आधुनिक कहानियाँ हैं। इनमें कालक्रम की दृष्टि से 'इंदुमती' प्रथम है। अतः उसे ही हिंदी की प्रथम कहानी मानना चाहिए। वस्तुतः वह एक मौलिक कहानी है। वह न तो शेक्सपियर के 'टेंपेस्ट' का रूपांतर है और न किसी बँगला कहानी की छाया। उसका कथानक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। इंदुमती देवगढ़ के राजा की पुत्री है, जो अपने वृद्ध पिता के साथ विंध्याचल के वन में रहती है। एक दिन अचानक संयोगवश उसकी भेंट अजयगढ़ के राजकुमार चंद्रशेखर से हो जाती है, जो पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी की हत्या करके भागा है। दोनों प्रथम साक्षात्कार में ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। इंदुमती के पिता ने प्रतिज्ञा की थी कि वह अपनी पुत्री का विवाह इब्राहीम का वध करनेवाले व्यक्ति से करेगा। चंद्रशेखर ने अनजाने ही यह प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी। अत. पिता ने दोनों का विवाह कर दिया। कहानी में एकाध तत्वों की कमी भले ही मिल जाय, किंतु उसकी मौलिकता असंदिग्ध है : उसका प्रवाह स्वाभाविक है। प्राचीन कहानियों के समान उसमें कहीं भी अस्वाभाविक घटनाओं अथवा अप्राकृतिक तत्वों का समावेश नहीं हुआ है। अतः 'इंदुमती' हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी कही जा सकती है।

द्विवेदी काल का महत्व

हिंदी कहानियों के उद्भव और विकास की दृष्टि से द्विवेदी काल का विशेष महत्व है। इस समय से न केवल आधुनिक कहानी का आरंभ होता है, अपितु शिल्प और वस्तु दोनों दृष्टियों से उसे प्रौढ़ता भी प्राप्त होती है। तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक स्थिति नए साहित्य के सृजन का द्वार खोलती है। अंग्रेजी साम्राज्य की दृढ़ता एवं प्रभुता नई समस्याओं को जन्म देती है। अंग्रेजी संस्कृति एवं साहित्य के संपर्क के कारण नए विचारों को प्रेरणा मिलती है। स्वाधीनता का स्वर धीरे धीरे ओर पकड़ता है। विदेशी सत्ता द्वारा न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता का अपहरण हुआ

१—कहानी : स्वरूप और संवेदना, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, पृ० ११।

था, अपितु आर्थिक दृष्टि से भी भारत को पंगु और पराश्रित बनाया जा रहा था। भारत का न केवल कच्चा माल इंगलैंड के मिलों की आवश्यकता पूर्ति हेतु निर्यातित होता था, अपितु बहुत बड़ी धनराशि भी प्रति दिन विदेश भेजी जाती थी। भारतीयों का उद्योग धंधा धीरे धीरे ठप्प होता जा रहा था।

यहाँ के लघु उद्योगों के अतिरिक्त कृषि व्यवस्था को भी धक्का लगा था। इसाई प्रचारक भारतीय धार्मिक व्यवस्था पर भी प्रहार कर रहे थे। आए दिन वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से धर्मपरिवर्तन की घटनाएं सुनाई पड़ने लगी थीं। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था भी रूढ़िग्रस्त एवं अनेक प्रकार की बुराइयों से क्षत विक्षत हो चुकी थी।

लेकिन अंग्रेजी शिक्षा और बाह्य संपर्क का एक अच्छा परिणाम यह भी हुआ कि भारतीयों में नव चेतना का जागरण हुआ। उन्होंने अपनी कमजोरियों को समझा। अनेक समाज सुधारक पैदा हुए, जिन्होने विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों द्वारा समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। स्वाधीनता का प्रयास भी प्रारंभ हुआ। इस प्रकार इस युग की प्रमुख समस्याए थीं—स्वाधीनता प्राप्ति की, आर्थिक शोषण से मुक्ति की, सामाजिक पंक से निकलने की, नारी उद्धार की और धार्मिक पाषंडों की अर्गला तोड़ने की।

यह कार्य साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कहानी के द्वारा अधिक संभव था। फलत: हिंदी कहानी एक महान् दायित्व को लेकर सामने आती है। इस युग में मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार की कहानियां लिखी गईं। संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं से विविध प्रकार की कहानियों के अनुवाद भी हुए और विस्तृत क्षेत्र को अपनाते हुए, जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति देनेवाली मौलिक कहानियाँ भी लिखी गईं। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से इन कहानियों में वैविध्य पाया जाता है। किशोरीलाल गोस्वामी, रामचंद्र शुक्ल, बंग महिला, जी० पी० श्रीवास्तव, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, वृंदावनलाल वर्मा, सत्यदेव परिव्राजक, केशवप्रसाद सिंह, भगवानदास, छबीलेलाल गोस्वामी, सुदर्शन, उषादेवी मित्र, बालकृष्ण शर्मा, गिरिजादत्त वाजपेयी, गिरिजाकुमार घोष, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोपालराम गहमरी, निजामशाह, सूर्यनारायण दीक्षित, उदयनारायण वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, विद्यानाथ शर्मा, विश्वंभरनाथ जिज्जा, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद इस युग के प्रमुख कहानीकार हैं। इनके द्वारा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, जासूसी, ऐतिहासिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामयिक हास्य व्यंग्य आदि सभी विषयों पर कहानियाँ लिखी गई। इस समय घटनाप्रधान से लेकर चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान और भावप्रधान कहानियाँ तक लिखी गईं।

शैली की दृष्टि से भी इस समय विविध प्रकार की कहानियाँ प्रकाश में आईं। इस समय यदि एक ओर स्वप्न शैली (केशवप्रसाद सिंह कृत आपत्तियों का पर्वत) में कहानियाँ लिखी गईं तो दूसरी ओर आत्मकथात्मक शैली (रामचंद्र शुक्ल कृत ग्यारह वर्ष का समय) में भी; यदि एक ओर इतिहासात्मक अथवा वर्णनात्मक शैली (पार्वतीनदन कृत प्रेम का फुहारा) में कहानियाँ लिखी गईं तो दूसरी ओर व्यंग्य शैली (गिरिजादत्त वाजपेयी कृत पंडित और पंडितानी) में भी कुछ कहानियाँ प्रकाश में आईं। विकास की दृष्टि से द्विवेदी काल की कहानियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--

१--प्रयोग काल (सं० १९५०--सं० १९६८)

२--प्रौढ़ काल (सं० १९६९ से १९७५)

प्रयोग काल (सं० १९५० से १९६८)

अनूदित कहानियाँ

(क) अंग्रेजी से अनूदित कहानियाँ

प्रयोग काल मे अंग्रेजी, संस्कृत और बँगला से अनूदित होकर हिंदी में कहानियाँ आईं। अंग्रेजी से अनुवाद करनेवाले लेखकों में राधाकृष्णदास और पार्वतीनंदन मुख्य हैं। राधाकृष्णदास द्वारा अनूदित कहानियाँ विशेष रूप से 'सरस्वती' में छपीं। उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों तथा अंग्रेजी साहित्य के अन्य क्षेत्रों से कथानक लेकर हिंदी में कहानियों की रचना की। 'सिंबेलिन', 'एथेंसवासी टाइमन', 'पेरिक्लिस', 'कौतुकमय मिलन', आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। ये चारों कहानियाँ संवत् १९५७ में 'सरस्वती' के जनवरी, फरवरी, मार्च और सितंबर मास के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई थीं। 'सिंबेलिन' एक सामाजिक तथा घटनाप्रधान कहानी है। 'एथेंसवासी टाइमन' चरित्रप्रधान, 'पेरिक्लस' उपदेशप्रधान तथा 'कौतुकमय मिलन' घटनाप्रधान कहानी है। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं तत्सम शब्दावली प्रधान है। 'सिंबेलिन' की भाषा का एक उदाहरण देखिए--

'वृद्ध बेलिरियल ने भी उपयुक्त अवसर जानकर आत्मप्रकाश किया और दोनों राजकुमारों को आगे करके सब वृत्तांत आद्योपांत कह सुनाया तथा अपने अपराध के लिये कृतांजलिपुट हो क्षमा प्रार्थना की। आनंदध्वनि से सभा गूँज उठी।'

(सरस्वती : जनवरी, १९००, भाग--१)

पार्वतीनंदन ने मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार की कहानियों की रचना की है। "ये कहानी को मनोरंजन का उपयुक्त साधन मानते हैं। अतएव इन्होंने अपनी कहानियों में भाषा तथा प्रतिपादनशैली की गंभीरता की अपेक्षा घटना तथा पात्र संबंधी विशेषताओं को उपस्थित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इन्होंने अमरीकन, जर्मन तथा अन्य विदेशी भाषाओं की कहानियों के अनुवाद तथा रूपांतर

उपस्थित किए हैं।"[1] इनके द्वारा अनूदित तथा 'सरस्वती' में प्रकाशित कहानियों में 'बिजली' (सरस्वती : जनवरी, १९०५) और 'मेरी चंपा' (सरस्वती : अप्रैल, १९०५) प्रमुख हैं। 'बिजली' एक अमेरिकन कहानी की छाया है और 'मेरी चंपा' पर एक जर्मन कहानी का प्रभाव है। 'गल्पलहरी' नामक इनकी कहानियों का संग्रह, साहित्य भवन, प्रयाग से सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ था। इनके द्वारा अनूदित कहानियों में 'नरक गुलजार' और 'जीवनाग्नि' को गिनाया जा सकता है। दोनों कहानियाँ 'सरस्वती' में सं० १९६२ और सं० १९५८ में प्रकाशित हुई थीं।

उपर्युक्त दो प्रमुख कहानी अनुवादकों के अतिरिक्त पृथ्वीपाल सिंह, सूर्यनारायण दीक्षित, शिवनारायण शुक्ल, कुंदनलाल, श्री चतुर्वेदी, रूपनारायण पांडेय, सत्यदेव आदि ने भी अंग्रेजी तथा फ्रेंच से कतिपय कहानियों के अनुवाद किए। इनमे से रूपनारायण पांडेय की कहानी 'भाग्यचक्र' इंदु (सं० १९६७) में प्रकाशित हुई, शेष कहानियाँ—'एक यात्री की कहानी' (पृथ्वीपाल सिंह), 'प्रत्युपकार का एक अद्भुत उदाहरण' (कुंदनलाल) 'सात सुनार' (शिवनारायण शुक्ल), भूलभुलैया (चतुर्वेदी), माला (सत्यदेव) आदि 'सरस्वती' में सं० १९६३ और सं० १९६६ के मध्य प्रकाशित हुईं।

अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं से अनूदित इन कहानियों का हिंदी की मौलिक कहानी रचना पर भी प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य कहानियों के शिल्प को लेकर हिंदी में मौलिक कहानियाँ लिखी जाने लगीं। ये कहानियाँ प्रायः चरित्रप्रधान होती थीं जिनमें पात्रों के अंतर्द्वंद्व अथवा घात प्रतिघात से कथानक का विकास दिखाया जाता था। लेखक वर्णनात्मक शैली में पात्रों द्वारा ही शिक्षा, मनोरंजन, कुतूहल आदि की सृष्टि करता था। हिंदी कहानीकारों ने भी इस टेक्नीक को बहुत कुछ अपनाने की चेष्टा की।

(ख) संस्कृत से अनूदित कहानियाँ

इस काल में संस्कृत के विशाल कथा साहित्य से भी अनुवाद हुए। इन अनुवादकों में गदाधर सिंह, जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी तथा सूर्यनारायण दीक्षित के नाम उल्लेख्य हैं। गदाधर सिंह ने 'कादंबरी' की कथा का अनुवाद प्रस्तुत किया। जगन्नाथ त्रिपाठी ने हर्षचरित, रत्नावली, मालविकाग्निमित्र आदि अनूदित कहानियों को प्रकाशित कराया। सूर्यनारायण दीक्षित ने जैमिनि पुराण के आधार पर 'चंद्रहास का अद्भुत उपाख्यान' नामक कहानी लिखी। ये कहानियाँ भी 'सरस्वती' में सं० १९५८ और सं० १९६३ के मध्य प्रकाशित हुईं।

---

१. डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० १०३।

संस्कृत से अनूदित कहानियों में उपदेशात्मक वृत्ति अधिक पाई जाती है। वैसे इनमें विस्मयकारक घटनाओं के द्वारा कुतूहल और मनोरंजन की भी सृष्टि हुई है। इन अनुवादों की भाषा पुराने ढंग की है, जिसपर संस्कृत की संश्लिष्ट पद परंपरा, समास पद्धति और वाक्यरचना का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

(ग) बँगला से अनूदित कहानियाँ

आलोच्य युग के प्रारंभ से ही हिंदी मे बँगला कहानियों के अनुवाद आने लगे थे। वस्तुतः बँगला में हिंदी की अपेक्षा मौलिक कहानियों का लेखन कुछ पहले प्रारंभ हो गया था। अतः हिंदी कहानीकारों को बँगला से बहुत अधिक प्रेरणा मिली। बँगला से हिंदी में अनुवाद करनेवाले लेखकों में बंग महिला, पार्वतीनंदन और भट्टाचार्य मुख्य हैं। इनमें भी पार्वतीनंदन ने सबसे पहले अँगला कहानियों का अनुवाद किया। इन्होंने सं० १९५८ की 'सरस्वती' में रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी का अनुवाद 'मुक्ति का उपाय' नाम से प्रकाशित कराया था। यह कहानी ठाकुर की संमति से छपी थी। उसके चार वर्षों बाद इनकी दूसरी कहानी 'सरस्वती' (सं० १९६२, भाग-६) में ही 'राजटीका' नाम से प्रकाशित हुई। यह कहानी भी रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कहानी का भावानुवाद है। 'मुक्ति का उपाय' एक व्यंग्यप्रधान सामाजिक कहानी है, जिसमें 'फकीरचंद' नामक व्यक्ति के असामयिक वीतराग भाव एवं अनासक्ति पर तीव्र कटाक्ष किया गया है। कहानी की भाषा में 'नाईं,' 'दीखे है,' 'संवादपत्र' आदि प्राचीन प्रयोगों के अतिरिक्त बँगला की अनुप्रासप्रधान कवित्वपूर्ण शैली के भी दर्शन हो जाते हैं, जैसे---

'अविराम आदेश अनुदेश उपदेश धर्मनीति और दंडनीति के द्वारा निदान कल्याणी के मुख की मुसक्यान, मन का सुख और यौवन की उमंग पूरी पूरी निचोड़ लेने में स्वामी महाराज कृतकार्य होगा।'

(सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० १५६)

पार्वतीनंदन के बाद बंग महिला ने कई बँगला कहानियों के अनुवाद किए। इनका वास्तविक नाम राजेंद्र बाला घोष था। ये हिंदी में 'बंग महिला' और बँगला में 'प्रवासिनी' नाम से कहानियाँ लिखती थीं। इनकी मौलिक कहानियों का परिचय आगे दिया जाएगा। इनकी प्रथम अनूदित कहानी 'कुंभ में छोटी बहू' संवत् १९६३ की सरस्वती में प्रकाशित हुई, जो श्रीमती नीरदवासिनी घोष की एक बँगला कहानी पर आधारित थी। उसके बाद इनके द्वारा अनूदित 'दान प्रतिदान' (सरस्वती : अप्रैल, १९०६), मुरला (सरस्वती : १९०८), दलिया (सरस्वती : सन् १९०९) आदि कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं। इनमें 'दान प्रतिदान' और 'दलिया' ठाकुर की कहा-

नियों के अनुवाद हैं और 'मुरला' एक बँगला लेख के आधार पर लिखी गई है। सं० १९६३ की सरस्वती में ही भट्टाचार्य की 'राजपुतनी' नामक कहानी प्रकाशित हुई थी, जो सुधींद्रनाथ ठाकुर के एक बँगला लेख के आधार पर लिखी गई थी। इसमें एक क्षत्राणी के चरित्र को उभारा गया है। इनकी एक अन्य कहानी 'पत्नीव्रत' भी सरस्वती में प्रकाशित हुई थी।

मौलिक कहानियाँ

अंग्रेजी तथा बंगला से अनूदित कहानियों से हिंदी में मौलिक कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली। इन कहानियों द्वारा हिंदी कहानीकारों को आधुनिक कहानी के शिल्प और शैली का भी ज्ञान हो गया था। परिणामस्वरूप हिंदी में ऐसी कहानियों का प्रयोग प्रारंभ हो गया, जिनमें कल्पना, कौतूहल और संयोगतत्व का समावेश होने लगा, जीवन को नाना प्रकार की समस्याओं को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा, अतिरंजित और अप्राकृतिक घटनाओं के स्थान पर स्वाभाविक और यथार्थपरक घटनाओं को अपनाया जाने लगा और उपदेश तथा मनोरंजन के स्थान पर कहानी जीवन की व्याख्या का लक्ष्य अपनाने लगी।

विषय की दृष्टि से इस युग की प्रारंभिक कहानियों को पाँच वर्गों[1] में रखा गया है—

(१) प्रेम तथा मनोरंजनप्रधान कहानियाँ।
(२) पौराणिक तथा ऐतिहासिक कहानियाँ।
(३) जासूसी तथा साहसप्रधान कहानियाँ।
(४) सामाजिक कहानियाँ।
(५) पद्यबद्ध उपदेशात्मक कहानियाँ।

इस प्रकार आलोच्य काल के प्रारंभ से ही हिंदी कहानी विविध प्रकार की शैली और विस्तृत आयाम लेकर साहित्य के इस अविकसित क्षेत्र की श्रीवृद्धि करने लगी। इस युग के प्रमुख कहानी लेखक निम्नलिखित हुए—

(१) किशोरीलाल गोस्वामी

पं० किशोरीलाल गोस्वामी हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार और कहानीकार हैं। इनका जन्म वृंदावन के एक प्रसिद्ध निंबार्क संप्रदाय के आचार्य परिवार में हुआ था। इनके पितामह वृंदावन के श्रेष्ठ विद्वान् और मातामह वाराणसी के संस्कृत के विद्वान् थे। किशोरीलाल जी का पालन पोषण वाराणसी में ही हुआ था। वारा-

---

१. डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० ११४।

एसी में ही वे भारतेंदु के संपर्क में आए। आपने सं० १९५५ में 'उपन्यास' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसी में आपकी अधिकांश रचनाएँ छपी हैं। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष के संपादकमंडल में इनका भी नाम था। इन्होंने लगभग ६५ उपन्यासों की रचना की है।

गोस्वामी जी की पहली कहानी 'इंदुमती' सं० १९५७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, जो हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी है। इसके बाद आपकी कहानियाँ लगातार प्रकाशित होती रहीं। आपकी कहानियों के तीन संग्रह चंद्रिका, इंदुमती और गुलबहार उपलब्ध हैं। इनमें से 'चंद्रिका' बनारस के कल्पतरु प्रेस से सं० १९६१ में और शेष दो संग्रह सं० १९६३ में काशी के हितचिंतक प्रेस से प्रकाशित हुए थे। इनकी कहानियों पर जासूसी उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। ये घटनाप्रधान कहानियाँ हैं, जिनमें चरित्रों का विकास अधिक नहीं हो सका है। कहानियों की भाषा कहीं कहीं पर पुरानापन लिए हुए, फारसी मिश्रित है। उसमें यत्र तत्र व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ भी पाई जाती हैं।

(२) केशवप्रसाद सिंह

श्री केशवप्रसाद सिंह की दो कहानियाँ 'चंद्रलोक की यात्रा' और 'कश्मीर यात्रा' 'सरस्वती' प्रकाशन के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) में ही प्रकाशित हुई थीं। ये दोनों कहानियाँ यात्रा विवरण पर आधारित हैं। इनमें 'चंद्रलोक की यात्रा' यद्यपि एक अंग्रेजी कहानी पर आधारित है, तथापि हिंदी की प्रथम वैज्ञानिक कहानी होने के नाते इसका विशेष महत्व है। कहानी डायरी शैली में लिखी गई है और चंद्रलोक की यात्रा का बड़ा ही रोमांचक, पर यथार्थ वर्णन किया गया है। चंद्रलोक जाने के पूर्व की तैयारी, एक बड़े बैलून का प्रबंध, उसमें आवश्यक वस्तुओं—टीन की दस दस फुट लंबी छह नलियाँ, कई भाँति के तेजाब, टेलिस्कोप, बैरोमीटर, थर्मामीटर, परकाल, दिग्दर्शक, घंटी, वायुशून्य शीशे की गेंद आदि के विवरण काफी रोचक हैं। पृथ्वी से आकाश की ओर उड़ने में क्रमशः भारहीनता का अनुभव, श्वास लेने मे कठिनाई, ग्रहों के निकट से देखने, पृथ्वीतल के सिमटने आदि के विवरण अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे—'अब मुझे साँस लेने में बड़ी कठिनाई जान पड़ने लगी। मेरे सिर में भी अब पीड़ा थी। अपने गालों पर कुछ चिपचिपाहट का बोध होने पर हाथों से टोने से मालूम हुआ कि कान के पर्दों से रुधिर का प्रवाह जारी है"।[1]

---

१. सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० १५०।

(३) भगवानदास बी० ए०

श्री भगवानदास वाराणसी के एक प्रमुख व्यवसायी थे। चौक में उनकी एक कपड़े की दुकान थी। सं० १९५९ की सरस्वती में उनकी एक कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' छपी थी। यह एक यथार्थवादी कहानी है, जिसमें तत्कालीन समाज में व्याप्त प्लेग के आतंक का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण हुआ है। सं० १९५८ में प्रयाग और आस पास प्लेग का आक्रमण हुआ था। यह इतना भयानक रोग था कि घर के लोग भी रोगी के निकट जाने का साहस नहीं करते थे। प्रस्तुत कहानी का महत्व इस तथ्य में है कि तत्कालीन लेखक सामयिक समस्याओं के प्रति कितना सजग रहते थे और अपने समय की घटनाओं की जो प्रतिक्रिया उनपर होती थी, उसे 'कहानी' में भी, जो अभी अपने शैशवकाल में ही थी, उतारते थे।

'प्लेग की चुड़ैल' वर्णनात्मक शैली में लिखी गई, यथार्थ घटना पर आधारित कहानी है। प्रयाग के डा० विभवसिंह की पत्नी प्लेग से बीमार पड़ती हैं। प्लेग का इतना आतंक था कि पत्नी से प्रेम करते हुए भी डा० विभवसिंह अपने प्राणों की सुरक्षा की चिंता में उसके निकट नहीं जाते हैं। डाक्टर, वैद्य भी दूर से ही उसे मृत घोषित कर देते हैं। ठाकुर साहब उसका अंतिम संस्कार स्वयं न करके, नौकरों पर यह कार्य छोड़कर, अपने गाँव भाग जाते हैं। नौकर पुरोहित उसको गंगा में बहा देते हैं। वह स्त्री अभी मरी नहीं थी। गंगा में फेंके जाने पर बहते बहते एक किनारे लगती है और बच जाती है। संयोगवश वह अपने गाँव में ही पहुँच जाती है। पहले लोग उसे चुड़ैल समझते हैं, किंतु धीरे धीरे वास्तविकता का पता चल जाता है।

कहानी घटनाप्रधान है, संयोग तत्व का सहारा लिया गया है। चरित्र चित्रण, अथवा संवाद की दृष्टि से कहानी का विशेष महत्व नहीं है। भाषा में भी कहीं कहीं पुराने प्रयोग दिखाई पड़ते हैं, जैसे चलिगा, दौड़ियो, बचाइयो, पकड़ैगी, मिरास आदि। कहानी प्रयाग से संबद्ध है, लेकिन शव दशाश्वमेधघाट की ओर ले जाने की बात होती है, जो बहते बहते त्रिवेणी से पाँच मील की दूरी पर रुक जाता है। इस प्रकार कहानी में स्थान दोष आ गया है।

(४) महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने न केवल 'सरस्वती' के संपादक के रूप में आधुनिक हिंदी का रूपनिर्माण किया और हिंदी गद्य की विभिन्न विधाओं के उद्भव और परिष्कार में सहायक बने, अपितु कविता, कहानी,

निबंध, आलोचना आदि के क्षेत्र में नेतृत्व भी प्रदान किया। यद्यपि आपके द्वारा रचित कहानी साहित्य अधिक नहीं है, फिर भी कहानी कला और शिल्प की दृष्टि से उनका महत्व कम नहीं है। 'सरस्वती' के विभिन्न अंकों में आपकी स्वर्ग की झलक (सं० १९६०), खानखाना और सुमेर पर्वत (सं० १९६८) शायरों के शाहनशाह अबूतालिब (सं० १९६८), शाहेजहाँ (सं० १९६८) आदि कहानियाँ, जिन्हें वे आख्यायिका कहते थे, प्रकाशित हुई हैं। आपकी अधिकांश 'आख्यायिकाएँ' ऐतिहासिक हैं, जिनमें कल्पना का सहारा बहुत कम लिया गया है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आपकी 'स्वर्ग की झलक' की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "सबसे पहली कहानी जिसने मुझको मुग्ध किया, वह 'स्वर्ग की झलक' है। वह कहानी १९०३–४ में निकली थी। कितने ही विज्ञों ने हिंदी की प्रारंभिक कहानियों में मिर्जापुर निवासी बाबू राम प्रसन्न घोष की पुत्री बंग महिला की 'दुलाईवाली' शीर्षक कहानी का उल्लेख अवश्य किया है, परंतु 'स्वर्ग की झलक' का उल्लेख किसी ने नहीं किया है। 'स्वर्ग की झलक' में कथा की वही कला विद्यमान है, जिसके लिये पाश्चात्य लेखक ऐंडरसन विख्यात है"।[1]

(५) गिरिजादत्त वाजपेयी

वाजपेयी जी उन प्रारंभिक कहानीकारों में हैं, जिनकी कहानियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के कथानक मिलते हैं। इनकी कहानियाँ प्रायः 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहती थीं, जिनमें 'पंडित और पंडितानी' (सं० १९६० में सरस्वती में प्रकाशित) सर्वश्रेष्ठ है। यह एक व्यंग्यात्मक कहानी है, जिसमें ४५ वर्ष के पंडित और उनकी २० वर्ष की पंडितानी को लेकर दांपत्य समस्या को उभारा गया है। कलात्मक दृष्टि से यह एक सफल कहानी है। वाजपेयी जी की एक अन्य कहानी 'पति का पवित्र प्रेम' (सरस्वती, सं० १९६० में प्रकाशित) पाश्चात्य कथानक को लेकर लिखी गई अच्छी कहानी है।

(६) रामचंद्र शुक्ल

रामचंद्र शुक्ल मूलतः आलोचक और निबंधकार हैं किंतु उनकी भी एक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' सं० १९६० की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत कहानी आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है, जिसमें कलात्मक प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। रामचंद्र शुक्ल ने इसे मौलिकता और मार्मिकता की दृष्टि से 'इंदुमती' के बाद दूसरा स्थान दिया है और 'दुलाईवाली' को तीसरा।[2] कहानी एक पर्वतीय क्षेत्र के गाँव

---

१. सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० २९–३०।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६२।

से संबद्ध है जो ग्यारह वर्ष पूर्व गंगा की बाढ़ की चपेट में आ गया था और चंद्रशेखर मिश्र की पुत्रवधू अपने पति से अलग हो गई थी। संयोगवश ग्यारह वर्ष बाद दोनों की रहस्यात्मक परिस्थितियों में पुनः भेंट होती है।

पूरी कहानी को रहस्यपरक घटनाओं से भरने की चेष्टा की गई है। कहानी का उद्देश्य अदृष्ट प्रेम का उद्घाटन है। संवाद भी अच्छे बन पड़े हैं। प्रकृतिवर्णन द्वारा कहानी में प्रभावसृष्टि का प्रयासकिया गया है। जाह्नवी के प्रलय के बाद गाँव के खंडहरों और सूनेपन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। लेकिन पूरी कहानी पर शुक्ल जी का आलोचक रूप हावी दिखाई पड़ता है। इससे कहानी की स्वाभाविकता और सरसता में बाधा पड़ी है, जैसे निम्नलिखित अंश में लेखक प्रेम की व्याख्या स्वयं करने लगता है—"हमारे कतिपय पाठक हमपर दोषारोपण करेंगे कि हैं! न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लंबी लंबी कोर्टशिप हुई, यह प्रेम कैसा? महाशय, रुष्ट न हुजिए! इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्त्तव्य से घनिष्ठ संबंध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है"।[1] शुक्ल जी ने कहानियों के दो भेद किए हैं—घटनाप्रधान और मार्मिक। उनके मत से "इन दोनों कोटि की कहानियों में एक बड़ा भारी भेद यह दिखाई देगा कि प्रथम में इतिवृत्त का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है, पर दूसरी कोटि की कहानियों में भिन्न भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है"।[2] स्पष्ट है कि शुक्ल जी की कहानी दूसरी कोटि में आती है। इसका शीर्षक भी घटना या पात्र के आधार पर न होकर, एक मार्मिक भावविशेष के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से यह अपने समय तक की कहानियों में निःसंदेह श्रेष्ठ है।

(७) गिरिजाकुमार घोष

श्री गिरिजाकुमार घोष माल विभाग के क्लार्क थे। उसे छोड़कर इंडियन प्रेस में मैनेजर हो गए थे। 'सरस्वती' का प्रकाशन आपके ही समय में हुआ। आपने हिंदी में 'पार्वतीनंदन' नाम से मौलिक और अनूदित कहानियों की रचना की है। होमर गाथा, गल्प लहरी, नारी रत्नमाला, छोटी बहू, लक्ष्मी आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। 'गल्प लहरी'[3] इनकी मौलिक कहानियों का संग्रह है, जिसकी उमा भवानी, करम रेख, मोतियों की माला, कन्नौज सुंदरी अनोखा स्वयंवर, काठ

---

१ सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० १७६।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६१।

३. साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से सं० १९७७ में प्रकाशित।

का घोड़ा आदि कहानियाँ काफी अच्छी बन पड़ी हैं। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती' में प्रकाशित आपकी कहानियों में प्रेम का फुहारा (सं० १९५८), भूतों वाली हवेली (सं० १९६०), रामलोचन साह (सं० १९६१), मेरी चंपा (सं० १९६२), नरक गुलजार (सं० १९६२), एक के दो दो (सं० १९६३), मेरा पुनर्जन्म (सं० १९६३) आदि काफी रोचक हैं। पार्वतीनंदन की कहानियों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। उनमें घटनाओं की प्रधानता है। कहानियाँ प्रायः वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं। 'मेरा पुनर्जन्म' आत्मकथा शैली में लिखी गई कहानी है। पात्रों के चरित्र का विकास संवाद अथवा घटनाओं के माध्यम से न होकर प्राय: लेखक के वर्णन द्वारा हुआ है। 'उमा भवानी' शीर्षक कहानी में एक डाकिनी का चित्रण किया गया है। 'कर्म रेख' में भाग्यवाद के प्रति विश्वास उपस्थित हुआ है। 'मुहम्मद गोरी का अंत' की ऐतिहासिक घटना में कल्पना का समुचित मिश्रण हुआ है। 'अनोखा स्वयंवर' में अंग्रेजी समाज का अद्भुत चित्र उपस्थित किया गया है। 'तार की बीबी' और 'चंपी की बिटिया' इनकी मनोरंजनप्रधान कहानियाँ हैं।"[१] उनकी इन सभी कहानियों में 'प्रेम का फुहारा' कहानी कला की दृष्टि से अच्छी कही जा सकती है। इसमें 'हुसैनी बीबी' नामक एक कुरूपा और चेचक के दागों से युक्त चेहरेवाली स्त्री का चित्रण हुआ है। इसमें सयोग तत्वों के द्वारा रोचकता और कौतूहल बनाए रखने का प्रयास किया गया है। संवेदनशीलता और सरसता कहानी की अन्य विशेषताएँ है।

(८) गोपालराम गहमरी

श्री गोपालराम गहमरी अपने जासूसी उपन्यासों के लिये काफी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने जासूसी कहानियाँ भी काफी मात्रा में लिखी हैं। त्रिवेणी, तीन तहकीकात तथा गल्प पंचक उनके कहानी संग्रह हैं। प्रथम दो संग्रहों में तीन तीन कहानियाँ और 'गल्प पंचक' में पाँच कहानियाँ हैं। इनके अतिरिक्त 'सौभद्रा', 'डाकू की पहुनाई', 'चतुर चंचला', 'शिक्षा का युद्ध' आदि उनकी स्फुट कहानियाँ हैं। उनकी प्रायः सभी कहानियाँ जासूसी हैं, जिनमें विस्मयकारक घटनाओं के द्वारा कुतूहल और मनोरंजन की सृष्टि की गई है। इन कहानियों में उपदेश की वृत्ति भी पाई जाती है। कहानियों की शैली वर्णनात्मक है। भाषा जनसमाज में प्रचलित एवं साधारण है। कहानीकला की दृष्टि से इनका विशेष स्थान नहीं है। ये सामान्य वर्णनात्मक ढंग से साधारण पाठकों का मनोरंजन करने के लिये लिखी गई हैं। कहानी शिल्प के विकास में इनका योग नगण्य है।

---

१. डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० ११६।

(९) निजाम शाह

जिस प्रकार गोपालराम गहमरी जासूसी कहानियों के लिये प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार निजाम शाह साहस एवं वीरताप्रधान कहानियों के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने शिकारी जीवन से संबद्ध कई कहानियों की रचना की है। ये स्वयं एक अच्छे शिकारी थे। इनकी कहानियों में कल्पना की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभव को आधार बनाया गया है। इनकी भी अधिकांश कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं, जिनमें 'सुअर का शिकार' (सरस्वती, सं० १९६२) काफी रोचक है। कहानी आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। इसमें लेखक ने अपने अनुभवों का रोमांचक वर्णन किया है। कहानी की भाषा में उर्दू शब्दावली की प्रचुरता है।

(१०) श्रीमती राजेंद्रबाला घोष (बंग महिला)

श्रीमती राजेंद्रबाला घोष का जन्म कलकत्ते के निकट एक गाँव में हुआ था। इनका विवाह छपरा निवासी एक बंगाली बाबू पूर्णचंद्र से हुआ था। ये कुछ समय तक वाराणसी में रहीं, फिर इनका अधिकांश जीवन मिर्जापुर में बीता। आपने रामचंद्र शुक्ल की प्रेरणा से हिंदी में लिखना शुरू किया। आप हिंदी में 'बंग महिला' और बँगला में 'प्रवासिनी' नाम से कहानियाँ लिखती थीं। आपने हिंदी और बँगला दोनों में मौलिक कहानियों की रचना की है। 'कुसुम संग्रह' आपकी कहानियों का संग्रह है, जो सं० १९६८ में प्रकाशित हुआ था। 'दुलाईवाली' इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कहानी है, जो सं० १९६४ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। कुछ लोग इसे हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। यह एक सामाजिक कहानी है। कथानक, पात्र, संवाद तथा भाषा की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ कहानी है। बहू की विदाई का वर्णन सरस है। संवाद नम्र और नाटकीय हैं। भाषा पात्रानुकूल है। ट्रेन में बैठी हुई ग्रामीण स्त्रियों के वार्तालाप में भोजपुरी बोली के माध्यम से स्वाभाविकता आई ही है, गाँव की भोली भाली अपढ़ स्त्रियों के चरित्र पर भी अच्छा प्रकाश पड़ा है, जैसे--

"पहली--हट हम पुँछिला न, हम कहा कहाँ जारबू हो? मायँ इलाहाबास?

दूसरी--ईलाहाबास कौन गाँव हो गोइयाँ?

पहली--अरे नाहीं जनलू! पेयाग जी, जाहाँ मनई मकर नाहाए जाला।

दूसरी--भला पेयाग जी काहे न जानीथ, ले कहैके नाहीं, तोहरे पच के धरम

१. सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० २९-३०।

२. वही, पृ० १७९।

से चार दाईं नहाए चुकी हुँइ। एसों हो सोमवारी, अउर गहन, दका, दका, लाग रहा तउन तोहरे काशी जी नहाय गइ रहे।"[१]

(११) उदयनारायण वाजपेयी

उदयनारायण वाजपेयी की एक कहानी 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' सं० १९६४ में निकली थी। यह एक आदर्शवादी कहानी है, जिसमें मातृभूमि की महिमा का वर्णन किया गया है। कहानी कला की दृष्टि से यह साधारण कहानी कही जाएगी। यह सामान्य वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है।

(१२) वृंदावनलाल वर्मा

वृंदावनलाल वर्मा मूलतः ऐतिहासिक कथाकार हैं। उनकी अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक संदर्भों और परिवेश को लेकर लिखी गई हैं। एक प्रकार से बुंदेलखंड का राष्ट्रजीवन उनके साहित्य में भास्वर है। उन्होंने कहानी क्षेत्र में संवत् १९६६ में ही प्रवेश किया था। उन्होंने लिखा है कि "सरस्वती में (स्व०) द्विवेदी जी की कृपा से मेरा एक लेख १९०८ में छपा था। १९०९ में मेरी पहली कहानी उन्हीं की कृपा से छपी थी।"[२] 'सरस्वती' में उनकी यह प्रथम प्रकाशित कहानी 'राखीबंद भाई' है। इसके कथानक के संबंध में एक शोधककर्ता ने (शायद कहानी बिना पढ़े ही) लिखा है कि "राखीबंद भाई में बतलाया गया है कि यवन भी भारतीय भावना के रक्षक रहे हैं तथा उन्होंने अवसर पड़ने पर अपने प्राणों को संकट में डालकर अपने कर्तव्य का पालन किया है। इस कहानी में एक यवन एक राजपूत कुमारी की राखी स्वीकार करके उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है"।[३] वस्तुतः 'राखी' किसी यवन को नहीं भेजी गई है, अपितु नागौर के राजा दिलीप सिंह की कन्या पन्ना ने राजापुर के राजा रुद्रसिंह को विपत्ति के समय राखी भेजी है। राजा रुद्रसिंह, दिलीप सिंह द्वारा किए गए अपमान की उपेक्षा करके राखी की मर्यादा का पालन करते हुए गुजरात के शासक गयासुद्दीन के आक्रमण से नागौर के राज्य की रक्षा करता है। इसी प्रकार इस कहानी में एक राजपूत वीर का आदर्श चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

वर्मा जी ने उसके बाद बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। 'कलाकार का दंड' तथा 'युद्ध के मोर्चे से' आदि उनके प्रमुख ऐतिहासिक कहानियों के संग्रह हैं। शरणागत,

---

१. सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० १७९।

२. वही, पृ० ४९।

३. डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० १२२।

तातार, एक वीर राजपूत, हमीदा, शेरशाह का न्याय, सौंदर्य प्रतियोगिता, खजुराहो की दो मूर्तियां आदि इनकी प्रमुख कहानियां हैं। वर्मा जी ने इन कहानियों के द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति के उज्वल पक्ष को सामने रखा है। पराधीनता के निराशापूर्ण वातावरण में प्राचीन भारतीय शौर्य, उदारता, न्याय, पराक्रम आदि मूल्यों के उद्घाटन के द्वारा उन्होंने अतीत को वर्तमान से जोड़ने की चेष्टा की है। वर्मा जी की दृष्टि एक अनुसंधायक की भी रही है। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा भारतीय इतिहास के संबंध में प्रचलित भ्रांत धाराणाओं का निरसन और सत्य का शोध भी किया है। लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज के कारण उनकी कहानियों में रोचकता तथा कौतूहल की मात्रा कम नहीं होने पाई है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्मा जी की आदर्शवादी और सुधारवादी भावना के पीछे भी इतिहास की पूरी रक्षा हुई है और कहानी कला को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची है।

वर्मा जी ने ऐतिहासिक कहानियों के अतिरिक्त सामाजिक कहानियों की भी रचना की है। इन सामाजिक कहानियों में भी उन्होने समाज की कुत्सा, हीन भावना और दुराचारों का नग्न चित्रण न करके स्वस्थ और प्रगतिशील मानव मूल्यों को उपस्थित किया है।

(१३) (१४) दो पद्यबद्ध कहानीकार—मैथिलीशरण गुप्त और विद्यानाथ शर्मा

यद्यपि आधुनिक कहानी का उदय और विकास गद्य में हुआ है, किंतु संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में बहुत सी पद्यबद्ध कहानियां लिखी गई थीं। मैथिलीशरण गुप्त और विद्यानाथ शर्मा ने उसी परंपरा मे कतिपय पद्यबद्ध कहानियों की सर्जना की है। गुप्त जी की पद्यबद्ध कहानियों मे 'नकली किला' (सरस्वती, सं० १९६६) और 'निन्नानबे का फेर' (सरस्वती, सं० १९६७) उल्लेखनीय हैं। 'नकली किला' इतिहास पर आधारित राष्ट्रीय भावनाओं को उभारनेवाली कहानी है, जिसमें बूंदी के प्रसिद्ध वीर कुंभा चित्तौड़ के राणा लाखा से युद्ध करते हुए मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग कर देते हैं। 'निन्नानबे का फेर' मनोरंजन शैली में लिखी गई उपदेशप्रधान कहानी है। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या बिहार' (सरस्वती, सं० १९६६) और कुलीनाथ पांडे (सरस्वती, सं० १९६७) भी उपदेशप्रधान कहानियां हैं। पहली कहानी में बताया गया है कि जीवन में सफलता कोरे ज्ञान से नहीं, अनुभव से मिलती है। दूसरी कहानी का सार है—खुशामद में आमद।

इन पद्यबद्ध कहानियों में कहानी कला के उस शिल्प का अभाव दिखाई पड़ता है, जो तत्कालीन गद्य में लिखी गई कहानियों की विशेषता है। पद्य में उस कला की अभिव्यंजना संभव भी नहीं है, जो गद्य में विकसित हो रही थी। इसीलिये पद्यबद्ध कहानियों का विकास नहीं हो सका।

अभी तक जिन कहानियों की चर्चा हुई है, वे आलोच्य काल की प्रारंभिक या प्रयोगकालीन कहानियाँ थीं। यद्यपि इन कहानियों में विषय तथा शैली की दृष्टि से वैविध्य है तथा इनमें कहानी कला के वे सभी बीज निहित हैं, जिनका विकास अगले चरणों में हुआ, तथापि इनमें वह परिष्कार तथा सूक्ष्मता नहीं आ सकी जो आगे की कहानियों में मिलती है। इन कहानियों मे यद्यपि जीवन को स्पर्श करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है, तथापि इनका मुख्य लक्ष्य मनोरंजन तथा उपदेश ही प्रतीत होता है। इनमें घटनाओं की भी प्रचुरता है तथा प्रायः ये वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं।

प्रौढ़ काल (सं० १९६८-१९७५)

आलोच्य काल के दूसरे चरण की कहानियों का आरंभ सं० १९६८ के आस-पास से प्रारंभ होता है। इसी समय जयशंकर प्रसाद, जी० पी० श्रीवास्तव तथा चंद्रधर शर्मा गुलेरी कहानी क्षेत्र में आते हैं। इनके कुछ आगे पीछे, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, विश्वंभरनाथ जिज्जा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ज्वालादत्त शर्मा, प्रेमचंद आदि हिंदी कहानी क्षेत्र में नूतन कला, नव्य शैली और अभिनव उद्देश्य लेकर अवतीर्ण होते है। कहानी के शिल्प में परिष्कार होता है, वह जीवन की व्याख्या का उद्देश्य लेकर समाज और जीवन के अधिक निकट आ जाती है तथा कहानी कला को प्रौढ़ता प्राप्त होती है। अब घटनाओं की अपेक्षा चरित्रविश्लेषण कहानी का मुख्य आधार बनता है। परिस्थितियों के बाह्य द्वंद्वों के चित्रण की अपेक्षा अंतर्द्वंद्व का चित्रण होने लगता है। कल्पना, भावुकता और अतिरंजना के स्थान पर स्वाभाविकता, यथार्थ और अनुभूति का सहारा लिया जाता है। मनुष्य को नाना परिस्थितियों में डालकर उसके चरित्र का उद्घाटन किया जाता है। प्रेमचंद के शब्दों में "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"[1]

इस समय से देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, स्थिति में भी परिवर्तन और कोलाहल के स्वर सुनाई पड़ते हैं। राजनीतिक दृष्टि से इस अवधि में बंग भंग, दिल्ली दरबार, महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह आंदोलन, भारतीयों में असंतोष की लहर तथा स्वाधीनता की पुकार, प्रथम विश्वयुद्ध आदि घटनाएँ

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ४१।

उल्लेखनीय हैं। महात्मा गांधी का अहिंसात्मक आंदोलन धीरे धीरे जनमानस का स्पर्श कर रहा था। सं० १९७१ के आस पास तिलक और ऐनी बेसेंट 'होमरूल लीग' के द्वारा राष्ट्रीय भावना का प्रसार कर रहे थे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा हिंदू मुस्लिम एकता का प्रयत्न कर रहे थे। प्रथम विश्वयुद्ध में यद्यपि भारतीयों ने प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया था तथापि इस युद्ध का आर्थिक प्रभाव भारतीयों पर भी पड़ा था। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई थी। इसी समय सर माइकेल ओ डायर की अमानुषिक साम्राज्यवादी नीति के परिणामस्वरूप जालियानवाला बाग का रोमांचक हत्याकांड हुआ था।

उपर्युक्त घटनाएँ साहित्य को प्रभावित कर रही थीं। इनके अतिरिक्त भारतीय समाज में प्रचलित वर्णव्यवस्था, छुआछूत की भेद भावना, नारी दुर्दशा, पर्दा प्रथा आदि में सुधार के लिये जो नानाविध प्रयत्न हो रहे थे, कहानियों के माध्यम से लेखक इन समस्याओं को भी उभारने लगे। इस नवीन कथ्य और शिल्प के वाहक निम्नलिखित कहानीकार हुए—

(१) चंद्रधर शर्मा गुलेरी

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी का नाम पुरातत्ववेत्ता, भाषा पंडित, इतिहासकार और कहानीकार के रूप में विख्यात है। उन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखकर जो यश प्राप्त किया है, वह अन्य साहित्यकारों के लिये दुर्लभ है। उनकी प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' सं० १९६८ में 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुई थी, इसके बाद दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' निकली और तत्पश्चात् तीसरी अमर कहानी 'उसने कहा था' सं० १९७२ में 'सरस्वती' में छपी। ये तीनों कहानियाँ श्री शक्तिधर गुलेरी द्वारा संपादित होकर 'गुलेरी जी की अमर कहानियाँ' नाम से, सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हो चुकी हैं।

गुलेरी जी की तीनों कहानियाँ सामाजिक हैं जिनकी मुख्य संवेदना प्रेम और कर्तव्य के उज्वल रूप का चित्रण है। तीनों वातावरणप्रधान कहानियाँ हैं, जिनमें लेखक अनुकूल वातावरण की सृष्टि के बाद मुख्य कहानी का आरंभ करता है। 'सुखमय जीवन' में एक लोक-व्यवहार-शून्य लेखक जयदेवशरण वर्मा का चरित्र-चित्रण है। जयदेवशरण एक दिन 'कालानगर' ग्राम के निवासी अपने मित्र के यहाँ साइकिल से जा रहा है। मार्ग में उसकी साइकिल बिगड़ जाती है। जेठ की भयंकर धूप और गर्मी की चिंता किए बिना पंक्चर साइकिल ले कंकरीले पथरीले मार्ग पर बढ़ता जाता है। अचानक उसकी भेंट कमला नामक बालिका से हो जाती है। बालिका उसे अपने घर लिवा ले जाती है। एकांत पाकर वह कमला से प्रणय याचना करता है। फलस्वरूप वह कमला और उसके पिता गुलाबराय से फटकार सुनता है।

अपने अनुभवहीन किताबी जीवन पर वह स्वयं सोचता है कि 'मेरे मन में आई कि कह दूँ कि अभी मेरा पच्चीसवाँ चल रहा है, कहाँ का अनुभव और कहाँ का परिवार, फिर सोचा ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाह से उतर जाऊंगा और कमला की माँ सच्ची हो जाएगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ धर्मादि पर पुस्तक लिख मारी है।'"[1] अंत में यह रहस्योद्घाटन होता है कि 'सुखमय जीवन' का लेखक अविवाहित है। फलतः दोनों का विवाह हो जाता है। इस प्रकार कहानी का अंत सुख और प्रेम के परिपाक से होता है।

कथानक के विकास की दृष्टि से कहानी को तीन सोपानों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम सोपान में जयदेवशरण की साइकिल यात्रा का विवरण है, द्वितीय सोपान का आरंभ जयदेवशरण द्वारा कमला से प्रेम प्रकट करने पर होता है। इसे कथानक के विकास की परमावस्था कहा जा सकता है। कहानी के विकास का अंतिम चरण दोनों के विवाह के अवसर पर समझना चाहिए। कलात्मक दृष्टि से यह एक साधारण कहानी है, जो आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। कहानी के पात्र मध्यम वर्ग से लिए गए हैं। पात्रों का चरित्रनिरूपण वर्णनात्मक ढंग से हुआ है।

'बुद्धू का काँटा' भी एक प्रेमप्रधान सामाजिक कहानी है, जिसमें रघुनाथ और भगवती के प्रणय का सुंदर विवेचन किया गया है। रघुनाथ पुराने विचारों के एक परिवार का सदस्य है, जो अपनी माँ को छोड़कर अन्य किसी स्त्री के संपर्क से नहीं आया है। पड़ोस की स्त्रियों की प्रेरणा तथा घर से आए एक पत्र से प्रभावित होकर लाला जी रघुनाथ का विवाह करने का निश्चय करते हैं। रघुनाथ परीक्षा देकर घर के लिये टेढ़े मेढ़े पहाड़ी मार्ग से एक टट्टू द्वारा रवाना होता है। मार्ग में प्यास बुझाने के लिये एक कुएँ पर रुकता है, जहाँ वह कई ग्रामीण बालाओं के हास्य व्यंग्य का शिकार होता है। इनमें एक लड़की अधिक सुंदर है। गाँव पहुँचने पर संयोगवश एक दिन नदी में स्नान करते समय उसकी उसी लड़की से पुनः भेंट हो जाती है। रघुनाथ हीनग्रंथि का शिकार है, फलतः उसमें लड़की के प्रति प्रतिस्पर्धा का भाव जागता है। किंतु अंत में उसी लड़की को वह अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त करता है। गुलेरी जी ने इस कहानी में घटनाओं का योग बड़े कौशल से दिखाया है और रोचकता, कौतूहल तथा नाटकीयता अंत तक बनाए रखा है। कहानी का आरंभ करने में गुलेरी जी वातावरण की सृष्टि करने के पक्षधर हैं। किंतु इस कहानी का प्रारंभिक वक्तव्य मुख्य कथा से असंबद्ध तथा अस्वाभाविक लगता है। उसका आरंभिक अंश इस प्रकार है—

---

१. गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, पृ० १५।

"रघुनाथ प् ५् प्रा सा द् त् त् त्रिवेदी का रु ड ना त प र्शा द त्रिवेदी। यह क्या ? क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिंदी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है, वैसा ही लिखा जाता है। दूसरी ओर हिंदी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो। वैसे ही जैसे हिंदी के आचार्य लिखें, वैसे लिखो जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो। शिष्टाचार भी कैसा ? हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति अपने व्याकरण कथापित कंठ से कहें पर्सोत्तमदास और हर्किसन लाल और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाए, पुरुषोत्तम अ दास अ और हरकृष्णलाल अ।" [1] स्पष्ट है कि यहाँ गुलेरी जी के कहानीकार रूप पर उनका वैयाकरण रूप हावी हो गया है। इसी प्रकार इसमें इलाही की प्रासगिक कथा भी अनावश्यक रूप से जुड़ी हुई है।

इन एक दो कमजोरियों के बावजूद कहानी अपने समग्र रूप में प्रभावशाली है। यद्यपि शिल्पगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से यह 'उसने कहा था' के समकक्ष नहीं पहुँच पाई है, फिर भी घटनाओं की तीव्रता, संयोगों की आकस्मिकता और कथा-प्रवाह की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कहानी है। रघुनाथ और भगवंती के चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया गया है। कहानी के संवाद लघु, नाटकीय और रोचक हैं, जैसे—

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"भगवंती"।

"रहती कहाँ हो ?"

"मामी के पास वही जिसने कुएँ पर पानी पिलाया था"

× × ×

"कल से नदी मे नहाने मत आना।"

"क्यों ?"

"गोते खाओगे, तो कोई बचाने वाला नहीं मिलेगा"।

रघुनाथ झेंपा, पर सम्हल कर बोला—"अब कोई मेरी जान बचाएगा तो पीछा नहीं करूँगा, दो गाली भी सुन लूँगा।"

"इसलिए नहीं, मैं आज अपने बाप के यहाँ चली जाऊँगी।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जहाँ अनाड़ियों के डूबने के लिये कोई नदी नहीं है।"

कहानी का अंत चरम नाटकीय कौशल से हुआ है—" 'मेरा कसूर, मेरा गँवारपन, मैं उजड्ड, मेरा अपराध, मैंने क्या कहा डा डा मा'। घिग्घी बँध चली "। रघुनाथ का

---

1. गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, पृ० ३७।

यह कथन पाठकों पर अमिट छाप छोड़ जाता है और कुछ सोचने के लिये विवश कर देता है।

गुलेरी जी की तीसरी कहानी 'उसने कहा था' न केवल इन दोनों कहानियों से भिन्न है, अपितु अपनी कलात्मक प्रौढ़ता के कारण हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानी जाती है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में—"नए शिल्प, नई भावधारा अभिनव कलात्मक कौशल, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण एव मानस के विश्लेषण, वातावरण के बारीक से बारीक रेशे को भी यथार्थता से उभारने की प्रवृत्ति और सारी पृष्ठभूमि को यथार्थ के नए रंग देने की व्याकुलता सब मिलाकर यह हिंदी की एक चिरस्मरणीय कहानी ही नही बन गई, वरन् एक नई दिशा का सूत्रपात भी करती है।"[1]

कहानी का आरंभ सहज आकर्षण और कर्तव्य से होता है। आकर्षण धीरे धीरे पवित्र प्रेम में बदलकर भावों के संसार में खो जाता है। पच्चीस वर्षों बाद संयोगवश इसका पुनः उदय होता है, किंतु इस बार विशुद्ध कर्तव्य के रूप में। इसकी चरम परिणति त्याग और बलिदान के बिंदु पर होती है। कथानक का प्रारंभ बंबूकार्ट वालों के बीच में हाकर एक लड़का और एक लड़की के संयोगवश मिल जाने से होता है। लड़का अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था और लड़की रसोई के लिये बड़ियाँ। दोनों में बात शुरू होती है :—

"तेरे घर कहाँ है।"
"मगरे में—और तेरे ?"
"माझे में—यहाँ कहाँ रहती है ?"
"अत्तर सिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।"

दोनों इसी प्रकार लगभग महीने भर मिलते रहते हैं और एक ही प्रकार के प्रश्नोत्तर 'तेरी कुड़माई हो गई', 'धत्' चलते रहते हैं। एक दिन लड़के की आशा के विपरीत उत्तर मिलता है—'हाँ, हो गई ! कल, देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।'

इसके पश्चात् कथानक का विकास इस संयोग के पच्चीस वर्षों बाद होता है, जब बालक लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स जमादार होकर अंग्रेजों की ओर से फ्रांस की युद्धभूमि में स्थित है। कुछ दिन पहले वह भारत आया था, वहाँ संयोगवश उससे उसी लड़की से भेंट हो गई है, जिसके प्रति वह बाल्यकाल में अनुरक्त था और जो अब सूबेदारनी थी। सूबेदारनी ने उसके चलते समय कहा था—"अब दोनों जाते हैं, मेरे भाग !......इन दोनों को बचाना, यही मेरी भिक्षा है।" कथानक के

---

१. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, पृ० ४८।

विकास की सबसे बड़ी विशेषता प्रत्याभास पद्धति (फ्लैश बैक टेकनीक) का अपनाया जाना है। मरणासन्न लहनासिंह के स्मृति पटल पर उसके जीवन को गहराई तक प्रभावित करनेवाली घटनाएँ असंबद्ध चित्रों के रूप में उभरती चली जाती हैं। ये घटनाएँ या चित्र उत्तरोत्तर पाठक के मन में लहनासिंह के व्यक्तित्व एवं आदर्श प्रेम के प्रभाव को प्रगाढ़ बनाते चले जाते हैं।

चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से भी यह एक अन्यतम कहानी है। इसके पात्र मानवीय और यथार्थ हैं। लहनासिंह और सूबेदारनी के माध्यम से जहाँ एक ओर आदर्श प्रेम को अभिव्यक्ति मिली है वहीं दूसरी ओर इन आदर्श प्रतीकों के माध्यम से मानवीय भावनाओं का सुंदर रूप भी देखने को मिला है। लहनासिंह का चरित्र एक वीर, आदर्श प्रेमी, कर्तव्यपरायण और देशभक्त के रूप में चित्रित हुआ है। उसकी उदात्त अनुराग भावना त्याग एवं उत्सर्ग में परिणत हो जाती है। शुक्ल जी के शब्दों में कहानी के भीतर से "प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है।"[1]

लहनासिंह के अतिरिक्त सूबेदारनी के चरित्रांकन में लेखक को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उसके प्रेम में गंभीरता और अडिग विश्वास भारतीय मर्यादा के अनुरूप अनुस्यूत हैं। पत्नी और माँ के दायित्व के प्रति पूर्ण रूप से सजग रहते हुए भी उसके हृदय में प्रेम की अंतःसलिला अद्भुत रूप से बहती रहती है।

कहानी का शीर्षक सार्थक एवं व्यंजनापरक है। मरणासन्न लहनासिंह सूबेदार से कहता है—"सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो—'उसने कहा था'—वह मैंने कर दिया।" संपूर्ण कहानी का सार इसी कथन में निहित है।

कहानी के संवाद नाटकीय एवं अभिनयात्मक हैं। इनके द्वारा पात्रों के चरित्रविकास में बड़ी सहायता मिली है। बालिका एवं बालक के संवाद, लहनासिंह और सूबेदारनी के संवाद तथा लहनासिंह और जर्मन लपटनेंट के संवाद द्वारा पात्रों का सूक्ष्म मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

भाषा पर गुलेरी जी का जबर्दस्त अधिकार था। वह पात्रानुकूल भाषा के द्वारा वातावरण को सजीव और यथार्थ बनाने में सफल हो सके हैं। अमृतसर के वर्णन में—'बचो खालसा जी, हटो भाई जी, ठहरना भाई, जाने दो लाला जी, हटो बाछा', आदि पंजाब के नित्य जीवन में प्रयुक्त शब्दों द्वारा कहानी में स्वाभावि-

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६३।

कता और प्रभविष्णुता की वृद्धि हुई है। इस प्रकार 'उसने कहा था' कथानक की नाटकीयता, कलात्मकता, स्वाभाविकता, सहजता, रोचकता, यथार्थवाद, मर्यादावाद एवं भावुकता, पात्रों के उदात्त आदर्श चरित्रांकन, भाषासौष्ठव, कलागत नैपुण्य एवं प्रत्याभास पद्धति के कारण हिंदी की अद्वितीय कहानी बन गई है।

२. जयशंकर प्रसाद

संवत् १९६८ से 'इंदु' के प्रकाशन के साथ ही जयशंकर प्रसाद हिंदी कहानी क्षेत्र में आए। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' उसी वर्ष 'इंदु' में छपी थी। उसके बाद 'इंदु' के प्रारंभिक अंकों में 'पंचायत', 'चंदा', 'चित्तौर उद्धार', 'चूड़ी वाली' आदि कहानियाँ छपीं। आपने कुल मिलाकर ६९ कहानियाँ लिखी हैं जो पाँच संग्रहों—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इंद्रजाल में प्रकाशित हुई हैं। इनमें से 'छाया' की दस कहानियाँ और 'प्रतिध्वनि' की अधिकांश कहानियाँ आलोच्य काल में आती हैं, शेष कहानियाँ बाद में लिखी गई हैं। 'सालवती' उनकी अंतिम कहानी है, जो सं० १९९४ के आस पास लिखी गई है। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की अधिकांश कहानियाँ आदर्शवादी हैं, किंतु परवर्ती कहानियों में प्रसाद जी क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़ते गए हैं।

प्रसाद जी मूलतः भारतीय सांस्कृतिक चेतना के कवि थे। उनका कवि रूप उनकी कहानियों पर भी हावी है। प्रेम और सौंदर्य उनकी कहानियों की मूल संवेदना है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई उनकी कहानियों में भावुकता, कल्पना और रोमांस का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। वे प्रेम के स्वच्छंद रूप के पुजारी थे। प्रेम के मार्ग में किसी प्रकार के सामाजिक अथवा धार्मिक बंधन उन्हें मान्य न थे। इसलिये उनकी कहानियों में प्रेम के विविध पक्ष देखने को मिलते हैं और नारी चरित्र के अनेक रूप उभरकर आए हैं। यदि एक ओर इनका 'कलावती की शिक्षा', 'परिवर्तन', 'संदेश', 'चित्रवाले पत्थर' आदि कहानियों में दांपत्य प्रेम का उज्वल रूप सामने आया है, तो दूसरी ओर 'अपराधी', 'चूड़ीवाली', 'समुद्र संतरण' आदि कहानियों में विजातीय और आर्थिक दृष्टि से असमान प्रेमी प्रेमिकाओं की प्रणयलीला के दृश्य खींचे गए हैं। यदि एक ओर उन्होंने 'गुदड़ी', 'ममता,' 'प्रतिध्वनि' आदि कहानियों में विधवाओं की मानसिक दशा का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया है तो दूसरी ओर 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'मधूलिका' और 'सालवती' कहानियों के माध्यम से लोकमंगल की भावना से मंडित राष्ट्र और विश्वकल्याण के लिये वैयक्तिक प्रेम को न्योछावर करनेवाली अमर देवियों की भी सृष्टि की है। वस्तुतः प्रसाद जी नारी हृदय के अद्भुत पारखी थे। उनकी नारियाँ अनिंद्य सुंदरी है, साथ ही अपने अंतर में घात प्रतिघात, अंतर्द्वंद्व और विद्रोह के तत्व भी छिपाए हुए हैं।

पुरुष पात्र प्रायः नारी पात्रों के इर्द गिर्द घूमते हुए दिखाए गए हैं। एक

प्रकार से कथानक में मोड़ नारी पात्रों द्वारा आता है, पुरुष उनके हाथ का खिलौना है। वैसे पुरुष पात्रों में भी प्रेम, त्याग और भावुकता के तत्व विद्यमान हैं। नूरी का प्रेमी याकूब, बेला का प्रेमी गोली, लैला का प्रेमी रामेश्वर और चंपा का प्रेमी बुद्धगुप्त ऐसे ही पात्र हैं।

प्रसाद जी नाटककार भी थे, अतः उनकी कहानियों में नाट्यतत्व सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। कुछ कहानियों का आरंभ नाटकीय कौशल से हुआ है, जैसे 'आकाशदीप' का प्रारंभ इन शब्दों से होता है—

'बंदी।'
'क्या है? सोने दो'
'मुक्त होना चाहते हो?'
'अभी नहीं! निद्रा खुलने पर, चुप रहो।'
'फिर अवसर न मिलेगा।'

कहानियों के मध्य के संवाद भी नाटकीय एवं काव्यात्मक हैं। उनसे पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ा है। जैसे—

'मैं केतकी बन की रानी हूँ।'
'तब ऐसे क्यों?'
'समय की प्रतीक्षा में पड़ी हूँ।'
'कैसा समय?'
'आपसे क्या काम? क्या शिकार खेलने आए हैं?'
'नहीं देवी! आज स्वयं शिकार हो गया हूँ।'

(पाप की पराजय)

इसी प्रकार 'पुरस्कार' नामक कहानी में अभिनयात्मक ढंग से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ा है। मधूलिका और राजकुमार के संवाद से दोनों का चरित्र उद्घाटित हुआ है।

प्रसाद की कहानियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ और तत्सम शब्दावली प्रधान है। कहीं कहीं पर वह अधिक काव्यात्मक हो गई है। ऐसे स्थलों पर कल्पना की ऊँची उड़ान और दार्शनिकता के कारण कहानी की स्वाभाविकता में बाधा भी पड़ी है। जैसे—

'श्यामा सघन, तृण संकुल शैल मंडल पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मंद मारुत से विकंपित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में अपनी स्वतंत्र किरणों से चतुर्दशी का चंद्रमा हँस रहा था। पूर्व में प्रकृति अपन

स्वप्न मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी । बनलता का वदन सहसा खिल उठा । ' (ज्योतिष्मती)

वस्तुतः प्रसाद जी पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप है । उनकी कहानियों का समग्र परिवेश भारतीत संस्कृति से मंडित है । कहानी की भाषा, वस्तु विन्यास, पात्र सभी भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हैं । इस दृष्टि से वह अन्य कहानीकारों से विशिष्ट तथा भिन्न कोटि में आते हैं । संक्षेप में, उनकी कहानियाँ आदर्शवाद के अधिक निकट हैं, जिनमें कल्पना, भावुकता एवं स्वप्निल चित्रों की भरमार है । जीवन के कठोर सत्य की अपेक्षा वे भावलोक का सृजन करती हैं ।

३. जी० पी० श्रीवास्तव

आलोच्यकाल में हास्यरस की कुछ कहानियाँ प्रेमचंद और कौशिक ने भी लिखीं, किंतु मुख्य रूप से हास्यप्रधान कहानियाँ लिखने का श्रेय जी० पी० श्रीवास्तव को प्राप्त है । इन्होंने मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार की हास्य-व्यंग्य-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं । कहानियों के अतिरिक्त इन्होंने हास्य रस के नाटकों और उपन्यासों की भी रचना की है । इन्होंने सं० १९६८ से कहानी रचना प्रारंभ की । 'पिकनिक' इनकी प्रथम कहानी है, जो 'इंदु' में छपी थी । 'लंबी दाढ़ी' इनका प्रमुख कहानी संग्रह है । इसके अतिरिक्त 'नोक झोंक' संग्रह के तीसरे खंड में हास्य रस की कहानियाँ संग्रहीत हैं । 'पिकनिक', 'झूठमूठ, 'मैं न बोलूँगी,' 'लंबी दाढ़ी,' 'पंडित जी', 'चचा भतीजे', 'चुंबन', 'अंटसंट' आदि आपकी प्रमुख कहानियाँ हैं ।

श्रीवास्तव जी की कहानियों का हास्य उच्च कोटि का कम है । वस्तुतः उनमें भड़ौआ, अश्लील और शाब्दिक हास्य अधिक मिलता है । उनके चरित्र अस्वाभाविक और अशिष्ट प्रतीत होते हैं । वे हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा हास्य की सृष्टि करने का उपक्रम करते हैं । श्रीवास्तव जी की शैली में उस तीखेपन, पैनेपन अथवा व्यंग्य कला का अभाव है, जिससे शिष्ट हास्य का उद्रेक होता है । वे प्रायः वर्णनात्मक ढंग से कथा कहकर हास्योत्पादन की चेष्टा करते हैं । 'लंबी दाढ़ी' में मौलवी को हास्य का आलंबन बनाया गया है तो 'पंडित जी' में संस्कृत के एक अध्यापक की खिल्ली उड़ाई गई है, 'चचा भतीजे' में छूआछूत पर व्यंग्य किया गया है और 'मास्टर साहब' में अंग्रेजी ज्ञान पर प्रहार किया गया है । इन सारे वर्णनों में अतिरंजनात्मक और अस्वाभाविक घटनाओं का सहारा लिया गया है । संयोग तत्वों और आकस्मिक घटनाओं द्वारा भी आश्चर्यमिश्रित हास्य सृष्टि की चेष्टा की गई है । परिणामस्वरूप न तो कथानक का स्वाभाविक विकास हो सका है और न पात्रों का सूक्ष्म चरित्रांकन ही हो सका है । रचना शिल्प की दृष्टि से ये कहानियाँ साधारण कोटि की ही मानी जाएँगी । इन कहानियों की भाषा सरल

और व्यावहारिक है। प्रायः उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों के प्रयोग द्वारा भी हास्योत्पादन की चेष्टा की गई है। संवादों में भी चुस्ती और मार्मिकता का अभाव है।

४. राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह मूलतः आदर्शवादी कहानीकार हैं और इस दृष्टि से वे प्रसाद जी के अधिक निकट हैं। इनकी प्रथम कहानी 'कानों में कँगना' सं० १९७० में 'इंदु' में प्रकाशित हुई थी। उनकी इस प्रथम कहानी का ऐतिहासिक महत्व है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "इसका निर्माण उस काल में हुआ था जब हिंदी में कहानी कला का स्वरूप संगठित हो रहा था और इस विषय के लिखनेवाले इने गिने थे। ऐसे समय में ऐसी प्रौढ़ सृष्टि देखकर हिंदी जगत् प्रसन्न हो उठा और 'प्रसाद' जी के समान कलाकार भी गद्‌गद हो गए। इस कहानी में लेखक की भाषा शैली भावप्रधान, अलंकृत और परिष्कृत है। साथ ही सारा कथानक कलात्मक ढंग से सुगठित है। आदि और अंत कौशलपूर्वक संतुलित हैं, जिससे रचनात्मक सौष्ठव का पूरा परिचय मिल जाता है"।[1] उसके बाद आपने दर्जनों कहानियाँ लिखीं जो 'गांधी टोपी', 'सावनी समाँ' और 'गल्प कुसुमांजलि' नामक संग्रहों में प्रकाशित हुईं। आपने मुख्य रूप से सामयिक समस्याओं, राजनीतिक आंदोलनों, सामाजिक प्रश्नों और धार्मिक विवादों को लेकर कहानियों की रचना की है। उनकी जो कहानियाँ यथार्थवादी भूमिका पर लिखी गई हैं, वे भी अंततः आदर्शोन्मुख हो गई हैं। उन्होंने नैतिक मूल्यों और मर्यादावाद का अधिक सहारा लिया है। कहानियों में घटनाओं की प्रधानता है। घटनाबाहुल्य के कारण कुछ कहानियाँ आवश्यकता से अधिक लंबी हो गई हैं। आपने प्रायः वर्णनात्मक शैली को अपनाया है, वैसे कुछ कहानियाँ आत्मकथात्मक और संस्मरणात्मक शैली में भी लिखी गई हैं।

'गांधी टोपी', 'दरिद्रनारायण', 'इस हाथ दे उस हाथ ले' 'बिजली', 'मरीचिका', 'कानों में कंगना', 'पद का मद', 'पैसे की वुधुनी', 'एक अनुभूति' 'जबान का मसाला' आदि आपकी प्रमुख कहानियाँ हैं। 'गांधी टोपी' में तथाकथित नेताओं की धज्जी उड़ाई गई है। 'दरिद्रनारायण' एक धार्मिक कहानी है, जिसमें राजा के कर्तव्यों और प्रजा के महत्व का निदर्शन है। 'पैसे की घुघुनी' में सामाजिक वैषम्य का चित्रण है। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' में बताया गया है कि मनुष्यों को उसके अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम तत्काल मिल जाता है।

---

१. कहानी का रचना विधान, पृ० २८२–८३।

राजा साहब के पात्र विभिन्न वर्गों—राजा, दरिद्र, पुरोहित, डाक्टर, युवक, वृद्ध—का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके नारी पात्र प्रायः अत्याचार से पीड़ित दिखाए गए हैं। 'संस्कार' की विमला 'पुरुष, और नारी' की सुधा, 'राम रहीम' की बेला ऐसी ही नारी पात्र हैं। उनके पुरुष पात्र आदर्शवादी भी हैं और वासना के शिकार निम्न प्रकृति के भी। इन पात्रों का चरित्रविश्लेषण संवादों और घटनाओं के माध्यम से हुआ है।

आपकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और व्यावहारिक दोनों प्रकार की है। पहले प्रकार की भाषा कुछ काव्यात्मक हो गई है और दूसरे प्रकार की भाषा में उर्दू के प्रचलित शब्दों का बाहुल्य है। मुहावरों और लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग मिलता है। जैसे—"मिश्र जी के पितामह ने घर का सोना गला गलाकर इसी मंदिर की चूड़ा पर सोने का पानी चढ़ाया था। आज वही सोने का पानी उनके चेहरे के पानी पर पानी फेर देता, जब उस चमक पर निगाह जाती तब दिल तड़प कर बैठ जाता।" (गांधी टोपी)

५. प्रेमचंद

हिंदी में प्रेमचंद की प्रथम कहानी 'सौत' संवत् १९७२ (दिसंबर, सन् १९१५) की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। किंतु इसके पूर्व लगभग संवत् १९६४ से ही वे धनपतराय और नवाबराय के नाम से उर्दू में कहानियाँ लिखने लगे थे। उनकी प्रथम कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' संवत् १९६४ के 'जमाना' में छपी थी। यह एक देशभक्तिपूर्ण रचना है। इसके बाद उनकी दूसरी कहानी 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' सं० १९६५ में निकली। इसी समय उनकी दो अन्य कहानियाँ 'शौक का पुरस्कार' और 'शेख मखमूर' प्रकाशित हुईं। इनकी चार कहानियों का संग्रह बाद में 'सोजेवतन' नाम से छपा। इन कहानियों में राष्ट्रप्रेम का स्वर प्रबल होने के कारण प्रेमचंद को अंग्रेजी सत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा और 'सोजे वतन' को जब्त भी कर लिया गया। इसी के बाद उन्होंने 'प्रेमचंद' उपनाम से साहित्यक्षेत्र में प्रवेश किया। प्रेमचंद नाम से इनकी पहली कहानी 'ममता' सं० १९६९ के 'जमाना' में निकली थी। इन्होंने उर्दू में लगभग १७८ कहानियाँ लिखी हैं जो सोजे वतन, 'प्रेम पचीसी', 'खाके परवाना', 'प्रेम बत्तीसी', 'प्रेम चालीसा', 'फिरदोसए ख्याल', 'आदे राह', 'दूध की कीमत', 'वारदात', 'परवाज ख्याल', 'खाके ख्याल', 'नजात', 'आखिरी तोहफा' आदि १३ संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। उनकी प्रायः सभी उर्दू कहानियों के हिंदी अनुवाद भी छप चुके हैं।

संवत् १९७२ के आसपास से उन्होंने हिंदी में लिखना शुरू किया। ४ सितंबर,

सन् १९१४ (सं० १९७१) को उन्होंने मुंशी दयाराम निगम को एक पत्र लिखा था कि " 'प्रताप' के इसरार से मजबूर होकर एक मुख्तसर किस्सा हिंदी में उसके विजयादशमी नंबर के लिये लिखा है। हिंदी लिखनी तो आती नहीं, मगर कुछ कलम तोड़ मोड़ दिया है।"[1] लेकिन इसके बाद भी उनका उर्दू प्रेम बना रहा और वे हिंदी के साथ साथ उर्दू में भी कहानियाँ लिखते रहे। "उनका उर्दू कहानी के प्रति झुकाव १९२४ से बहुत कम होने लगा था तथा १९३० तक पहुँचते पहुँचते उन्हें उर्दू से विरक्ति हो चली थी। इस बीच में (१९३०-३१) वे उर्दू से बिल्कुल निराश से होकर पूरी तरह हिंदी की तरफ झुक गए। जनवरी, सन् १९३० में 'हंस' नाम का एक हिंदी मासिक पत्र जारी किया।"[2]

प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' मानी जाती है। किंतु श्री अमृतराय का विश्वास है कि " 'प्रताप' में उन्होंने इसके पूर्व भी कुछ कहानियाँ लिखी थीं। 'प्रेमचंद : गुप्त धन' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' की फाइल का न मिलना बड़े ही कष्ट की बात है। मेरा विश्वास है कि उसमें मुंशी जी की कुछ कहानियाँ मिलनी चाहिए। इतना तो निश्चित है कि उसमें मुंशी जी की पहली हिंदी कहानी है। एक चिट्ठी में उसका संकेत मिलता है।"[3]

प्रेमचंद की कुल मिलाकर २९६ कहानियाँ उपलब्ध हैं। लेकिन अमृतराय का अनुमान है कि " 'अभी तीस चालीस कहानियाँ और मिलनी चाहिए। उर्दू हिंदी पत्र पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें और हिंदी से भी ज्यादा उर्दू पत्र पत्रिकाओं की फाइलें आसानी से नहीं मिलतीं। अकसर खंडित मिलती हैं।"[4] इस प्रकार अनुमानतः प्रेमचंद का कहानी साहित्य लगभग ३०० कहानियों का हो जाता है। ये कहानियाँ हिंदी की प्रमुख पत्र पत्रिकाओं सरस्वती, प्रभा, प्रेमा, माया, जागरण, स्वदेश, धरती, मर्यादा, माधुरी, हंस, चाँद, विशाल भारत और भारतेंदु में छपती रहीं। इन कहानियों के अनेकानेक संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें सप्त सरोज, नवनिधि, प्रेमपूर्णिमा, प्रेम पचीसी, प्रेम प्रसून, प्रेम प्रमोद, प्रेम प्रतिमा, प्रेम द्वादशी, प्रेमतीर्थ, प्रेम चतुर्थी, अग्नि समाधि तथा अन्य कहानियाँ, पाँच फूल, समरयात्रा और ग्यारह अन्य राजनीतिक कहानियाँ, सप्त सुमन, प्रेम पंचमी, प्रेरणा और अन्य कहानियाँ, प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, मान सरोवर (भाग १, २) गुप्तधन (भाग १, २) कफन आदि कहानी संग्रह मुख्य हैं। प्रायः एक ही कहानी तीन चार संग्रहों में आ गई है।

---

१. अमृतराय, प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यास, मंगलाचरण, भूमिका, पृ० ७।
२. सुरेंद्र आनंद, प्रेमचंद : कहानीकार, पृ० ८४।
३. प्रेमचंद, गुप्त धन (२), भूमिका, पृ० ५।
४. वही, पृ० ५।

इससे कुछ लोग भ्रमवश प्रेमचंद के कहानी साहित्य की संख्या लगभग ८०० मान लेते हैं।

प्रेमचंद का हिंदी में रचनाकाल सं० १९७२ से सं० १९९३ तक है। आलोच्य काल में उनका केवल एक कहानी संग्रह 'सप्त सरोज' (सं० १९७४) प्रकाशित हुआ था, जिसमें सात कहानियाँ थीं--बड़े घर की बेटी, सौत, सज्जनता का दंड, पंच परमेश्वर, नमक का दारोगा, उपदेश और परीक्षा। इनमें से 'सौत' (गोदावरी) प्रथम बार सरस्वती (दिसंबर, १९१५), 'सज्जनता का दंड' सरस्वती (मार्च १९१६), 'पंच परमेश्वर' सरस्वती (जून, १९१६), 'बड़े घर की बेटी' 'ज़माना' (दिसंबर, १९१०) और 'उपदेश' जमाना (मई, १९१७) में प्रकाशित हो चुकी थीं। आलोच्य काल में ही उनकी तीन अन्य कहानियाँ 'ईश्वरी न्याय' (सरस्वती, जुलाई, १९१७), दुर्गा का मंदिर (सरस्वती, दिसंबर १९१७) और 'बलिदान' (सरस्वती, मई, १९१८) प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त सं० १९७५ के पूर्व उनकी जो अन्य कहानियाँ निकलीं, उनमें 'संसार का सबसे अनमोल रत्न', 'पाप का अग्निकुंड', रानी सारंधा विक्रमादित्य का तेगा, राजा हरदौल, गरीब की हाय, अमावस की रात, धर्मसंकट, बाँका जमींदार, खून सफेद, बेटी का धन, मर्यादा की वेदी, ज्वालामुखी, धोखा आदि मुख्य हैं। इनमें से अधिकांश कहानियाँ बाद में 'नव निधि' और 'प्रेम पूर्णिमा' नामक संग्रहों में प्रकाशित हुईं। उनकी शेष कहानियाँ बाद में लिखी गईं।

प्रेमचंद हिंदी कहानी के सम्राट् हैं। संपूर्ण युग की उपलब्धियाँ और संभावनाएँ उनमें निहित है। उन्होंने हिंदी कहानी को विस्तृत आयाम दिया। उन्होंने विराट् मानवतावादी और समाजकल्याण की भावना से कहानियों की रचना की। उन्होंने कहानी के स्वरूप, लक्ष्य और शिल्प के संबंध में भी अपना दृष्टिकोण स्पष्ट शब्दों में रखा। वे कला कला के लिये सिद्धान्त को मानकर नहीं चले। उनके मत मे उत्तम कहानी वही हो सकती है जिसका आधार मनोवैज्ञानिक सत्य हो। उन्होंने लिखा है कि "कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब इतनी लंबी चाड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिये स्थान नहीं रहा। अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हार्दिक चित्रण है।"[1] कहानी के स्वरूप के संबंध में उनका विचार है कि "कहानी के लिये पंद्रह बीस मिनट ही काफी है, अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दो में कही जाए, उसम एक वाक्य क्या एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाए, उसका पहला वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक उसे मुग्ध

१. ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, भूमिका, पृ० ११।

किए रहे, उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ विकास हो और उसके साथ ही कुछ तत्व भी हो।"[1]

प्रेमचंद की कहानियाँ इसी कसौटी को बनाकर लिखी गई हैं और इसपर वे खरी भी उतरी हैं। विषय तथा शैली की दृष्टि से उनको कई वर्गों में रखा जा सकता है। विकास की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियों के तीन चरण हैं--

(क) प्रारंभिक काल (सं० १९७५ तक की कहानियाँ)

(ख) विकास काल (सं० १९७५ से सं० १९८६ तक)

(ग) उत्कर्ष काल (सं० १९८६ से १९९३ तक)

उनकी प्रारंभिक कहानियों में घटनाओं की प्रधानता है, चरित्रचित्रण अपेक्षाकृत कम। द्वितीय काल की कहानियों में लेखक आदर्शमूलक सुधार भावना से प्रेरित दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक दोषों और विसंगतियों का चित्रण करके उनका एक आदर्शमूलक समाधान खोजने की चेष्टा की है। लेकिन धीरे धीरे जीवन के कटु अनुभवों से उनके आदर्शवाद को धक्का लगा। अतः अंत में वे बहुत कुछ यथार्थवादी हो गए हैं। इस तीसरे चरण में तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन से भी वे बहुत प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।

कथानक के आधार पर उनकी कहानियाँ तीन वर्गों---घटनाप्रधान, चरित्र-प्रधान और भावप्रधान---में रखी जा सकती हैं। 'पंच परमेश्वर' घटनाप्रधान कहानी है, 'बड़े भाई साहब', 'आँसुओं की होली', 'आत्माराम', 'दो बहनें' आदि चरित्रप्रधान कहानियों की कोटि में आती हैं और 'आत्मसंगीत' जैसी कुछ कहानियाँ भावप्रधान मानी जाएँगी।

प्रेमचंद ने अपने समय तक प्रचलित लगभग सभी शैलियों को अपनाया। उस समय मुख्य रूप से कहानी लिखने की पाँच शैलियाँ--आत्मकथात्मक शैली, वर्ण-नात्मक शैली, संवादात्मक शैली, डायरी शैली और पत्रात्मक शैली प्रचलित थीं। प्रेमचंद की 'डपोर शंख,' 'विद्रोह,' रामलीला,' 'बड़े भाई साहब' आदि आत्मकथात्मक शैली में, 'वज्रपात,' 'दिल की रानी,' 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि वर्णनात्मक शैली

---

१. वही, पृ० ६।

में, 'कानूनी कुमार' तथा 'जादू' संवादात्मक शैली में, 'मोटेराम शास्त्री की डायरी,' डायरी शैली में और 'दो सखियाँ' तथा 'कुसुम' पत्रात्मक शैली की कहानियाँ हैं।

प्रेमचंद युगद्रष्टा साहित्यकार थे। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक आदि सभी विषयों पर कहानियाँ लिखीं। उन्होंने यदि एक ओर जासूसी ढंग की कहानियाँ लिखीं तो दूसरी ओर हास्यपरक कहानियों की भी सृष्टि की, यदि एक ओर गाँव की समस्याओं को लेकर कहानियाँ रचीं तो दूसरी ओर बच्चों और पशुओं के कथानक को लेकर कहानियों का सृजन किया। उनकी कहानियों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याएँ उठाई गई हैं. जिनमें विधवा समस्या, वेश्या समस्या, धर्म के ठेकेदार पंडे, पुजारियों और मठाधीशों की अनैतिकता, जमीदारों के अत्याचार, भूमिसुधार, किसानों की विपन्न दशा, मध्यम वर्ग की आर्थिक समस्याएँ, दहेज प्रथा, वृद्ध विवाह, बहु विवाह, अनमेल विवाह, आभूषण प्रेम, हिंदू मुस्लिम समस्या, राष्ट्रीय आंदोलन, उद्योग व्यवसाय, सहकारिता आदि मुख्य हैं। 'सप्त सरोज' की कहानियों में मुख्य रूप से सामाजिक समस्याएँ उठाई गई हैं। 'बड़े घर की बेटी' में संयुक्त परिवार की प्रथा का प्रश्न निहित है, 'सौत' में बहुपत्नी विवाह से उत्पन्न पारिवारिक कलह और अशांति का चित्रण है, 'उपदेश' में जमींदारी प्रथा के गुण दोषों का उल्लेख है, 'सज्जनता का दंड' तथा 'नमक का दरोगा' में घूस की समस्या उठाई गई है, तथा 'पंच परमेश्वर' में मनुष्य के सद्गुणों की विजय दिखाई गई है। इसी समय की अन्य कहानियाँ परीक्षा, गरीब की हाय, बेटी का धन, रानी सारंधा आदि मे देशप्रेम, त्याग, शौर्य, बलिदान, अहिंसा आदि सद्गुणों की महिमा गाई गई है।

आलोच्य काल के बाद की कहानियों में पूर्ववर्ती समस्याओं को भी उठाया गया है और कतिपय अन्य समस्याओं पर भी लेखनी चलाई गई है। इन कहानियों में सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों को अधिक मात्रा में उठाया गया है। लेखक के विचारों में भी थोड़ा परिवर्तन आया है। अब वह अधिक विचारशील हो गया है और प्रत्येक समस्या का नैतिक अथवा आदर्शमूलक समाधान खोजने की अपेक्षा, उन समस्याओं की गहराई अथवा जड़ में जाने की चेष्टा की है और यथार्थ के धरातल पर ही रहने का प्रयास किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसके समय मुख्य समस्याएँ लगभग वेही हैं—संयुक्त परिवार प्रथा, पारिवारिक संकट, रिश्वत, घूसखोरी, किसान, जमींदार, महाजन, विवाह, आर्थिक वैषम्य, पाश्चात्य सभ्यता से उत्पन्न अतिरिक्त भौतिक प्रेम आदि, किंतु उनको देखने की दृष्टि कुछ बदली हुई लगती है। इस समय की कहानियों में शंखनाद, आत्माराम, गृहदाह, बूढ़ी काकी, मुक्ति

मार्ग, दीक्षा, सवा सेर गेहूँ, पूस की रात, माँ, मैकू, कफन आदि अद्वितीय और श्रेष्ठतम हैं।

प्रेमचंद की कहानियों की भाषा साधारण और बोलचाल की है। उस पर उर्दू शब्दावली और प्रयोगों का प्राधान्य है। यह उर्दू प्रभाव धीरे धीरे कम होता गया है और अंतिम कहानियाँ बहुत कुछ शुद्ध हिंदी में लिखी गई हैं। कहानी की भाषा में पात्रों के वर्ग और स्तर का भी ध्यान रखा गया है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में सजीवता और स्वाभाविकता आई है।

६. विश्वंभरनाथ जिज्जा

डा० ब्रह्मदत्त शर्मा के अनुसार विश्वंभरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'सौंदर्य की महिमा' बनारस से निकलनेवाले पत्र 'इंदु' (४ अप्रैल, १९१५) में निकली थी,[1] जब कि डा० सुरेश सिनहा ने परदेशी को जिज्जा की पहली कहानी माना है, जो सं० १९६९ में प्रकाशित हुई थी।[2] जिज्जा की कहानियों का एक संग्रह 'घूंघटवाली' उपलब्ध है, जो विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता से छपा था। इस संग्रह मे ११ कहानियाँ हैं—जादूगरी, पाप का पुण्य, भैरवी, गले की फाँसी, बसंत की माला, कालचक्र, नारी का साहस, खोई हुई लड़की, होली में नई बहू, निर्मोही बालम, घूंघटवाली। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'ये कहानियाँ २०–२५ वर्ष पूर्व लिखी गई थीं, जो 'इंदु,' 'स्त्री दर्पण,' 'हिंदी मनोरंजन,' 'गल्प माला', 'माधुरी' आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं''।[3]

इनमें से कुछ कहानियाँ, जैसे घूंघटवाली, परदेशी, भैरवी, गले की फाँसी आदि का गुजराती भाषांतर सुप्रसिद्ध गुजराती मासिक पत्रिका 'बीसवीं सदी' में प्रकाशित हुआ था।[3] जिज्जा की इन ११ कहानियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कहानियों का संग्रह एक प्रकाशक की असावधानी से खो गया। अतः उनके द्वारा लिखी गई सभी कहानियाँ अब सुलभ नहीं हैं।

जिज्जा यह मानते हैं कि सच्ची कहानी यथार्थ के धरातल का स्पर्श करनेवाली होती है किंतु उसका उद्देश्य मनोरंजन होता है। उन्हीं के शब्दों मे "मानव जीवन से संबंध रखनेवाली भावनाओं और घटनाओं का वर्णन, विश्लेषण तथा विकास कहानी में होता है। घटनाएँ जितनी ही रोचक, भावमयी और सामयिक होंगी, उतनी ही कहानी भी मनोरंजक और मर्मस्पर्शी होगी।"[4]

---

१. हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० २०८।

२. हिंदी कहानी : उद्भव और विकास, पृ० ४०९।

३. घूंघटवाली, भूमिका, पृ० १।

४. वही, पृ० १।

'घूँघटवाली' की अधिकांश कहानियाँ सामाजिक हैं, जिनमें नारी जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण है। इनमें से 'गले की फाँसी' और 'खोई हुई लड़की' का आधार सत्य घटनाएँ हैं। 'घूँघटवाली' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, जिसमें नायक कुंज का चरित्रविश्लेषण मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। प्रारंभ में वह पर्दा प्रथा का समर्थक है, किंतु अपनी भाभी शांति की बहिन की पर्दे के अंदर की मुखच्छवि की झलक से वह उसे खुले रूप में देखने के लिये व्याकुल हो उठता है। धीरे धीरे उसके विचार बदलते हैं और वह स्त्रियों की समानता और स्वतंत्रता की वकालत करने लगता है। अंत में उसी 'घूँघटवाली' से उसका विवाह हो जाता है। 'जादूगरनी' एक ऐतिहासिक कहानी है, जिसकी नायिका सुंदरी पोपिया सेबिना प्राचीन रोम नगर की एक धनाढ्य विधवा की लड़की थी, जो अपनी अमीरी और विलासिता के लिये रोम भर में प्रसिद्ध थी। इस कुटिल माँ की चतुर बेटी ने रोम साम्राज्य के इतिहास में कुछ पृष्ठ और परिच्छेद उलट पलट दिए। 'परदेशी' में एक विधवा स्त्री और परदेशी की प्रेमकथा है।

जिज्जा प्रेमचंद परंपरा के कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कही जा सकती हैं। कहानियों की भाषा सरल, प्रचलित और मुहावरेदार है, जिसमें उर्दू और अंग्रेजी के कार्ड साइज, लेक्चर, सिस्टम, रबिश, लल आदि प्रचलित शब्दों के प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। पात्रों का चरित्रचित्रण वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ढंग से किया गया है।

७. ज्वालादत्त शर्मा

ज्वालादत्त शर्मा प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार हैं। इन्होंने अधिकांशतः सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर प्रहार किए गए हैं। इनकी अधिकांश कहानियाँ 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुईं, जिनमें 'मिलन' (सरस्वती, सं० १९७२), 'अनाथ बालिका' (सरस्वती, सं० १९७३), 'भाव परिवर्तन' (सरस्वती, सं० १९७३), 'मिहनताना' (सरस्वती, सं० १९७३), 'विधवा' (सरस्वती, सं० १९७३) और 'बूढ़े का व्याह' (सरस्वती, सं० १९७४) मुख्य हैं। इनका दृष्टिकोण सुधारवादी था। ये अपनी कहानियों के माध्यम से हिंदू समाज और परिवार के दोषों का विवरण देकर उनका समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। कहानियों में घटनाओं की प्रधानता रहती है। कलात्मक दृष्टि से इनकी कहानियाँ द्वितीय कोटि की मानी जाएँगी। आलोच्य काल की कहानियों में जो शिल्पगत वैशिष्ट्य और सूक्ष्मता आ रही थी, इनकी कहानियों में उसका प्रायः अभाव मिलता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "ज्वालादत्त जी की कहानियाँ इस अर्थ में घटनाप्रधान और भावात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समय की योजना रहती है और पात्रों या

चरित्रों का हृदयपरिवर्तन ही कहानियों का परिणाम होता है।"[1] शर्मा जी की कहानियों की भाषा सरल और मुहावरेदार है, जिसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है। ये कहानियाँ प्रायः वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं, केवल एक दो कहानियाँ आत्मकथात्मक अथवा पत्रात्मक शैली में मिलती हैं।

८. छबीलेलाल गोस्वामी

श्री छबीलेलाल गोस्वामी प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानीकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी के पुत्र थे। ये मथुरा से प्रकाशित 'मोहन' और अबाला से प्रकाशित 'ब्राह्मण' नामक पत्रों के संपादक थे। पंच पुष्प, पंच पराग, पंचकलिका, पंच पल्लव, पंच मंजरिका, जाविली आदि आपकी कृतियाँ है। संवत् १९७२ में सरस्वती में प्रकाशित 'विमाता' आपकी एक सामाजिक कहानी है, जिसमें पचास वर्षीय राममोहन के द्वारा चमेली नामक नव युवती के साथ दूसरे विवाह के परिणामस्वरूप पहली पत्नी से उत्पन्न विश्वभूषण पर, नवागता विमला द्वारा किए गए अत्याचारों की झलक मिलती है। यह एक चरित्रप्रधान कहानी है। विश्वभूषण विमला के मिथ्याभियोग से संत्रस्त होकर घर छोड़ देता है और स्वावलंबी बन विद्याध्ययन कर ऐडवोकेट हो जाता है। विमला किसी कारण विषपान कर लेती है। राममोहन पर हत्या का अभियोग लगता है। अंत में विश्वभूषण की ही बुद्धिमत्ता एवं चतुराई से राममोहन अपराधमुक्त हो पाते हैं। कहानी यद्यपि संक्षिप्त है, तथापि अपनी कलात्मक विशेषता के कारण वह पाठकों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। कहानी की भाषा संस्कृतनिष्ठ और तत्सम शब्दावली प्रधान है जैसे 'लाचार होकर विश्वभूषण ने संसार-सागर में आत्मनिक्षेप करना ही उचित समझा। स्वावलंबन के भरोसे वह संसारसमुद्र की उत्तुंग तरंगों में बहने लगा।' (सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० २०३)। कहानी वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है, संवादों का अभाव है। इनकी कहानियों का मुख्य लक्ष्य मनोरंजन है।

९. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

कौशिक जी भी प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार हैं। उन्होंने भी कहानी-लेखन उर्दू मे आरंभ किया था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से इन्होंने हिंदी में लेखन आरंभ किया। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि "एक बार स्व० पूज्य द्विवेदी जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम्हारी रुचि किस ओर है। मैंने कहा कहानी तथा उपन्यास की ओर। उन्होंने कहा तो वही लिखा करो। मैं बंगला जानता हूँ। अतएव उन्होंने रवींद्रकृत 'षोडशी'

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ० २४८।

कहानी संग्रह दिया और कहा कि इनमें से एक कहानी का अनुवाद कर दो। मैंने 'निशीथ' नामक कहानी का अनुवाद किया। इसके पश्चात् अपनी इच्छा से ही 'रक्षा-बंधन' मौलिक कहानी लिखकर दी। उन्होंने पसंद की। तब से बराबर मौलिक कहानियाँ लिखने लगा।''[1] हिंदी में उनकी पहली कहानी 'रक्षा बंधन' सं० १९७३ में सरस्वती में छपी। उसके बाद ये निरंतर कहानी रचना करते रहे। इनकी कहानियों की संख्या लगभग तीन सौ है। 'भिखारिणी', 'मणिमाला', 'कल्प मंदिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम प्रतिभा', 'कल्लोल' आदि इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं। इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय कहानियों में रक्षा बंधन, ताई, उद्धार, माता का हृदय, लीडरी का पेशा, विधवा, दरिद्रता का पुरस्कार, वोटर, प्रायश्चित्त, करुणा की मूर्ति, साहित्य सेवा, पावन पतित, अमोघ औषध आदि को गिनाया जा सकता है।

कौशिक जी ने अधिकांशत: सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं। इनमें समाज के विभिन्न पक्षों या समस्याओं का उद्घाटन किया गया है। सामाजिक कहानियों के अतिरिक्त इनकी कुछ कहानियाँ राजनीतिक तथा हास्य-व्यंग्य-प्रधान भी हैं। 'उद्धार' कहानी में आर्थिक वैषम्य और पूंजीपति वर्ग द्वारा निर्धनों के शोषण का चित्रण है। 'ताई' नामक कहानी में एक संतानहीन स्त्री का मनोविश्लेषण है। 'नर पशु' में पति द्वारा पत्नी पर किए गए अत्याचारों का उल्लेख है। 'गँवार' नामक कहानी में अशिक्षित ग्रामीणों के सत्पक्ष की चर्चा है। 'ढपोर शख' में हिंदू धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर कशाघात किया गया है।

कौशिक जी की कहानियाँ घटनाप्रधान अथवा कथाप्रधान कही जा सकती हैं। उनमें घटनाओं का संगुंफन कुशलता से किया गया है। एक प्रकार से घटनाएँ चरित्रचित्रण की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली ढंग से नियोजित की गई हैं। चरित्रचित्रण में कौशिक जी को वैसी सफलता नहीं मिली है, जैसी प्रेमचंद को। मानव चरित्र की गूढ़ दशाओं का जितना सूक्ष्म परिज्ञान प्रेमचंद को था, वैसा कौशिक को नहीं। इसीलिये वे पात्रों की मानसिक गुत्थियों को सुलझाने में अधिक सफल नहीं हो सके हैं।

प्रेमचंद के समान इनके पात्रों में भी घटनाओं से प्रभावित होकर परिवर्तन दिखाया गया है। 'ताई' इसका सुंदर उदाहरण है। 'माता का हृदय' नामक कहानी में भी इसी प्रकार ब्रजमोहनलाल के बीमार पड़ने पर माता के चरित्र में परिवर्तन दिखाया गया है। कौशिक जी कहानियों का प्रारंभ प्राय: संवादों द्वारा करते हैं। उन्होंने कथानक के विकास में संयोग तत्वों और आकस्मिक घटनाओं का भी सहारा लिया है।

---

१. डा० श्रीपति शर्मा, कहानी कला : विकास और इतिहास, पृ० १८१।

कौशिक जी की कहानियों की भाषा सरल, जनसामान्य में प्रचलित और मुहावरेदार है। कहीं कहीं पर पात्रानुकूल भाषा द्वारा कहानी में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया गया है। 'ताई' कहानी में बच्चे की तोतली बोली द्वारा प्रभान्विति की सृष्टि की गई है, जैसे—'ताऊ जी, हमें लेलगाड़ी ला दोगे ?' अथवा 'उसमें बैठके बली दूल जाँयगे' आदि। कहानियों के संवाद लघु और नाटकीय हैं। उनके द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ा ही है, कथानक का भी विकास हुआ है। 'रक्षाबंधन' कहानी का विकास प्रायः संवादों द्वारा ही हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

अमरनाथ—परंतु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा—यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम—और, मैं लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा—यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ—तो इसके लिये क्या विचार है ?

तीसरा—विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—तो कब ?

घनश्याम—कल।

१०. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी खैरागढ़ (मध्य प्रदेश) के निवासी थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद वे 'सरस्वती' के संपादक बने थे। बख्शी जी हिंदी में कवि और निबंधकार के रूप में जाने जाते हैं। किंतु इन्होंने कतिपय कहानियों की भी रचना की है, जिनमें 'झलमला' (सरस्वती सं० १९७३), 'नंदिनी' (सरस्वती : १९७४); 'अन्नपूर्णा के मंदिर में' (सरस्वती : १९७३) प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों के दो संग्रह 'अंजलि' और 'झलमला' उपलब्ध हैं।

बख्शी जी की अधिकांश कहानियाँ प्रेम प्रधान हैं। प्रेम के विविध रूपों का उद्घाटन उनकी कहानियों की खास विशेषता है। बख्शी जी एक आदर्शवादी कहानीकार माने जाते हैं। इनकी कहानियाँ प्रायः आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई हैं। कहानियों की भाषा संस्कृत शब्दावली प्रधान है। 'झलमला' एक बहुत छोटी कहानी है, जो आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। यह एक भावप्रधान कहानी है, जिसमें लेखक द्वारा मोमबत्ती के टुकड़े के बनाए गए 'झलमला' को उसकी भाभी अमूल्य संपत्ति के रूप में सुरक्षित रखती है। उसकी मृत्यु के बाद अधजली मोमबत्ती के टुकड़े को, जिसपर लिखा था 'मूल्य एक गिनी', लेखक पाकर अतीत की स्मृतियों में खो जाता है। यद्यपि इसमें कोई कथानक नहीं है, फिर भी यह कहानी पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है।

११. चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री आलोच्य युग के अंतिम चरण के कहानीकार हैं। इनकी प्रथम कहानी प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' में सं० १९७६ में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद आपकी कहानियाँ निरंतर निकलती रहीं। 'रजकण', 'अक्षत', 'बाहर भीतर', 'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'सोया हुआ शहर', 'धरती और आसमान', 'कहानी खत्म हो गई' 'स्त्रियों का ओज, 'सिंहगढ़ विजय', 'अक्षत', आदि आपके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। इस दृष्टि से आप प्रसाद की परंपरा के कहानीकार हैं। खूनी, दे खुदा की राह पर, दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी, लालरुख, भिक्षुराज, नूरजहाँ का कौशल, बसंत, पूर्णाहुति, झंडा आदि आपकी अमर कहानियाँ हैं, जिनमें से कुछ आलोच्य काल के बाद लिखी गई हैं, कहानी रचना के संबंध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है कि 'अपनी कहानी के साथ मैं बहुत काल तक रहता हूँ। मैं उसमें डूबता हूँ। उसे घुलमुल कर डालता हूँ। फिर उसे रस्सी की भाँति उमेठ डालता हूँ। इसके बाद उसे रुई की तरह धुनता हूँ। कहानी के साथ ही अपने हृदय और मस्तिष्क की भी मैं यही गति बना डालता हूँ। फिर कहानी और मैं एक हो जाते हैं।'[1]

शास्त्री जी की सामाजिक कहानियाँ यथार्थवादी हैं, जिन्हें कुछ लोगों ने प्रकृतवादी कहानी कहा है और इस दृष्टि से उन्हें उग्र और ऋषभचरण जैन के निकट का कथाकार माना है। इनकी सामाजिक कहानियों में प्रायः समाज का बीभत्स और कुत्सित रूप उभरकर आया है। उनका कहना है कि 'मैं मनुष्य का पुजारी हूँ और मनुष्य मेरा देवता है। परंतु मनुष्य मानवता नहीं। मानवता का मैं पुजारी नहीं। .... मैं केवल मनुष्य का पुजारी हूँ—वह मनुष्य जो घृणित, पापी, अपराधी, खूनी, डाकू, हत्यारा, लुटेरा, कोढ़ी, व्यभिचारी, पागल है। वही मेरा देवता है। उसमें जो यह कलुष है, उसका अपना नहीं है, नैसर्गिक हैं'। उनकी सामाजिक कहानियों में समाज के इसी अपराधी वर्ग के दर्शन होते हैं। सामाजिक विकृति, विलास तथा अधःपतन में डूबी नारी, चरित्रहीन पुरुष आपकी कहानियों में बार बार उभर कर आते हैं। इस प्रकार के यथार्थवादी वर्णन कहीं कहीं पर अतिरंजित और अमर्यादित हो गये हैं। वस्तुतः कुछ कहानियों में सुरुचि का नितांत अभाव दिखाई पड़ता है। ऐसी कहानियों का पाठकों पर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। लगता है, समाज में चारों ओर अत्याचार और व्यभिचार का ही बोल बाला है।

शास्त्री जी की सामाजिक कहानियों की अपेक्षा ऐतिहासिक कहानियाँ अधिक सफल कही जा सकती हैं। इन कहानियों के माध्यम से उन्होंने भारतीय रमणियों

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बाहर भीतर, पृ० १४।

के त्याग, बलिदान एवं आत्मसंमान के गौरवपूर्ण चित्रों को उरेहा है। उनकी ऐतिहासिक कहानियों में प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के उदात्त मानवीय पक्ष भी सामने आए हैं। 'सिंहगढ़ विजय' की अधिकांश कहानियाँ ऐसी ही हैं जिनमें सत्य, सौंदर्य और मंगल का समन्वय है। ऐतिहासिक पक्ष पात्रों के चरित्र चित्रण में उन्होंने तत्कालीन आचार विचारों, आस्था विश्वासों और सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों का पूरा ध्यान रखा है।

शास्त्री जी की कहानियों की भाषा सरल, व्यावहारिक और पात्रानुकूल है। संवाद लघु, नाटकीय और प्रभावपूर्ण है। इन संवादों से कथानक के विकास में सहायता मिली ही है, पात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ा है, जैसे--

"कौन ?"
"प्रिये ! मैं हूँ तुम्हारे चरणों का दास।"
"तुम ! जयमल ! यहाँ ? रात में ? अभी निकल जाओ।"
"बिना मनोरथ पूर्ण किए नहीं जाऊँगा।"
"नीच ! कापुरुष ! निर्लज्ज। चोर·····।"
"चाहे जितना गाली दीजिए।"
"जान प्यारी है तो जा बाहर।" (स्त्रियों का ओज)

११--बालकृष्ण शर्मा नवीन

श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन का द्विवेदी युगीन कवियों में प्रमुख स्थान है। क्वासि, अपलक, कुंकुम, रश्मि रेखा आपके कविता संग्रह हैं और 'उर्मिला' आपका प्रसिद्ध महाकाव्य है। आपने कुछ कहानियों की भी रचना की थी। सं० १९७३ में आपकी पहली कहानी 'सरस्वती' में छपी थी। किन्तु सं० १९७५ में 'सरस्वती' में ही प्रकाशित 'संतू' नामक कहानी शिल्प तथा विषय वस्तु की दृष्टि से उच्च कोटि की कहानी है। इसमें मृत्युशय्या पर पड़े संतू का अत्यंत सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया गया है। उसकी मृत्यु आसन्न है, उसे केवल एक ही चिंता है कि उसका राष्ट्र की स्वाधीनता का संकल्प अधूरा रहा जाता है। यदि उसका भाई उसके कार्य को आगे बढ़ाने का दायित्व ले सके तो वह आसानी से शरीर को त्याग सके। उसका भाई विमल कुछ निश्चित आश्वासन दे, इसके पूर्व ही उसकी इहलीला समाप्त हो जाती है। उसके मरणोपरांत विमल के मन में एक ही बात कचोटती रहती है--स्वर्गीय संतू का महान् अनुष्ठान। कहानी के अंतिम अंशों में विमल की इसी आंतरिक मनोव्यथा का चित्रण है। यह भावप्रधान कहानी है, जिसमें घटना बहुत कम है। कहानी की भाषा कवित्वपूर्ण है। जैसे--'उज्जयिनी की चिरसंगिनी सिप्रे ! तुम्हारी इस तरल

और उत्ताल तरंगों ने अनेक दुःखित आत्माओं को शांति दी होगी। तुम्हारे इस कर्ण-मधुर कलकल निनाद ने अनेक उत्साहशून्य आत्माओं में कार्यकारिणी शक्ति का संचार किया होगा। तुम्हारे इस वृक्षाच्छादित निर्जन कूल पर अनेक संसारविरत महानुभावों ने बैठकर उस अनंत का साक्षात्कार किया होगा।'

(सरस्वती, हीरक जयंती अंक, पृ० २२२)

कहानी के संवाद लघु और नाटकीय हैं। स्वप्नावस्था में विमल के अंतर्द्वंद्व को व्यक्त करना कहानी की प्रमुख विशेषता है।

चतुर्थ अध्याय

द्विवेदी कालीन हिंदी उपन्यास

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक हिंदी उपन्यास के इतिहास में बड़े महत्व का काल है। इसे हम उपन्यास की समाजशास्त्रीय भूमि के निर्माण का काल भी कह सकते हैं। संसार की किसी भी भाषा के साहित्येतिहास पर हम दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि उपन्यास का उद्भव सर्वत्र पाठक वर्ग के निर्माण के बाद ही संभव हुआ। पर हिंदी में एक विचित्र बात हो गई थी, यहाँ पाठकवर्ग के पैदा होने के पहले ही उपन्यास पैदा हो गया था। यह भारतेंदु जी की कृपा थी। वे हिंदी के भंडार को सब तरह से भरा पूरा बनाना चाहते थे। अतः बँगला और अँगरेजी उपन्यासों के नमूने पर उन्होंने अपने लेखक मित्रों और सहयोगियों को हिंदी में भी उपन्यास लिखने को प्रेरित किया। 'निस्सहाय हिंदू' (१८८१), 'परीक्षा गुरु' (१८८२), 'श्यामास्वप्न' (१८८५), 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) 'नूतन चरित्र' (१८८७) आदि उपन्यास भारतेंदु जी की प्रेरणा से ही लिखे गए थे। लेकिन चूंकि उस समय तक हिंदी पाठक वर्ग का निर्माण नहीं हो पाया था, इस कारण इन कृतियों की पूछ नहीं के बराबर हुई : यह प्रयास बहुत कुछ ऊसर भूमि में बीज बोने के समान सिद्ध हुआ।

वैसे तो इस पूरे के पूरे (विवेच्य) काल को पाठक वर्ग के निर्माण का काल कह सकते हैं, पर इसका पहला चरण---उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक---इस दृष्टि से विशेष महत्व का काल है। यदि हिंदी में किसी एक आदमी को पाठक-वर्ग के निर्माण का श्रेय दिया जा सकता है तो वे देवकीनंदन खत्री हैं। इस काल के पूर्व हिंदी पाठकों की स्थिति क्या थी ? हिंदी में पाठक नहीं के बराबर थे। पुरुषों में साक्षरता ११·४ प्रतिशत और स्त्रियों में ·५ प्रतिशत थी। इन साक्षरों में पठन योग्यता से संपन्न व्यक्तियों का प्रतिशत क्या होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अलावा स्कूली और कालेजी शिक्षा मे हिंदी का स्थान नगण्य था। उस समय का पढ़ा-लिखा आदमी अँगरेजी और उर्दू का जानकार समझा जाता था, हिंदी का नहीं। हिंदी गँवारों की भाषा मानी जाती थी। कचहरियों और सरकारी संस्थाओं में अँगरेजी और उर्दू का एकाधिकार था, अतः हिंदी पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। अधिकतर पढ़े लिखे लोग नागरी अक्षरों तक की जानकारी नहीं रखते थे। पर हिंदी जाननेवालों और बोलनेवालों का अभाव था। बिहार से लेकर पंजाब तक हिंदी अपने विभिन्न रूपों में जनता की मातृभाषा और व्यवहार भाषा थी। खत्री जी की

विशेषता इस बात में निहित है कि उन्होंने इस विशाल क्षेत्र से भारी संख्या में 'श्रोताओं' को 'पाठकों' में बदल दिया। पहले तो उन्होंने ऐसी कथाओं का निर्माण किया जिनमें अपढ़ गँवार व्यक्तियों से लेकर पढ़े लिखे व्यक्तियों तक की समान रूप से रुचि हो सकती थी। फिर, उन्होंने ऐसी सरल भाषा में ये कथाएँ लिखीं जिसे समझने के लिये किसी भी प्रकार की स्कूली शिक्षा की आवश्यकता न थी। इस भाषा को पढ़ने और समझने के लिये केवल नागरी लिपि का ज्ञान प्राप्त कर लेना पर्याप्त था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "खत्री जी के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' नामक ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गये।... ...हिंदी साहित्य के इतिहास मे बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं"।[1] खत्री जी ने हिंदी के संभावित पाठकों को वास्तविक पाठकों में बदल दिया। वे प्रथम कथाकार हैं, जिन्होंने तत्कालीन साक्षर मात्र, असाहित्यिक, उर्दू शब्दों और मुहावरों से परिचित पर संस्कृत के ज्ञान से रहित, संभावित हिंदी पाठकों की, जो अपनी विशाल संख्या के बावजूद साहित्यकारों द्वारा उपेक्षित थे, पठन योग्यता और रुचि को पूर्णतः ध्यान में रखकर कथापुस्तकों की रचना की। पाठक निर्माण का जो कार्य खत्री जी ने प्रारंभ किया उसमें इस काल के अन्य उपन्यास लेखकों ने भी योग दिया।

विवेच्य काल के कथा साहित्य को, अध्ययन की सुविधा के लिये निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है---

१. तिलस्म और ऐयारीप्रधान रोमांस
२. अपराधप्रधान तथा जासूसी कथाएँ
३. इतिहासाश्रित कथा साहित्य
   (क) ऐतिहासिक रोमांस
   (ख) ऐतिहासिक उपन्यास
   (ग) विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ
(४) सामान्य रूमानी कथाएँ या रोमांस
(५) सामान्य उपन्यास[2]

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४३४।

२. हिंदी के आलोचक प्रेमचंदपूर्व युग के कथा साहित्य के विवेचन क्रम में 'कथा' मात्र के लिये 'उपन्यास' पद का प्रयोग करते रहे हैं। हम 'उपन्यास' पद का प्रयोग सीमित अर्थ में, केवल उन कथा पुस्तकों के लिये जिनमें चित्रित संसार कल्पनाप्रसूत पर यथार्थ होता है, कर रहे हैं। 'रोमांस' या 'रूमानी

तिलस्म और ऐयारी प्रधान रोमांस

सन् १८६० ई० से प्रारंभ होनेवाले दशक में जो कथा परंपराएँ विकसित हुई उनमें तिलस्म और ऐयारी प्रधान कथा की परंपरा सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जैसा कहा जा चुका है, इसके जनक बाबू देवकीनंदन खत्री थे। खत्री जी ने तीन तिलस्म और ऐयारी प्रधान उपन्यास लिखे—'चंद्रकांता' (१८९१), 'चंद्रकांता संतति' (१८९४–१९०५) और 'भूतनाथ' (१९०७–३५)। इनमें 'भूतनाथ' को पूरा करने के पूर्व ही सन् १९१३ में उनका देहांत हो गया।

खत्री जी की कथापुस्तकों के विषय, शिल्प और भाषा पर तत्कालीन सामान्य पाठकों की रुचि का व्यापक और गहरा प्रभाव है। 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' की कथाओं की धुरी राजकुमार राजकुमारियों का प्रेम है। 'चंद्रकांता' में वीरेंद्र सिंह और चंद्रकांता, तथा 'चंद्रकांता संतति' में इंद्रजीत सिंह और किशोरी तथा आनंद सिंह और लाड़िली के प्रेम, वियोग और मिलन की कथाएँ आधिकारिक है। इन आधिकारिक कथाओं के साथ ऐयारी और तिलस्म की अनेक प्रासंगिक कथाएँ इस कौशल से संग्रथित कर दी गई हैं कि मूल कथा तो अपने स्वाभाविक रूप में अग्रसर होती रहती है और पाठक एक प्रासंगिक कथा से दूसरी प्रासंगिक कथा पर समुद्र की तरंगों पर डूबती उतराती गेंद की तरह बहता चलता है। प्रासंगिक कथाओं की ये तरंगें पाठक को इतनी अभिभूत कर देती हैं कि मूल कथाधारा का उसे ध्यान भी नहीं रहता। 'चंद्रकाता' या 'संतति' के किसी पाठक से बात कीजिए तो वह तेजसिंह, शेरसिंह, बद्रीनाथ, भूतनाथ आदि की ऐयारियों तथा चुनार और जमानिया के तिलस्म की चर्चा जितने उत्साह से करेगा, उतने उत्साह से वीरेंद्र सिंह या उनके लड़कों की प्रेमकथा की नहीं। कारण स्पष्ट है। इस प्रकार की प्रेम कहानियाँ इतनी रूढ़ और निर्जीव हो गई हैं कि जब तक बाहरी उपकरणों से—चाहे वह शृंगार हो या कौतूहल—उन्हें अलंकृत नहीं किया जाता, तब तक उनमें साधारण पाठकों की रुचि हो ही नहीं सकती।

कथा' का प्रयोग उन कथापुस्तकों के लिये किया गया है जिनमें चित्रित संसार यथार्थ नहीं होता। इन कथाओं मे शौर्य, साहसिकता प्रेम, तिलस्म ऐयारी, अपराध तथा अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं का अमर्यादित अतिरंजित वर्णन होता है। अतः जिन कथापुस्तकों को हिंदी आलोचकों ने तिलस्मी ऐयारी, जासूसी या ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी है, उन्हें यहाँ 'रोमांस' और 'कथा' के अंतर्गत रखा गया है। इसी प्रकार हिंदी की आलोचना पुस्तकों में सामान्यतः प्रयुक्त 'सामाजिक उपन्यास' पद के स्थान पर हमने केवल 'उपन्यास' या 'सामान्य उपन्यास' का प्रयोग उचित समझा है।

खत्री जी के ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमांसों में अद्भुत, कौतूहलोत्पादक और रोमांचकारी घटनाओं की बड़ी लंबी और जटिल शृंखला है, जिसमें एक बार कैद होकर साधारण पाठक निकल नहीं सकता। ऐयारों की अद्भुत कार्रवाइयों, अजीब चालाकियों, वेश बदलकर शत्रु के दुर्ग में घुस जाने तथा चुटकी बजाकर असंभवप्राय कार्य कर आने, देखते देखते दुश्मन के आदमी को भुलावा देकर बेहोश कर देने और गठरी बाँधकर कैद कर आने तथा तिलस्मी करिश्मों और तमाशों का ऐसा अपूर्व और अभिभूत कर देनेवाला वर्णन इन कथाओं में मिलता है, जिसे पढ़कर दाँतों तले ऊँगली दबानी पड़ती है। पाठकों को द्विविधा में डाले रखने का अद्भुत कौशल खत्री जी में है। खत्री जी के तिलस्मी रोमांसों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे एक सीमा तक घटनाओं को तर्कसंगत और विश्वसनीय बनाने का सफल प्रयत्न करते हैं। उनकी कथापुस्तकों में एक भी अतिलौकिक तत्व नहीं। वे अपने तिलस्मी तमाशों की यंत्रव्यवस्था (मिकैनिज्म) का ब्योरेवार और बुद्धिसंमत वर्णन करते हैं। कुल मिलाकर देवकीनंदन खत्री तिलस्मी और ऐयारी प्रधान घटनाओं को विश्वसनीय बनाने में जितना सफल हुए हैं, उतना और कोई तिलस्मी कथालेखक नहीं हो सका है।

खत्री जी की तिलस्मी कथापुस्तकों का एकमात्र उद्देश्य अपने पाठकों का मनोविनोद है, किंतु कुछ तो तत्कालीन आलोचकों और बुजुर्ग अभिभावकों का मुँह बंद करने के लिये और कुछ अपने दृष्टिकोण के कारण खत्री जी ने इनमें ऐसे जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति की है, जो तत्कालीन हिंदू आदर्शों के अनुकूल हैं। उनकी तिलस्मी कथापुस्तकों में कर्मफलवाद का प्रतिपादन, हिंदू धर्म की प्रशंसा, परंपरागत नैतिक नियमों का समर्थन, धर्मानुरूप उपदेश आदि भरे पड़े हैं। इन पुस्तकों में हिंदू रुचि और भावना के प्रतिकूल एक वाक्य भी ढूँढ़ने पर नहीं मिलेगा।

खत्री जी ने अपनी कथापुस्तकों का शिल्प और भाषा तत्कालीन पाठकों की रुचि और बौद्धिक क्षमता के अनुकूल रखी है। वे सदा एक किस्सागो के रूप में अपने पाठकों के समक्ष विद्यमान रहते हैं। जहाँ भी पाठक किसी उलझन में पड़ता है, जहाँ भी उसके ऊबने की संभावना होती है, या जहाँ भी घटना की शृंखला को जोड़ने के लिये बहुत पहले की किसी घटना का स्मरण करना होता है, कथाकार उसकी सहायता करने के लिये पहुँच जाता है। प्राचीन किस्सा कहानियों और खत्री जी की कथाओं में शिल्प संबंधी महत्वपूर्ण अंतर यह है कि खत्री जी ने अपनी कथाओं में समयानुक्रम को विपर्यस्त करके रहस्य उत्पन्न करने का प्रयास किया है। चूंकि खत्री जी का समकालीन पाठक इस शिल्प से अनभ्यस्त था, इसलिये वे उनकी सहायता के लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। खत्री जी के रोमांसों की भाषा भी तत्कालीन पाठकों की पठनक्षमता के अनुरूप है। उन्होंने ऐसी बोलचाल की भाषा का प्रयोग

किया है, जिसमें उर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों की अधिकता है। शब्दचयन की दृष्टि से विचार किया जाए तो खत्री जी की भाषा में तद्भव और उर्दू फारसी के बिलकुल प्रचलित शब्दों का प्राचुर्य है, पर संस्कृत शब्दों का उन्होंने बिलकुल प्रयोग न किया हो ऐसी बात नहीं। खत्री जी की भाषा की दूसरी विशेषता उसमें कवित्व और आलंकारिकता का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि खत्री जी के तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांस तत्कालीन हिंदी पाठकों के बीच अतिशय लोकप्रिय हुए।

कथा साहित्य में देवकीनंदन खत्री की व्यावसायिक सफलता से आकृष्ट होकर अन्य अनेक लेखक तिलस्मी ऐयारी प्रधान रोमांसों के प्रणयन में प्रवृत्त हुए, जिनमें हरिकृष्ण जौहर, निहालचंद वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और दुर्गाप्रसाद खत्री विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता' (१८९८-१९००), 'मयंक मोहिनी या माया महल' (१९०१), 'कमल कुमारी या तिलिस्म नीलम' (१९०१-१९०२) आदि, किशोरीलाल गोस्वामी ने 'राजकुमारी' (१९०२ ई०) और 'कटे मूड़ की दो दो बातें या तिलिस्मी शीशमहल' (१९०४) तथा निहालचंद वर्मा ने 'मोती महल या लक्ष्मी देवी' (१९१२-१४) और 'जादू का महल या रूपवती' नामक तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों की रचना की। दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपने पिता श्री देवकीनंदन खत्री के 'भूतनाथ' को पूरा किया। इन प्रमुख लेखकों के साथ छिटफुट रूप से तिलस्मी कथापुस्तकें लिखनेवाले अनेक लेखक थे, जिनमें १४-१५ वर्ष के किशोर तक संमिलित थे।

इन तिलस्मी रोमांसों की खत्री जी के रोमांसों से तुलना करने पर हम पाते हैं कि इनमें से अधिकांश खत्री जी की कथापुस्तकों के भद्दे अनुकरण मात्र हैं। तिलस्मी तमाशों, कलपुर्जों के चमत्कारों तथा ऐयारियों की रूपकल्पना में खत्री जी जिस पैनी सूझ बूझ का परिचय देते हैं, उसका परवर्ती रोमांसों में सर्वथा अभाव है। परवर्ती तिलस्मी कथालेखक खत्री जी का तो अनुकरण करते ही है वे स्वय अपना भी अनुकरण करने मे नहीं हिचकते है। इन रोमांसों में एक ही घटना या तमाशे की बार बार अल्प और परिलक्ष्य परिवर्तन के साथ आवृत्ति होती है। इन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो इस प्रकार की कथा की सभी संभावनाएँ देवकीनंदन खत्री की तिलस्मी कथाओं मे ही चुक गई हों। देवकीनंदन खत्री की तरह परवर्ती तिलस्मी कथालेखक न तो कौतूहलोत्पादक घटनाओं की कल्पना में सफल हो सके हैं, न उन्हें विश्वासोत्पादक बनाने में, न हिंदू आदर्शों के चित्रण मे, न भाषा के प्रयोग में। इन रोमांसों की भाषा निष्प्राण, अशुद्ध तथा ग्राम्य है। देवकीनंदन खत्री की भाषा में सरलता तो है किंतु फूहड़पन नही है, जबकि इन कथाओं की भाषा ग्राम्यता के दोष से भरी हुई है।

हिंदी के तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों के बारे में एक बात निःसंकोच रूप में कही जा सकती है। साहित्यिक दृष्टि से भले ही इनका महत्व नगण्य हो, पर हिंदी पाठकवर्ग के निर्माण की दृष्टि से इनका महत्व सर्वोपरि है। इन तिलस्मी कथाओं ने हिंदी में एक विशाल पाठकवर्ग तैयार कर दिया जो हिंदी उपन्यास साहित्य के फलने फूलने में सहायक हुआ। केवल इसी बात को लेकर देवकीनंदन खत्री तथा अन्य तिलस्मी रोमांस लेखकों का महत्व हिंदी उपन्यास साहित्य में अक्षुण्ण रहेगा।

अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ

विवेच्य काल में विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से कथासाहित्य की रचना में प्रवृत्त होनेवाले दूसरे प्रसिद्ध कथाकार गोपालराम गहमरी हैं। गहमरी जी ने देवकीनंदन खत्री द्वारा निर्मित ऐयारी तिलस्मी वाले मार्ग पर न चलकर एक भिन्न पथ ग्रहण किया। वस्तुतः खत्री जी ने ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमांस की समस्त संभावनाओं को इस प्रकार निचोड़ लिया था कि इस मार्ग पर चलनेवालों का सफल होना कठिन था। गहमरी जी का श्रेय इस बात में है कि इन्होंने इस तथ्य को तुरत समझ लिया और एक नए प्रकार की कथापरंपरा की नींव डाली जिसे अपराधप्रधान और जासूसी कथासाहित्य कह सकते हैं।

गहमरी जी ने १०० के लगभग अपराधप्रधान और जासूसी कथापुस्तकों की रचना की थी। उनके नाम पर प्रचलित अन्य कथापुस्तकें, जिनकी सख्या १५० के लगभग है, अनुवाद हैं।

गहमरी जी का भी मुख्य उद्देश्य देवकीनंदन खत्री से भिन्न नहीं था। ये भी समकालीन पाठकों की कौतूहल और जिज्ञासा वृत्ति को उद्‌बुद्ध कर उनका मनोरंजन करना चाहते थे। गहमरी जी ने कथालेखन का कार्य खत्री जी से लगभग दस वर्ष बाद शुरू किया। यों १९०० ई० के पूर्व उनकी तीन जासूसी पुस्तकें—'अजीब लाश', 'जासूस' और 'जोड़ा जासूस'—'वेंकटेश्वर समाचार' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो चुकी थीं और कुछ कथापुस्तकों के अनुवाद भी उन्होंने किए थे, पर बड़े पैमाने पर अपराधप्रधान कथाएँ प्रकाशित करने के लिये उन्होंने मई, १९०० ई० में 'जासूस' नामक मासिक निकालना आरंभ किया। इसी 'जासूस' में गहमरी जी की सभी जासूसी कथाएँ प्रकाशित हुईं।

जहाँ तक पाठकवर्ग का प्रश्न है, गोपालराम गहमरी की स्थिति देवकीनंदन खत्री से थोड़ी भिन्न थी। खत्री जी ने जब कथालेखन आरंभ किया था उस समय हिंदी में संभावित पाठक तो थे पर वास्तविक पाठक नहीं के बराबर थे, पर गहमरी जी ने जब कथालेखन आरंभ किया उस समय घटनाप्रधान कथापुस्तकों

के पाठक काफी बड़ी संख्या में विद्यमान थे। ऐयारी तिलस्म प्रधान कथाओं की धूम मची हुई थी। 'चंद्रकांता संतति' 'उपन्यास लहरी' मासिक पत्र में क्रमशः प्रकाशित हो रही थी और हिंदी पाठक समुदाय में सर्वत्र इसकी चर्चा थी।

गहमरी जी ने अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं की रचना और अनुवाद पर अपना ध्यान केंद्रित किया। इसके पीछे मुख्य प्रेरणा थी तत्कालीन हिंदी पाठकों की कौतूहल वृत्ति को तृप्त करने के लिये उन्हें एक नवीन प्रकार की घटना शृंखला से युक्त कथा प्रदान करने की भावना। गहमरी जी ने तिलस्मी रोमांसों से आकंठ निमग्न हिंदी पाठकों को जैसे स्वादपरिवर्तन के लिये, अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ दीं। ऐयारी तिलस्मी रोमांसों और जासूसी या अपराधप्रधान कथाओं में एक महत्वपूर्ण अंतर यह होता है कि जहाँ तिलस्मी रोमांसों की धुरी कोई प्रेमकथा होती है, वहाँ जासूसी कथाओं का मेरुदंड कोई अपराध होता है। जासूसी कथाओं में बौद्धिक क्रीडा के लिये अधिक अवकाश होता है। आधुनिक अपराध शास्त्र और अपराध मनोविज्ञान के विकास ने कथाओं के लिये अनंत संभावनाएँ प्रस्तुत कर दी हैं। जासूसी कथाओं में रहस्य निर्माण और उसके उद्घाटन के निमित्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण, विलक्षण बुद्धिमत्ता तथा निर्दोष तर्कशृंखला अपेक्षित होती है। यही कारण है कि बड़े बड़े वैज्ञानिक, राजनेता तथा साहित्यिक भी जासूसी कथाएँ पढ़ते देखे जाते हैं। अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ लिखते समय कदाचित् गहमरी जी के मन में यह धारणा भी रही हो कि हिंदी पाठकों को बौद्धिक दृष्टि से कुछ उच्च कोटि की कथाएँ प्रदान की जाएँ।

जासूसी कथाओं में रोमांचकारी घटनाओं, रहस्य तत्व और जासूस के बुद्धिकौशल की प्रधानता होती है। चूंकि गहमरी जी के उद्दिष्ट पाठक विकसित बुद्धि के नहीं थे, इस कारण उनकी कथाओं में रोमांचपूर्ण घटनाएँ तो हैं, पर रहस्य तत्व और बुद्धिकौशल की जटिलता का उनमें प्रायः अभाव है। गहमरी जी के अधिकांश उपन्यासों की समस्या बहुत आसान होती है। उनमें वर्णित घटनाओं तथा पात्रों के कार्यों में ऐसी असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं जो परिष्कृत रुचि के पाठकों को खटके बिना नहीं रहतीं। इन कथाओं के पात्र वेशपरिवर्तन में कभी कभी 'चंद्रकांता' के ऐयारों से होड लेने लगते हैं। इनमें कहीं कहीं तिलस्मी ढंग के वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि गहमरी जी की कथाओं में सनसनीखेज घटनाओं की योजना पर जितना बल दिया गया है उतना उन्हें विश्वसनीय बनाने पर नहीं।

गहमरी जी द्वारा प्रवर्तित अपराधकथाओं की परंपरा का जिन लेखकों ने अनुसरण किया, उनमें प्रमुख हरिकृष्ण जौहर, जयरामदास और ठाकुर जंगबहादुर

सिंह हैं। किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री तथा दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी अपने ढंग की अपराधप्रधान कथाएँ लिखी थीं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखकों ने भी अपराधकथाओं की रचना की थी। इन अपराधकथाओं का अध्ययन करने पर पहली बात, जिसपर हमारा ध्यान जाता है, यह है कि अँगरेजी में लिखित जासूसी कथाओं की कोटि की एक भी जासूसी कथा हिंदी में नहीं लिखी गई। इन कथाओं में गहमरी जी के स्तर की जासूसी भी नहीं मिलती। हरिकृष्ण जौहर और जयरामदास ने सनसनीखेज तथा कौतूहलजनक घटनाओं के बीच बीच में कामोत्तेजक वर्णनों का समावेश कर अपरिष्कृत रुचि के युवक पाठकों को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अपनी अपराधकथाओं—'नौलखा हार' (१९११) और 'खूनी औरत का सात खून' (१९१८)—में साहित्य रसिकों की रुचि का भी यथासंभव ध्यान रखा है। देवकीनंदन खत्री द्वारा रचित कथा-पुस्तकों—'कटोरा भर खून' (१८९५), 'नौलखा हार' (१८९९) और 'काजर की कोठरी' (१९०२)—में अपराधप्रधान घटनाओं की योजना प्रमुख है।

तात्पर्य यह कि जासूसी और अपराध कथाओं के लेखकों ने भी तत्कालीन हिंदी पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर अपनी कथा पुस्तकें लिखी थीं। इनमें घटनाओं की विलक्षणता, कौतूहलोत्पादकता और रोमांचकता पर जितना ध्यान दिया गया है, उतना उनकी विश्वसनीयता और कार्य-कारण-संबंध पर नहीं।

इतिहासाश्रित कथापुस्तकें

विवेच्य काल की इतिहासाश्रित कथापुस्तकों को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—(क) ऐतिहासिक रोमांस, (ख) ऐतिहासिक उपन्यास और (ग) विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ।

ऐतिहासिक रोमांस

हिंदी में ऐतिहासिक रोमांस की परंपरा के जन्मदाता किशोरीलाल गोस्वामी हैं। विवेच्य अवधि के पूर्व ही उन्होंने 'हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी' (१८९०) और 'लवंग लता वा आदर्श बाला' (१८९०) नामक ऐतिहासिक रोमांसों की रचना की थी। विवेच्य अवधि में उन्होंने इस प्रकार की ९ और पुस्तकें लिखीं—(१) 'गुलबहार का आदर्श भ्रातृप्रेम' (१९०२), (२) 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी' (१९०२), (३) 'कनक कुसुम वा मस्तानी' (१९०४), (४) 'हीराबाई वा बेहयायी का बोरका' (१९०४), (५) 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (१९०४), (६) मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी' (१९०५), (७) लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा (१९०६-१९१६), (८) 'सोना और सुगंध वा पन्नाबाई' (१९०९) तथा (९) लाल कुँवर वा शाही रंगमहल' (१९०९)।

हिन्दी आलोचकों ने गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों को 'उपन्यास' की की संज्ञा दी है जो युक्तिसंगत नहीं। 'उपन्यास' में एक कल्पनाप्रसूत किंतु यथार्थ संसार का निर्माण होता है, ऐतिहासिक उपन्यासों में मूल पात्र और प्रधान घटनाएँ ऐतिहासिक होती हैं, पर पात्रों के आंतरिक व्यक्तित्व और विचारों का चित्रण काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ होता है। उसके विपरीत 'रोमांस' में चित्रित संसार अयथार्थ, अतिलौकिक और अविश्वसनीय वर्णनों से भरा होता है। गोस्वामी जी की ऐतिहासिक कथापुस्तकों में भी तत्कालीन जीवन तथा पात्रों के भावजगत् का यथार्थ चित्र नहीं मिलता। इसके विपरीत उनमें अन्तःपुरीय षड्यंत्रों कामव्यापारों, साहसिक कार्यों तथा तिलस्मी ढंग की गुफाओं, सुरंगों और कोठरियों आदि का वर्णन प्रमुख है। इन कथापुस्तकों को पढ़ते समय हमें एक यथार्थ संसार में विचरण करने का भ्रम नहीं होता। गोस्वामी जी की उपर्युक्त सभी पुस्तकें मुख्यतः प्रेम कथाएँ हैं। पात्रों के नाम ऐतिहासिक हैं पर मूल कथाओं का इतिहास से संबंध नहीं के बराबर है। साहसिक कार्यों तथा प्रेमव्यापारों का अमर्यादित, असंतुलित और अविश्वसनीय वर्णन प्रमुख होने के कारण इन्हें ऐतिहासिक रोमांस की संज्ञा देना ही युक्तिसंगत है।

गोस्वामी जी ने अपनी कथापुस्तकों में काव्यात्मक वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया है। उनके ऐतिहासिक रोमांसों के आवरण पृष्ठों पर तथा परिच्छेद के आरंभ में संस्कृत साहित्य के चुने हुए कवित्वपूर्ण तथा नीतिविषयक जो श्लोक उद्धृत किए गए उनमें संस्कृत और प्राचीन हिंदी काव्यों की नखशिख और विरह-वर्णन-परंपरा अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। कुछ पुस्तकों में उर्दू शेरों और दूसरी कविताओं की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इन रोमांसों की भाषा में भी काव्यत्मकता का प्राधान्य प्रचुरता से किया गया है। कुछ कथा पुस्तकों की भाषा, जिनके पात्र मुसलमान हैं, उर्दू के अत्यधिक निकट है।

गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में इतिहास गौण और कल्पना प्रधान है। उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को बिलकुल बदल दिया है। उदारणतः इतिहास ग्रंथों के अनुसार राजपूत राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह मुसलमान बादशाहों से किया था। गोस्वामी जी ने इस तथ्य का प्रत्याख्यान किया है। 'हीराबाई वा बेहयायी का बोरका' में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि कमला देवी के नाम पर हीराबाई नाम की मुसलमान युवती अलाउद्दीन के पास भेज दी गई और उसका विवाह उससे हो गया। 'सोना और सुगंध' में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि अकबर की प्रधान बेगम जोधाबाई दरअसल जोधपुर की राजकुमारी न थी वरन् काश्मीर से खरीदी हुई एक ऊँचे किंतु तबाह घराने की थी! अकबर को प्रसन्न करने के लिये जोधपुर के राजा ने उसे अपनी पुत्री बनाकर अकबर से उसका विवाह कर दिया था।

गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में कौतूहलोत्पादक घटनाओं एवं कामोत्तेजक वर्णनों का बाहुल्य है। कथा को औत्सुक्योपादक बनाने के लिये उन्होंने ऐयारी, तिलस्म और अपराधप्रधान घटनाओं की भी योजना की है। 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी' में तो ऐयारी का इतना बहुल वर्णन है कि इसे ऐतिहासिक रोमांस कहने में भी हिचक होती है। इसी प्रकार प्रायः सभी कथापुस्तकों में पात्रों के गुप्त प्रेम संबंधों, काम व्यापारों एवं रतिक्रियाओं का नग्न वर्णन किया गया है। ये वर्णन अपरिष्कृत और अश्लील हैं। गोस्वामी जी ने जान बूझ कर काम-व्यापार-वर्णनों को उत्तेजक बनाने का प्रयत्न किया है। कुछ वर्णन तो इतने नग्न और अश्लील हैं जिन्हें किसी को सुनाने में भी संकोच होता है।

किशोरीलाल गोस्वामी के समकालीन ऐतिहासिक रोमांस लेखकों में गंगाप्रसाद गुप्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। हिंदी के आलोचकों और शोधकर्ताओं ने अपने ग्रंथों में इन्हें बहुत अल्प स्थान दिया है। इन्होंने केवल दो वर्षों के भीतर 'नूरजहाँ वा संसार सुंदरी' (१९०२), पूना में हलचल वा बनवासी कुमार' (१९०३), वीर पत्नी' (१९०३), 'कुँवर सिंह सेनापति (१९०३). 'वीर जयमल वा कृष्णकांता' (१९०३) तथा 'हम्मीर' (१९०४) नामक एतिहासिक रोमांसों की रचना की। गंगाप्रसाद गुप्त की ऐतिहासिक कथापुस्तकों को भी ऐतिहासिक रोमांस की संज्ञा देना युक्तिसंगत है, क्योंकि, यद्यपि, इनकी कुछ कथापुस्तकों में ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण तथा ऐतिहासिक पात्रों के विश्वसनीय चरित्र-चित्रण का प्रयत्न किया गया है तथापि इनकी अधिकतर कथाओं में युद्ध और प्रेम. साहसाभियान और श्रृंगार तथा यथार्थ घटनाओं और अनैतिहासिक वातावरण की प्रधानता है।

किशोरीलाल गोस्वामी के दूसरे समकालीन जयरामदास गुप्त हैं जिन्होंने ऐतिहासिक रोमांसों की परपरा में 'काश्मीर पतन' (१९०७), 'किशोरी वा वीर बाला' (१९०७), 'मायारानी' (१९०८), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह (१९०८), 'कलावती' (१९०९), 'प्रभात कुमारी' (१९०९), 'वीर वारांगना' (१९०९), 'रानी पन्ना वा राज ललना' (१९१०) तथा 'राजरानी' नामक पुस्तकों की रचना की थी।

जयरामदास गुप्त के ऐतिहासिक रोमांसों में रूमानी तत्वों तथा युद्ध और प्रेम के अतिरिक्त अविश्वसनीय वर्णनों का प्राचुर्य उपर्युक्त दोनों लेखकों की तुलना में अधिक दिखाई पड़ता है। तिलस्मी ढंग के करिश्मों, ऐयारी के चमत्कारों आश्चर्यजनक पर अविश्वसनीय घटना शृंखलाओं तथा प्रेमव्यापार के अतिरंजित और नग्न वर्णनों में कथा की ऐतिहासिकता बिलकुल दब सी गई है। इन रोमांसों में अतिलौकिक और अतिरंजित घटनाओं के वर्णन के कारण ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण हो ही नहीं पाया है। इन रोमांसों

की भाषा ग्राम्य, अपरिष्कृत, उर्दू फारसी शब्द बहुल तथा अशक्त है। कहीं कहीं भाषा में गोस्वामी जी के अनुकरण पर काव्यात्मकता के आधान का प्रयत्न है पर उसमें लेखक को सफलता नहीं मिली है।

इस अवधि के कुछ फुटकल ऐतिहासिक रोमांस कार्तिकप्रसाद खत्री कृत 'जया' (1901), पं० बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली', रामजीवन नागर कृत 'जगदेव परमार' (1902), मथुराप्रसाद शर्मा कृत 'नूरजहाँ' (1905), जयरामलाल रस्तोगी कृत 'सौतेली माँ या अंतिम युवराज (1906) तथा 'ताजमहल वा फतहपुरी बेगम' (1907), ठाकुरप्रसाद खत्री कृत 'लखनऊ की नवाबी' (1906), चुन्नीलाल खत्री कृत 'रणवीर' तथा स्वामी अनुभवानंद सरस्वती कृत 'यमुनाबाई' आदि हैं इन रोमांसों में अतिलौकिक वर्णनों, साहसिक कारनामों तथा प्रेमचित्रण की प्रधानता है। ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण इनमें बिलकुल ही नहीं मिलता।

ऐतिहासिक उपन्यास

विवेच्य काल के कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लेखक और उनकी कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

मुंशी देवीप्रसाद–रूठीरानी (1906) और 'सुप्यार दे की आरती' (1917); **हरिचरणसिंह चौहान**–'वीरनारायण'; **ब्रजबिहारी सिंह**–कोटारानी (1908); **बलदेवप्रसाद मिश्र** – 'पानीपत' (1902); **लालजी सिंह** – वीरबाला (1903); **गिरजानंदन तिवारी** – 'पद्मिनी' (1905); **बलभद्र सिंह** – 'सौंदर्य कुसुम' वा 'महाराष्ट्र का उदय' (1909), 'जयश्री' (1911) तथा 'सौंदर्य प्रभा वा अद्भुत अँगूठी (1911); **रामनरेश त्रिपाठी** – 'वीरांगना'; **रामप्रसाद गुप्त** 'महाराष्ट्र वीर' (1913); **सिद्धनाथ सिंह** – 'प्रजा पालन' (1915); **अघोरी कृष्णप्रकाश** – 'वीरचूड़ामणि' (1915); **चंद्रशेखर पाठक** – 'भीमसिंह' (1915) **युगलकिशोरनारायण सिंह** – 'राजपूत रमणी (1916)। **ब्रजनंदन सहाय**– 'लालचीन' (1919); **मिश्रबंधु** – 'वीरमणि' (1917)।

उपन्यास कला की दृष्टि से उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासों में शिल्प और विषयचित्रण संबंधी अनेक दोष परिलक्षित होते हैं किंतु उनमें पूर्व विवेचित ऐतिहासिक रोमांसों की तरह इतिहास का गला घोटकर कामव्यापारी तथा साहसिकता, अपराध एवं कौतूहलप्रद घटनाओं का वर्णन नहीं किया गया है। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य हिंदू वीरों के शौर्य, उदारता, धर्मप्रियता तथा हिंदू स्त्रियों के पातिव्रत्य, त्याग और वीरत्व का चित्रण कर भारतीय गौरव का पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है। इन लेखकों ने सामान्य युवक पाठकों की

मनोवृत्ति कौतूहल और कामभाव को सहलाने और उत्तेजित करने का प्रयत्न नहीं किया है। यों इन उपन्यासों में चित्रित अनेक घटनाएं विश्वसनीय नहीं बन पाई हैं। पर इनका उद्देश्य पाठकों का कौतूहल जागृत करना कदापि नहीं है। इनका प्रमुख उद्देश्य चरित्र चित्रण है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से ब्रजनंदन सहाय का 'लालचीन' नामक उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। साहित्यिक विवेचन की दृष्टि से इन उपन्यासों का विशेष महत्व है। दुर्भाग्यवश हिंदी उपन्यास पर शोध करनेवालों ने इनका उल्लेख मात्र करके संतोष कर लिया है।

विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ

इस अवधि में कुछ विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ भी लिखी गईं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं —

कार्तिकप्रसाद खत्री कृत 'महाराज छत्रपति शिवाजी का जीवन चरित्र' (१८९४), जयंतीप्रसाद उपाध्याय कृत पृथ्वीराज चौहान (१९०२), हरिदास माणिक कृत 'महाराणा प्रताप सिंह की वीरता' (१९०७), कालिदास माणिक और हरिदास माणिक कृत 'राणा साँगा और बाबर' (१९१२) तथा 'मेवाड़ का उद्धारकर्ता' (१९१३) आदि।

इन कथापुस्तकों में ऐतिहासिक घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन प्रस्तुत कर दिया गया है। इनका उद्देश्य किसी काल्पनिक संसार की सृष्टि नहीं। इसलिये उन्हें 'इतिहास' की संज्ञा दी जा सकती है, 'उपन्यास' की नहीं।

सामान्य रूमानी कथाएँ

इस अवधि के कुछ लेखकों ने ऐसी कथा पुस्तकें लिखीं जिन्हें सामान्य रूमानी कथा की संज्ञा दी जा सकती है। स्थूलत: इन रोमांसों को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—(१) संस्कृत काव्यों के अनुकरण पर लिखित, (२) उर्दू फारसी कथाओं के ढंग पर लिखित और (३) अल्पयोग्यता सपन्न पाठकों के लिये सरल भाषा में लिखित घटना प्रधान रोमांस।

संस्कृत गद्यकाव्यों के अनुकरण पर लिखित रोमांसों में देवीप्रसाद जी शर्मा उपाध्याय लिखित सुंदर सरोजिनी (१८९३) अनिरुद्ध चौबे रचित 'चंपक बरगो' (१९०४), चतुर्भुज सहाय लिखित 'कुमारी चंद्रकिरण' (१९०६) तथा अंबिका-प्रसाद गुप्त कृत 'सच्चा मित्र' (१९०६) विशेष उल्लेखनीय हैं।

ये रूमानी कथाएँ मुख्यत: हिंदी के काव्यरसिकों को ध्यान में रखकर लिखी गई थीं। इनमें सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयास परिलक्षित होता है। संस्कृत गद्यकाव्यों के अनुकरण पर इनमें प्रकृति सौंदर्य

और विरह के अलंकृत वर्णनों का बाहुल्य है। इनमें वर्णित कथाएँ अयथार्थ और अविश्वसनीय हैं। अतिलौकिक घटनाओं से ये कथाएँ भरी हुई हैं। इन रोमांसों का मुख्य विषय प्रेम है। शृंगार का सरस और कहीं कहीं नग्न वर्णन मिलता है। नीति और धर्म के उपदेश भी प्रचुर मात्रा में आए हैं।

विवेच्य काल की उर्दू फारसी की प्रेम कहानियों से प्रभावित रूमानी कथाओं में पं० रूपनारायण कृत 'श्याम कुमारी' (१८९६), हरिकृष्ण जौहर कृत 'शीरीं फरहाद' (१८९९), श्री पुत्तनलाल कृत 'स्वतंत्र बाला' (१९०३), जयराम दास गुप्त कृत 'रंग में भंग' (१९०७), रामलाल वर्मा कृत 'बनारसी दुपट्टा या गुलरूजरीना' (१९०८), श्रीकृष्ण हसरत लिखित 'एक औरत की वकालत व किस्मा दिलफरोश' (१९०८), पं० जगन्नाथ मिश्र रचित 'मधुप लतिका या इश्क की आग' (१९१२), निहालचंद वर्मा लिखित 'प्रेम का फल या मिस जोहरा' (१९०३) तथा देवकीनंदन खत्री कृत 'लैला मजनू' प्रमुख हैं।

इन कथापुस्तकों में अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं, कामव्यापारों, उर्दू शेरों तथा उर्दूनिष्ठ हिंदी में प्रकृति तथा अन्य प्रकार के वर्णनों का बाहुल्य है। इन सभी प्रेमकथाओं का मेरुदंड कोई न कोई प्रेमकहानी है, जिसमें इश्क और कामव्यापारों के नग्न चित्रण की प्रधानता है।

विवेच्य काल में कुछ ऐसी रूमानी कथाएँ भी लिखीं गईं, जिन्हें 'घटना प्रधान रोमांस' की संज्ञा दी जा सकती है। इन रोमांसों में न तो संस्कृत गद्य काव्यों के ढंग के अलंकृत वर्णन हैं, न स्थान स्थान पर कविताओं की योजना। इनमें न तो संस्कृतनिष्ठ भाषा है, न ही उर्दू फारसी की प्रेमकहानियों के ढंग का नग्न शृंगार वर्णन, आशिकाना ढंग का प्रकृति और सौंदर्यवर्णन या उर्दूनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। इन रोमांसों में, जिनकी संख्या अधिक नहीं है, देवकीनंदन खत्री कृत 'नरेंद्रमोहिनी' (१८९३), कुसुम कुमारी (१८९४-९८) और 'अनूठी बेगम' (१९०५) सरस्वती गुप्ता प्रणीत 'राजकुमार' (१९००), जयरामप्रसाद रचित 'चंपा' (१९०४) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें देवकीनंदन खत्री की कथापुस्तकें विशेष लोकप्रिय हुईं। संभवतः इसके पीछे उनकी पूर्वार्जित प्रसिद्धि भी रही हो।

विवेच्य काल के उपन्यास

'उपन्यास' शीर्षक के अंतर्गत जिन कथापुस्तकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, वे सभी 'उपन्यास' की समस्त विशेषताओं से युक्त हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि इन शताधिक कथापुस्तकों में से इनी गिनी पुस्तकें ही 'उपन्यास' की संज्ञा की अधिकारिणी हैं। अधिकतर 'उपन्यासों' में अनौपन्यासिक तत्वों की, जैसे किसी में रूमानियत की, किसी में नीति और उपदेश की, किसी में

कौतूहलवर्धक अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं की ओर किसी में संस्कृत गद्यकाव्यों के ढंग की काव्यात्मकता की प्रचुरता दीख पड़ती है। फिर भी, इन कथापुस्तकों के लिये 'उपन्यास' पद का प्रयोग इस कारण किया गया है कि इनमें किसी न किसी अंश में, और किसी न किसी रूप में, यथार्थ जीवन का चित्र अवश्य सामने आता है। वस्तुतः हिंदी उपन्यास का विकास इन्हीं कृतियों की प्रक्रिया से हुआ है। अतः अयथार्थवादी तत्वों का बाहुल्य होने पर भी इन कथापुस्तकों के लिये 'उपन्यास' संज्ञा युक्तिरहित नहीं है।

विवेच्य काल के प्रमुख उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, भुवनेश्वर मिश्र, मेहता लज्जाराम शर्मा, बाबू व्रजनंदन सहाय, नवाबराय बनारसी (जो बाद में 'प्रेमचंद' के नाम से प्रसिद्ध हुए) और अवधनारायण के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी

किशोरीलाल गोस्वामी विवेच्य अवधि के पूर्व 'प्रणयिनी परिणय' (१८८७), 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' (१८८८), और 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' (१८८९) नामक उपन्यास लिख चुके थे। 'लीलावती' (१९०१), 'चपला वा नव्य समाज चित्र' (१९०३), 'चंद्रिका वा जड़ाऊ चंपाकली' (१९०४), 'चंद्रावली वा कुलटा कुतूहल' (१९०४), 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी' (१९०५), 'इंदुमती वा वनविहंगिनी' (१९०६), 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' (१९०७), 'माधवी माधव वा मदनमोहिनी' (१९०९) तथा 'अँगूठी का नगीना' (१९१८) आदि उपन्यासों की रचना की थी।

गोस्वामी जी के उपन्यास प्रधानतः प्रेमाख्यान हैं। इनमें संस्कृत गद्यकाव्यों एवं हिंदी के प्राचीन प्रेमकाव्यों की तरह नायिकाओं के नखशिख सौंदर्य, प्राकृतिक सुषमा और प्रेमियों के विरह आदि के अलंकृत और काव्यात्मक वर्णनों की भरमार है। पुस्तकों के मुखपृष्ठ तथा प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ और बीच बीच में संस्कृत, उर्दू तथा हिंदी पद्यों के उद्धरण देकर काव्यात्मकता के आधान का प्रयास किया गया है। इसके साथ साथ इन उपन्यासों में नग्न कामव्यापार चित्रण और कौतूहलोत्पादक घटनाओं की भी प्रधानता है।

गोस्वामी जी के सभी उपन्यास मूलतः प्रेमकथाओं पर आधृत हैं और उनमें संयोग और विप्रलंभ शृंगार तथा कामचेष्टाओं का ऐसा अमर्यादित और अयथार्थ वर्णन है कि इसके लिये 'रोमांस' संज्ञा ही सार्थक प्रतीत होती है, पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके कारण इन्हें मात्र रोमांस नहीं कहा जा सकता। इन उपन्यासों का वातावरण सामंतीय नहीं है। इनके पात्र राजपरिवार से नहीं, मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय

समाज से लिए गए हैं। इनमें आए स्थानों के नाम वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। इनमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक समस्याओं पर, गौण रूप से ही सही, प्रकाश डाला गया है, तथा अवसरानुकूल उनकी आलोचना की गई है। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' में देवदासी प्रथा और वेश्यागमन की तथा 'चपला' में ज्योतिष संबंधी अविश्वासों तथा प्रचलित सामाजिक मान्यताओं की आलोचना की गई है। 'चपला' में शिवप्रसाद के परिवार की निर्धनता और आर्थिक कष्ट के वर्णन द्वारा गोस्वामी जी ने तत्कालीन मध्यवर्गीय परिवार का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में गोस्वामी जी ने बेकारी की समस्या का भी चित्रण किया है तथा उद्योग धंधों और व्यापार में न प्रवेश कर नौकरियों के लिये मारे मारे फिरनेवालों की आलोचना की है। इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से गोस्वामी जी के उपन्यास 'रोमांसों' से कुछ आगे बढ़े हुए हैं। शिल्प की दृष्टि से ये उपन्यास विकसित हैं। इनमें नाटकीय प्रविधि, समयानुक्रम विपर्यसन, कथाओं के युगपत् संक्रमण की प्रणाली आदि का प्रयोग किया गया है, जो औपन्यासिक शिल्प के अंग हैं।

भुवनेश्वर मिश्र

भुवनेश्वर मिश्र उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के ही नहीं प्रेमचंदपूर्व युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने केवल दो उपन्यासों की रचना की थी— 'घराऊ घटना' (१८९३) और 'बलवंत भूमिहार' (१८९६)। बलवंत भूमिहार १९०१ ई० में प्रकाशित हुआ।

'घराऊ घटना' हिंदी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें मध्यवर्ग के एक सामान्य गृहस्थ के दैनिक जीवन का उसके सूक्ष्म ब्योरों के साथ, यथार्थ और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन समाज के रीति रिवाजों और विचारधाराओं का जैसा विश्वासोत्पादक वर्णन इस उपन्यास में उपलब्ध है, वह पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासों में दुर्लभ है। इस काल के अन्य रोमांसों और उपन्यासों की तरह इसमें अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं, तिलस्म और ऐयारी के करिश्मों तथा रोमांचकारी अपराध प्रधान घटनाओं के वर्णन नहीं वरन् जीवन की साधारण बातों का यथार्थ चित्रण है। शिल्प की दृष्टि से विचार करें तो इस उपन्यास में आत्मकथात्मक शिल्पविधि का प्रयोग किया गया है, जिसमें झगड़ूलाल नामक पात्र अपने दांपत्य जीवन की घटनाओं का वर्णन करता है। उसकी भाषा बिलकुल सरल, दैनिक बोलचाल की और निराडंबर है। कुल मिलाकर 'घराऊ घटना' को उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक का एक उल्लेखनीय उपन्यास माना जा सकता है।

भुवनेश्वर मिश्र की दूसरी कृति 'बलवंत भूमिहार' है, जिसे जीवन के यथार्थ अंकन, विश्वसनीय चरित्र चित्रण, अपेक्षाकृत जटिल वस्तुविन्यास और यथार्थ को वहन करनेवाली सक्षम भाषा के कारण प्रेमचंदपूर्व युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। 'बलवंत भूमिहार' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक का एक आश्चर्यजनक चमत्कार है। यह वह समय था जब हिंदी पाठक समुदाय में सर्वत्र 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' का चक्रवर्तित्व स्थापित था। हिंदी पाठक समुदाय मुख्यतः अल्पशिक्षितों और युवकों का था। पाठकों में दो ही प्रकार की कथापुस्तकों की माँग थी—कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधान कथाओं, विशेषकर तिलस्म, ऐयारी प्रधान रोमांसों और श्रृंगार-चित्रण-प्रधान कथापुस्तकों की। तत्कालीन कथालेखक इस समसामयिक रुचिधारा में आँख मूंद कर बह रहे थे। मिश्र जी ने भी 'घराऊ घटना' में अपने काल की रुचि का एक सीमा तक ध्यान रखा था पर 'बलवंत भूमिहार' में वे इस रुचिधारा के सवथा विपरीत चले। श्रेष्ठ कलाकार समसामयिक रुचि का अंधानुगमन नहीं करते। वे अपनी कलाकृति के द्वारा रुचि का निर्माण करते हैं। भुवनेश्र मिश्र इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

'बलवंत भूभिहार' में एक भी ऐसी घटना नहीं जो अल्पशिक्षित पाठकों की कौतूहल भावना या युवक पाठकों की कामवृत्ति को उत्तेजित करने के उद्देश्य से नियोजित हो। इस उपन्यास में दो जमींदार परिवारों के संघर्ष की कहानी अत्यंत विश्वसनीम और मार्मिक रूप में वर्णित है। इस सरल और कौतूहलोत्पादक घटनाओं से रहित कथा के माध्यम से उपन्याकार ने उत्तरी बिहार के जमींदारों की पारिवारिक, सामाजिक तथा जमींदारी विषयक परिस्थितियों का नितांत यथार्थ एव स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें किसी समस्या को केंद्र में रखकर औपन्यासिक संसार के तंतुजाल का निर्माण नहीं किया गया है। पात्रों को स्पष्ट और स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने में भी लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। चित्रण पद्धति में भी उपन्यासकार अपने समकालीन उपन्यासकारों से बहुत आगे है। पात्रों के चरित्र का वर्णन स्वयं करने के बदले लेखक चरित्र का उद्घाटन पात्रों के कार्य तथा अन्य पात्रों से वार्तालाप के माध्यम से करता है। उपन्यास की भाषा सरल, निराडंबर, तथ्यपरक और यथार्थ चित्रण के अनुकूल होने के साथ साथ साहित्यिक गुणों से संपन्न है। नाटकीय पद्धति पर घटनाओं की योजना, समयानुक्रम-विपर्यसन, कथाओं का युगपत् संक्रमण आदि औपन्यासिक शिल्पविधियों का प्रयोग भी इस उपन्यास में समसामयिक उपन्यासों की तुलना में अधिक कुशलतापूर्वक हुआ है। कुल मिलाकर 'बलवंत भूमिहार' प्रेमचंदपूर्व युग की एक महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। दुर्भाग्यवश इस उपन्यास पर भी आलोचकों की दृष्टि अब तक नहीं पड़ी है।

ब्रजनंदन सहाय

प्राक् प्रेमचंद युग के जिन उपन्यासकारों ने तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का अंधानुगमन कर उसे परिष्कृत बनाने का प्रयत्न किया उनमें ब्रजनंदन सहाय मूर्धन्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में जब हिंदी में कौतूहलजनक, शृंगारिक तथा अपराध प्रधान कथापुस्तकों की धूम थी, सहाय जी ने कतिपय शुद्ध साहित्यिक उपन्यासों की रचना की थी। ब्रजनंदन सहाय द्वारा रचित उपन्यास निम्नलिखित हैं—

राजेन्द्र मालती (१८६७), अद्भुत प्रायश्चित्त (१६०१), सौंदर्योपासक (१६११), राधाकांत (१६१२) तथा अरण्यबाला (१६१५)।

ब्रजनंदन सहाय ने भी भुवनेश्वर मिश्र की तरह समसामयिक प्रमुख रुचिधारा की उपेक्षा की है। उनके उपन्यासों में ऐसी एक भी घटना, कार्य या वर्णन नहीं जिसकी योजना निम्नस्तरीय पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर की गई हो। उन्होंने वैसी घटनाओं और शृंगार वर्णनों को अपने उपन्यासों में स्थान ही नहीं दिया है, जिनका एकमात्र उद्देश्य पाठकों की कौतहल वृत्ति और काम-भावना को उत्तेजित करना हो। यद्यपि इन उपन्यासों में प्रेम और शृंगार का अभाव नहीं है, तथापि यह प्रेम शरीर के धरातल पर कम, भाव के धरातल पर अधिक प्रतिष्ठित है। स्थान स्थान पर प्रकृति, नखशिख एवं विरह के कालात्मक वर्णनों एवं कविताओं के उद्धरणों द्वारा काव्य रसिकों को संतुष्ट करने का प्रयास लक्षित होता है।

सहाय जी के उपन्यासों में नवीन सामाजिक चेतना का भी अभाव नहीं है। 'अद्भुत प्रायश्चित्त' में शराबबंदी-आंदोलन का वर्णन आया है। सौंदर्योपासक मे विवाह संबंधी कुप्रथाओं का, जैसे तिलक-दहेज, वृद्धविवाह, अपव्यय आदि की आलोचना की गई है। स्त्री शिक्षा को भी उपन्यासकार नही भूला है यद्यपि स्त्री शिक्षा विषयक उसकी धारणा आधुनिक धारणा से सर्वथा भिन्न है।

ब्रजनंदन सहाय के उपन्यासों की भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिष्कृत और परिनिष्ठित है। उर्दू और अंगरेजी शब्दों का प्रयोग करने में उन्हें कोई संकोच नहीं है, पर वे भाषा को कहीं भी ग्राम्य, अतिसरल और असाहित्यिक नहीं होने देते। काव्यभाषा का एक बहुत बड़ा गुण चित्रात्मकता इनके उपन्यासों में कूट कूटकर भरी है।

मेहता लज्जाराम शर्मा

प्रेमचंदपूर्व युग के उपन्यासकारो में उपन्यासों की संख्या की दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी के बाद मेहता लज्जाराम शर्मा का स्थान है। उन्होंने १८६६ ई० से लेकर १६१५ ई० तक निम्नलिखित आठ उपन्यासों की रचना की—

धूर्त रसिक लाल (१८९९), स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी (१८९९), हिंदू गृहस्थ (१९०६), आदर्श दंपति (१९०२), सुशीला विधवा (१९०७), बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी (१९०७), विपत्ति की कसौटी (१९०९) और आदर्श हिंदू (१९१४-१५)।

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यासों में उपदेश, चरित्रशोधन और मनोरंजन पर विशेष ध्यान रखा है। इन उपन्यासों में उपदेशों की इतनी भरमार है कि वे उपन्यास न रहकर उपदेशाख्यान बन गए हैं। मेहता जी ने अपने उपन्यासों को रोचक बनाने का प्रयत्न भी किया है, पर वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तिलस्म, ऐयारी, जादू टोना, अतिलौकिक कार्यों या अपराध प्रधान घटनाओं का सहारा नहीं लेते। इन्होंने शृंगारचित्रण द्वारा उपन्यासों को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। 'धूर्त रसिकलाल' तथा 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में काम व्यापारों का नग्न और ग्राम्य वर्णन भी मिलता है। इन उपन्यासों में यत्र तत्र प्राचीन काव्यों के ढंग के प्रकृति, नखशिख तथा विरह वर्णन भी मिलते हैं।

मेहता जी के उपन्यासों में स्त्री शिक्षा, स्त्री स्वातंत्र्य, अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि आधुनिक विचारधाराओं का जमकर विरोध और बाल विवाह, पातिव्रत्य, कर्मफलवाद आदि मूल्यों का सोत्साह समर्थन किया गया है। इन उपन्यासों में कहीं कहीं तत्कालीन जीवन के यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं। पुलिस के अत्याचार, घूसखोरी, तीर्थस्थानों में पंडों के अनाचार, ग्रामीणों के बीच फैले अंधविश्वास आदि की आलोचना अनेकत्र मिलती है जिनके कारण ये उपन्यास शुद्ध उपदेशाख्यान बनने से बच जाते हैं।

बाबू नवाबराय बनारसी कृत प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह

बाबू नवाबराय बनारसी ने, जो बाद में प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध हुए, सन् १९०० ई० के लगभग ही उर्दू में 'हम खुर्मा व हम सवाब' नामक उपन्यास की रचना की थी। इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' शीर्षक से इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की केंद्रीय समस्या विधवा विवाह का चित्रण है। उपन्यास का नायक अमृतराय पहले पूर्णा नाम की विधवा से विवाह करता है और फिर उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरी विधवा प्रेमा से। विवेच्य काल के हिंदी उपन्यासकारों ने हिंदू समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण किया है, समाज में फैली कुरीतियों की आलोचना की है, लेकिन विधवा विवाह की समस्या को स्पर्श करने का साहस शायद ही किसी को हुआ हो। वस्तुतः इस काल के कतिपय उपन्यास लेखकों ने विधवा विवाह का अपनी रचनाओं में विरोध किया है। बाबू नवाबराय बनारसी को इस बात का श्रेय मिलना

चाहिये कि उन्होंने न केवल विधवा विवाह का प्रतिपादन किया, वरन् उसे अपने उपन्यास का केंद्रीय प्रतिपाद्य भी बनाया।

'प्रेमा' में विधवा विवाह का प्रतिपादन आर्यसमाजी जोश के साथ किया गया है। इस समस्या के प्रतिपादनार्थ जिन घटनाओं की योजना की गई है वे इतनी भद्दी और अविश्वसनीय हैं कि परिष्कृत पाठक को इन्हें ग्रहण करने में कठिनाई होती है। लेखक पात्र पात्रों के भाग्य के साथ खिलवाड़ करता प्रतीत होता है। कुल मिलाकर बाबू नवाब राय को उपन्यास में चित्रित संसार को यथार्थ और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने में पूरी सफलता नहीं मिली है—उपन्यास में संयोगाश्रित और असामान्य घटनाओ तथा अविश्वसनीय वर्णनों की प्रचुरता है—फिर भी अन्य समकालीन उपन्यासों की तुलना में इसमें तत्कालीन जीवन और समस्याओं का चित्रण अधिक स्पष्ट और यथार्थ रूप में हुआ है। समाज में इस समय विधवाओं की क्या स्थिति थी, उन्हें लोग किस दृष्टि से देखते थे, उन्हें किन किन कष्टों का सामना करना पड़ता था, इनके लेखक ने विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किए हैं। इस उपन्यास के स्थान या चरित्र विषयक वर्णनों में विवरण संबंधी सूक्ष्मता और यथातथ्यता उल्लेख्य है। उपन्यासकार किसी स्थान का चित्र उपस्थित करते समय वहाँ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्योरों का उल्लेख करता है। पात्रों के मनोभावों का वर्णन करने में भी लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दिया है। भाषा में कहीं भी आलंकारिकता नहीं है, पर चित्रित जीवन के सर्वथा अनुरूप तथा भावाभिव्यक्ति मे समर्थ होने के कारण इसे उपन्यासोचित कहना युक्तिसगत है।

अवधनारायण

भुवनेश्वर मिश्र कृत 'बलवंत भूमिहार' और नवाबराय कृत 'प्रेमा' की तरह अवधनारायण लिखित 'विमाता' भी विवेच्य काल की उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है। इसकी रचना १९१६ ई० में हुई थी। इस उपन्यास की 'भूमिका' से ज्ञात होता है कि इसकी रचना पाठकों के चरित सुधार की दृष्टि से हुई थी। एतदर्थ उपन्यास के नायक रघुनंदन के चरित्र में धर्माचरण, पितृभक्ति एवं ईश्वर भक्ति तथा जानकी के चरित्र में पातिव्रत्य का आदर्श दिखाया गया है।

'विमाता' में एक अशिक्षित विमाता द्वारा मातृहीन बालक को सताये जाने का बहुत ही यथार्थ और मार्मिक वर्णन हुआ है। पारिवारिक वातावरण और संबंधों का चित्र खींचने में उपन्यासकार कुशल है। यद्यपि लेखक कल्पित औपन्यासिक संसार को पूर्णतः यथार्थ और विश्वसनीय बनाने मे सफल नहीं हुआ है तथापि इसकी अनेक घटनाएँ हमारे जीवन की वास्तविक घटनाओं से मिलती जुलती हैं। 'विमाता' में शिल्प विषयक नवीनता के भी दर्शन होते हैं। कथाओं का युगपत् संक्रमण तथा नाट-

धूर्त रसिक लाल (१८६६), स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी (१८९९), हिंदू गृहस्थ (१६०६), आदर्श दंपति (१६०२), सुशीला विधवा (१६०७), बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी (१६०७), विपत्ति की कसौटी (१६०६) और आदर्श हिंदू (१६१४-१५)।

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यासों में उपदेश, चरित्रशोधन और मनोरंजन पर विशेष ध्यान रखा है। इन उपन्यासों में उपदेशों की इतनी भरमार है कि वे उपन्यास न रहकर उपदेशाख्यान बन गए हैं। मेहता जी ने अपने उपन्यासों को रोचक बनाने का प्रयत्न भी किया है, पर वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तिलस्म, ऐयारी, जादू टोना, अलिलौकिक कार्यों या अपराध प्रधान घटनाओं का सहारा नहीं लेते। इन्होंने शृंगारचित्रण द्वारा उपन्यासों को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। 'धूर्त रसिकलाल' तथा 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में काम व्यापारों का नग्न और ग्राम्य वर्णन भी मिलता है। इन उपन्यासों में यत्र तत्र प्राचीन काव्यों के ढंग के प्रकृति, नखशिख तथा विरह वर्णन भी मिलते हैं।

मेहता जी के उपन्यासों में स्त्री शिक्षा, स्त्री स्वातंत्र्य, अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि आधुनिक विचारधाराओं का जमकर विरोध और बाल विवाह, पातिव्रत्य, कर्मफलवाद आदि मूल्यों का सोत्साह समर्थन किया गया है। इन उपन्यासों में कहीं कहीं तत्कालीन जीवन के यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं। पुलिस के अत्याचार, घूसखोरी, तीर्थस्थानों में पंडों के अनाचार, ग्रामीणों के बीच फैले अंधविश्वास आदि की आलोचना अनेकत्र मिलती है जिनके कारण ये उपन्यास शुद्ध उपदेशाख्यान बनने से बच जाते हैं।

बाबू नवाबराय बनारसी कृत प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह

बाबू नवाबराय बनारसी ने, जो बाद में प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध हुए, सन् १६०० ई० के लगभग ही उर्दू में 'हम खुर्मा व हम सवाब' नामक उपन्यास की रचना की थी। इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' शीर्षक से इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से १६०७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की केंद्रीय समस्या विधवा विवाह का चित्रण है। उपन्यास का नायक अमृतराय पहले पूर्णा नाम की विधवा से विवाह करता है और फिर उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरी विधवा प्रेमा से। विवेच्य काल के हिंदी उपन्यासकारों ने हिंदू समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण किया है, समाज में फैली कुरीतियों की आलोचना की है, लेकिन विधवा विवाह की समस्या को स्पर्श करने का साहस शायद ही किसी को हुआ हो। वस्तुतः इस काल के कतिपय उपन्यास लेखकों ने विधवा विवाह का अपनी रचनाओं में विरोध किया है। बाबू नवाबराय बनारसी को इस बात का श्रेय मिलना

चाहिये कि उन्होंने न केवल विधवा विवाह का प्रतिपादन किया, वरन् उसे अपने उपन्यास का केंद्रीय प्रतिपाद्य भी बनाया।

'प्रेमा' में विधवा विवाह का प्रतिपादन आर्यसमाजी जोश के साथ किया गया है। इस समस्या के प्रतिपादनार्थ जिन घटनाओं की योजना की गई है वे इतनी भद्दी और अविश्वसनीय हैं कि परिष्कृत पाठक को इन्हें ग्रहण करने में कठिनाई होती है। लेखक पात्र पात्रों के भाग्य के साथ खिलवाड़ करता प्रतीत होता है। कुल मिलाकर बाबू नवाब राय को उपन्यास में चित्रित संसार को यथार्थ और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने में पूरी सफलता नहीं मिली है—उपन्यास में संयोगाश्रित और असामान्य घटनाओ तथा अविश्वसनीय वर्णनों की प्रचुरता है—फिर भी अन्य समकालीन उपन्यासों की तुलना में इसमे तत्कालीन जीवन और समस्याओं का चित्रण अधिक स्पष्ट और यथार्थ रूप में हुआ है। समाज मे इस समय विधवाओं की क्या स्थिति थी, उन्हें लाग किस दृष्टि से देखते थे, उन्हें किन किन कष्टो का सामना करना पड़ता था, इनके लेखक ने विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किए हैं। इस उपन्यास के स्थान या चरित्र विषयक वर्णनों में विवरण संबंधी सूक्ष्मता और यथातथ्यता उल्लेख्य है। उपन्यासकार किसी स्थान का चित्र उपस्थित करते समय वहाँ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्योरों का उल्लेख करता है। पात्रों के मनोभावों का वर्णन करने में भी लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दिया है। भाषा में कहीं भी आलंकारिकता नहीं है, पर चित्रित जीवन के सर्वथा अनुरूप तथा भावाभिव्यक्ति में समर्थ होने के कारण इसे उपन्यासोचित कहना युक्तिसगत है।

अवधनारायण

भुवनेश्वर मिश्र कृत 'बलवंत भूमिहार' और नवाबराय कृत 'प्रेमा' की तरह अवधनारायण लिखित 'विमाता' भी विवेच्य काल की उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है। इसकी रचना १९१६ ई० में हुई थी। इस उपन्यास की 'भूमिका' मे ज्ञात होता है कि इसकी रचना पाठकों के चरित सुधार की दृष्टि से हुई थी। एतदर्थ उपन्यास के नायक रघुनंदन के चरित्र में धर्माचरण, पितृभक्ति एवं ईश्वर भक्ति तथा जानकी के चरित्र में पातिव्रत्य का आदर्श दिखाया गया है।

'विमाता' में एक अशिक्षित विमाता द्वारा मातृहीन बालक को सताये जाने का बहुत ही यथार्थ और मार्मिक वर्णन हुआ है। पारिवारिक वातावरण और संबंधों का चित्र खींचने में उपन्यासकार कुशल है। यद्यपि लेखक कल्पित औपन्यासिक संसार को पूर्णतः यथार्थ और विश्वसनीय बनाने में सफल नहीं हुआ है तथापि इसकी अनेक घटनाएँ हमारे जीवन की वास्तविक घटनाओं से मिलती जुलती हैं। 'विमाता' में शिल्प विषयक नवीनता के भी दर्शन होते हैं। कथाओं का युगपत् संक्रमण तथा नाट-

कीय पद्धति पर घटनाओं का नियोजन इसमें सर्वत्र दिखाई पड़ता है । कुल मिलाकर 'विमाता' प्रेमचंद पूर्व युग का एक उल्लेखनीय उपन्यास है ।

फुटकल उपन्यास

इन प्रमुख उपन्यासकारों के साथ साथ विवेच्य काल (१८९३-१९१७) में फुटकल उपन्यासकारों का एक बृहत् समुदाय है जिसने इन पच्चीस वर्षों की अवधि में शताधिक उपन्यासों की रचना की इन समस्त उपन्यासों का अलग अलग विवेचन न तो संभव है. न आवश्यक अतः कुछ प्रमुख उपन्यासों के आधार पर सामान्य प्रवृत्तियों का आकलन किया जा रहा है । इस काल के प्रमुख फुटकल उपन्यासकार और उनकी कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

गोपालराम गहमरी—देवरानी जेठानी, तीन पतोहू (१९०५), अयोध्या सिंह उपाध्याय:– ठेठ हिंदी का ठाठ (१८९९), अधखिला फूल (१९०६), चंद्रशेखर पाठक :– रमाबाई (१९०७), वारांगना रहस्य (१९१४-१८), ईश्वरीप्रसाद शर्मा :– हिरण्मयी (१९०८), स्वर्णमयी (१९१०), मागधी कुसुम (१९११), बालकृष्ण भट्ट :– सौ अजान और एक सुजान (१८९०-९५), कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी :– चंद्रकला (१८९३), लक्ष्मीनारायण शर्मा :– समुद्र में गिरींद्र (१८९३), बालकृष्ण भट्ट :—भाग्य की परख (१८९५-९६), जगन्नाथशरण :—नीलमणि(१८९६), रामदास वर्मा :– राजकुमारी चंद्रमुखी (१८९८), रुद्रदत्त शर्मा :—अपूर्व संन्यासी (१८९८), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी :—बसंत मालती (१८९९), कार्तिकप्रसाद खत्री :– दीनानाथ (१८९९), लाला देवराज :– कर्कशा सास (१९०१-२), लालजी सिंह :– चंद्रावली (१९०२), गयाप्रताप मिश्र :– दुनिया अर्थात् संसार की कुछ बातें (१९०३), रामप्रसाद शर्मा :—नरदेव (१९०३), गिरिजानंदन तिवारी :– विद्याधरी (१९०४), विश्वेश्वरानंद सरस्वती—चतुरा की चतुराई (१९०४), रामफेरन सिंह – चंपा दुर्दशा (१९०४), कमलाप्रसाद वर्मा :—कुलकलंकिनी (१९०५), गोपाललाल खत्री :– अलबेला रागिया (१९०६), गिरिजानंदन तिवारी :– सुलोचना (१९०६), रामजी दास वैश्य :– फूल में काँटा (१९०६), लक्ष्मी नारायण गुप्त :– नलिनी का चितचोर (१९०७) जैनेंद्रकिशोर :– गुलेनार (१९०७), मनोरमा (१९०८), हजारीलाल :—दो स्त्री का पति (१९०७) प्रियंवदा देवी :—लक्ष्मी (१९०८), चुन्नीलाल ज्योतिषी :– मिस्ट्रिज आव शेखावाटी (१९०९), कुंवर हनुमंत सिंह रघुवंशी :– गृहस्थ चरित्र (१९०९), रामप्रसाद सान्याल :– किरणमयी (१९०९), गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य :– भीषण भविष्य (१९०९), जयराम दास :– जहर का प्याला वा राजराजेश्वरी (१९०९), राजदुलारी (१९०९), गोस्वामी हवनाथ शर्मा :– असभ्य रमणी (१९१०), गंगाप्रसाद गुप्त :– लक्ष्मी देवी (१९१०), शालिग्राम गुप्त :– आदर्श रमणी (१९११). यशोदा देवी :– सच्चा पति-

प्रेम (१९११), केदार नाथ:— तारामती (१९११), प्यारेलाल गुप्त :— लवंगलता (१९१४), पारसनाथ त्रिपाठी :— हमारी दाई (१९१४), शिवनाथ शर्मा :— चंडूल दास (१९१४), मन्नन द्विवेदी गजपुरी :— रामलाल (१९१४), पांडेय नवल सहाय :— रोहिणी (१९१६), अघोरी राधाप्रसाद सिंह :— मोहिनी (१९१७), विनोदशंकर व्यास :— प्रशांत (१९१७), चतुरसेन शास्त्री :— हृदय की परख (१९-१७), आदि ।

उपर्युक्त लेखकों ने अपने उपन्यासों में कौतूहलवर्धक घटनाओं पर ही नहीं, वरन् तत्कालीन सामाजिक समस्याओं, विचारों और सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर बल दिया है। यों इन उपन्यासों में भी संयोगाश्रित और अयथार्थ घटनाओं का अभाव नहीं है। किंतु इनका प्रमुख उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या अथवा हिंदू धर्म के सिद्धान्तों और आचार विचारों का प्रतिपादन है, अल्पशिक्षितों और युवकों का मनोरंजन नहीं । उपन्यासों को रोचक बनाने के लिये इन उपन्यासकारों ने प्रेम का चित्रण किया है, और कुछ उपन्यासकरों ने कामव्यापार चित्रण में आवश्यकता से अधिक रस भी लिया है । उदाहरणत: गिरिजानंदन तिवारी कृत 'विद्याधरी' (१९-०४) और 'सुलोचना' (१९०६), गोपाललाल खत्री कृत 'अलबेला रागिया' (१९-०६), चुन्नीलाल ज्योतिषी कृत 'मिस्ट्रिज आव शेखावाटी' (१९०९) और रामप्रसाद सान्याल कृत 'किरण शशी' में कामव्यापारों का नग्न और अश्लील चित्रण है । इन उपन्यासों का उद्देश्य, असंदिग्ध रूप से, अपरिष्कृत युवक पाठकों की कामरुचि को उत्तेजित करना है । शेष उपन्यासों में प्रेम और कामव्यापारो का चित्रण तो है, पर उसे कामोत्तेजक बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है ।

विवेच्य उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य हिंदू समाज की नानाविध समस्याओं का चित्रण तथा पाठकों को हिंदूधर्मानुरूप चरित्र अपनाने का उपदेश देना है । समाज में स्त्रियो का क्या स्थान हो, उन्हें किस प्रकार की शिक्षा दी जाय तथा उनके लिये किस प्रकार की आचरण संहिता हो, इस संबंध में विवेच्य काल में स्थूलत: दो मत प्रचलित थे । एक तरफ सनातनधर्मी हिंदुओं का बहुसंख्यक समाज था जो नारी विषयक स्मृतिसंमत आदर्शों से दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ था । दूसरी तरफ पाश्चात्य विचारों तथा आर्यसमाज के सिद्धांतों से प्रभावित अल्पसख्यक प्रबुद्ध व्यक्तियों का समाज था, जो स्त्रियों को समाज में समान अधिकार देने का समर्थक था । यह वर्ग स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह और स्त्री स्वातंत्र्य का समर्थक तथा पर्दा प्रथा, बाल विवाह आदि का विरोधी था ।

इस काल के अधिकतर उपन्यासों में नारी विषयक हिंदू आदर्शों और आचार संहिताओं का प्रतिपादन एवं समर्थन किया गया है। कमलाप्रसाद वर्मा कृत 'कुल कलंकिनी (१९०५), गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य कृत 'भीषण भविष्य' (१९०९), शालि-

ग्राम गुप्त कृत 'आदर्श रमणी' (१९११), प्यारेलाल गुप्त कृत 'लवंग लता' (१९१४) तथा चंद्रशेखर पाठक कृत 'वारांगना रहस्य' आदि उपन्यासों में विधवा विवाह और स्त्री स्वातंत्र्य के दोष दिखाए गए हैं और इनका विरोध किया गया है। गंगाप्रसाद गुप्त के 'लक्ष्मी देवी' में पर्दा प्रथा का समर्थन करते हुए इस विचार का प्रतिपादन किया गया है कि स्त्रियों को स्वतंत्र भाव से पुरुषों के साथ मिलना जुलना नहीं चाहिए।

इस काल के अधिकांश उपन्यासों में पातिव्रत्य की महिमा गाई गई है तथा स्त्रियों को पतिभक्ति का उपदेश दिया गया है। कुछ उपन्यासों में, जैसे गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य कृत 'भीषण भविष्य (१९०९) में, बाल विवाह का समर्थन किया गया है। स्त्री शिक्षा के संबंध में ये उपन्यासकार एकमत नहीं हैं। अधिकतर उपन्यासों में स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने का विरोध किया गया है। अपवाद स्वरूप गंगाप्रसाद गुप्त ने इसका समर्थन किया है, पर वे भी यह मानते हैं कि स्त्रियों का स्वतंत्र भाव से पुरुषों से मिलना जुलना अनुचित है। इस काल के अधिकांश उपन्यास स्त्रियों को 'थोड़ी बहुत' शिक्षा देने का समर्थन करते हैं।

यद्यपि विवेच्य उपन्यासकारों में से किसी ने भी विधवा विवाह और स्त्री स्वातंत्र्य का खुलकर समर्थन नहीं किया है, तथापि कुछ ने तत्कालीन भावना और रुचि को बिना ठोकर लगाए नारी समस्या के कुछ पहलुओं पर नवीन ढंग से विचार किया है। कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी कृत 'चंद्रकला' में बालविवाह के कुपरिणामों का चित्रण करते हुए एक बाल विधवा के दयनीय जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके एक दूसरे उपन्यास 'गृहस्थ चरित्र' (१९०९) में स्त्री अशिक्षा के दोष दिखाए गए हैं। पर इस प्रकार के उपन्यासकार, जो नारी जागरण आंदोलन का समर्थन करते हैं उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

इन उपन्यासों में हिंदू समाज की अन्य समस्याओं का चित्रण भी किया गया है। शालिग्राम गुप्त कृत 'आदर्श रमणी' में यूरोपीय सभ्यता के अनुकर्ताओं का उपहास किया गया है। कुछ उपन्यासों में प्रचलित वैवाहिक प्रथाओं के, जिनके कारण हिंदू समाज जर्जर हो रहा था, दोषों का चित्रण कर उनकी आलोचना की गई है। 'ठेठ हिंदी का ठाट' में हरिऔध जी ने ब्राह्मण समाज की वैवाहिक प्रथा के दोष दिखाए हैं। रामफेरन सिंह कृत 'चंपा दुर्दशा' (१९०४) में तिलक दहेज की प्रथा के दोष दिखाए गए हैं। कुछ उपन्यासों में, जैसे गिरिजानंदन तिवारी कृत 'सुलोचना', जयरामदास गुप्त कृत 'जहर का प्याला' तथा चंद्रशेखर पाठक कृत 'वारांगना रहस्य' में वेश्यागमन के कुपरिणामों का चित्रण कर युवकों को इनसे बचने का उपदेश दिया गया है। कतिपय उपन्यासों में, जैसे कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी कृत 'गृहस्थ चरित्र', शिवनाथ शर्मा कृत 'मंडल दास' तथा चंद्रशेखर पाठक कृत 'वारांगना रहस्य' में वृद्ध विवाह के कुपरिणाम दर्शाए गए हैं। तात्पर्य यह कि इन

उपन्यासों में तत्कालीन समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण किया गया है। साथ ही इन उपन्यासों में तत्कालीन समाज का यथार्थ और विश्वसनीय चित्र भी उपलब्ध होता है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रेमचंदपूर्व युग उपन्यास-कला के विकास की दृष्टि से प्रयोग काल था। इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि पाठक वर्ग का निर्माण, जो उपन्यास के विकास के लिये अत्यंत जरूरी है, तथा उसका रुचि परिष्कार है। इस काल में जहाँ एक तरफ देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा एक हद तक किशोरीलाल गोस्वामी ने घटना और शृंगार प्रधान रोमांसों की रचना कर हिंदी पाठकों का समुदाय खड़ा किया वहाँ भुवनेश्वर मिश्र, ब्रजनंदन सहाय, नवाब राय बनारसी तथा अन्य सामाजिक उपन्यासकारों ने इस पाठकवर्ग की रुचि को कौतूहलोत्पादक एवं कामोत्तेजक घटनाओं से हटाकर यथार्थ जीवन और सामाजिक समस्याओं के चित्र की ओर उन्मुख किया; और तब आए प्रेमचंद, जिन्होंने हिंदी उपन्यास को उसका वास्तविक स्वरूप और गौरव प्रदान किया।

सेवासदन : नए युग का सूत्रपात

विवेच्य काल का अंतिम वर्ष (१९१८) हिंदी उपन्यास के इतिहास में महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। इसी वर्ष प्रेमचंद का प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। 'सेवासदन' का प्रकाशन प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन की ही नहीं, समस्त हिंदी उपन्यास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके साथ हिंदी उपन्यास साहित्य में एक नया युग, जिसको आज निर्विवाद रूप से 'प्रेमचंदयुग' की संज्ञा मिल चुकी है, आरंभ हुआ। 'सेवासदन' अपने पूर्ववर्ती हिंदी कथासाहित्य का अभूतपूर्व विकास था। इसके पहले का कथासाहित्य या तो मनोरंजन का साधन था या उपदेश का जरिया, वह जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन पाया था। इस काल के प्रमुख कथाकारों की दृष्टि अजीबोगरीब घटनाओं के द्वारा कुतूहल और चमत्कार की सृष्टि पर ही रहती थी। जिन कथाकारों ने कथा साहित्य को मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठाया उन्होंने या तो पहले से चले आते हुए परंपरागत मूल्यों के प्रचार प्रसार के लिये कथा को माध्यम बनाया अथवा उससे आर्यसमाज और तत्समान सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित समाजसुधारों के प्रचार का काम लिया। देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, हरिकृष्ण जौहर आदि यदि पहली श्रेणी के कथाकार थे तो पं० गौरीदत्त, श्रद्धाराम फिल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, पं० बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा, ब्रजनंदन सहाय आदि दूसरी श्रेणी के। किशोरीलाल गोस्वामी की

स्थिति कुछ बीच की थी, यद्यपि उनका 'झुकाव' भी मनोरंजन की तरफ ही अधिक था। केवल भुवनेश्वर मिश्र ऐसे उपन्यासकार थे जो अपने समकालीनों से भिन्न पथ पर चले। उन्होंने मनोरंजन और प्रचार से ऊपर उठकर 'उपन्यास' को जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

स्वयं प्रेमचंद ने १९१८ के पूर्व कई उपन्यास लिखने के प्रयत्न किए थे, जो सब उर्दू में थे। उनमें से केवल एक 'हम खुर्मा व हम सवाब' १९०७ ई० में हिंदी में भी 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' नाम से प्रकाशित हो चुका था। प्रेमचंद के अन्य प्रारंभिक उपन्यासों में 'असरारे मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य', 'किसना', 'रूठी रानी', 'जलवए ईसार' आदि थे। इन उपन्यासों में प्रेमचंद ने भी कथा को मनोरंजन से ऊपर उठाकर जीवन के सीधे संपर्क में लाने का प्रयास किया था। प्रेमचंद आर्यसमाज से प्रभावित थे, यद्यपि उनकी अपनी विशिष्ट जीवन दृष्टि भी निर्मित हो चुकी थी जो इन उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाना चाह रही थी। किंतु, हिंदी में 'उपन्यास' की परंपरा न होने के कारण प्रेमचंद को उसका समुचित ढाँचा (फार्म) नहीं मिल रहा था। संभवतः अपने लिये सही भाषा की तलाश भी वे नहीं कर पाए थे। परिणामतः इस काल में लिखित उनके सभी उपन्यास एक प्रतिभाशाली लेखक के बचकाने प्रयास जैसे लगते हैं। 'सेवासदन' प्रेमचंद की पहली प्रौढ़ कृति है, जहाँ से उनके नए औपन्यासिक जीवन का ही नहीं, हिंदी उपन्यास में एक नए युग का भी प्रादुर्भाव होता है।

'सेवासदन' की रचना के द्वारा प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को कई स्तरों पर ऊँचा उठाया। प्रथमतः उन्होंने कथा को मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठाकर जीवन के साथ सार्थक रूप में जोड़ दिया। यह काम भुवनेश्वर मिश्र ने भी किया था, पर उनका अनुभवसंसार बहुत सीमित और दृष्टि संकुचित थी। प्रेमचंद अपने चारों ओर फैले जीवन से बहुत गहरे रूप से जुड़े हुए थे। यह जीवन अनेक प्रकार की समस्याओं से संकुलित था। बनारस से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होने के कारण प्रेमचंद का ध्यान सर्वप्रथम वेश्याओं की समस्या पर गया। उन्होंने देखा कि मध्यम वर्ग की लड़कियाँ सामाजिक कुप्रथाओं के फलस्वरूप वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य होती हैं। तिलक दहेज की कुप्रथा के कारण लड़कियों का विवाह योग्य व्यक्तियों से नहीं हो पाता और अपने पति के अत्याचार गरीबी, अपमान आदि से ऊबकर वे वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं। समाज के पाखंडियों का भी प्रेमचंद ने अच्छा चित्र खींचा है जो दिन में धर्म और नैतिकता का पाखंड रचते हैं और रात में वेश्याओं के कोठे पर जश्न मनाने के लिये पहुँचते हैं। इसके बाद प्रेमचंद ने वेश्याओं के उद्धार के लिये 'सेवासदन' जैसे आश्रमों की कल्पना की है, जो उस समय के लिये इस समस्या का एकमात्र यथार्थवादी समाधान था।

इसके अलावा प्रेमचंद ने इस विषय से जुड़ी बहुत सी बातों का चित्रण इस उपन्यास में किया है, जो उनकी सामाजिक जागरूकता का परिचय देती है। साथ ही शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचंद ने एक नया मानदंड प्रस्तुत किया। 'सेवा-सदन' की रचना घटनाओं से नहीं मानवीय कार्यों से हुई है। ये कार्य कलाप परस्पर इस प्रकार जुड़े हैं कि उनसे सहज ही एक सुसंगठित कथानक का निर्माण हो गया है। 'सेवासदन' की कथावस्तु बिलकुल कसी हुई है। यद्यपि उपन्यास के लिये यह कोई बहुत बड़ा गुण नहीं है, और स्वयं प्रेमचंद ने अपने बाद के उपन्यासों में इसका परित्याग कर दिया, पर जिस समय 'सेवासदन' लिखा गया था, उस समय वह शिल्प स्वयं में एक उपलब्धि था। एक और विशेषता के कारण 'सेवासदन' उल्लेखनीय कृति बना, वह है पात्रों के चरित्र चित्रण में मनोविज्ञान का व्यापक और सफल प्रयोग। इसके पहले के उपन्यासकार पात्रों पर कम और घटनाओं पर अधिक बल देते थे। प्रेमचंद ने पात्रों पर अधिक बल दिया और उनके व्यक्तित्व का निर्माण मनोवैज्ञानिक यथार्थ के आधार पर किया। अंतिम चीज जिसने 'सेवासदन' को उल्लेखनीय बनाया वह है प्रेमचंद की भाषा। 'सेवासदन' में पहली बार उपन्यास को सही भाषा मिली। यह भाषा दैनिक बोलचाल की होते हुए भी पूरी तौर पर सर्जनात्मक है; इसमें वह वैविध्य, सटीकता, अभिव्यक्ति क्षमता है जिसके फलस्वरूप ही उपन्यास का संसार विश्वसनीय और मार्मिक बनता है।

औपन्यासिक उपलब्धि की दृष्टि से देखें तो कम से कम उपन्यास के संदर्भ में विवेच्य काल को 'उत्कर्ष काल' नहीं कह सकते। अधिक से अधिक इसे विकास काल या उपन्यास की समाजशास्त्रीय भूमि या पाठक वर्ग के निर्माण का काल कह सकते हैं। हिंदी उपन्यास का उत्कर्ष काल इसके बाद आया, जिसे हम प्रेमचंद युग की संज्ञा देते हैं।

– - –

पंचम अध्याय

द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

भारतेंदु कालीन आलोचना का रिक्थ

आलोचना तो रचना के बाद ही हो सकती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि भारतेंदु युग में पर्याप्त नवीन सर्जनात्मक साहित्य की रचना के बाद द्विवेदी युग में आधुनिक आलोचना का विधिवत् विकास हुआ। वैसे उसका सूत्रपात भारतेंदु युग में हो चुका था। भारतेंदु की चर्चा करते हुए डा० ग्रियर्सन ने १८८६ ई० में लिखा था कि 'उत्तर भारत में हुए अब तक के आलोचकों में वे निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ थे'[1]। केवल साहित्य समालोचना को दृष्टिगत रखकर उन्होंने यह बात नहीं कही थी। उनका अभिप्राय था कि भारतेंदु जीवन और जगत् को परंपरागत रूप में ही स्वीकार न कर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से परखा करते थे, जिसका प्रभूत प्रमाण उन्होंने अपने सर्जनात्मक एवं विचारात्मक साहित्य में दिया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इस संदर्भ में 'पूरी खोज और पूरे परिश्रम के साथ' लिखित उनके 'कश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' तथा 'कवियों के जीवन चरित्र' आदि ग्रंथों का हवाला दिया है।[2] इसी तरह 'दूषण मालिका', 'श्रुति रहस्य', 'हिंदी कुरान शरीफ,' 'तहकीकातपुरी की तहकीकात' आदि निबंधों में भारतेंदु की समीक्षक प्रतिभा की झलक मिलती है। 'भारतेंदु कृत नाटक' (सं० १९४०) हिंदी सैद्धांतिक समालोचना की पहली आधुनिक उपलब्धि है जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के समन्वय के द्वारा 'हिंदी नाटक रचना के नितांत उपयोगी' एवं 'इस काल के सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी' नाट्यसिद्धांत निर्धारित किए गए हैं।[3] इसी ग्रंथ में 'रत्नावली' के भ्रष्ट अनुवाद की तीखी, व्यंग्यमयी आलोचना कर भारतेंदु ने व्यावहारिक आलोचना का भी पथ प्रशस्त किया।[4]

भारतेंदु युग की विविध पत्र पत्रिकाओं में 'पुस्तक समीक्षा' के अंतर्गत सामान्यतः पुस्तकों का परिचयात्मक विज्ञापन ही कुछ प्रशंसा या निंदा के वाक्यों के साथ रहा करता था। इसके व्यतिक्रम के रूप में पं० बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय

---

१. द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान, पृ० सं० १२४, कवि सं० ५८१।

२. भारतेंदु हरिश्चंद्र, ले० बाबू राधाकृष्णदास, सरस्वती, भाग १, पृ० १४३।

३. भारतेंदु नाटकावली (सं० ब्रजरत्नदास), द्वितीय भाग, पृ० ४३३।

४. उपर्युक्त, पृ० ४८१–८२।

'प्रेमघन' ने नीलदेवी, उर्दू बेगम, आदि २६ ग्रंथों की तथा पं० बालकृष्ण भट्ट ने मुद्राराक्षस, रणधीर और प्रेममोहिनी, एकांतवासी योगी आदि अनेकानेक पुस्तकों की समीक्षा क्रमशः आनंदकादंबिनी एवं हिंदी प्रदीप में अधिक गंभीरता के साथ की थी। इन दोनों आलोचकों ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगितास्वयंबर' नाटक की त्रुटियों की सं० १९४३ में विस्तृत एवं कठोर समालोचना लिखी थी। प्रेमघन जी ने ठा० गदाधर सिंह द्वारा अनूदित 'बंग विजेता' के भाषा संबंधी दोषों का निर्देशन भी किंचित् विस्तार के साथ किया था। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'ब्राह्मण' पत्रिका में 'ललिता नाटिका', 'तप्तासंवरण', 'महारानी पद्मावती' आदि कई पुस्तकों की आलोचना की थी। आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी युग को भारतेंदु युग से उत्तराधिकार के रूप में जो मिला उसे संक्षेप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—(१) आधुनिक साहित्य की रचना एवं आलोचना के लिये भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धांतों का समन्वय करना चाहिए, (२) इस काल के सुशिक्षित जनों की रुचि के अनुरूप साहित्य की सृष्टि होनी चाहिए, (३) प्राचीनों अथवा पाश्चात्यों के अंधानुकरण, अनैतिकता एवं भाषा संबंधी भूलों से बचने के लिये साहित्यकारों को सचेत करना आलोचकों का कर्तव्य है, (४) विशिष्ट व्यावहारिक आलोचनाओं में आलोच्य कृतियों के दोषों के निरूपण की ही प्रमुखता रही।

द्विवेदी युग की दृष्टि

द्विवेदी युग में पश्चिमी साहित्य एवं आलोचना के सिद्धांतों से हिंदी के साहित्यकारों, आलोचकों का परिचय और प्रगाढ़ हुआ। सीधे अंग्रेजी से और बँगला, मराठी आदि के माध्यम से साहित्यिक एवं आलोचनात्मक कृतियों के अनुवाद भी हिंदी में प्रकाशित हुए। अपनी परंपरा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी वर्तमान की चुनौतियों को स्वीकार करने तथा सामाजिक रुचि को परितृप्त एवं परिष्कृत करने के लिये पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में हिंदी साहित्य ने मध्यकालीनता के अनुपयोगी अवशेषों (रीतिकालीन मूल्यों, विषयों, विधाओं और माध्यम) को त्यागने एवं आधुनिकता के आदर्शवादी पक्ष को (राष्ट्रीयता, पवित्रतावादी नैतिकता, विचार स्वातंत्र्य, सामाजिक उपयोगिता आदि को) स्वीकारने की दिशा में बहुत बड़ा कदम उठाया। आलोचना इस अभीष्ट परिवर्तन को लाने का उपकरण बनी। इसीलिये इस काल में समसामयिक सर्जनात्मक साहित्य पर आलोचना हावी रही। विचारों की टकराहट ने उग्र खंडन मंडन को भी जन्म दिया जिससे कुछ कटुता तो फैली किंतु जिसके कारण अतिरेकों का परिमार्जन भी होता चला गया।

भारतेंदु युग में प्रमुखतः दोष दर्शन के रूप में 'आलोचना' उभरी थी। द्विवेदी युग की प्रारंभिक आलोचनाओं में (यथा स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की समालोचना' में तथा 'हिंदी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' में) भी दोष दर्शन की प्रवृत्ति की प्रधानता रही, किंतु बहुत ही शीघ्र इस युग के प्रायः सभी प्रमुख समालोचकों ने स्वीकार कर लिया कि 'आलोचना' का लक्ष्य केवल दोष निरूपण न होकर गुण-दोष-विवेचन होना चाहिए।

आलोचना का लक्ष्य : गुण-दोष-विवेचन

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'संस्कृत ग्रंथों की समालोचना हिंदी में होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रंथों का सारांश और उनके गुणदोष पढ़ने वाले को विदित हो जाते हैं।'[1] समालोचनार्थ पुस्तक भेजने का प्राथमिक उद्देश्य द्विवेदी जी के मत से यही होना चाहिए कि 'पुस्तक के गुण-दोष उसे (लेखक को) मालूम हो जायँ'।[2] मिश्र बंधुओं की राय में 'किसी ग्रंथ के काव्य और व्याकरण संबंधी गुणदोषों की विवेचना करने एवं उसकी समुचित और अनुचित बातों के देखने का नाम समालोचना है।'[3] आलोचना के संबंध में करीब करीब ऐसे ही विचार बाबू बालमुकुंद गुप्त[4], पं० कृष्णबिहारी मिश्र[5], पं० माधवप्रसाद मिश्र[6] आदि विद्वानों के भी हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा अलबत्ता प्राचीन महाकवियों की रचनाओं के दोष दिखाने की प्रवृत्ति को स्पृहणीय नहीं मानते थे क्योंकि उससे उन्हें लाभ के स्थान पर हानि की संभावना अधिक लगती थी।[7] पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्राचीन श्रद्धेय कवियों की त्रुटियों का निर्देश करने के कारण बाबू बालमुकुंद गुप्त, पं० माधव-प्रसाद मिश्र, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि प्राचीनता भक्त विद्वान् क्षुब्ध भी हुए थे किंतु द्विवेदी जी विचार स्वातंत्र्य को, सद्भावना के साथ प्राचीनों अर्वाचीनों के दोष निर्देशन को सामाजिक विकास के लिये आवश्यक एवं मंगलमय मानते थे। अप्रैल १६११ की 'सरस्वती' में उन्होंने पुराने भारतीय आचार्यों, नये भारतीय विद्वानों एवं पश्चिमी विचारकों के मतों को उद्धृत कर बहुत योग्यता पूर्वक अपने पक्ष का समर्थन किया और प्रतिपक्षियों की चुटकी लेते हुए लिखा—'जिस देश के पढ़े लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रंथों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं, उनमें गुण-दोष-निर्णायक शक्ति बतलाइये कैसे उत्पन्न हो सकती है। ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। वाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो।"[8] उनका सुचिंतित निष्कर्ष था "प्राचीन कवियों की समालोचना करना और नेकनीयती से उसमें यथार्थ दोषों का दिखाना बुरा नहीं। इस तरह की समालोचना से कोई हानि नहीं, प्रयुत लाभ है"।[9] इस क्षेत्र में मिश्रबंधु द्विवेदी जी के साथ थे। उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' में सूर,

---

१. विक्रमांकदेव चरित चर्चा, पृ० १-२।
२. वाग्विलास (समालोचना का सत्कार), पृ० २६८।
३. हिंदी काव्य (आलोचना), सरस्वती, भाग १ सं० १२ (दिसम्बर १६०० ई०), पृ० ४१६।
४. बालमुकुंद स्मारक ग्रंथ, पृ० ११६।
५. मतिराम ग्रंथावली, पृ० २३।
६. माधव मिश्र निबंध माला (प्रथम भाग), साहित्य खंड, पृ० ६४।
७. बिहारी सतसई (तुलनात्मक अध्ययन), पृ० १६६।
८. आलोचनांजलि (प्राचीन कवियो के काव्यों में दोषोद्भावना), पृ० ३३।
९. उपर्युक्त पृ० ४२।

तुलसी आदि की भी अपनी समझ से त्रुटियाँ दिखायी थीं। द्विवेदी जी और मिश्र बंधु ने आलोचना के इस मौलिक अधिकार की रक्षा कर साहित्यिक क्षेत्र से मध्यकालीन वैचारिक जड़ता को दूर करने का प्रयास किया था।

गुण-दोष-विवेचन को आलोचना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य मानना भारतीय और पश्चिमी दोनों परंपराओं से समर्थित है।

आलोचना के आधार

द्विवेदी युगीन आलोचकों ने अपने को इन दोनों परंपराओं से जोड़ा है। कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर इन आलोचकों ने भारतीय साहित्य शास्त्रीय प्रतिमानों—रस, ध्वनि, अलंकार आदि—को ही अपनी आलोचना के आधार के रूप में स्वीकार किया था किंतु आलोचना के परिरूप (डिजाइन) या साहित्य एवं आलोचना के सामाजिक उत्तरदायित्व संबंधी अपनी धारणाओं के लिये वे पश्चिम के ऋणी थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने निस्संकोच भाव से स्वीकारा है, 'समालोचना करने की नई प्रणाली अँगरेजी शिक्षा की बदौलत हम लोगों ने सीखी है।'[1] मिश्रबंधुओं ने पुरानी पद्धति के गुण-दोष-निरूपण से नई समालोचना को भिन्न बताते हुए लिखा है, 'समालोचना का कुछ कुछ काम प्राचीन आचार्य लोग गुण-दोष-कथन के अध्यायों में करते आए थे किंतु उसे विशिष्ट गुण-दोष-कथन से बढ़कर समालोचना कहना शोभा नहीं देता।[2] द्विवेदी युगीन समालोचना विषय प्रतिपादन के ढंग और दृष्टिकोण की नवीनता के कारण 'गुण-दोष-विवेचन' की प्रधानता के बावजूद पुराने ढंग के 'विशिष्ट गुण-दोष-कथन' से भिन्न हो गई थी। द्विवेदी जी ने समालोचक का कर्तव्य बताते हुए लिखा है, 'किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।'[3] मिश्र बंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में 'अँगरेजी विचार से कवियों की जाँच' प्रणाली में इन्हीं पहलुओं पर जोर दिया है। किंतु द्विवेदी जी या मिश्रबंधुओं ने उपयोगिता, राष्ट्रीयता, नैतिकता आदि सामाजिक मूल्यों को छोड़कर पश्चिमी साहित्यिक मूल्यों—बिंब विधान, प्रतीक योजना, कल्पना की विलक्षणता, काव्यभंगिमा (पोएटिक डिक्शन) आदि—का प्रयोग अपनी

---

१. आलोचनांजलि, पृ० ३।

२. मिश्रबंधु विनोद, चतुर्थ भाग, पृ० १६३।

३. विचार विमर्श, पृ० ४५।

समीक्षाओं में नहीं के बराबर किया है। साहित्यिक गुण दोष का निरूपण करते समय वे लोग भी भारतीय आचार्यों एवं टीकाकारों के दिखाए मार्ग पर चलते रहे हैं। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने द्विवेदी युगीन आलोचकों के इस पहलू को उजागर करते हुए लिखा है, 'समालोचना से यह अभिप्राय है कि कवितागत गुण दोषों पर विचार किया जाय। गुण दोष क्या हैं, इसका पता काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अध्ययन से मालूम हो सकता है। काव्यशास्त्र में कविता की उत्तमता या हीनता की जो कसौटी दी हुई है, उसमें रस, अलंकार, भाषा, गुण, दोष, लक्षणा, व्यंजना आदि पर विचार करना पड़ता है।'[1] इसी के कुछ आगे चलकर उन्होंने कहा है '.... अंगरेजी ढंग की समालोचना में जो बातें कही जाती हैं, वे भी प्रायः यही हैं। कुछ थोड़ा सा भेद है।[2] यह भेद 'कुछ थोड़ा सा' ही है कि नहीं, यह अलग बात है, मूल बात यह है कि द्विवेदी युगीन आलोचक भारतीय साहित्यिक कसौटी को अपनी आलोचना के आभ्यंतर पक्ष के लिये यथेष्ट समझते थे। इसका कारण यही था कि द्विवेदी युग की आलोचना मुख्यतः कविता की .... और उसमें भी अधिकतर प्राचीन कविता की आलोचना थी जिसके लिये प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का भरपूर उपयोग किया जा सकता था। फिर यह बात भी थी कि विचार के स्तर पर नवीनता को ग्रहण करना जितना सुगम होता है, अनुभूति और सर्जना के स्तर पर उतना सुगम नहीं होता। जो हो, द्विवेदी युगीन आलोचना की इस आभ्यंतर विशेषता को लक्ष्य करके ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है 'द्वितीय उत्थान (द्विवेदी युग) के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई, पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (कन्वेन्शनल) ही रहा।'[3]

प्रमुख आलोचक

आलोचना के आभ्यंतर स्वरूप के परंपरागत रहने का एक कारण यह भी था कि इस युग के प्रायः सभी आलोचक अपनी परंपरा से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। इस काल के प्रमुख आलोचक हैं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु (पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र), पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० गोविंदनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त, पं० माधवप्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन, पं० कृष्णबिहारी मिश्र आदि। समालोचना के उपकारकों या कभी कभी समालोचना भी लिखने वालों में पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० अंबिकादत्त व्यास, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० गौरीशंकर

---

१. मतिराम ग्रंथावली, पृ० २३।

२. उपर्युक्त, पृ० २४।

३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३१।

हीराचंद ओझा, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि उल्लेखनीय हैं। परंपरागत काव्यशास्त्र को गद्य के माध्यम से प्रस्तुत करनेवालों में श्री जगन्नाथप्रसाद भानु, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ अर्जुनदास केडिया, लाला भगवानदीन आदि मुख्य हैं। इनमें से कुछ विद्वानों की कुछ रचनाएं आलोच्य काल के बाद भी प्रकाशित हुई हैं किंतु इस युग की दृष्टि, मानसिकता और पद्धति के अनुकूल होने के कारण इस विवेचन में उन्हें भी संमिलित करना उचित लगा। बाबू श्यामसुंदरदास, पं० रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय आदि ने लिखना तो इसी काल मे शुरू कर दिया था किंतु उनकी प्रौढ़ आलोचनाएँ भिन्न आदर्श से प्रेरित एवं परवर्ती काल में प्रकाशित हुईं अतः उनपर यहाँ विचार करना समीचीन नहीं प्रतीत हुआ।

ये सभी विद्वान् प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति आस्थावान् एवं समसामयिक परिस्थितियों से असंतुष्ट थे। इनमें से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि अपने उद्यम से पश्चिमी साहित्य तथा ज्ञान विज्ञान के विभिन्न विभागों से परिचित हुए थे, जब कि पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र आदि विधिवत् अंग्रेजी शिक्षापद्धति से विद्यार्जन कर बी० ए०, एम० ए० आदि की उपाधियाँ पा चुके थे और पं० गोविंदनारायण मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० माधवप्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन आदि मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, फारसी, उर्दू आदि के ही ज्ञाता थे। बदली हुई परिस्थितियों में हिंदी साहित्य का आदर्श और स्वरूप क्या हो, इसपर इन विद्वानों में अपनी अपनी पृष्ठभूमि के अनुरूप मतभेद होना स्वाभाविक था। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने देशभक्ति, समाज सुधार, शिक्षा प्रसार आदि का समर्थन कर हिंदी साहित्य में पुनर्जागरण की लहर तो ला दी थी किंतु प्रचलित रीतिकालीन साहित्यिक मूल्यों का अनुगमन कर पर्याप्त मात्रा में काव्य रचना की थी। हिंदी गद्य के लिये खड़ी बोली के व्यवहारोपयोगी रूप को प्रस्तुत कर उसकी विविध विधाओं का प्रवर्तन तो किया था किंतु पद्य में ब्रज भाषा की महिमा अक्षुण्ण रहने दी थी। परिणामतः भारतेंदु के बाद हिंदी साहित्य में प्राचीनता के खिंचाव और परिवर्तनभीरुता के कारण बहुत कुछ 'यथास्थितिवादी' मनोवृत्ति हावी हो गई थी।

नवीनता और प्राचीनता का द्वंद्व

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस मनोवृत्ति पर सबसे सशक्त प्रहार किया। रीतिकालीन साहित्यिक मूल्यों एवं विरासतों का नायिकाभेदपरक शृंगारी कविता की प्रधानता काव्यशास्त्रीय रीतियों के अनुगमन, अतिशय अलंकरण,

कवित्त, सवैया, दोहा आदि थोड़े से छंदों की ही सीमाहीन पुनरावृत्ति, काव्य भाषा के रूप में ब्रजी के ही प्रयोग आदि का १९०१ ई० से ही उन्होंने जमकर विरोध करना शुरू कर दिया था।[1] खड़ी बोली में कविता लिखने का विरोध, व्यवहार के स्तर पर उसकी कर्कशता, रूक्षता, नीरसता आदि का उपहास कर, शुरू शुरू में बहुतों ने किया पर विचार के स्तर पर उसे नए लोगों का व्यापक समर्थन मिला। यही बात रीतिकालीन मूल्यों के समग्र विरोध के लिये नहीं कही जा सकती। परिवर्तन के पक्षपातियों में बाबू बालमुकुंद गुप्त यह तो मानते थे कि प्यारी को विरह-व्यथा-वर्णन और नायिकाभेद बताने का समय अब नहीं है और इससे भिन्न मार्ग का निर्देश करने के लिये पं० श्रीधर पाठक तथा पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद[2] भी करते थे, किंतु 'पिछलों पर लान तान करना अच्छी बात नहीं' समझते थे और 'तुक, अनुप्रास, यमक,' आदि को त्याज्य नहीं मानते थे।[3] मिश्रबंधु भी संसार के वास्तविक और लाभदायक पदार्थों की ओर पाठकों का चित्त लगाने की नए कवियों की चेष्टा की प्रशंसा तथा समस्यापूर्ति, चित्रकाव्य, पदमैत्री (यमक) के अतिरेक आदि की भर्त्सना करते हुए भी[4] और यह भी मानते हुए कि 'शृंगारी कथन (आज के) सभ्य समाज में समादृत और अधिक उपयोगी नहीं, स्थापित यही करना चाहते थे कि 'अनुपयोगी विषय का भी प्रकृष्ट काव्य तिरस्करणीय नहीं'।[5] इसीलिये 'काव्य प्रौढ़ता' को दृष्टिगत रखते हुए वे देव को सूर और तुलसी के समकक्ष बताते थे और जातीयता तथा देशभक्ति का हिंदी काव्य में समावेश करनेवाले भारतेंदु हरिश्चंद्र को 'हिंदी नवरत्न' में सबसे नीचा स्थान देते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर आदि पारस्परिक काव्य प्रतिमानों के आधार पर रीतिकालीन काव्य के परम प्रशंसक थे तो पं० कृष्णबिहारी मिश्र उसके समर्थन में पश्चिम के स्वच्छंदतावादी सिद्धातों का भी हवाला देते थे। कहने का मतलब यह कि द्विवेदी जी को छोड़कर और सभी आलोचकों की मानसिकता पर या तो रीतिकाल की गहरी छाप थी या उसके प्रति उनके मन में कुछ न कुछ कोमलता विद्यमान थी।

---

१. नायिकाभेद, कवि कर्तव्य, कवि और कविता शीर्षक लेख (रसज्ञ रंजन में संकलित)।

२. बालमुकुंद स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १२०।

३. बालमुकुंद गुप्त : एक मूल्यांकन, परिशिष्ट, पृ० १७।

४. पंडित श्रीधर पाठक की कविता (सरस्वती, भाग १, संख्या १०) तथा हिंदी काव्य (आलोचना), भाग १, सरस्वती, सं० १२।

५. मिश्रबंधु विनोद (द्वितीय भाग), पृष्ठ ६८२।

द्विवेदी जी का नेतृत्व

ऐतिहासिक शक्तियाँ सामंती व्यवस्था में विकसित रीतिकालीन साहित्यिक आदर्शों के प्रतिकूल थीं। अंग्रेज शासन में पनपे मध्यवर्ग को उद्यम, स्वाधीनता, विचार स्वातंत्र्य, उपयोगितावाद आदि के आदर्श लुभा रहे थे, रीतिकाल की रूढ़िबद्ध शृंगारी चेतना उसके 'जीवन संघर्ष' में उसे प्रेरणा नहीं दे सकती थी। अतः रीतिकालीन साहित्य चेतना का रूपांतर अवश्यंभावी था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इसी मध्यवर्ग के प्रबुद्ध प्रतिनिधि थे। उनकी चारित्रिक दृढ़ता ने, उनके कठोर, परिश्रमी और जुझारू स्वभाव ने, हिंदी के माध्यम से देशोत्थान के लिये समर्पित उनके ईमानदार व्यक्तित्व ने उन्हें दुर्धर्ष बना दिया था। रीतिकालीन परंपरा की बाहरी चमक दमक के बावजूद उसके भीतरी खोखलेपन को उन्होंने परख लिया था। निर्भयता के साथ उसका प्रत्याख्यान करने का उनका प्रस्ताव भले ही पुराने साहित्य रस में पगे उनके ज्येष्ठों और समसामयिकों को हृदयहीन, अहंमन्यतापूर्ण और अनुचित लगा हो, वह सही नेतृत्व का निश्चित प्रमाण था, उसके बिना नवीन प्रवृत्तियों का स्वस्थ विकास संभव ही नहीं होता। उनके इस कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने का श्रेय सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' की भूमिका एवं रामचंद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य इतिहास'[१] को दिया जाना चाहिए।

समय के अनुरूप दृष्टि, व्यक्तिगत गुण समष्टि, भाषा परिष्कार की सतत जागरूक चेष्टा, विविध विषयों पर अविरल लेखन एवं दीर्घकाल तक सरस्वती के योजनाबद्ध सुसंपादन ने पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी को युगप्रवर्तक एवं साहित्य नियामक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी प्रारंभिक उग्रता और व्यंग्य मिश्रित कटूक्तियों ने लाला सीताराम, बाबू श्याममुंदर दास, बाबू बालमुकुंद गुप्त, मिश्र-बंधु, पं॰ माधवप्रसाद मिश्र, पं॰ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी जैसे साहित्य महारथियों से उनकी सीधी भिड़ंत कराई थी। आलोचना संबंधी उनके आरंभिक अतिरेक से क्षुब्ध होकर प॰ गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जैसे संमान्य विद्वान ने लिखा था, 'जिसकी चाहें प्रतिष्ठा और जिसकी चाहें अप्रतिष्ठा करना आपके ही हाथ में तो रह गया। परंतु हर्ष की बात है कि हिंदी साहित्य में एकदम व्यक्तिगत साम्राज्य (शख्सी हुकूमत) का समय अब नहीं रहा।'[२] सं॰ १९६८ के इस कथन से यह तो स्पष्ट हो है कि उस समय तक हिंदी जगत् पर द्विवेदी जी की धाक कितनी जम चुकी थी। उसके बाद १९१२ ई॰ के प्रथमार्ध में 'हिंदी नवरत्न' को लेकर द्विवेदी जी और मिश्रबंधुओं में आलोचना प्रत्यालोचना हुई थी किंतु उससे भी द्विवेदी जी का गौरव बढ़ा ही था। सच कहा जाए तो 'अनस्थिरता' संबंधी विवाद के अतिरिक्त और किसी

---

२. निरंकुशता निदर्शन, पृ॰ १८६।

आलोचनासमर में द्विवेदी जी विचलित नहीं हुए थे। बाबू बालमुकुंद गुप्त के असामयिक निधन ने उनके सब से समर्थ प्रतिद्वंद्वी को हटा दिया था। अन्यों से उनकी दृष्टि अधिक स्पष्ट, व्यापक और समयानुकूल थी, उनकी हिंदी निष्ठा और नए लेखकों को गढ़ने तथा दिशानिर्देश करने की क्षमता कहीं अधिक थी, अतः स्वाभाविक रूप से उनका नेतृत्व स्वीकार कर लिया गया। उनकी दृष्टि की एकांगिता और स्थूलता का निर्देश सन् १९२० के बाद सर्जना के क्षेत्र में छायावादी लेखकों ने और आलोचना के क्षेत्र में पं० रामचंद्र शुक्ल ने किया।

केंद्रीय विचारधारा

द्विवेदी युग की केंद्रीय विचारधारा में भारतीय मर्यादावाद, सर्वभूतहितवाद, साहित्यिक 'कांतासम्मित उपदेशवाद' (अंशतः रसवाद भी) तथा पश्चिमी बुद्धिवाद, उपयोगितावाद, सुधारवाद और मानवतावाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। इसीलिये इस काल में साहित्य के आनंदविधायी पक्ष, सौंदर्य पक्ष, कला पक्ष की उपेक्षा कर उसके हितकारी, उपयोगी पक्ष पर बल दिया गया। पराधीन, दरिद्र, अशिक्षित देश के साहित्यकारों से यह अपेक्षा की गई कि लोकोपयोगी साहित्य की सृष्टि करें। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में 'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायँ और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन मात्र के लिये प्रस्तुत किए गए साहित्य से भी चरित्रगठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। अनुद्योग, विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता, उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता।'[1]

ब्रजी और खड़ी बोली की कविता के प्रति विरोधी दृष्टि

दुर्भाग्य यह था कि समसामयिक हिंदी साहित्य में इस प्रकार की रचनाओं का अभाव सा था। प्राचीन संस्कार के कारण कविता ही तब तक साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अंग समझी जाती थी। ब्रजभाषा की अधिकांश कविताएँ नई चेतना से रहित थीं और फिर ब्रजभाषा में कविता लिखना पिछड़ापन माना जाने लगा था। उधर खड़ी बोली की आरंभिक कविताएँ काव्यरसिकों को कविता ही नहीं लगती थीं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने झुँझलाकर कहा था,

---

१. कानपुर हिं० सा० संमेलन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य, पृ० ३२।

'कविता चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक, कविता होनी चाहिए, कोरी तुकबंदी का नाम कविता नहीं है।'[1] शुरू शुरू में खड़ी बोली के कवियों में पं० श्रीधर पाठक की कविताएं ही महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, बालमुकुंद गुप्त आदि नवीन-दृष्टि-संपन्न आलोचकों को आश्वस्त कर सकी थीं। किंतु उन्हीं की 'गुनवंत हेमंत' जैसी प्रकृति-चित्रण-परक कविता की क्षोभयुक्त समालोचना करते हुए पं० माधवप्रसाद मिश्र ने लिखा था, "'गुनवंत हेमंत' यह भी पाठक जी की एक कविता है, जिसमें हेमंत ऋतु का वर्णन है। छंद की विचित्रता और 'मूली, मटर, मलूक' आदि पदार्थों की शुष्क भरती के अतिरिक्त अन्य गुण हमने कुछ भी नहीं पाया। पाठक जी इसमें अंतरंग रहस्यमय 'दंपति प्रणय और सुरति सुख' तक का वर्णन कर गए हैं किंतु सड़कों और बाजारों में दुर्भिक्षदलित, वस्त्रहीन, दीन, दुःखियों को बिलकुल ही भूल गए। 'गुनवंत हेमवंत' में इन बेचारों की क्या दशा हुई, यह कुछ न जाना! क्या यह पाठक जी जैसे क्षमताशाली मार्मिक कवि के लिये उचित था।"[2] इस समीक्षा का पूर्वार्ध भले ही प्राचीन संस्कारों का परिणाम माना जाए किंतु उत्तरार्ध में निश्चित रूप से कठोर नैतिकता और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति के नए मूल्य स्पष्टतः मुखरित हैं। अन्य कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरण सिंह आदि सामान्यतः प्रशंसित कवि थे किंतु द्विवेदी युग तक 'प्रिय प्रवास' और 'भारत भारती' के अतिरिक्त कोई विशिष्ट कृति ये नहीं दे पाए थे। 'भारत भारती' की रचना गुप्त जी ने महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रबल प्रेरणा से हाली के मुसद्दस के अनुकरण पर सं० १९६९ में की थी। इसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा था, 'यह काव्य (भारत भारती) वर्तमान हिंदी साहित्य में युगांतर उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिये यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगानेवाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लानेवाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है, आत्मविस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलानेवाला है, निरुत्साहित को उत्साहित करनेवाला है, उदासीनों के हृदय में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह पूर्वपुरुषों के विषय में भक्ति भाव का उन्मेष कर सकता है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिंदी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती।'[3] द्विवेदी जी ने इतनी स्तुति और किसी ग्रंथ या ग्रंथकार की नहीं की है। इसे समीक्षा कहना कठिन है। असल में अपने आदर्शों के अनुसार रचित

१. पद्म पराग, पहला भाग, पृ० ३२३।
२. माधव मिश्र निबंधमाला, प्रथम भाग, साहित्य खंड, पृ० २७।
३. विचार विमर्श, पृ० १६५।

कविता की पुस्तक के व्यापक प्रचार एवं उसके अनुरूप सामाजिक चेतना जगाने के उद्देश्य से की गई यह प्रशस्ति भर है। 'भारत भारती' का व्यापक प्रचार हुआ, यह उसके बीसियों संस्करण से स्पष्ट है। सामाजिक राजनीतिक सभाओं में उसकी पंक्तियों के उद्धरण भी दिए जाते रहे। अतः कहा जा सकता है कि इस दृष्टि से द्विवेदी जी का उद्देश्य सिद्ध हुआ। किंतु क्या उसे उत्कृष्ट काव्य ग्रंथ भी माना गया ? पं० पद्मसिंह शर्मा ने सामाजिक राजनीतिक विषयों पर लिखित हिंदी कविताओं को 'कोरी तुकबंदी' सं० १९७७ में (भारत भारती के प्रकाशन के ८ वर्ष बाद) कहा था। साफ है कि उनकी राय में 'भारत भारती' की कविताएँ भी तुकबंदियाँ मात्र ही हैं। मिश्रबंधुओं ने सं० १९९१ में गुप्त जी के बारे में लिखा, 'हम उनके ग्रंथों में उस ऊँचे दर्जे का गौरव नहीं पाते जो यथावत् आरोचन के लिये आवश्यक है।'[१] परवर्ती आलोचकों को भी 'सरस्वती' में प्रकाशित गुप्त जी की अधिकांश कविताएँ और 'भारत भारती' भी 'गद्यवत् रूखी और इतिवृत्तात्मक'[२] ही लगीं। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग के आलोचक समसामयिक हिंदी कविता के प्रति, चाहे वह ब्रजभाषा की हो, चाहे खड़ी बोली की, सश्रद्ध नहीं थे। छायावादी कविता के संबंध में उनकी संमतियों पर आगे विचार किया जाएगा।

समसामयिक साहित्य की अन्य विधाओं से भी असंतोष

उपन्यासों की हालत और बुरी थी। मौलिक उपन्यास लेखकों में धूम थी केवल देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी की। इनके अलावा और भी बहुत से सज्जन उपन्यास लिखा करते थे। हिंदी उपन्यासों के निम्न स्तर से खीझकर द्विवेदी जी ने लिखा था, 'जो यह भी नहीं जानता कि मानस शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता है कि चरित्रचित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख लिखकर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फिक्र में है।'[३] बाबू देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों के बारे में मिश्रबंधुओं की राय थी, 'इनके उपन्यासों में असंभव बातें भी रहती हैं जो अनुचित हैं। इनकी भाषा बहुत सरल होती है और वह मनोहर भी है। इनके उपन्यासों में लोकहित साधन का बहुत विचार नहीं रहता।'[४] गहमरी जी के जासूसी उपन्यास भी समालोचकों के लिये अवज्ञा के ही भाजन थे। और पं०

१. मिश्रबंधु विनोद, चतुर्थ भाग, पृ० ३८९।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६१६।

३. साहित्य संदर्भ, उपन्यास रहस्य, पृ० १९१।

४. मिश्रबंधु विनोद, तृतीय भाग, पृ० १३८४।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा' की रोषपूर्ण आलोचना करते हुए बाबू बालमुकुंद गुप्त ने लिखा था, 'हम नागरीप्रचारिणी सभा को सावधान करते हैं कि यदि सचमुच वह हिंदी की उन्नति चाहती है, तो सबसे पहले 'तारा' पढ़े और गोस्वामी जी महाराज को उनकी पुस्तक के गुण दोष समझावे कि वह कैसा गंदा और भयानक काम कर रहे हैं।'[1] कुछ शिक्षाप्रद उपन्यासकार भी थे, जैसे मेहता लज्जाराम शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि, किंतु उनकी कृतियाँ भी विशेष प्रभावशाली नहीं थीं। प्रेमचंद जी के 'सेवासदन' (१९१८ ई०) के प्रकाशन के पूर्व आलोचकों को कोई भी उपन्यास हिंदी को गौरवान्वित करनेवाला नहीं लगता था।

इस काल में रचित नाटकों, निबंधों एवं कहानियों के बारे में ज्यादा ऊहापोह आलोचकों ने नहीं किया। हाँ, उपयोगी विषयों पर गद्य पुस्तकों की रचना की प्रशंसा प्रायः सभी ने की। अपने समय के सर्जनात्मक हिंदी साहित्य के प्रति द्विवेदी युगीन आलोचकों के असंतोष ने ही उन्हें समालोचना के लिये कालिदास, श्रीहर्ष, भवभूति, बिल्हण जैसे संस्कृत के कवियों और सूर, तुलसी, केशव, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, हरिश्चंद्र आदि हिंदी के कवियों की ओर उन्मुख किया। सच्चाई यही है कि नवीन प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा के अतिरिक्त समसामयिक हिंदी साहित्य पर विद्वानों ने हिंदी साहित्य संमेलन के अध्यक्षीय भाषण आदि के अंतर्गत चलता सा ही विचार किया है। मिश्रबंधुओं ने अलबत्ता 'विनोद' के तीसरे चौथे भाग में आधुनिक लेखकों का परिचय देते समय उनके बारे में अपनी संमतियाँ भी दर्ज कर दी हैं। समालोचकों द्वारा समसामयिक साहित्य के विभिन्न अंगों या प्रमुख साहित्यकारों पर शृंखलाबद्ध रूप से गंभीरतापूर्वक आलोचना करने की आवश्यकता का अनुभव न करना इस बात का द्योतक है कि वे समसामयिक साहित्य एवं साहित्यिकों को आदेश निर्देश देना तो अपना कर्तव्य समझते थे किंतु विस्तृत व्याख्या विवेचना के योग्य शायद उन्हें नहीं मानते थे।

रचना और आलोचना का संबंध

इस मनःस्थिति के कारण रचना और आलोचना के आपसी संबंध का सही रूप इस काल में नहीं उभरा। आलोचक के नियंत्रक, निर्णायक रूप पर अधिक बल दिया गया; व्याख्याता, विवेचक रूप पर कम। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की मान्यता थी कि 'समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे न्यायाधीश राग, द्वेष और पूर्वसंस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है, सच्चा समालोचक भी वैसा ही करता है। उसके फैसले को सुनकर कोई प्रसन्न होगा

---

१. गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५६४।

या अप्रसन्न, उसकी निंदा होगी या प्रशंसा, इसकी वह कुछ परवा नहीं करता।'[1] इसी मनोवृत्ति से निर्णयात्मक आलोचना को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' में इस प्रवृत्ति के अनुचित परिणाम प्रत्यक्ष हैं। स्वयं मिश्रबंधुओं की धारणा थी कि 'भविष्य के लेखकों और कवियों के लिये समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें यह सिखाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है और सभ्य समाज में आदर पा सकती है।'[2] समालोचना संबंधी हिंदी के प्रथम पत्र 'समालोचक' के संपादक बाबू गोपालराम गहमरी के अनुसार 'समालोचना के समय जर्रा करना जितना श्रेष्ठ है, वकीली करना उतना नहीं।'[3] पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का विश्वास था कि 'यदि समालोचक माली साहित्यवाटिका में काट छाँट न करे तो गुलाब को धतूरे दबा लेंगे, इसमें संदेह नहीं।'[4] पं० पद्मसिंह शर्मा की राय में 'साहित्य की रक्षा सब जगह समालोचना से होती है'[5]। आधुनिक हिंदी साहित्य सर्जना के शैशव काल में समालोचक न्यायाधीशों, गुरुओं, मालियों और रक्षकों की बहुलता ने आपसी द्वंद्व का उद्वेगजनक रूप अधिक प्रस्तुत किया, वस्तुतः उच्च कोटि के साहित्य की सर्जना के अनुकूल वातावरण कम बनाया। आलोचकों के निर्देशानुसार रचित कृतियाँ दुर्बल ही रहीं; 'भारत भारती' इसका निश्चित प्रमाण है। वस्तुतः साहित्यिक आलोचना के सिद्धांत और प्रतिमान उत्कृष्ट रचनाओं के आधार पर निर्मित होते हैं, होने चाहिए, और इसीलिये वे एक हद तक बदलते रहते हैं। नए विचारों, विशेषतः क्रांतिकारी विचारों के आविर्भाव के साथ ही साथ उनके अनुकूल साहित्य लिखाने का प्रयास कभी सफल नहीं होता। हिंदी का आरंभिक प्रगतिवादी साहित्य ऐसी असफलता का एक और उदाहरण है। जब साहित्यकार स्वयं उन विचारों को अपनी संवेदना का अंग बना लेते हैं, तभी श्रेष्ठ रचना दे पाते हैं। आलोचना रचना की सहयोगिनी होकर ही चरितार्थ होती है, निर्देशिका होकर नहीं। असहमति और अस्वीकृति के स्तर पर भी रचना में संनिहित नैतिक या अन्य मानवीय मूल्यों या शिल्पविधान आदि के संबंध में विवेचन-विश्लेषण-व्याख्या के क्रम में अपने सुझाव सहभोक्ता के रूप में देना ही आलोचक के लिये उचित है। जो हो, यह स्पष्ट है कि द्विवेदी युग के आलोचकों ने आलोचना का उपयोग समसामयिक साहित्य के

---

१. आलोचनांजलि, पृ० १।

२. हिंदी नवरत्न, प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ० १२।

३. समालोचक प्रथम अंक, पृ० ८।

४. निबंध निचय, पृ० १५६–५७।

५. पद्मपराग, पृ० ३२५।

संदर्भ में अंकुश के रूप में अधिक करना चाहा, छविगृह को (या नए बनते अपरिष्कृत गृह को) आलोकित करनेवाले दीपक के रूप में कम।

सैद्धांतिक आलोचना

द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना मुख्यतः व्यावहारिक आलोचना ही है। आलोचना की प्रारंभिक स्थिति में यही संभव भी था। फिर भी आलोचना संबंधी कुछ प्रतिमानों को स्थिर करने के लिये उसके सिद्धांत पक्ष की कुछ चर्चा भी आवश्यक थी। स्वभावतः यह चर्चा भी हुई और इसके लिये भारतीय और पाश्चात्य दोनों परंपराओं के कुछ विशिष्ट तत्वों को सामने लाया गया किंतु यह समाकलन 'तिल तडुल' की तरह ही हो सका, 'नीर क्षीर' की तरह नहीं। १८९७ ई० में प्रकाशित नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पहले भाग में ही आलोचना के सिद्धांत पक्ष से संबद्ध 'समालोचना', 'समालोचनादर्श' और 'गद्य काव्य मीमांसा' नामक तीन निबंध थे। इससे यही झलकता है कि भारतेंदु युग की कच्ची पक्की 'पुस्तक समीक्षा' पद्धति से आगे बढ़कर आलोचना को अधिक निष्ठा और प्रौढ़ता के साथ साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का आग्रह युगमानस में प्रबल हो उठा था। इनमें 'समालोचना' नामक निबंध के बारे में कुछ गलतफहमी भी हिंदी के कुछ समीक्षकों में है। डा० वेंकट शर्मा (आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास), डा० शिवकरण सिंह (आलोचना के बदलते मानदंड और हिंदी साहित्य), श्री विजयबहादुर सिंह (हिंदी साहित्य कोश, प्रथम भाग, आलोचना) आदि कई विद्वानों ने इस निबंध को पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की मौलिक रचना माना है। वस्तुतः यह लेख डॉ० जान्सन की समालोचना पद्धति से प्रभावित पं० विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर के 'ग्रंथांतर टीका' नामक मराठी निबंध का अनुवाद है जो उनकी पुस्तक 'निबंध माला' में दूसरे वर्ष के प्रथम निबंध के रूप में संकलित है। भ्रम का एक कारण यह है कि नागरीप्रचारिणी पत्रिका में दीक्षित जी का उल्लेख लेखक के रूप में किया गया है, दूसरा यह कि दीक्षित जी ने इस पूरे लेख में मराठी ग्रंथों और लेखकों के नाम दे दिए हैं। यह प्रवृत्ति नागरीप्रचारिणी पत्रिका के इसी अंक में पकाशित एलेग्जेंडर पोप कृत 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' के ब्रज भाषा में किए गए पद्यबद्ध अनुवाद 'समालोचनादर्श' में भी देखी जा सकती है, जिसमें रत्नाकर जी ने यूरोपीय ग्रंथों एवं ग्रंथकारों के स्थान पर भारतीय कृतियों और कृतिकारों का उल्लेख किया है। अग्निहोत्री जी ने 'निबंध मालादर्श' (जिसमें 'समालोचना' नामक निबंध भी अंतर्भुक्त है) के मुखपृष्ठ पर और भूमिका में भी चिपलूणकर जी को इन निबंधों का लेखक तथा अपने को अनुवादक घोषित किया है। अनुवाद के माध्यम से हिंदी में पहले पहल पश्चिमी समालोचना के सिद्धांत, समालोचक

के गुण, समालोचक की पद्धति आदि प्रस्तुत करने के कारण अग्निहोत्री जी एवं रत्नाकर जी को हिंदी आलोचना का उपकारक मानना चाहिए।

पोप और डॉ० जॉन्सन का प्रभाव

अनुवाद के लिये स्वेच्छया चुनी जानेवाली कृतियों की दृष्टि और स्थापनाएँ अनुवादक की मान्यताओं के निकट होती हैं। अतः कहा जा सकता है कि हिंदी समालोचना ने अपने विकास काल में अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी के नव्यशास्त्रवादी आलोचकों—पोप एवं डा० जॉन्सन—की विचारधारा को अपने अधिक अनुकूल पाया जिसके अनुसार पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित सिद्धांतों का भली भाँति अनुशीलन एवं यथासंभव अनुगमन कर, प्रकृति के निरीक्षण द्वारा तदनुकूल आत्मसंशोधन कर, ऐसा साहित्य सृजन श्रेयस्कर बताया गया है, जिसमें बुद्धि और कल्पना के मेल से आनंद और सत्य का समन्वय किया गया हो। डा० जॉन्सन के अनुसार लेखक का कर्तव्य या तो अब तक अज्ञात सत्य की शिक्षा देना है या ज्ञात सत्यों को आकर्षक रीति से प्रस्तुत कर अनुशंसित करना है। प्राचीनता के प्रति श्रद्धापरक, आदर्शवादी, लोकशिक्षणमूलक साहित्य संबंधी यह विभावन द्विवेदी युग के आलोचकों को अपनी रुचि के अनुकूल लगा।

रत्नाकर जी ने तो इसमें प्रतिपादित प्राचीनता के प्रति श्रद्धा संबंधी सिद्धांत से प्रेरणा ले खड़ी बोली को काव्य भाषा बनाने के तथा कविता को तुक अनुप्रास से मुक्त करने के आंदोलन के विरुद्ध 'समालोचनादर्श' के अंत में अपनी टिप्पणी जड़ी—

'आत खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो,
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर माहीं,
त्यागि पद्य प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं।'[१]

पर ब्रज भाषा को हिंदी की सामान्य काव्यभाषा के रूप में बनाए रखने का यह प्रयास बदली हुई परिस्थितियों में प्रतिगामी था, अतः सफल नहीं हो सका।

गद्य काव्य मीमांसा की अव्यावहारिकता

'गद्य काव्य मीमांसा' लिखकर पं० अंबिकादत्त व्यास ने नई पश्चिमी साहित्य विधाओं को भारतीय काव्य शास्त्र के आधार पर ही विवेचित करने के प्रयत्न की विफलता को ही अधिक उजागर किया है। इसमें जहाँ तक उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त कथा, आख्यायिका आदि के लक्षणों और भेदों का निरूपण तथा

१. रत्नाकर (पहला भाग), चौ० सं०, पृ० ५१।

उनसे संबद्ध भारतीय आचार्यों के मतों का खंडन मंडन और 'उपन्यास' शब्द के प्राचीन अर्थों का विवेचन किया है वहाँ तक उनका प्रतिपादन 'विचारित सुस्थ' है किंतु जब वे आधुनिक उपन्यास के लक्षण आदि का निरूपण मुख्यतः उसी पुरानी दृष्टि एवं सामग्री के आधार पर करना शुरू करते हैं तब वे 'रपटीली गैल' पर चलना शुरू करते हैं। उन्होंने मौलिक एवं अनूदित ६६ हिंदी उपन्यासों की तालिका अपने लेख के अंत में दी है। इनका आधार भी उन्होंने लिया है। स्थूल रूप से उपन्यास की कथा, चरित्र चित्रण, भाषा आदि के संबंध में अपना मत ज्ञापित कर उन्होंने उपन्यासों के नौ मुख्य भेद ठहराए। यहाँ तक भी गनीमत थी किंतु इसके बाद उन्होंने कल्पना और गणित के सहारे उनका प्रस्तार करने के बाद यह हास्यास्पद निष्कर्ष निकाला कि 'यों उपन्यास के सब भेद विद्वानों के संमत उनचास अर्बुद, छह करोड़, एकतालिस लाख, अठानबे हजार, चार सौ हुए'[1]। परवर्ती रीतिकालीन नायिका भेद में यदि नायिकाओं के काल्पनिक भेदोपभेद और उनके लक्षण स्थिर करने के अनंतर काव्य में उनके उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं तो उपन्यास में क्यों नहीं किए जा सकते ? अतः उन्होंने विश्वास के साथ इसी लेख में यह भी लिखा है कि 'उत्साही कवि भगी यत्न करेंगे तो भविष्यत् काल में सबके उदाहरण मिल सकेंगे।'[2] इस पर टीका टिप्पणी करना बेकार है। इसी अवैज्ञानिक मध्ययुगीन प्रवृत्ति के विरुद्ध महावीरप्रसाद द्विवेदी का संघर्ष था। चिंतन के क्षेत्र में वास्तववादी आधार ग्रहण करने पर उन्होंने सदा बल दिया था। इस प्रकार का उद्भट साहस किसी और विद्वान् ने साहित्य विवेचना के क्षेत्र में नहीं किया, यही क्या कम है।

समन्वय के प्रयास

उपयोगी भारतीय और पश्चिमी साहित्य सिद्धांतों के मेल से बनी नई साहित्य चेतना को हिंदी में संक्रमित करने के उद्देश्य से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवि कर्तव्य', 'कवि और कविता', 'कवि शिक्षा', 'नाट्य शास्त्र','नाटक','उपन्यास' आदि निबंध लिखे। मिश्र बंधुओं ने 'हिंदी काव्य (समालोचना)' शीर्षक निबंध के अतिरिक्त मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग) की भूमिका मे भी साहित्य के लक्षण आदि पर कुछ चर्चा की। इसी तरह पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा तुलनात्मक आलोचना के आधार स्वरूप 'अर्थापहरण' पर और पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा 'समालोचना' एवं 'काव्य भाषा' पर संक्षेप में अच्छा विचार किया गया। इस पूरे प्रयास को सैद्धांतिक आलोचना की उपक्रमणिका मात्र कहा जा सकता है। इन लेखों या ग्रंथांशों में अपनी दृष्टि के अनुकूल पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के मतों का

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, पहला भाग, पृ० ५६।

२. उपर्युक्त, पृ० ३२।

सारसंकलन ही अधिक है। गंभीर और जटिल विषयों को भी सरलीकृत रूप में प्रस्तुत करने के आग्रह के कारण इनमें कहीं कहीं सतहीपन आ गया है।

द्विवेदी जी की दृष्टि

इनमें थोड़ा दृष्टिभेद भी है। द्विवेदी जी को साहित्य का 'जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक' रूप ही पसंद था। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध, सरल भाषा में सात्विक, उदात्त विचारों और भावों को, आडंबर या पेचीदगी के बिना, सहज शैली में व्यक्त करना ही उन्हें अभीष्ट था। विषय मनोरंजक हो, यह तो वे चाहते थे किंतु मनोरंजन या कलात्मक उत्कर्ष के नाम पर उत्तान शृंगार की चरित्र विघातक रचनाओं को सत्साहित्य के अंतर्गत स्वीकार करने के लिये कतई तैयार नहीं थे। अर्थात् उनकी दृष्टि नैतिकतावादी और उपयोगितावादी थी। इससे जहाँ रीतिकालीन शृंगारी कविताओं की विकृतियों से आधुनिक हिंदी कविता को मुक्त करने में उन्हें सफलता मिली वहीं उन्होंने उसे कोमलता, रागात्मकता और कल्पनाशीलता से भी वंचित सा कर दिया। अपनी अनमनीय (इन्फ्लेक्सिबल) दृष्टि के कारण ही वे एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति कर 'यातयाम' (आउट ऑव डेट) हो गए, परवर्ती सर्जनात्मक साहित्यिक उन्मेष 'छायावाद' को अपनी सहानुभूति नहीं दे पाए। यह ठीक है कि ई० सन् १९१८ से २० के बीच सरस्वती में उन्होंने सुमित्रानंदन पंत आदि की आरंभिक सरल छायावादी कविताएँ प्रकाशित की थीं किंतु वे छायावाद के उन्नत रागात्मक ऐश्वर्य एवं कला सौष्ठव के साथ न समरस हो सके, न उसे सराह सके।

मिश्रबंधुओं की दृष्टि

मिश्रबंधु 'रमणीयता' को ही साहित्य का बड़ा मूल्य मानते थे यद्यपि उसे समयानुकूल, लाभदायक तत्वों से भी युक्त करना चाहते थे। नवीनता के संयोजन का स्वागत करते हुए उन्होंने लिखा था, 'हिंदी भाषा पर भी इस परिवर्तन काल का अच्छा प्रभाव पड़ा और उपयोगी विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। इसी के साथ कहना ही पड़ता है कि संसारीपने की वृद्धि के साथ कविता और कवित्व शक्ति का ह्रास होने लगा और गद्यकाल आता हुआ देख पड़ा।'[1] इसमें परिवर्तन को अनिवार्य और एक दृष्टि से प्रशंसनीय मानते हुए भी उसके कारण हुए काव्यात्मक ह्रास पर खिन्नता प्रकट की गई है। स्पष्ट है कि द्विवेदी जी की दृष्टि की तुलना में मिश्रबंधुओं की दृष्टि अधिक लचीली और सामाजिक नैतिक मूल्यों को स्वीकारते हुए भी साहित्य के अपने मूल्यों पर बल देनेवाली थी। इसीलिये उन्होंने रीतिकालीन

---

१. मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, पृ० १४८-४९।

काव्य को तिरस्करणीय नहीं माना, मैथिलीशरण गुप्त की द्विवेदी युगीन रचनाओं में काव्य गुण की न्यूनता पाई और अपने युग के आलोचकों में छायावाद का सबसे अधिक स्वागत किया।

प्राचीनतावादियों की दृष्टि

पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर मूलतः प्राचीनतावादी आलोचक थे और क्रमशः अतिशयोक्ति, अलंकार और रमणीयता को काव्य का बड़ा गुण समझते थे। ये तीनों विचारक श्रृंगार रस के विरोध का (बल्कि रीतिकालीन साहित्यिक मूल्यों के विरोध का) विरोध करते थे। ये तीनों पुरानी कविता के मर्मज्ञ थे और ब्रजभाषा काव्य पर रीझी हुई उनकी दृष्टि खड़ी बोली की कविता को, न मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि की कविता को, न छायावादी कविता को ही वास्तव में कविता मान पाई। इन लोगों की दृष्टि में द्विवेदी युगीन कविता तुकबंदी और छायावादी कविता अर्थहीन प्रलाप मात्र थी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने ब्रजभाषा की श्रृंगारी कविता का समर्थन उपयोगितावाद के आधार पर भी करने की चेष्टा की थी। अधिकार भेद के सिद्धांत के अनुरूप यह बताते हुए कि बालब्रह्मचारी, मुमुक्षु, यति, जीवनमुक्त संन्यासी आदि श्रृंगारी कविता के पाठ के अधिकारी नहीं हैं, उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि 'रुचिभेद और अवस्था भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नही होती।'[1] फिर खड़ी बोली की कविता की असमर्थ भाषा को प्राचीन साहित्य के रस संचार से पुष्ट करने का सुझाव देते हुए उन्होंने लिखा, 'विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्व की दृष्टि से भी देखिए तो श्रृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है।'[2] इससे यही प्रकट होता है कि द्विवेदी युग में 'उपयोगितावाद' का इतना दबदबा था कि शर्मा जी जैसे काव्यरसिक भी उसकी अवज्ञा नहीं कर पाते थे। वस्तुतः ये तीनों विद्वान् पुरानी परंपरा के भक्त और एक हद तक उसके संरक्षक भी थे। अतीत के प्रति अतिरिक्त मोह के कारण ये लोग नए जमाने की माँग को समझने और भविष्य की कल्पना करने में असमर्थ थे।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र की दृष्टि

द्विवेदी युगीन आलोचकों में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने पहली बार 'उपयोगितावाद की कसौटी पर कविता को कसने का खुला विरोध करते हुए लिखा, 'उपदेशहीन कविता कविता ही न हो, यह बात नितांत भ्रमपूर्ण है। कविता के लिये

---

१. बिहारी सतसई (तुलनात्मक अध्ययन), पृ० २१।

२. उपर्युक्त, पृ० २२।

केवल रस परिपाक चाहिए। उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित कला का सौंदर्य नष्ट करना घोर पातक है।'[1] अपनी 'रसवादी' दृष्टि के अनुरूप ही वे काव्य का उद्देश्य आनंद प्रदान करना मानते थे, नैतिक उत्थान करना नहीं। नैतिकता और कला के द्वंद्व में भी वे कला का साथ देते हैं। सामाजिक दृष्टि से परकीया और गणिका के वर्णन को आदरणीय न मानते हुए भी मिश्र जी ने द्विधाहीन स्वर में यह स्वीकारा है कि रीतिकालीन कवियों द्वारा किए गए उनके वर्णन में 'कहीं कहीं भाव चमत्कार बड़े ही अनूठे हैं। इन वर्णनों को पढ़कर यदि अपरिपक्व समझ और अवस्थावाले युवकों में कुरुचि का संचार होता हो, तो आश्चर्य नहीं। पर तो भी कविता सौंदर्य इनमें अवश्य है।'[2] यह स्मरण रखना चाहिए कि पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्विवेदी युगीन आलोचकों में वयःकनिष्ठ है। उनके ज्येष्ठों ने जहाँ महर्षि दयानंद सरस्वती, लोकमान्य तिलक जैसे नैतिकतावादी भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधाओं से, पोप, जॉन्सन आदि नव्यशास्त्रवादी समालोचकों से तथा डा० ग्रियर्सन, हाली जैसे नैतिकतावादी विचारकों से तथा जान स्टुअर्ट मिल जैसे उपयोगितावादी चिंतक से प्रेरणा ग्रहण की थी, वहाँ मिश्र जी हेजलिट, शेली, कोलरिज, वर्ड्सवर्थ जैसे स्वच्छंदतावादी विचारकों और कवियों के अनुशीलन से परंपरागत रीतिकालीन काव्य दृष्टि की व्याख्या और संरक्षा करने का प्रयास कर रहे थे। रीतिकालीन काव्य के सौंदर्य को साहित्यिक स्तर पर सराहना और ईसा की बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उसके मूल्यों को हिंदी काव्य में प्रतिष्ठित करने का आग्रह करना, दो अलग अलग बातें हैं। पहली के महत्व को स्वीकार करके भी दूसरी चेष्टा का समर्थन नहीं किया जा सकता। असल में मिश्र जी का साहित्य चिंतन स्थितिशील है। इसीलिये साहित्य के सामाजिक आधार एवं परिवर्तित काल का विचार न करने के कारण सामंती व्यवस्था में रचित, नारी को पराधीन एवं भोग्या माननेवाले रीतिकालीन शृंगारी काव्य और जनतंत्री व्यवस्था के स्वच्छंदतावादी कवि शेली द्वारा प्रतिपादित, नारी की स्वतंत्रता से उत्पन्न प्रेम काव्य को वे एक जैसा मानने की भूल करते हैं। यदि मिश्र जी ब्रजभाषा काव्य के उद्धार का व्रत न ले लेते और समय का साथ देते तो अपनी स्वच्छंदतावादी रुझान के कारण संभवतः वे छायावादी कविता के श्रेष्ठ आलोचक होते।

भारतीय काव्यशास्त्र का अनुगमन

परंपरागत भारतीय काव्यशास्त्र को खड़ी बोली हिंदी के माध्यम से प्रस्तुत करनेवालों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' सं० १९५९ में प्रकाशित

---

१. देव और बिहारी, पृ० ६४।

२. मतिराम ग्रंथावली की भूमिका, पृ० ११२।

हुआ था। बाद में इसी का विकसित और परिवर्धित रूप 'काव्य कल्पद्रुम' (रस मंजरी तथा अलंकार मंजरी का संयुक्त रूप) के नाम से प्रकाशित हुआ। मूल संस्कृत ग्रंथों के परिशीलन के अनंतर समन्वित दृष्टि से लिखे जाने के कारण इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई। श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'काव्य प्रभाकर' सं० १९६६ में प्रकाशित हुआ जिसमें समस्त काव्यांगों को समेट लिया गया है किंतु इसमें शास्त्रीय विवेचन पर ध्यान कम और उदाहरण संग्रह पर अधिक है। इनका लिखा छंद प्रभाकर (१८९४ ई०) भी अपने विषय का अच्छा ग्रंथ है। लाला भगवानदीन दीन की 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' छात्रोपयोगी ग्रंथ हैं जिनमें लक्षण और उदाहरण की स्पष्टता तथा शैली की सुबोधता प्रशंसनीय है। बाबूराम बित्थरिया कृत 'नवरस' एवं सेठ अर्जुन-दास केडिया कृत 'भारती भूषण' इस परंपरा के अन्य उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

पं० शालिग्राम शास्त्री ने विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' की विमला टीका सं० १९७४ में लिखी किंतु उसका प्रकाशन कुछ विलंब से हुआ। संस्कृत काव्य की मूल रचनाओं को हिंदी अनुवाद और विस्तृत टीका के साथ प्रस्तुत करने की नींव इसी पर्याप्त संमानित कृति से पड़ी।

व्यावहारिक आलोचना के प्रेरणास्रोत

हिंदी में व्यावहारिक आलोचना के विस्तृत स्वरूप का यह उन्मेष काल था। इस काल के आलोचकों के समक्ष आलोचना का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले ग्रंथों में प्रमुख थे डा० जान्सन कृत 'लाइव्स आव पोएट्स', डा० ग्रियर्सन कृत 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान', मैक्समूलर, वेबर, मैक्डानल के लिखे संस्कृत साहित्य के इतिहास, डा० बूलर, डा० हार्नली आदि के अनुसंधान कार्य। बँगला, मराठी, उर्दू के तत्कालीन विशिष्ट आलोचकों की कृतियों से भी हिंदी के कई आलोचक परिचित थे। स्वभावतः हिंदी के आलोचकों ने अपनी आलोचनाओं में इनके समन्वित रिक्थ का उपयोग किया है।

प्रमुख व्यावहारिक आलोचनात्मक कृतियाँ

इस काल के आदर्श से प्रभावित प्रमुख विस्तृत आलोनात्मक कृतियाँ हैं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नैषध चरित चर्चा' (१९०० ई०), 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' (१९०७ ई०), 'कालिदास की निरंकुशता' (१९११ ई०), 'किरातार्जुनीय की भूमिका' (१९१६ ई०), 'कालिदास' (१९२० ई०), मिश्रबंधु कृत 'हिंदी नवरत्न' (सं० १९६७) तथा मिश्रबंधु विनोद, प्रथम तीन भाग (सं० १९६९-७०), चौथा भाग (सं० १९९१), पं० पद्मसिंह शर्मा कृत बिहारी की सतसई, प्रथम भाग भूमिका का अंश (सं० १९७५), पं० कृष्णबिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' (सं० १९७७) तथा मतिराम ग्रंथावली की भूमिका (सं०१९८३ वि०), लाला

भगवानदीन कृत 'बिहारी और देव' (सं० १९८३)। इनमें से कुछ का ग्रंथाकार प्रकाशन बाद में हुआ किंतु धारावाहिक लेखमाला के रूप में पत्र पत्रिकाओं में ये रचनाएँ पहले निकल चुकी थीं। इनपर समग्र दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि आलोचना की कई पद्धतियों का मिला जुला स्वरूप इनमें उभरा है।

जीवनवृत्तांतीय आलोचना पद्धति

द्विवेदी जी और मिश्रबंधुओं ने आलोच्य कवियों के जीवनवृत्त तथा ग्रंथों का परिचय देकर 'जीवनवृत्तांतीय आलोचना पद्धति' का आंशिक अनुगमन किया है। यह ठीक है कि इन जीवनवृत्तों में मौलिक गवेषणा का अंश कम तथा प्राप्त सामग्री के संग्रह की वृत्ति अधिक है, फिर भी कुछ पहलुओं के स्पष्टीकरण में इनका योगदान अवश्य है। उदाहरण के लिये कालिदास को द्विवेदी जी ने विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का सभाकवि माना है। प्रतिकूल मान्यताओं के खंडन में उन्होंने पर्याप्त श्रम किया है। यह अवश्य कहना पड़ेगा कि कवियों के जीवन की एक तरफ बृहत्तर सामाजिक परिस्थितियों के साथ और दूसरी तरफ उनके द्वारा रचित साहित्य से जोड़ने का कार्य इस काल में नहीं हुआ। अतः ये जीवनवृत्त जानकारी से आगे बढ़कर आलोचना के सर्जनात्मक अंग नहीं बन सके।

ऐतिहासिक आलोचना पद्धति

ऐतिहासिक परंपरा में कवि और काव्य को रखकर उसकी विशेषताओं को उद्घाटित करने की भी थोड़ी बहुत चेष्टा की गई। द्विवेदी जी ने लक्षित किया कि इतिहास के न होने से साहित्य के गौरव की हानि हुई है क्योंकि 'समय और प्रसंग का ज्ञान न होने से अनेक ग्रंथों का गुरुत्व कम हो गया है।' उन्होंने यह भी बताया कि उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों के अनुरूप विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओं के समावेश के फलस्वरूप ही 'नैषध चरित' जटिल और ग्रंथिल काव्य हो गया है[1] तथा चरित-काव्य-परंपरा का अनुगमन करने के कारण ही 'विक्रमांक देव चरित' में प्रामाणिक जीवनी या इतिहास की मात्रा कम और ऋतुवर्णन, जलविहार, वाटिका विहार आदि की अधिकता है।[2]

मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' की रचना करते समय कवि कीर्तन को अपना मुख्य उद्देश्य माना था किंतु उसी के साथ साथ उसमें इतिहास के गुणों का समावेश करने की ओर भी उनका लक्ष्य था। यह ठीक है कि 'विनोद' को सही अर्थों में इतिहास नहीं कहा जा सकता, न उसे ठीक आलोचना ग्रंथ ही कहा जा सकता है, किंतु

---

१. नैषध चरित चर्चा, पृ० ३ तथा पृ० ६८-६९।

२. विक्रमांक देव चरित चर्चा, पृ० ७।

यह भी सही है कि पहली बार हिंदी में बड़े पैमाने पर दोनों को समीप लाने का कार्य इसी ग्रंथ ने किया। पूर्व माध्यमिक एवं प्रौढ़ माध्यमिक कालों के कवियों पर स्वामी रामानंद के धर्म-संशोधन-आंदोलन का प्रभाव देखना[1] तथा उत्तरालंकृत काल के कवियों द्वारा पूर्वालंकृत काल के कवियों के अनुकरण पर की गई बहुत परिमाण में रीति ग्रंथों की रचना को विशेष लाभदायक न मानना इसी ऐतिहासिक दृष्टि के सुपरिणाम हैं।[2] इसी तरह परिवर्तन प्रकरण, पूर्व नूतन परिपाटी आदि परिच्छेदों में अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप दृष्टिकोण में हुए परिवर्तनों को रेखांकित करने का भी प्रयास उन्होंने किया और बताया कि उपयोगितावादी दृष्टि के कारण गद्य रचना की उन्नति तथा कविता की अवनति हुई है।[3]

मिश्रबंधुओं की साहित्येतिहास संबंधी दृष्टि बहुत स्वच्छ न थी। इसी लिये वे काल विभाजन और उनके उपविभाजन का पुष्ट आधार खोज नहीं पाए। सामयिक परिस्थितियों और साहित्यिक कृतियों के अंतःसंबंधों का समझने में भी उनसे कई स्थानों पर गलतियाँ हुई हैं। पूर्वालंकृत प्रकरण (सं० १६८१-१७९०) को वे राजनीतिक दृष्टि से हिंदू जाति के पुनरुत्थान का काल मानते हैं। हिंदी कविता के विकास के साथ इसे जोड़ने की चेष्टा करने पर उन्हें लगता है कि इस काल में वीर रस के काव्य ग्रंथ प्रचुर संख्या में लिखे जाने चाहिए थे। अपने इस निष्कर्ष में और वस्तुस्थिति में साम्य न पाकर उन्होंने जिस अनुमान शृंखला से अपने निष्कर्ष की पुष्टि की है, वह इच्छाजनित विश्वास का उत्कृष्ट उदाहरण है। मिश्रबंधुओं की मान्यता है, 'इस समय भारत में बहुत से वीर पुरुष वर्तमान थे। उनके प्रोत्साहन से वीर कविता ने अच्छा आदर पाया और शौर्य वर्णन के ग्रंथों की मात्रावृद्धि भी खूब हुई। पर इसके पीछे देश में कायरता बहुत बढ़ी, सो कुछ दिनों में वीर ग्रंथों का मान अच्छा न रहा। इस कारण ऐसे बहुत से ग्रंथ नष्ट हो गए और बहुत जहाँ के तहाँ दबे पड़े हुए हैं। यही कारण है कि हिंदी में वीर ग्रंथों का बाहुल्य वे बहुधा देखने में नहीं आते और शृंगार ग्रंथों से ही भाषा कविता भरी हुई जान पड़ती है।[4] पहली बात तो यह कि शौर्य वर्णन के ग्रंथों की मात्रावृद्धि खूब होने और बाद में ऐसे बहुत से ग्रंथों के नष्ट हो जाने का कोई

---

१. मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग), भूमिका, पृ० १०८-९।
२. उपर्युक्त (द्वितीय भाग), पृ० ६८१।
३. उपर्युक्त (प्रथम भाग), पृ० १४८-४९।
४. उपर्युक्त (द्वितीय भाग), पृ० ४३०।

वस्तुगत प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है; दूसरे, ऐसा लगता है कि वे सच्चे वीर काव्य और प्रशस्ति काव्य में अंतर नहीं कर पाए हैं।

सच्चाई यही है कि शिवाजी महाराज और गुरु गोविंद सिंह के शौर्य का प्रभाव हिंदी भाषी राजाओं पर कम पड़ा। एकमात्र छत्रसाल ने ही शिवाजी का अनुगमन किया। बाद में भरतपुर के जाट राजा सुजान सिंह ने भी कुछ पराक्रम दिखाया था। इनपर लिखे गए लाल एवं सूदन के वीर काव्य न नष्ट ही हुए, न दबे ही पड़े रहे। विस्मृत में ही तथाकथित वीर काव्य हुए जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा में शास्त्र-स्थिति-संपादन मात्र करनेवाली वीररस परक रचनाओं द्वारा उनके कल्पित शौर्य का गुणगान किया था। यदि किसी वीर काव्य का नायक लोक-श्रद्धा का अधिकारी नहीं है तो उसे सच्चा वीर काव्य नहीं माना जा सकता। ऐसा काव्य प्रशस्ति काव्य ही कहा जायेगा। दरबारी कविता का एक अभिशाप ही था यह प्रशस्ति काव्य, जिससे उसके कर्ता को थोड़े से अर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता था।

द्विवेदी जी की व्यावहारिक आलोचनाएँ

आलोचकों की वैयक्तिक रुचि और वर्तमान के प्रति उत्तरदायित्व बोध ने भी पुराने कवियों की उनकी समालोचना को एक हद तक रंजित किया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रमुख व्यावहारिक आलोचनाएँ कालिदास, श्रीहर्ष, बिल्हण आदि संस्कृत के कवियों पर लिखी हैं। सर्जनात्मक मार्मिक आलोचना के लिये यह अनिवार्य है कि आलोचक सहृदय अर्थात् आलोच्य का 'समानहृदय' हो। सहृदयता, समानहृदयता अथवा प्रशस्तहृदयता के बिना काव्य के मर्म का आस्वादन नहीं किया जा सकता। उसके बिना अच्छी आलोचना नहीं हो सकती। उक्त कवियों के प्रति आदर भाव होने के बावजूद द्विवेदी जी की नैतिकता परायणता एवं उपयोगितावादी दृष्टि इनके काव्य के साथ उन्हें समरस नहीं होने देती थी। इसीलिये द्विवेदी जी की ये आलोचनाएँ दुर्बल हैं।

कालिदास की आनंदविधायी सौंदर्यचेतना और कुंठारहित शृंगारी भावना की प्रशंसा कर वे समसामयिक हिंदी कवियों को 'जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक' काव्य लिखने की प्रेरणा नहीं दे सकते थे। अतः श्रीयुत राजेंद्रनाथ देव शर्मा के साथ सहमत होकर पहले तो वे यह स्थापना करते हैं कि 'कवि का प्रच्छन्न उद्देश्य होता है—पाठकों के हृदय का उत्कर्ष साधन और शुद्धि विधान तथा जगत् को शिक्षा प्रदान।'[1] फिर यह बताते हैं कि अनेक लोकहितकर और समाज शिक्षोपयोगी

---

१. कालिदास और उनकी कविता, पृ० ११८।

विषयों से अलंकृत होने के कारण ही 'रघुवंश सर्वोत्तम काव्य माना जाता है।'[1] अभिज्ञान शाकुंतल की भूरि भूरि प्रशंसा का कारण यह है कि 'धर्म और प्रेम, इन दोनों के सम्मेलन से जगत् में जिस मधुर आनंद की उत्पत्ति होती है, अभिज्ञान-शाकुंतल-रूपी स्वच्छ दर्पण में उसी का प्रतिबिंब देखने को मिलता है।'[2] द्विवेदी जी ने इसी पुस्तक के पृ० १०५ पर यह भी दिखाया है कि कालिदास की उपमाएँ 'नीति, सदाचार और लोकनीति संबंधिनी सत्यता से भरी हुई हैं। इसी से वे पंडितों के कंठ का भूषण हो रही हैं।'

कालिदास के काव्य में लोकशिक्षा और धर्म तथा नीति के महत्व का प्रतिपादन ही देखना, उसे एकपक्षीय, पार्श्व दृष्टि से देखना है, यह द्विवेदी जी को भी ज्ञात था किन्तु वे अपनी बनाई मर्यादा के अनुरूप ही कविकुलगुरु का चित्र अंकित कर सकते थे। अत: कालिदास की जिस रचना में उन्हें इस मर्यादा का उल्लंघन दिखा है, उन्होंने उसे संमान नहीं दिया है। 'कुमारसंभव' को पहले श्री अरविंद घोष के आधार पर प्रकृति और पुरुष के संयोग का, जीवात्मा द्वारा ईश्वर की खोज और प्राप्ति का आध्यात्मिक-दार्शनिक-तत्व-समन्वित उत्तम काव्य कहकर भी वे उसका पूरा समर्थन नहीं कर सके। उन्होंने घोषित किया कि उत्तान शृंगार वर्णन के कारण कुमारसंभव 'सदोष' तथा मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय 'अश्रेष्ठ' नाटक हैं। मेघदूत की प्रशंसा वर्ण्य विषय की सजीवता, मनोविकार चित्रण प्रकृति वर्णन, छंद के चुनाव आदि के लिये भी उन्होंने की है किंतु वास्तविक संतोष उन्हें यह देखकर हुआ है कि 'मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी संबंधी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है।'[3] किंतु फिर भी उन्हें इस बात की शिकायत है कि 'मेघदूत में भी कोई ऐसा आदर्श चरित नहीं जिससे कोई लोकहितकर या समाजहितकर शिक्षा मिल सके।'[4] उन्होंने कालिदास की जिन तीन मर्यादा विरोधी उच्छृंखलताओं पर क्षोभ प्रकट किया है, वे हैं शिव पार्वती को 'जगत: पितरौ' कहकर उनका विलासवर्णन करना, जयंत द्वारा भगवती सीता के स्तनों को चोंच से विदीर्ण कर श्री राम को नखक्षत करने की शिक्षा देना, विवाह के बाद तीन दिन, तीन रात के ब्रह्मचर्य काल के भीतर ही अज द्वारा विरोधी राजाओं को पराजित करते समय 'प्रिया द्वारा आस्वादित अधरोष्ठ पर रखकर शंख बजाना।'[5] अत: स्वाभाविक

---

१. उपर्युक्त, पृ० १२०।

२. उपर्युक्त, पृ० १२२।

३. कालिदास और उनकी कविता, पृ० १३७।

४. उपर्युक्त, पृ० १२२।

५. कालिदास की निरंकुशता, पृ० २३।

ही है कि कालिदास की वैवाहिकी कविता, 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल' तथा 'कालिदास का दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक' की चर्चा करना ही उन्हें आलोचना के क्रम मे अधिक रुचिकर लगा।

इसी तरह श्रीहर्ष द्वारा न्याय, सांख्य, योग, व्याकरण आदि विषयों में अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन. अतिशयोक्तियों, अनुप्रासों की भरमार आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में 'बाह्याडंबर' मात्र हैं। स्वाभाविक चित्रण और प्रसाद गुण की अवहेलना को श्रीहर्ष का अनौचित्य बताते हुए द्विवेदी जी नल के घोड़ों के समुद्रलंघन कर लेने की मनोवृत्ति सूचक श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, 'इस अत्युक्ति का कहीं ठिकाना है। सुनते ही चित्त में यह भाव उदित होता है कि यह सब बनावट है। इसी से मन मुदित नहीं होता।'[१] स्पष्ट है कि भिन्न रुचि के कारण कवि और आलोचक समान हृदय नहीं हो पाए। नैषध चरित के अपेक्षाकृत भावप्रवण एवं सरल प्रसंगों की ही प्रशंसा द्विवेदी जी ने की है जिनमें प्रमुख हैं नल द्वारा पकड़े जाने पर हंस का विलाप, हंस-दमयंती-संवाद, नल-दमयंती-वार्तालाप आदि। नवम सर्ग को नैषध का सर्वाधिक रम्य सर्ग घोषित करते हुए दमयंती के विरहकातर विलाप एवं नल के प्रणय निवेदन को द्विवेदी जी ने 'अपूर्व कवित्व' का निदर्शन माना है जबकि संस्कृत पंडित मंडली में बहुसंमानित 'पंचनली' का 'श्लिष्ट कवित्व' उन्हें पुलकित नहीं कर सका। स्वाभाविक ही था कि द्विवेदी जी के प्रस्थानभेद पर परंपरावादी पं० माधव-प्रसाद मिश्र क्षुब्ध हो उठते।

'विक्रमांक देव चरित' का महत्व द्विवेदी जी के लिये काव्य के रूप में था ही नहीं। डा० बूलर के अनुरूप उन्हें भी लगना था कि 'प्राचीन इतिहास के रूप में 'विक्रमांक देव चरित' दोषों के रहते भी बहुत ही उपयोगी है।'[२] चरित काव्य से ऐतिहासिक जीवनी की अपेक्षा भला कैसे पूरी होती। विल्हण के लिए जो प्रसंग काव्यगत रमणीयता की वृद्धि करनेवाले हैं, पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के लिये वे 'अप्रासंगिक' हैं। कुछ झुँझलाकर ही द्विवेदी जी ने लिखा है, 'इस काव्य में सब १८ सर्ग हैं, उनमें से यदि कवि अप्रासंगिक बातों का वर्णन न करता तो केवल आठ, नौ सर्ग में पुस्तक समाप्त हो गई होती'।[३] वह तो कहिए, विल्हण की कविता 'सरस होकर सरल भी थी' अतः उनके कुछ 'उत्तमोत्तम प्रसादपूर्ण पद्यों' के उद्धरण देना और उनकी संक्षिप्त व्याख्या करना उन्हें नहीं गढ़ाया।

---

१. नैषध चरित चर्चा पृ० ७२।

२. विक्रमांक देव चरित चर्चा, पृ० १०।

३. उपर्युक्त, पृ० ७।

आधुनिक कवियों की रचनाओं की आलोचना उन्होंने ज्यादा जमकर की ही नहीं। वे इस क्षेत्र में आलोचक के रूप में कम और नेता के रूप में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। नए विचारों के देशी, विदेशी विद्वानों के मतों का अनुशीलन कर उन्होंने तै कर लिया था कि 'बुद्धिमान लोग उसी कविता की कदर करते हैं जो उच्च विचारों को प्रकट करती हो, हृदय और बुद्धि के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती हो और समयोपयोगी आवश्यक उपदेशों को ऐसे ढंग से देती हो जिससे मनुष्य बहुत जल्द उन्हें ग्रहण कर सके'।[1] उनका यह भी आग्रह था कि आधुनिक हिंदी कविता खड़ी बोली में होनी चाहिए। जिन्होंने, इन प्रतिमानों के अनुकूल कविता लिखी, उनकी उन्होंने पीठ थपथपाई, जिन्होंने इनका विरोध किया (चाहे वे ब्रजभाषा के समर्थक हों, चाहे छायावाद के) उनपर वाग्बाण चलाए। 'भारत भारती' की स्तुति उद्धृत की जा चुकी है। छायावादी कविताओं के संबंध में उनकी संमति इस प्रकार थी—"आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं, उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य रचना अच्छी होती है, जो देशप्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या 'चलो वीर पटुआ खाली' की तरह पंक्तियों की सृष्टि करते हैं"।[2] जाहिर है कि महज शाबाशी या भर्त्सनामूलक विवादी लेखन को सर्जनात्मक आलोचना नहीं कहा जा सकता।

मिश्रबंधुओं की व्यावहारिक आलोचनाएँ

मिश्रबंधुओं का साहित्यप्रेम, सामग्री संचय के लिये किया गया परिश्रम, परंपरा से जुड़े रहकर नवीनता के स्वागत का औदार्य जितना प्रशंसनीय है, उनका साहित्य विवेक उतना नहीं। आलोच्य के मर्म को ग्रहण करने में वे कम सफल हुए हैं। इसीलिये आलोचना के बहिरंग को उन्होंने जितना समृद्ध किया है उसके अंतरंग को उतना नहीं। १९०० ई० से ही पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने संमिलित रूप से आलोचना लिखना शुरू किया था। बाद में अपने बड़े भाई पं० गणेशबिहारी मिश्र को भी संयुक्त कर ये मिश्रत्रय 'मिश्रबंधु' के नाम से लिखते रहे। हम्मीर हठ के लेखक चंद्रशेखर वाजपेयी, श्रीधर पाठक तथा भूषण पर संक्षिप्त आलोचनाओं के बाद उनके बृहदाकार ग्रंथ 'हिंदी नवरत्न' तथा 'मिश्रबंधु विनोद' प्रकाशित हुए। अपने समय तक ज्ञात सूचनाओं के संकलन के अनंतर मिश्रबंधु इनमें कवियों के जौहर परखकर हिंदी साहित्य में उनके स्थान या श्रेणी के संबंध में अपना निर्णय देते चले हैं। इसीलिये उनकी आलोचना को 'निर्णयात्मक आलोचना' कहा गया है।

---

१. विचार विमर्श, पृ० १।

२. आजकल के छायावादी कवि और कविता, साहित्यालाप, पृ० २४३।

मिश्रबंधुओं ने नौ कवियों को हिंदी कवियों की सर्वोच्च कक्षा (रिजर्व्ड क्लास) में रखने योग्य माना और उन्हें, 'हिंदी नवरत्न' की संज्ञा दी। नवरत्न में भी बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी की स्थापना कर बृहत्त्रयी में तुलसी, सूर, देव को, मध्यत्रयी में बिहारी, भूषण, केशव को, लघुत्रयी में मतिराम, चंद, हरिश्चंद्र को रखा। मध्यत्रयी और लघुत्रयी में नामक्रम से उत्तमता में पूर्वापरता मानने पर भी पहले उनका मत था कि बृहत्त्रयी में यह बात नहीं है। बहुत कुछ विचार करने पर भी उन तीनों कवियों (तुलसी, सूर, देव) में कोई भी न्यूनाधिक नहीं समझ पड़ा।[1] 'नवरत्न' के अनंतर उन्होंने मिश्रबंधु विनोद की भूमिका में 'काव्योत्कर्ष प्रदर्शनार्थ' उत्तम से हीन तक कुछ श्रेणियाँ निर्धारित कीं। कथा प्रसंग से असंबद्ध कवियों की सेनापति श्रेणी, दास श्रेणी, पद्माकर श्रेणी, तोष श्रेणी, साधारण श्रेणी तथा हीन श्रेणी ये ६ श्रेणियाँ एवं कथा प्रासंगिक कवियों की लाल श्रेणी, छत्रश्रेणी और मधुसूदन श्रेणी ये तीन श्रेणियाँ बनाकर साधारण कविता लिखनेवाले बड़े महात्माओं के लिये एक 'श्रेणीहीन श्रेणी' भी रखी। वर्तमान लेखकों का 'श्रेणी विभाजन' भावी इतिहासकारों के लिये छोड़ दिया। परवर्ती आलोचनाओं और सुझावों से प्रभावित होकर उन्होंने दो ही परिवर्तन किए। एक तो यह स्वीकार कर लिया कि साहित्य प्रौढ़ता में तुलसी, सूर और देव इसी क्रम से मान्य हैं।[2] दूसरे 'नवरत्न' में कबीरदास को भी संमिलित कर उन्हें सातवाँ स्थान (केवल चंद और हरिश्चंद्र के ऊपर) दिया तथा संख्या में वृद्धि न करने की दृष्टि से भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी बंधु' के नाम से पाँचवें स्थान पर रखा।

इस श्रेणी निर्धारण पर कई दृष्टियों से आपत्तियाँ की गईं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि में तो 'अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियों की श्रेणी बाँधना, उन्हें नंबर देना ही एक बेहूदा बात है'[3] किंतु जिन्होंने 'श्रेणी निर्धारण' को इतना आपत्तिजनक नहीं माना, उन्होंने भी यह जानना चाहा कि आखिर इस श्रेणी विभाजन का आधार क्या है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'हिंदी नवरत्न के लेखकों को चाहिए था कि पहले वे रत्न श्रेणी के कवियों का लक्षण लिखते। वे दिखलाते कि कौन कौन बातें होने से किसी कवि की गणना रत्न कवियों में हो सकती है। फिर कविरत्नों की कविता दीप्ति की भिन्न भिन्न प्रभाओं की मात्रा निर्दिष्ट करते, जिससे यह जाना जा सकता कि कितनी प्रभा होने से

---

१. हिंदी नवरत्न, पृ० १८।

२. उपर्युक्त, पृ० २८ पाद टिप्पणी।

३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२७।

बृहत्, मध्य और लघुत्रयी में उन कवियों को स्थान दिया जा सकता है।'[1] द्विवेदी जी ने यह भी दिखाया कि नवरत्न में संकलित कवियों में सूर, तुलसी में समता है, मतिराम, भूषण, देव, केशव, बिहारी में भी एक हद तक समता है, चंद अपने ढंग के हैं और हरिश्चंद्र सब से निराले हैं। भावभूमि की भिन्नता के साथ साथ इनमें समय भेद भी है। समय भेद से भी मूल्यभेद हो जाता है। 'अतएव भिन्न भिन्न समयों में होनेवाले और उपयोग तथा उच्च विचारों की दृष्टि से न्यूनाधिक महत्व के ग्रंथ लिखनेवाले कवि कुसुम एक ही माला में नहीं गूँथे जा सकते।'[2] शृंगारी कवि देव को तुलसी, सूर के समकक्ष बैठाना तथा उच्च भावों का उद्बोधन करनेवाले काव्य नाटक, इतिहास लिखनेवाले एवं हिंदी को नया रूप देनेवाले भारतेंदु का नवरत्न में सबसे नीचा स्थान देना द्विवेदी जी को बहुत ही अनुचित लगा था।

मिश्रबंधुओं ने द्विवेदी जी की समीक्षा के उत्तर में जो कुछ लिखा उससे 'श्रेणी विभाजन' के आधारों की दुर्बलता ही प्रकट हुई। उनका कहना था, 'हमने रत्न नामक कवियों की कोई श्रेणी नहीं स्थिर की है, वरन् हिंदी के नवरत्नों का वर्णन किया है। हिंदी में कितने ही कविरत्न हैं, परंतु उन सबमें हमें जो नव कवि, औरों से अच्छे समझ पड़े, उनका इस ग्रंथ में हमने वर्णन किया। ऐसी दशा में रत्न श्रेणी का हम लक्षण क्या देते?''[3] यह कोई उत्तर नहीं हुआ। कितने ही कविरत्नों में से 'नव' को चुनकर उन्होंने उनकी 'सर्वोच्च कक्षा' (रिज़र्व्ड क्लास) ता बनाई ही, उसके आधार उन्हें बताने चाहिए थे। यही नहीं, बाद में बनाई गई 'सेनापति श्रेणी', 'दास श्रेणी' आदि के भी लक्षण नहीं बताए गए हैं। 'हमें जो नव कवि औरों से अच्छे जान पड़े' इस वाक्यांश में अच्छाई के निर्णय में झलकते मनमानेपन के आरोप से अपने को बचाने के लिये मिश्रबंधुओं ने लिखा है, 'अच्छे और बुरे कवि की जाँच के लिये आचार्यों ने दशांग कविता पर बहुत से रीति ग्रंथ लिखे हैं। उनमें गुण दोषों का वर्णन विस्तारपूर्वक दिया हुआ है। जिस कवि की रचना में गुण अधिक और दोष कम हों, वही सुकवि है। फिर जिसमें जितने ही अधिक गुण हों, वह वैसा ही अच्छा कवि है। यही अच्छे और बुरे कवियों की जाँच है'।[4] इस उत्तर के द्वारा मिश्रबंधु मध्यकालीन स्थितिशील रीति ग्रंथों का ओट ले रहे हैं, जो अनुचित है। भिन्न भिन्न भाव भूमियों एवं कालों के कवियों की तरतमता रीति ग्रंथों में वर्णित गुण दोष के आधार पर ही बताना उचित है, यह मानना मुश्किल है। स्वयं अपनी आलोचनाओं में मिश्रबंधुओं ने सदा इन्हीं मध्य-

---

१. समालोचना समुच्चय पृ० २०७।

२. उपर्युक्त, पृ० २३४।

३. सुमनांजलि (द्वितीय खंड), पृ० ६६-६७।

४. उपर्युक्त, पृ० ६७।

कालीन प्रतिमानों का सहारा नहीं लिया है। श्रीधर पाठक की 'देश-उत्थान-परक', संसार के वास्तविक और लाभप्रद पदार्थों की ओर पाठकों का चित्त लगानेवाली, उद्योग, परिश्रम, वाणिज्य की प्रशंसा और विधवा विवाह का समर्थन करनेवाली कविताओं की प्रशंसा रीति ग्रंथों में वर्णित गुणों के आधार पर ही मिश्रबंधुओं ने नहीं की थी। उनकी दृष्टि में भूषण और भारतेंदु की कविता का एक बहुत भारी गुण 'जातीयता' है। इस गुण का तो किसी रीति ग्रंथ में उल्लेख नहीं हुआ है। पदमैत्री, समस्यापूर्ति आदि की पुरानी परंपराएँ रीति ग्रंथों से समर्थित होने पर भी मिश्रबंधुओं द्वारा निंदित हुई हैं। इसी तरह रीति ग्रंथों में वर्णित गुणों से भरपूर होने पर भी रत्नाकर जी की कविता की वे दिल खोलकर तारीफ नहीं कर सके क्योंकि उनके अनुसार 'आपके (रत्नाकर जी के) छंद तथा भाव प्राचीन कवियों की शैली लिए हुए होते थे किंतु ऐसे कथन और विचार प्राचीन काल से कई बार कहे जाने के कारण अब कुछ आरोचन शून्य और फीके लगने लगे हैं। आपमें प्राचीन प्रथा का साहित्य गौरव खासा था किंतु नवीनता की कमी से कुछ फीकापन झलक जाता था।'[२]

यही अंतर्विरोध था मिश्रबंधुओं में कि वे लोग एक तरफ तो पुराने रीति शास्त्र को सिद्धांततः स्वीकारने की बात कहते थे, दूसरी तरफ व्यवहारतः उसकी बहुत सी मान्यताओं को अस्वीकार कर कई नए मूल्यों का प्रयोग भी अपनी आलोचनाओं में करते थे। श्रेणी विभाजन का उनका आधार उनके इतिहास के काल विभाजन की तरह ही बहुत कुछ स्वेच्छाधीन था। अतः जिस प्रकार उनके द्वारा कल्पित सूर काल, तुलसी काल, बिहारी काल आदि परवर्ती विद्वानों को स्वीकृत नहीं हुए, उसी तरह कवियों की उनकी बनाई सर्वोच्च कक्षा, सेनापति श्रेणी दास श्रेणी आदि श्रेणियाँ भी मान्य नहीं हुईं।

मिश्रबंधुओं की आलोचना में सूक्ष्मता और मार्मिकता कम मिलती है। देव उनके सर्वाधिक मान्य और प्रिय कवि थे। उनकी रचनाओं में उन्हें उत्तमता ही उत्तमता दृष्टिगोचर होती थी किंतु वह उत्तमता कैसी है, कहाँ कहाँ है, क्यों है, इसका समग्र दृष्टि से सुदीर्घ सुचिंतित विवेचन करने के स्थान पर हिंदी नवरत्न में उन्होंने सतही ढंग से भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि सभी काव्यांगों में उन्हें उदारतापूर्वक उत्तमता का प्रमाणपत्र दे दिया है। मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग) की भूमिका में अवश्य ही उन्होंने 'सखी के संकोच, गुरु सोच मृगलोचनि...' छंद की विस्तृत और अच्छी विवेचना पृ० ३८ से ४३ तक की है। छंद, रस, नायिका भेद, अलंकार, शब्दशक्ति, वृत्ति, गुण, दोष आदि की दृष्टि से

---

१. सरस्वती भाग १, पृ० सं० ११ तथा ३६६।

२. मिश्रबंधु विनोद (चतुर्थ भाग), पृ० १८५।

की गई यह विश्लेषणात्मक व्याख्या पूर्णतः परंपरागत काव्य प्रतिमानों पर आश्रित है और पुरानी भाष्य शैली के बहुत निकट है। किंतु विच्छिन्न रीति से किए गए किसी एक छंद का भाष्य समग्र आलोचना का स्थान नहीं ले सकता। फिर, ऐसे उदाहरण भी बहुत कम हैं। अधिकतर उन्होंने स्थूल रूप से गुण दोष गिनाए हैं, जिनसे बहुतेरे स्थलों पर सहमत होना कठिन है। तुलसीदास के प्रसंग से दो उदाहरण देना ही काफी होगा। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की क्यों हर जगह निंदा की है—इसका कारण मिश्रबंधुओं से सुनिए—'गोस्वामी जी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे। इनके वैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती थीं और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर उधर देखते होंगे। अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था। यही कारण है कि इन्होंने उनकी निंदा की है।'[1] इसी तरह मानस के एक अत्यंत उपभोग्य प्रसंग के बारे में इन्होंने लिखा है—'इन महाकवि ने परशुराम और लक्ष्मण का संवाद ऐसा उपहास योग्य लिखा है कि वैसी रचना करने में शायद क्षुद्र कवि को भी लज्जा आती।'[2] ऐसी ही मनमानी संमतियों से खीझकर आचार्य शुक्ल ने लिखा होगा, 'उनकी (मिश्रबंधुओं की) बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।'[3]

छायावाद के स्वागत और आंशिक समर्थन से मिश्रबंधुओं की प्रशस्त हृदयता अवश्य प्रकट होती है किंतु उनकी पकड़ यहाँ भी स्थूल ही है। उत्कृष्ट और साधारण को एक साथ समेट लेना इसका प्रमाण है। उनके अनुसार 'पंत, निराला जी और अजमेरी जी वर्तमान काल के कवियों में बहुत ही स्तुत्य हैं।'[4] पंत और निराला के समकक्ष मुंशी अजमेरी को बताना कितना असंगत है, यह इतिहास ने प्रदर्शित कर दिया है।

तुलनात्मक आलोचना

श्रेणी निर्धारण के मूल में तुलना निहित है। मिश्रबंधुओं ने श्रेणी विभाजन के अपने आधार जिस प्रकार व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध नहीं किए, उसी तरह हिंदी के कवियों की पारस्परिक तुलना पर भी उन्होंने विस्तृत विचार प्रकट नहीं किए। बिना ऐसा किए उन्होंने तुलसी, सूर के साथ देव को हिंदी का

---

१. हिंदी नवरत्न, पृ० १०१-१०२।

२. उपर्युक्त, पृ० १०७।

३. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२८–२९।

४. मिश्रबंधु विनोद (चतुर्थ भाग), पृ० ३२९।

सबसे बड़ा कवि घोषित किया। तुलसी, सूर के तुल्य देव को बताना गलत है, विवेचक इसपर एकमत थे। बाद में मिश्रबंधुओं ने भी अपने मत में संशोधन कर देव को तीसरे स्थान का अधिकारी बताया। पर यह भी कुछ विद्वानों को स्वीकार नहीं था। पं० पद्मसिंह शर्मा के मतानुसार हिंदी के शृंगारी कवियों में बिहारी सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने बिहारी की तुलना हिंदी के अनेकानेक कवियों के साथ करके अपने मत का प्रतिपादन बिहारी की सतसई (प्रथम भाग) में विस्तारपूर्वक किया और कुछ काल के लिये 'तुलनात्मक आलोचना' को हिंदी आलोचना की केंद्रीय विधा बना दिया।

पं० पद्मसिंह शर्मा

कवियों और कविताओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर शर्मा जी का ध्यान १९०७ ई० से ही रहा। उस वर्ष जुलाई की 'सरस्वती' में 'बिहारी और फारसी कवि सादी' शीर्षक उनका लेख प्रकाशित हुआ। 'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य,' 'संस्कृत और हिंदी कविता का बिंब-प्रति-बिंब भाव' तथा 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिंब-प्रति-बिंब भाव' शीर्षक से १९०७ से १९१२ ई० तक बीच बीच में 'सरस्वती' में छोटी छोटी टिप्पणियों के साथ संस्कृत, हिंदी, उर्दू आदि की कविताओं के मिलते जुलते भाववाले छंद वे उद्धृत करते रहे। इसी प्रवृत्ति का सम्यक् विकास बिहारी की सतसई के तुलनात्मक अध्ययन में हुआ। वैसे मिश्रबंधुओं ने १९६७ वि० सं० में हिंदी नवरत्न में तुलसी और शेक्सपियर की तुलना कुछ मोटी मोटी बातों को लेकर की थी। उन्होंने उमंग में आकर वाल्मीकि और सूर, केशव और मिल्टन तथा पद्माकर और वाल्टर स्काट में भी कुछ समता देख ली थी। सितंबर १९११ की सरस्वती में 'कालिदास की विद्वत्ता' नामक लेख में कालिदास और शेक्सपियर की तुलना को संभव मानकर प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दोनों में मुख्य भेद यह बताया कि 'कालिदास प्रकृतिज्ञान में अद्वितीय थे और शेक्सपियर मानव मनोभाव ज्ञान में।'[१] इसी लेख में उन्होंने कालिदास की तुलना भवभूति से भी की थी जिसका निष्कर्ष था, 'शब्द चित्रण में भवभूति बढ़े चढ़े थे, भावोद्‌बोधन में कालिदास'। इन छिटपुट और प्रासंगिक तुलनाओं से आगे बढ़कर 'तुलनात्मक समालोचना' की विधिवत् प्रतिष्ठा का श्रेय पं० पद्मसिंह शर्मा को ही प्राप्त है।

उनका गौरव इस दृष्टि से और बढ़ जाता है कि उन्होंने अपनी विवेचना के मानदंड अंग्रेजी से उधार में नहीं लिए थे। संस्कृत काव्य-शास्त्र में सुविवेचित 'अर्थापहरण' प्रकरण को अपने सैद्धांतिक आधार के रूप में उन्होंने ग्रहण किया था।

---

१. कालिदास और उनकी कविता, पृ० १०१।

व्यावहारिक आदर्श के रूप में उनके समक्ष मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद कृत 'आबेहयात' और 'सखुनदाने फारिस', मौ० हाली कृत 'हयाते सादी' और 'यादगारे गालिब' तथा मौ० शिबली कृत 'मवाजनए अनीसो दबीर' जैसी कृतियाँ थीं। हिंदी में इस क्षेत्र में पहल करने का बोध उन्हें था, तभी उन्होंने लिखा था कि तुलनात्मक समालोचना का 'यह मार्ग लेखक को स्वयं ढूंढ-भालकर निर्माण करना पड़ा है।'[1] शर्मा जी ने बिहारी सतसई का मिलान पहले उसके आधारभूत ग्रंथों गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुकशतक से किया, फिर उसकी फुटकर उक्तियों को भवभूति, कालिदास, भर्तृहरि की उक्तियों के परिप्रेक्ष्य में परखा; उर्दू के गालिब, सोदा, जौक, नासिख, अकबर तथा हिंदी के केशव, सुंदर, सेनापति, तोषनिधि, पद्माकर, चामीराम, कालिदास, रसखान जैसे कवियों की रचनाओं के साथ उसके दोहों को तौला और अंत में उसके अनुकरण पर बनी शृंगार सतसई, विक्रम सतसई तथा रतन हजारा को उसके सामने रखा। सर्वत्र उन्होंने तुलनीय छंदों के अर्थ बताकर उनके काव्यसौंदर्य का विवेचन करने के बाद बिहारी की ही विशेषता प्रमाणित की है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शर्मा जी ने बड़ी विदग्धता के साथ तुलनीय रचनाओं के काव्यसौंदर्य का उद्घाटन किया है किंतु यह भी सही है कि वे बिहारी के पक्षधर अधिक लगते हैं, तटस्थ विवेचक कम। 'सर्वगुण संपन्न हमारे चरित-नायक' की मनोवृत्ति से वे ऊपर नहीं उठ सके हैं। दूसरी बात यह कि उन्होंने अपने समय के साहित्य बोध की उपेक्षा कर मध्ययुगीन काव्य प्रतिमानों के आधार पर ही बिहारी के काव्य की प्रशंसा और व्याख्या की है। उनकी मान्यता थी "प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि' के आदर्श पर नहीं रचे गए, उन्हें इस गज से नहीं नापना चाहिए, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है।"[2] जहाँ तक प्राचीन काव्य को समझने का सवाल है, यह मान्यता सही है, किंतु जहाँ उसकी परख का सवाल आता है वहाँ समकालीन युगबोध की उपेक्षा करने पर निष्कर्ष अमान्य हो जा सकता है। बिहारी के विरह-ताप-वर्णन की जिन उक्तियों को आज का युगबोध हास्यास्पद समझता है, शर्मा जी उनकी भी तारीफ पर तारीफ करते चले गए हैं। इसीलिये शर्मा जी की समालोचना का प्रभाव समकालीन साहित्य सर्जना पर नहीं के बराबर पड़ा। तीसरी बात यह कि भाव विभोर होते ही शर्मा जी की भाषा और शैली 'वाह वाह' से भरपूर हो आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'शाबाशी का महफिली तर्ज' निभाने लगती है। कविता का रसास्वादन

१. बिहारी सतसई (तुलनात्मक अध्ययन), पृ० ३५।
२. उपर्युक्त, पृ० १६०।

करने में असमर्थ होते ही जो स्वाभाविक उल्लास होता है, उसकी अभिव्यक्ति समालोचना में जब उन्मुक्त रूप से होती है तब उसे 'प्रभावाभिव्यंजक आलोचना' का रूप प्राप्त होता है। शर्मा जी की आलोचना में कहीं कहीं इसका अतिरेक हो गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि समीक्षा करते समय इस प्रकार का हर्षोद्गार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी कई स्थलों पर प्रकट किया है किंतु उनका गंभीर स्वभाव उसे नियंत्रित रखता है जबकि शर्मा जी की जिंदादिली और उमंग अंकुश नहीं स्वीकारती। इसी तरह मिश्रबंधुओं के साथ की गई छेड़छाड़ से शर्मा जी की आलोचना में सस्ती रोचकता तो आई है किंतु उसका उद्देश्य क्षतिग्रस्त हुआ है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

शर्मा जी ने बिहारी की तुलना देव से किए बिना उन्हें हिंदी का सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि घोषित कर दिया था। इस प्रकार देव के संबंध में किए गए मिश्रबंधुओं के दावे को परखे बिना ही उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। उनकी 'तुलनात्मक आलोचना' का काफी प्रभाव हिंदी के तत्कालीन विद्वानों पर पड़ा था। अतः उन्हीं की विधा को स्वीकार कर देव की बिहारी के साथ तुलना कर देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने तथा मिश्रबंधुओं पर किए गए कई आक्षेपों का निराकरण करने के लिये पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' (सं० १९७७) नामक पुस्तक लिखी। मिश्र जी की आलोचना संयत है, वे विषय के कुशल प्रतिपादन में समर्थ हैं। चतुर वकील की तरह वे अपने कथन को ग्राह्य बनाने के लिये प्रभावशाली भूमिका बाँधते हैं और अपनी तर्क परंपरा से अपने अभीष्ट निष्कर्ष को संगत सिद्ध करने का अच्छा प्रयास करते हैं। ब्रजभाषा की मधुरता, समालोचना का महत्व, तुलनात्मक समालोचना की प्रक्रिया एवं उपयोगिता को स्पष्ट कर उन्होंने अपनी आलोचना को ऊँची पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। तत्पश्चात् हिंदी में शृंखलामूलक तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्तक पं० पद्मसिंह शर्मा के कार्य के महत्व को स्वीकारने के अनंतर बिहारी के साथ उनके अनुचित पक्षपात के कई उदाहरण दिए हैं। इससे उन्होंने यह प्रभाव डालना चाहा है कि वे निष्पक्ष समीक्षा करने जा रहे हैं।

किंतु मिश्र जी की 'देव और बिहारी' की समीक्षा संयत और मार्मिक होते हुए भी निष्पक्ष नहीं है। यह स्वीकार करते हुए भी कि 'भिन्न भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न भिन्न कवि श्रेष्ठ हैं। इसका निर्णय करना कि इनमें क्रमानुसार कौन श्रेष्ठ है, बहुत ही कठिन है'[1] मिश्र जी की मान्यता थी कि देव बिहारी से श्रेष्ठ कवि हैं। फलतः देव की तुलना में बिहारी को हीन कवि प्रतिपन्न करने का और मिश्रबंधुओं पर वाग्बाण बरसाने के दंडस्वरूप शर्मा जी पर प्रत्याक्रमण करने का बद्धमूल भाव

---

१. देव और बिहारी, पृ० ४७।

इस पुस्तक में जगह जगह झलकता है। प्रेम, मन, नेत्र आदि के विवेचन प्रसंगों में देव के मुकाबले में बिहारी के पक्ष को सम्यक् रूप से नहीं रखा गया है। किंतु ऐसा भी नहीं है कि बिहारी के वैशिष्ट्य को नकारा गया हो या बीच बीच में उनकी रचनाओं की भी सहृदयतापूर्ण विवेचना न की गई हो। बिहारी के प्रसिद्ध दोहे 'यह मैं तो ही में लखी ..' के छंद, वर्ण्य, गुण, रस, वृत्ति आदि के निरूपण के बाद उसमें १६ अलंकारों की स्थापना की गई है। किंतु देव के विवेचन क्रम में मिश्र जी की बुद्धि से अधिक मुखर उनका हृदय हो उठता है, 'देव जी के जितने ही अधिक उत्तम छंद छाँटने का हम उद्योग करते हैं, हमारा परिश्रम उतना ही बढ़ता जाता है, क्योंकि देव जी का कोई शिथिल छंद हस्तगत ही नहीं होता।'[1] यह दृष्टि बिहारी के समस्त दोषों का परिहार करने के लिये कटिबद्ध शर्मा जी की दृष्टि से बहुत भिन्न तो नहीं कही जा सकती। फिर भी यह सही है कि मिश्र जी भावावेग में शर्मा जी की तरह बहते नहीं। शर्मा जी की तरह ही मिश्र जी भी रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि की तुला पर ही काव्य गुणों को तोलते हैं। चूंकि देव और बिहारी दोनों रीतिकालीन ही नहीं, रीतिबद्ध कवि भी थे अतः यह कसौटी काम दे गई। छंदों की विवेचना में मिश्र जी ने प्राचीन टीका परंपरा का आधुनिकीकरण कर भावों की स्पष्ट व्याख्या तथा चमत्कारों का निरूपण किया है। पश्चिमी समीक्षा से उनके परिचय ने उनकी समीक्षा के बाह्य रूपविधान को संतुलित और व्यवस्थित जरूर किया है किंतु उसके अभ्यंतर को प्रभावित नहीं किया है। रीतिकालीन सामाजिक आधार के कारण देव और बिहारी के काव्य में आई विकृतियों (या आधुनिक युग में अग्राह्य प्रवृत्तियों) का विचार न कर केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उनके काव्यवैभव का उद्घाटन करनेवाले प्रयासों में 'देव और बिहारी' कदाचित् सर्वाधिक प्रौढ़ समीक्षा ग्रंथ है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में विस्तारपूर्वक मतिराम के काव्य की आलोचना की है। नोकझोंक न होने के कारण इसमें लेखक का स्वर सहज है। आवश्यक जानकारी जुटाने और भाषा, रस, अलंकार आदि की दृष्टि से मतिराम के काव्य-विवेचन में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। किंतु यह भी सच है कि इस भूमिका में आलोचना के किसी नए उन्मेष का आभास नहीं मिलता है। बल्कि तुलना के लिये कई बार अनावश्यक खींच तान करने और स्वच्छंदतावादी पश्चिमी कवियों की मान्यताओं से रीतिकालीन काव्य की रुग्ण विलासिता का भी समर्थन करने पर कुछ क्षोभ होता है।

लाला भगवानदीन

'देव और बिहारी' के प्रत्युत्तर में लाला भगवानदीन की पुस्तक 'बिहारी

---

१. उपर्युक्त, पृ० १२२।

और देव' सामने आई क्योंकि उन्हें लगा कि 'एक बिहारी पर चार चार बिहारियों का धावा देखकर बेचारा हिंदी साहित्य संसार घबड़ा उठा है'।[1] दीन जी अपने विषय के ज्ञाता थे किंतु उनकी समालोचना शैली न केवल दुर्बल बल्कि स्पष्टतः पक्षपात-ग्रस्त थी। दीन जी ने बिहारी पर लगाए दोषों को निर्मूल एवं समालोचकों की भूल सिद्ध कर देव के 'अक्षम्य' दोषों को विस्तारपूर्वक दिखाने की चेष्टा की है। शब्दों के अर्थ, स्वरूप आदि पर दीन जी का विवेचन अधिक सारवान् है किंतु जब वे बिहारी को दूषित शृंगारी कवि के इलजाम से बरी करने के लिये वह दलील देते हैं कि "यदि यह कहा जाय कि बिहारी ने भी तो नायिका भेद पर बहुत कुछ कहा है, तो इसका उत्तर यह है कि बिहारी ने जो कुछ भी कहा है वह अत्यंत पवित्र भाव से राधिका और कृष्ण के संबंध में ही कहा है और उनका कथन भक्ति भावना के अंतर्गत आ सकता है"[2] तो 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' वाली उक्ति याद आ जाती है।

दीन जी अच्छे टीकाकार थे और इसलिये उनकी भाषा की पकड़ बड़ी सच्ची थी। 'भावसाम्य' के उदाहरण भी वे 'चोरी का माल बरामद' करके दे सकते थे किंतु इतने से ही तो आलोचना की अपेक्षा पूरी नहीं हो जाती। इस पुस्तक में ही नहीं, उनकी टीकाओं की भूमिकाओं से भी यही झलकता है कि वे थोड़े में अपना मत कह दे सकते थे, उसका विस्तृत प्रतिपादन नहीं कर सकते थे। 'सूर पंचरत्न' की विस्तृत टीका उनके प्रिय शिष्यों के श्रम का फल है।

बिहारी-देव-द्वंद्व की सामयिक संगति

बिहारी और देव के इस द्वंद्व में अधिकतर विद्वानों ने केवल वैयक्तिक रुचि या लागडाँट की मनोवृत्ति ही देखी है। पर बात इससे कुछ गहरी है। वस्तुतः इसके मूल में स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति की, रस और ध्वनि की, ऋजुता और वक्रता की, भावुकता और बौद्धिकता की टकराहट है। विचार करने पर यह भी प्रत्यक्ष होगा कि इनमें पहले मूल्य समसामयिक हिंदी कविता के लिये अधिक सुसंगत (रेलेवेंट) थे। यह आकस्मिक नहीं है कि पं० कृष्णबिहारी मिश्र अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्यमूल्यों से इनकी निकटता पाते हैं और पं० पद्मसिंह शर्मा अतिशयोक्ति का समर्थन करते समय समसामयिक काव्यरुचि की भर्त्सना करते हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं मिश्रबंधु आदि स्वाभाविक, सहज, सरल कविता के समर्थक थे। उनपर कटाक्ष करते हुए शर्मा जी ने लिखा है, "आजकल का संभ्रांत शिक्षित समाज कोरी 'स्वभावोक्ति' पर फिदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि

---

१. बिहारी और देव (सं० १९८३), पृ० २।

२. उपर्युक्त, पृ० २४।

की आंख में कांटा सी खटकती है, और विशेष कर 'अतिशयोक्ति' से तो उसे कुछ चिढ़ सी है। प्राचीन साहित्य विधाताओं के मन में जो चीज कविता कामिनी के लिये नितांत उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि वैचित्र्य का दौरात्म्य है।"[1] शर्मा जी यहीं नहीं रुके हैं। द्विवेदी युगीन कविता की सपाट इतिवृत्तात्मकता का मजाक उड़ाकर उन्होंने यह भी कहा है, "नवीन आदर्श के अनुयायी काव्य विवेचक प्राचीन काव्यों का विवेचन करते समय इसे न भूलें और यह भी याद रखें कि सब जगह 'सादगी' ही आदर नहीं पाती, कविता की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहां वक्रता (बांकपन, बंकई) ही कदर और कीमत पाती है।"[2] इधर पं० कृष्णबिहारी मिश्र की शालीन संमति थी कि 'हम अतिशयोक्ति को, जिसपर शर्मा जी सौ जान से फिदा हैं, बुरा नहीं कहते, परंतु स्वभावोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के सत्प्रयोग हमें अतिशयोक्ति से अधिक प्रिय अवश्य हैं।'[3] साफ है कि बिहारी और देव को उपलक्ष्य बनाकर समालोचक गण समसामयिक काव्यमूल्यों को प्रभावित करना चाह रहे थे। बिहारी तो रीतिकालीन परंपरा में पूर्ण प्रतिष्ठित और अत्यंत लोकप्रिय कवि थे ही, उनके मुकाबले में देव जैसे कवि को (जो रीतिकाल में पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो सके थे) रखने का अर्थ यही हो सकता है कि लोकप्रिय रीतिकालीन काव्यमूल्यों से कुछ हटकर कुछ नए काव्यमूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह इसके पीछे कार्य कर रहा है। जो हो, छायावाद के समृद्धतर काव्य के संमुख आ जाने पर बिहारी और देव के माध्यम से काव्यमूल्यों पर बहस करना अनावश्यक हो गया. इसीलिये यह झगड़ा आगे नहीं बढ़ा। यह भी तात्पर्यपूर्ण तथ्य है कि देव के समर्थकों ने नए छायावादी काव्य का स्वागत किया और बिहारी के समर्थकों ने उसका घोर विरोध।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक समीक्षा करने का तो बहुत से आलोचक इस काल में करते रहे किंतु उसका ऊँचा आदर्श पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं बाबू बालमुकुंद गुप्त ने ही प्रस्तुत किया। द्विवेदी जी की प्रौढ़ और अपेक्षाकृत विस्तृत पुस्तक समीक्षाएं, 'समालोचना समुच्चय' में संकलित हैं। निस्संदेह 'हिंदी नवरत्न' की द्विवेदी जी द्वारा लिखित समीक्षा द्विवेदी युग की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक समीक्षा है. उसके सिद्धांत विवेचन पक्ष की कुछ चर्चा हो चुकी है, भाषा विवेचन की चर्चा आगे होगी। बाबू

---

१. बिहारी की सतसई (तृ० अ०), पृ० १५६-६० ।

२. उपर्युक्त, पृ० १६०।

३. देव और बिहारी, पृ० २४१।

शिवप्रसाद गुप्त की पुस्तक 'पृथिवी प्रदक्षिणा' की समीक्षा द्विवेदी जी की दृष्टि को भी स्पष्ट करती है। धर्म के झूठे बंधन से ऊपर उठकर भूपर्यटन की प्रेरणा देनेवाली इस ज्ञानवर्धक पुस्तक की द्विवेदी जी ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। गुप्त जी के देशप्रेम, मातृ-भाषा प्रेम, संतुलित सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ ही साथ इस पुस्तक की सरल मीठी भाषा और भावपूर्ण शैली की भी द्विवेदी जी ने बहुत सराहना की थी।

श्री सूर्यनारायण दीक्षित की पुस्तक 'अकबर के राजत्व काल में हिंदी' की आलोचना करते समय द्विवेदी जी ग्रियर्सन की विचारधारा से प्रभावित इस मत का निराकरण किया कि अकबर के सुशासन में देश में शांति की स्थापना के कारण ही हिंदी कविता की इतनी उन्नति हो गई। उनके मतानुसार "अकबर के जमाने में जो हिंदी की इतनी उन्नति हुई, वह विशेष करके तुलसी और सूरदास की रचनाओं से। इन कवियों को किसी का आश्रय न था—न अकबर का, न उसके दरबारियों का।" राजाश्रय से ही उत्तम कविता हो सकती है, इस सिद्धांत का भी उन्होंने विरोध किया। द्विवेदी जी ने अकबर के समय में हिंदी की उन्नति को आकस्मिक घटना, "दैव योग से उस समय दो, तीन अच्छे कवियों के उत्पन्न हो जाने का सुपरिणाम" बताया है। समाज-शास्त्रीय ज्ञान के उपयोग द्वारा आज का विचारक साहित्य के गहरे सामाजिक आधार एवं विकास के प्रेरक तत्वों को समझने का जैसा सुयोग पाता है, वैसा उस समय संभव नहीं था, अतः द्विवेदी जी का यह समाधान अधूरा और असंतोषजनक है; किंतु उनके साथ न्याय करने के लिये यह उल्लेख करना आवश्यक है कि द्विवेदी जी सही दिशा की ओर जाकर भटक गए थे। उन्होंने लिखा था, 'हाँ वैष्णव धर्म उस समय जरूर जोर पर था। उसके कारण हिंदी की उन्नति मानी जाय तो मानी जा सकती है। परंतु थोड़ी ही, क्योंकि तुलसी और केशव के ग्रंथ इस धर्म के जोर पकड़ने के कारण नहीं बने।'[२] वैष्णव धर्म की उन्नति के साथ हिंदी के भक्ति साहित्य को जोड़ना सही दिशा है। वैष्णव धर्म को केवल कृष्णभक्ति समझ लेने की गलती के कारण ही रामभक्त तुलसीदास को द्विवेदी जी उससे नहीं जोड़ सके। जो हो, पुस्तक समीक्षाओं के कारण ही द्विवेदी जी उस समय सबसे प्रभावशाली आलोचक माने जाते थे।

पुस्तक समीक्षा का विधायक और तेजस्वी रूप बाबू बालमुकुंद गुप्त की समीक्षाओं में भी प्रकट हुआ था। पं० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा', पं० अयोध्याय सिंह उपाध्याय के उपन्यास 'अधखिला फूल', ज्योतिरिंद्रनाथ ठाकुर के बँगला नाटक 'अश्रुमती' आदि कई ग्रंथों की सशक्त आलोचना गुप्त जी ने की थी।

---

१. समालोचना समुच्चय, पृ० १७३।

२. उपर्युक्त, पृ० १७५।

कवींद्र रवींद्र के बड़े भाई ज्योतिरिंद्रनाथ ठाकुर ने 'अश्रुमती' नाटक में महाराणा प्रताप की कल्पिता कन्या 'अश्रुमती' का सलीम के प्रति प्रेमभाव दिखाया था। श्री ठाकुर के इस काल्पनिक चित्रण को महाराणा प्रताप की मर्यादा को कलुषित करनेवाला बताकर गुप्त जी ने उसकी कड़ी आलोचना की थी जिसके फलस्वरूप उसके हिंदी अनुवाद की समस्त प्रतियाँ स्वयं अनुवादक मुंशी उदितनारायण जी ने गंगा में फेंक दी थीं। 'अश्रुमती' के लेखक ज्योतिरिंद्रनाथ ठाकुर ने पहले तो कला की दृष्टि से अपने कथानक का समर्थन किया था किंतु बाद में गुप्त जी की आलोचना के औचित्य को मानकर अपनी पुस्तक में संशोधन करने या उसका प्रचार बंद कर देने के संबंध में गुप्त जी के सुझाव पर अमल करने का आश्वासन दिया था। पुस्तक समीक्षा का ऐसा व्यावहारिक परिणाम क्वचित् ही देखने में आता है।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की लेखमाला, 'कालिदास की निरंकुशता' (१६११ ई०) की विस्तृत समीक्षा 'मनसाराम' के नाम से 'भारतमित्र' में 'निरंकुशता निदर्शन' शीर्षक से धारावाहिक रूप से सं० १६६७ में की। बाद में ये दोनों लेखमालाएँ सं० १६६७ में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। चतुर्वेदी जी ने कालिदास पर लगाए गए निरंकुशता के आरोपों को गलत ठहराकर द्विवेदी जी पर व्यंग्यों कटाक्षों की वर्षा सी कर दी। बाबू बालमुकुंद गुप्त की शैली का अनुकरण चतुर्वेदी जी के लिये श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हुआ। द्विवेदी जी ने कालिदास के प्रयोगों में अनौचित्य का निर्देश नैतिकता तथा प्राचीन आचार्यों एवं मान्य टीकाकारों के आधार पर ही किया था। उनसे असहमत होकर उनके मतों का खंडन करना तो ठीक था किंतु उनपर व्यक्तिगत आक्षेपों, ताने-तिश्नों की बौछार करना उचित नहीं कहा जा सकता। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने भी चतुर्वेदी जी के कुछ निराकरणों को स्वीकार करते हुए भी 'मनसाराम' की शैली की भर्त्सना की थी। द्विवेदी जी ने तो अप्रैल, १६११ की 'सरस्वती' में मनसाराम की आलोचना को 'अन्याय, असत्य, असभ्यता, पक्षपात, उपहास और परिहास पर आश्रित' बताया। इस समीक्षा से धुआँ ही ज्यादा फैला, प्रकाश कम।

भाषा संबंधी आलोचना

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक आलोचनाओं के प्रशंसक न होते हुए भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनके भाषासंस्कार के महत्व को स्वीकारते हुए लिखा है, 'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिंदी के बड़े बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों

ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।'[1]

द्विवेदी जी ने भाषा संबंधी त्रुटियों की कठोर आलोचना के द्वारा ही अपना आलोचक जीवन आरंभ किया था। बाद में कुछ उदार हो जाने के बावजूद भाषा की शुद्धता और बोधगम्यता पर वे अंत तक जोर देते रहे। द्विवेदी जी की 'हिंदी कालिदास की समालोचना' तथा 'हिंदी शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना' में मुख्यतः भाषा संबंधी अशुद्धियों की ही समीक्षा की गई है। नवंबर, १९०५ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक अपने लेख में द्विवेदी जी ने भाषा की अनेकरूपता एवं परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करते हुए यह मत प्रतिपादित किया था कि लिखित भाषा की एकरूपता बनाए रखने के लिये हिंदी के सर्वांगपूर्ण व्याकरण का प्रणयन एवं लेखकों द्वारा उसका अनुगमन आवश्यक है।

'अनस्थिरता' संबंधी विवाद

इसी लेख में उन्होंने 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग किया था जिसे पकड़कर बाबू बालमुकुंद गुप्त ने 'आत्माराम' के नाम से 'भारत मित्र' में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित की जिसमें हिंदी के संमान्य, दिवंगत एवं जीवित लेखकों की भाषा संबंधी त्रुटियाँ दिखानेवाले द्विवेदी जी की भाषा संबंधी भूलों और विसंगतियों की परिहासपूर्ण चर्चा की गई थी। शीघ्र ही इस आलोचना समर में हिंदी के बहुतेरे विद्वान् द्विवेदी जी या गुप्त जी के समर्थक के रूप में आ जुटे और बहुतों ने आलोचना प्रत्यालोचना के रूप में लेख लिखे। द्विवेदी जी के समर्थकों में पं० गोविंद नारायण मिश्र, पं० देवीप्रसाद शुक्ल, पं० गिरिजाप्रसाद वाजपेयी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि थे तो गुप्त जी के पक्षधरों में पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० अक्षयवट मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि प्रमुख थे।[2] वस्तुतः यह आलोचना प्रत्यालोचना हिंदी के लेखकों को भाषा की शुद्धता के प्रति सचेत करनेवाली प्रघात चिकित्सा (शाक ट्रीटमेंट)

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२८।

२. 'अनस्थिरता' संबंधी विवाद के वैयक्तिक पक्ष की विस्तृत जानकारी के लिये अक्तूबर—दिसंबर, ६६ की 'आलोचना' में प्रकाशित 'साहित्यिक द्वंद्व : गुप्त-द्विवेदी-संघर्ष के संदर्भ में' शीर्षक मेरा लेख देखें। इस विवाद के सैद्धांतिक पक्ष के विस्तृत विवेचन के लिये मेरी पुस्तक 'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' के 'हिंदी आलोचना को श्री बालमुकुंद गुप्त की देन' शीर्षक लेख के ९२-११२ पृष्ठ देखें।

प्रमाणित हुई। इसके पहले इतने बड़े पैमाने पर, इतने तीखेपन के साथ हिंदी के शब्दसमूह, वाक्य निर्माण, संस्कृत, प्राकृत, फारसी, उर्दू आदि की परंपराओं के साथ उसके संबंध आदि विषयों पर विचार नहीं हुआ था। अत्यधिक तीखेपन और व्यक्तिगत हार जीत के भाव के कारण विचार में अपेक्षित तटस्थता तो नहीं आ पाई, फिर भी यह सत्र है कि इस विवाद ने भाषा संस्कार के कार्य को बहुत गति दी। पं० गोविंद नारायण मिश्र द्वारा हिंदी व्याकरण के सहारे अनरीति, अनरस, अनहोनी, अनमिल आदि हिंदी शब्दों की तरह ही 'अनस्थिरता' शब्द को शुद्ध सिद्ध कर देने पर[1] तथा द्विवेदी जी द्वारा उनके तर्क को स्वीकार कर लेने पर[2] अर्धसत्य के सहारे द्विवेदी जी इस समालोचना युद्ध में जीत तो गए पर गुप्त जी के पक्ष में भी पर्याप्त सत्यांश है, यह भी स्पष्ट हो गया।

इस भाषा संबंधी विवाद में अंतर्निहित कुछ महत्वपूर्ण किंतु व्यक्तिगत रोष क्षोभ के घटाटोप से छिप से गए प्रश्नों पर संक्षिप्त विचार करना लाभदायक होगा।

पहला प्रश्न था कि व्याकरण और शिष्ट भाषाप्रवाह में कौन अधिक महत्वपूर्ण है। द्विवेदी जी और गुप्त जी दोनों इन दोनों तत्वों का गौरव स्वीकार करते थे फिर भी द्विवेदी जी व्याकरण को और गुप्त जी शिष्ट भाषाप्रवाह या 'बामुहावरा' भाषा को अधिक महत्व देते थे। द्विवेदी जी कथित भाषा और लिखित भाषा में अधिक अंतर मानते थे। संभवतः कथित भाषा से उनका तात्पर्य बोलचाल की खड़ी बोली से ही नहीं, ब्रज, अवधी आदि हिंदी की बोलियों से भी है।[3] वे कथित भाषा को स्वतंत्रता देकर, लिखित भाषा में व्याकरण की सहायता से एकरूपता लाना चाहते थे ताकि उसमें स्थिरता और व्यापकता आ सके। गुप्त जी शिष्ट जनों की बोलचाल की और लिखने की भाषा में कोई अंतर नहीं मानना चाहते थे और बोलचाल की धारा के अनुरूप ही लिखित भाषा में भी प्रयोगभेद की छूट देना चाहते थे ताकि उसमें जीवंतता और स्वाभाविकता बनी रह सके।[4] तटस्थ विचार करने पर यह मानना पड़ेगा कि जीवित भाषाओं पर व्याकरण का अनुल्लंघनीय शासन नहीं चल सकता। साहित्य रचना के लिये शिष्ट-भाषा-प्रवाह का अनुशीलन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें व्याकरण के नियमों का स्थूल अनुगमन होने के स्थान पर उनका सूक्ष्म अंतर्भाव होता है, जो साहित्यिक प्रयोगों की लोकोत्तरता और सुंदरता का हेतु है। बाद में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस मत को मान लिया था।

---

१. श्री गोविंद निबंधावली (प्र० स०), आत्माराम की टें टें, पृ० ६ तथा २१।

२. वाग्विलास, पृ० १५२।

३. उपर्युक्त, पृ० ८३।

४. गुप्त निबंधावली (प्र० स०), पृ० ५४२–४३।

१६२३ ई० में हिंदी साहित्य संमेलन के तेरहवें अधिवेशन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से भाषण करते हुए उन्होंने स्वीकार। था कि 'वक्ताओं' का मुंह और लेखकों की लेखनी वैयाकरण नहीं बंद कर सकते। एक शब्द या एक पद दो तरह भी लिखा जा सकता है और यदि दोनों रूपों के आश्रयदाता शिष्ट जन हैं तो वे दोनों ही प्रचलित हो जाते हैं और दोनों ही शुद्ध माने जाते हैं। इसमें न तर्क काम देता है, न व्याकरण, न कोष।'[1] १६०५-६ ई० में बाबू बालमुकुंद गुप्त का प्रतिपाद्य बिलकुल यही था।

खड़ी बोली हिंदी के लेखक संस्कृत, हिंदी और फारसी-उर्दू की परंपराओं का समन्वय कैसे करें, यह दूसरा बड़ा प्रश्न था। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-हिंदी की परंपरा उनके लिये मुख्य जीवनस्रोत थी किंतु फारसी उर्दू की परंपरा में मंजकर खड़ी बोली का जो परिष्कार हुआ था, उसका उपयोग कर अपने प्रयोगों को प्रशस्त करना उन्हें नितांत समीचीन लगता था। द्विवेदी–गुप्त दोनों इस मूल सिद्धांत पर एकमत थे कि हिंदी के खड़ी बोली रूप का विकास मुख्यतः संस्कृत के तत्वावधान में किंतु उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। सरल संस्कृत शब्दों की बहुलता के बावजूद अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों का खुले दिल से व्यवहार करने के पक्ष में भी दोनों विद्वान् थे। फिर भी द्विवेदी जी पर संस्कृत-हिंदी-परंपरा का संस्कार और गुप्त जी पर उर्दू का प्रभाव अधिक था। गुप्तजी भी हिंदी के स्वतंत्र विकास के पक्षपाती थे और इसीलिये उन्होंने हिंदी में प्रयुक्त होनेवाले अरबी, फारसी के शब्दों के नीचे नुकता लगाने का विरोध भी किया था।[2] किंतु उर्दू की देहली और लखनऊ शैलियों के प्रति उनके मन में अतिरिक्त संमान था। अतः सिद्धांत की एकता के बावजूद व्यवहार में द्विवेदी-गुप्त में 'जब, तब', 'जो, तो' 'लेखनी उठाना चाहिए, लेखनी उठानी चाहिए' तथा 'यह, वह' के बहुवचन रूप में ये, वे' के प्रयोगों को लेकर विवाद हुआ था। द्विवेदी जी और पं० गोविंद नारायण मिश्र ने हिंदी की परंपरा के अनुसार साधारणतः जब के साथ तब और जो के साथ तो का तथा विशेष स्थितियों में परवर्ती 'तब, तो' के लोप का भी समर्थन किया था, 'लेखनी उठानी चाहिए' जैसे प्रयोगों को अधिक उचित माना था और भले ही उर्दू वाले 'वह' और 'यह' का प्रयोग बहुवचन में भी करते हों, हिंदी वालों को बहुवचन में 'ये' और 'वे' के प्रयोग की ही सलाह दी थी। मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न पर द्विवेदी जी की दृष्टि का ही अनुगमन अधिक हुआ और होना चाहिए।

गुप्त जी ने द्विवेदी जी की भाषा पर यह आरोप भी लगाया था कि

१. साहित्यालाप १६२४ ई०, पृ० ३००।

२. गुप्त निबंधावली, हिंदी में बिंदी, पृ० १४०–५२।

'तरजमे से भाषा तैयार' करने के कारण उनकी भाषा में 'असलियत' नहीं रहती। उनकी यह शिकायत भी थी कि वे बहुधा संस्कृत के कठिन और भारी भरकम शब्द रखकर अपनी भाषा को 'गुट्ठल' बना देते हैं। यह सच है कि द्विवेदी जी ने संस्कृत, मराठी, बँगला, उर्दू अंग्रेजी आदि भाषाओं से बहुत अधिक अनुवाद किया था, अतः कई स्थलों पर उनकी भाषा स्वच्छंद न होकर बँधी बँधी सी लगती थी, पर यह आरोप सही नहीं माना जा सकता कि द्विवेदी जी अकारण संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करते थे। प्रयोजन पड़ने पर भावों विचारों के अनुरूप संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हिंदी के गंभीर लेखन के लिये अनिवार्य है। गुप्त जी की तरह भाषा के कुशल प्रयोक्ता न होने पर भी द्विवेदी जी ने व्याकरण शुद्ध भाषा लिखकर तथा सरस्वती के संपादन काल में अनेक लेखक की व्याकरण विरुद्ध भाषा का संशोधन कर ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। वस्तुतः द्विवेदी जी हिंदी भाषा के समर्थ शास्ता थे।

शब्दों के स्वरूप पर विचार

भाषा पर समालोचना का एक पक्ष शब्दों के प्रयोग एवं निर्माण के विचार के रूप में उभरा। भारतेंदु युग में संस्कृत के सरल तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का प्रचुर प्रयोग होता था। डॉ० ग्रियर्सन व्यक्तियों के नामों की वर्तनी भी उच्चारण के अनुकूल तद्भव रूप में ही अपने ग्रंथ 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान' में लिख गए हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार हिंदी में तद्भव शब्दों और वर्तनियों का प्रचुर प्रयोग ही उचित है। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भाषा की इसी शैली का अनुगमन करते हुए 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' जैसे उपन्यास लिखे। इसी तरह मिश्रबंधु भी 'नायिका' को 'नायका', नाइका', 'मूर्द' को 'मूर्ख', 'सकता' को 'सक्ता', 'ईर्ष्या' को 'ईर्षा, इर्खा, इर्शा, लिखने की तथा 'ब' और 'व' एवं 'श' और 'स' का इच्छानुरूप प्रयोग करने की छूट देने के पक्ष में थे। उनका कहना था, "हम स्वीकार करते हैं कि ऐसी दशा में हमारी भाषा में कुछ अनस्थिरता अवश्य रहेगी पर हमें उसी की जरूरत है। हम विशेष स्थिरता चाहते ही नहीं।"[1] बाबू बालमुकुंद गुप्त और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी दोनों इस कृत्रिम सरलता एवं अव्यवस्था के विरुद्ध थे। दोनों हिंदी के संस्कृतनिष्ठ किंतु सरल, बोधगम्य नागर रूप को ही आगे बढ़ाना चाहते थे। तथाकथित 'ठेठ हिंदी' की कल्पना को अस्वीकार कर कुछ रोषपूर्ण शब्दों में ही गुप्त जी ने लिखा था, "अयोध्या सिंह जी 'स्त्री' को 'इस्तरी', 'मित्र' का 'मितर' 'स्वर्ग' को 'सरग', 'शब्द' को 'सबद' आदि लिख के अपनी भाषा को सौ साल पीछे ढकेलने की चेष्टा क्यों करते हैं ?"[2]

१. मिश्र बंधुविनोद (प्रथम भाग), भूमिका, पृ० ७२।
२. गुप्त निबंधावली, पृ० ५७०।

उधर द्विवेदी जी ने 'हिंदी नवरत्न' की समीक्षा लिखते समय सैद्धांतिक असहमतियों के अतिरिक्त मिश्रबंधुओं की शिथिल भाषा के पाँच उदाहरण, वाक्य और वाक्यांश की सैकड़ों अशुद्धियों में से चुनकर बारह उदाहरण, शब्ददोष लिंग-वचन-संबंधी दोष, 'ब' और 'व' की दुर्दशा के कई उदाहरण दिए थे।[1] मिश्रबंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' का समर्थन करते हुए सैद्धांतिक आपत्तियों के उत्तर देने की चेष्टा तो की किंतु भाषा संबंधी आरोपों का खंडन नहीं किया। अपने मत में उन्होंने विशेष परिवर्तन तो नहीं किया, लेकिन हिंदी नवरत्न के दूसरे संस्करण में शब्दों के वे रूप अवश्य लिखे, 'जो पंडितों की दृष्टि में भी अधिक न खटकें।'[2] द्विवेदी जी और गुप्त जी की विचारधारा का ही अनुगमन हिंदी संसार में हुआ। हाल में आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्रीय पात्रों द्वारा कथोपकथन के समय अपनी बोली का प्रयोग करवाने की शैली इस सिद्धांत का विरोध नहीं, अपवाद है। इन्हीं उपन्यासों में लेखक जब अपनी ओर से कुछ कहता है तो वह परिमार्जित भाषा का ही प्रयोग करता है।

द्विवेदी जी पुराने शब्दों का नए अर्थ में प्रयोग करने के पक्ष में नहीं थे। वे इस प्रवाह को तो नहीं रोक सके, 'निर्भर', 'आंदोलन', 'कटिबद्ध' जैसे शब्द धड़ल्ले से चले, किंतु हाँ, 'बाधित' का 'कृतज्ञ' के अर्थ में प्रयोग उनके विरोध के कारण रुक गया। इसी तरह 'सराहनीय', 'अकाट्य' जैसे संकर शब्दों की रोकथाम करने की पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की चेष्टा को अनावश्यक बताते हुए पं० गोविंद नारायण मिश्र ने बताया कि यह प्रवृत्ति भाषा के विकास के लिये आवश्यक है और पुराने समय से चली आ रही है। उनके शब्दों में, 'जैसी हो होतव्यता तैसी उपजे बुद्धि' हिंदी में पुराना प्रचलित पद्य है। संस्कृत के पंडित 'होतव्यता' को अशुद्ध ही कहेंगे। परंतु हिंदी में यह शुद्ध रूप से चला आ रहा है। 'होतव्यता' का जिस भाषा में चलन है, उसमें 'सराहनीय' कैसे अशुद्ध कहा जायगा ?'[3] अतिरेकों का विरोध करते हुए साधारण सिद्धांत यही था कि संस्कृत के शब्दभंडार के उपयोग के साथ ही साथ अन्यान्य भाषाओं से भी प्रयोजनीय शब्दों को लेने, पुराने शब्दों में नए अर्थ भरने, नए शब्द गढ़ने की प्रक्रिया चालू रहनी चाहिए। हिंदी के तद्भव शब्दों का प्रचुर प्रयोग तो अनिवार्य है ही, किंतु तत्सम रूप में प्रचलित शब्दों की विकृति के रूप में उनके व्यवहार पर अंकुश लगाया गया। अरबी, फारसी के कठिन शब्दों के व्यवहार की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करते हुए भी उनके प्रचलित शब्दों का इस्तेमाल करते रहने की जोरदार हिमायत की गई।

---

१. 'समालोचना समुच्चय' में संकलित 'हिंदी नवरत्न' की समीक्षा का उत्तरार्ध देखिए।

२. हिंदी नवरत्न, दूसरे संस्करण की भूमिका, पृ० ७।

३. श्री गोविंद निबंधावली, पृ० ।≡)॥

विभक्तिविचार

विभक्तियों को पदों से मिलाकर या अलग रखकर लिखना उचित है, इस-पर भी अच्छा खासा विवाद हुआ था। बीम्स के व्याकरण के आधार पर पं० अंबिकादत्त व्यास ने १८९२ ई० में विभक्तियों को पदों से अलग लिखने का प्रस्ताव किया था। उसी समय 'हिंदी बंगवासी' के संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने उसका विरोध किया था। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने बाद में व्यास जी के मत का समर्थन करते हुए सर्वनामों के साथ विभक्तियों को जोड़कर तथा अन्य क्षेत्रों में अलग कर लिखने की संमति दी। पं० सखाराम गणेश देउस्कर ने २ दिसंबर, १९०८ ई० को 'विभक्ति प्रत्यय' शीर्षक पत्र लिखकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से जानना चाहा कि वे सरस्वती में विभक्ति अलग करके क्यों लिखते हैं। द्विवेदी जी ने उस समय इसका उत्तर नहीं दिया, किंतु बाबू भगवानदास हालना, लाला भगवानदीन, पं० रामचंद्र शुक्ल आदि बारह तेरह सज्जनों ने पदों से विभक्तियों को अलग कर लिखने का तथा पं० गोविंद नारायण मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी आदि सत्रह अट्ठारह विद्वानों ने विभक्तियों को सटाकर लिखने का समर्थन किया। पं० गोविंद नारायण मिश्र ने इस संबंध में 'विभक्ति विचार' नामक लेखमाला लिखकर यह सिद्ध करना चाहा कि हिंदी की विभक्तियाँ प्राकृत विभक्तियों से उद्भूत हैं, पद सविभक्तिक ही हो सकते हैं, अतः विभक्तियों को सटाकर ही लिखना चाहिए। तर्कपुष्ट होते हुए भी इस मत का अनुगमन नहीं हुआ।

अपर पक्ष के विद्वान 'ने', 'को', 'से', 'में' आदि को स्वतंत्र शब्द मानते थे और उन्हें अलग लिखना प्रशस्त समझते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य संमेलन के तेरहवें अधिवेशन में प्रदत्त अपने भाषण में विभक्तियों को अलग लिखने के समर्थन मे यही मुख्य तर्क दिया है कि 'शब्द अलग अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की संभावना कम रह जाती है।'[1] वे इसे व्याकरण का विषय न मानकर लिखने के ढंग का विषय मानते थे। आधुनिक भाषाविज्ञानी 'ने', 'को', 'से' आदि को विभक्ति न कहकर 'परसर्ग' कहते हैं और आजकल उन्हें अलग करके लिखने की परिपाटी ही ज्यादा प्रचलित है।

द्विवेदी युग के आरंभ में भाषा के स्वरूप की आलोचना को जो प्रमुखता प्राप्त थी, उत्तरोत्तर वह कम होती चली गई। इसका एक कारण यह भी था

---

१. साहित्यालाप, पृ० २९३।

कि सामान्यतः भाषा के परिनिष्ठित स्वरूप का ही लेखकगण अनुगमन करने लगे थे। इसलिये आलोचना वक्तव्य विषय या भाषा के सौष्ठव और शैली के औचित्य की अधिक होने लगी। स्वयं द्विवेदी जी ने १९१५ ई० में लिखा, 'छंद, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं। इन्हीं पर जोर देना अविवेकता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होतीं किससे नहीं।'[1] इस उदारता का अर्थ यह नहीं है कि द्विवेदी जी व्याकरण विरुद्ध भाषा लिखने की छूट दे रहे हैं। इसका अर्थ यही है कि बड़े और मान्य लेखकों की भाषा में काफी मंजाव और परिष्कार आ चुका था और भाषा के स्वरूप के संबंध में कुछ सामान्य सिद्धांत स्थिर हो चुके थे, अतः छोटी छोटी त्रुटियों की ओर विशेष ध्यान देने का प्रयोजन नहीं रह गया था। वैसे द्विवेदी जी और गुप्त जी का उत्तराधिकार वहन करनेवाले पं० किशोरीदास वाजपेयी तथा बाबू रामचंद्र वर्मा भाषा परिष्कार के कार्य को अगले युग में आगे बढ़ाते रहे।

टीका पद्धति

आलोचना की प्रतिष्ठा ज्यों ज्यों बढ़ी, टीका की त्यों त्यों घटी। पुराने समय से कृतियों के मर्मार्थ का प्रकाशन टीकाकार, भाष्यकार अपनी व्याख्या के द्वारा करते आ रहे थे। अब कुछ अधिक व्यापक दृष्टि से रचना या रचनाकार के मूल्यांकन का काम समालोचना ने अपने ऊपर ले लिया। टीकाकार रचना के विषम पदों की व्याख्या करे या सुगम दुर्गम समस्त पदों की निरंतर व्याख्या करे, रचनाकार से अपने को बड़ा नहीं मान सकता था जब कि द्विवेदी युग का समालोचक साहित्य का न्यायाधीश, गुरु, रक्षक था। इस उच्च पद से स्खलित होकर कौन 'अनुकर्ता बने, शायद इस भाव के कारण और शायद इसलिये भी कि खड़ी बोली की द्विवेदी यगीन कविताओं की टीका का प्रयोजन ही नहीं था एवं हृतगौरव ब्रजभाषा के काव्यों पर परिश्रम करने का विशेष सुफल न था, नई रोशनी के विद्वानों ने टीका की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। सामान्य जन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये व्यवसायी प्रकाशको ने पुराने काव्य ग्रंथों की सस्ती, उथली और अनेक बार भ्रांत टीकाएँ छापते रहने का क्रम जारी रखा था। धार्मिक ग्रंथों में तुलसीदास के 'मानस' की ओर साहित्यिक पुस्तकों में बिहारी की सतसई की टीकाएँ ज्यादा निकलती रहीं। सं० १९६० में प्रकाशित पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र की बिहारी सतसई की 'भावार्थ प्रकाशिका टीका' की कड़ी आलोचना पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'सरस्वती' में प्रकाशित 'सतसई संहार' शीर्षक लेखमाला में

---

१. विचार विमर्श, पृ० ४५।

सं० १९६७ में की थी। इसी तरह 'पद्मावति' की पं० सुधाकर द्विवेदी कृत टीका की असंगतियों का संक्षिप्त निर्देश पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' के 'वक्तव्य' में किया है।

अपाठों की टीकाओं से कलुषिता एवं म्रियमाणा सतसई को पुनरुज्जीवित करने के लिये शर्मा जी ने सतसई का 'संजीवन भाष्य' १९१४ ई० के आरंभ में लिखना शुरू किया था किंतु १२६ दोहों का भाष्य ही वे लिख सके। यह अपूर्ण भाष्य सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ। इसमें शर्मा जी की प्रतिभा और समालोचना शैली का भी अच्छा परिचय मिलता है। प्रत्येक दोहे का संक्षिप्त संदर्भ और अर्थ लिखने के बाद उन्होंने अन्य कवियों की समानार्थ उक्तियों के साथ उसकी तुलना के द्वारा विस्तारपूर्वक उसके काव्यसौष्ठव का निरूपण तथा पूर्ववर्ती टीकाकारों के मतों का खंडन मंडन एवं अलंकार निर्देशन भी किया है। यह भाष्य अपूर्ण होने पर भी पं० नंददुलारे वाजपेयी की इस उक्ति को सत्य प्रमाणित करता है कि 'वे (पं० पद्मसिंह शर्मा) अभिव्यंजना परीक्षा के आचार्य थे. शब्दगत और अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा अबाध प्रवेश था, हिंदी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया'।[1]

टीका लेखन के क्षेत्र में इस युग में सबसे अधिक काम लाला भगवानदीन ने किया। केशवदास कृत रामचंद्रिका पर 'केशव कौमुदी', कविप्रिया पर 'प्रिया प्रकाश' तथा बिहारी सतसई पर 'बिहारी बोधिनी' नाम से इन्होंने टीकाएँ लिखीं। इनके अतिरिक्त तुलसीकृत कवितावली, दोहावली तथा विनयपत्रिका पर एव दीनदयाल गिरि कृत अन्योक्ति कल्पद्रुम पर भी इनकी टीकाएँ हैं। दीन जी पहले कठिन शब्दों के अर्थ लिखकर सरल एवं स्पष्ट भाषा में छंद का भावार्थ लिख देते थे। प्रयोजन के अनुसार संदर्भ-निर्देश और अलंकार निर्देश करते चलते थे। कोई विशेष बात कहना चाहते थे तो विशेष या नोट शीर्षक के अंतर्गत उसे लिखते थे। दीन जी की टीकाएँ मुख्यतः छात्रोपयोगी होती थीं।

रत्नाकर जी का 'बिहारी रत्नाकर' बिहारी सतसई की बहुत मार्मिक टीका है। इसमें अलंकार आदि के निर्देश के पचड़े में बिना पड़े दोहों के यथार्थ भावों को स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की गई है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि रत्नाकर जी ने अनेक प्राचीन हस्तलेखों के आधार पर बिहारी सतसई का प्रामाणिक पाठ एवं दोहों का क्रम इसमें रखने का भगीरथ प्रयास किया है।

---

१. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० २।

'बिहारी रत्नाकर' की भूमिका के लिये रत्नाकर जी ने साहित्यिक परंपरा एवं ब्रजभाषा के संदर्भ में बिहारी सतसई तथा उसके दोहों के क्रमों, उसकी टीकाओं एवं बिहारी की जीवनी पर जो विद्वत्तापूर्ण विचार किया था उसे उनके पौत्र श्री रामकृष्ण ने 'कविवर बिहारी' नामक ग्रंथ के रूप में १९५३ ई० में प्रकाशित करवा दिया है। कहा जा सकता है कि इस युग में और ऐसे टीकाकार नहीं हुए जिनका साहित्यिक महत्व हो।

शोधमूलक आलोचना

अपने पांडित्यपूर्ण लेखन द्वारा शोधमूलक समीक्षा का पथ प्रशस्त करनेवाले विद्वानों में पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा (सं० १९२०–२००४) एवं पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी (सं० १९४०–१९७९) अग्रगण्य हैं। ओझा जी मुख्यत: भारतीय लिपि विशारद एवं इतिहासकार थे। इतिहास के ही संदर्भ में उन्होंने प्राचीन हिंदी साहित्य और संस्कृत साहित्य की कुछ कृतियों पर भी महत्वपूर्ण विचार किया है। सं० १९७७ में लिखित 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' नामक निबंध में इन्होंने श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा कल्पित अनंद संवत् का सप्रमाण खंडन किया। 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल' शीर्षक लेख में ओझा जी ने यह मत प्रकट किया कि पृथ्वीराज रासो की रचना सोलहवीं शताब्दी में हुई होगी। ओझा जी के अन्य साहित्यिक शोधपरक निबंधों में माघ कवि का समय, कवि राजशेखर की जाति, कवि राजशेखर का समय, बीसलदेव रासो का निर्माण काल, कवि जटमल रचित गोरा बादल की बात जैसे निबंध उल्लेखनीय है।

प० चंद्रधर शर्मा गुलेरी मूलतः पुरातत्ववेत्ता एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। हिंदी से उन्हें विशेष प्रेम था। उनके साहित्य-शोध-परक निबंधों में 'जयसिंह काव्य' एवं 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' शीर्षक निबंध उल्लेखनीय हैं। 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेखमाला में उन्होंने अपभ्रंश से हिंदी के विकास को और उसकी पारंपरिक सार्वदेशिकता को भली भाँति दरसाया है। शार्ङ्गधर पद्धति, प्रबंध चिंतामणि, कुमारपाल प्रतिबोध, बृहत् नयचक्र, सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन आदि के वैदुष्यपूर्ण विवेचन के द्वारा गुलेरी जी ने यह सिद्ध किया है कि अपभ्रंश की सहज उत्तराधिकारिणी हिंदी ही है। गुलेरी जी जयपुर से निकलनेवाले प्रसिद्ध पत्र 'समालोचक' के संपादक भी थे।

उपलब्धियाँ

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिंदी में आलोचना को साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय द्विवेदी युग को ही है। नई विधा के आरंभिक प्रयोक्ताओं से पूर्णता की आशा नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि

द्विवेदी युगीन आलोचना में अधिक गहराई नहीं है किंतु यह भी ठीक है कि उसका विस्तार और वैविध्य आश्चर्यजनक है। कालिदास से लेकर छायावादी कविता तक को आलोच्य विषय के रूप में समेटने का प्रयास कम साहस की बात तो नहीं है। एक ओर यदि आदर्शवादी, उपयोगितावादी दृष्टि से प्रेरित होकर उत्थानमूलक साहित्य की सर्जना की प्रेरणा उसमें निहित है तो दूसरी ओर काव्य के शब्दगत एवं अर्थगत सौष्ठव को परखने की परंपरागत सूक्ष्म दृष्टि भी उसे सुलभ है। समग्र हिंदी साहित्य पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने का सूत्रपात करना उसके रत्नप्रसू काव्य-शास्त्र-विनोद के कारण ही संभव हो सका। गद्य ही नहीं, कविता के भी सशक्त माध्यम के रूप में 'अनस्थिर' खड़ी बोली को परिष्कृत कर प्रयुक्त करना अपने में बहुत बड़ी बात है। टीकाओं के द्वारा मध्ययुगीन काव्य को 'संजीवन' प्रदान करना एवं शोध के द्वारा 'भट्ट भणंत' और इतिहास का पार्थक्य बताना तथा हिंदी के विकासक्रम को स्पष्ट संकेतित करना उसके गौरव को बढ़ानेवाले तत्व हैं। इन्हीं उपलब्धियों के कारण द्विवेदी युगीन आलोचना का ऐतिहासिक महत्व सदा बना रहेगा।

अध्याय ६

द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य

भारतेंदु युग में खड़ी बोली गद्य की भाषा के रूप में स्थिर हुई तो द्विवेदी युग में साहित्यिक गद्य की भाषा के रूप में प्रमाणित हुई। द्विवेदी युग में संवेदना के सारे स्तर गद्य के माध्यम से व्यक्त हुए, यहाँ तक कि कविता की प्रेरणा और कविता की संरचना पर भी निबंधात्मकता पूरी तरह छाई हुई है। द्विवेदी युग की कविता की भाषा भी गद्य की भाषा के पास है तो इसे गद्य के सर्वग्रासी प्रभाव के रूप में ही देखा जाना चाहिए। यदि द्विवेदी युग की कविताओं पर नीरस, ऐकांतिक, गद्यात्मक, उपदेशप्रद होने का आरोप लगाया जाता है तो इसका कारण यह है कि द्विवेदी युग की पूरी अभिव्यक्तिपद्धति गद्यपद्धति के भीतर है। गद्य निबंध द्विवेदी युग के केवल निकष ही नहीं हैं, चरित्र भी हैं। द्विवेदी युग की रचनात्मकता की पहचान के लिये यह जान लेना जरूरी है कि द्विवेदी युग में निबंध या गद्य केवल साहित्यिक आंदोलन के लिये नहीं हैं, जीवन को रचनेवाली धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आर्थिक और राष्ट्रीय भावना के सभी स्तरों से उसका सीधा संबंध है। जीवन की हलचल को साहित्यिक अंतर्यात्रा के रूप में लेना द्विवेदी युगीन निबंधों का लक्ष्य नहीं है। द्विवेदी युगीन भाषा जीवन की हलचल के साथ बिंब-प्रति-बिंब भाव से चलती है, बहुत दूर तक वह जीवन के सारी रूपरेखा में होने के कारण अपेक्षाकृत कम सर्जनशील है। साहित्य में जिस तरह की सूक्ष्मता, सर्जनशीलता, गहराई और अर्थरचना की जटिल नट क्रियाएं होती हैं वैसी द्विवेदी युगीन निबंधो में कम से कम मिलेंगी। उनकी विशेषता जीवन को, चाहे वह धर्म, राजनीति, भाषा, साहित्य या जातीय पिछड़ेपन किसी भी स्तर पर, जैसा है वैसा प्रस्तुत कर देने मे है। केवल साहित्य ढूंढनेवाले पाठक या इतिहासकार को द्विवेदी युगीन निबंध काफी दूर तक निराश करते हैं। लेकिन जीवन को पूरी व्यापकता और हर तरह के अधूरेपन के साथ खोजनेवाले इतिहासद्रष्टा को द्विवेदी युगीन निबंध पूरे परिचयात्मक विवरण के साथ प्रस्तावित और प्रचारित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अत: द्विवेदी युगीन निबंधों को प्रतिपादन की विविधताओं, अभिव्यक्ति की कोटियों और साहित्यिकता, तीनों दृष्टियों से देखे बिना उसके इतिहास को न सही ढंग से विश्लेषित किया जा सकता है, न साहित्यिक इतिहास का न्याय ही दिया जा सकता है।

द्विवेदीयुगीन संवेदना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और नियामक स्वर राजनीतिक चेतना के रूप में दिखाई पड़ता है। इस समय तक राजनीतिक

चेतना काफी गतिशील हो गई थी और यह साफ हो गया था कि अंग्रेज देश के दुश्मन हैं, व्यवस्था के प्रति किसी तरह का समझौता देशद्रोह के सिवा कुछ नहीं होता। जाहिर है कि राजनीतिक चेतना प्रतिपक्ष की चेतना के रूप में थी और उसे व्यवस्था के पूरे दबाव में जीना था। सहज ही राजनीतिक चेतना को सीधे शब्दों में न अभिव्यक्ति दी जा सकती थी और न उसे दबाना ही संभव था। इसलिये राजनीतिक चेतना एक ओर भारत के अतीत के गौरवगान के रूप में प्रगट की गई तो दूसरी ओर तत्कालीन दुर्दशा को उभार उघारकर रखने के रूप में। दबी हुई जनता को यह बताना जरूरी था कि वे किस महत्वपूर्ण देश के नागरिक हैं। वे क्या थे और क्या हो गए हैं?

इस दृष्टि से जो महत्वपूर्ण निबंध सामने आए उनमें पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी का 'प्राचीन भारत की एक झलक',[1] गोविंदराम काव्यतीर्थ का 'भारतीय पुरातन राजनीति',[2] शिवदास गुप्त का 'प्राचीन शासनपद्धति और राजा',[3] गंगाशंकर मिश्र का 'सम्राट् अशोक का राज्यशासन',[4] एक रामायणी का 'तुलसीदास के राजनीतिक विचार',[5] जैसे निबंधों में भारत के गौरवपूर्ण अतीत को स्पष्ट करते हुए सांकेतिक ढंग से यह स्पष्ट किया गया है कि आज की तुलना में प्राचीन काल की शासनव्यवस्था कैसी थी। इन निबंधों के समानांतर परशुराम मेहरोत्रा का 'इतिहास का महत्व',[6] श्री संपूर्णानंद का 'सच्चे ऐति-हासिक ज्ञान की आवश्यकता',[7] जनार्दन भट्ट का 'इतिहास क्या है'[8] इत्यादि निबंध इतिहास दर्शन को स्पष्ट करते हुए भारतीय गरिमा को पूरी तरह खोलते हैं। इन निबंधों में व्यवस्था के प्रति सीधा विपक्ष भाव नहीं है, केवल व्यति-रेक के लिये एक ऐसा पक्ष प्रस्तुत किया गया है जो वर्तमान के खोखलेपन को, व्यवस्था नामी अव्यवस्था को और अंग्रेजों की नीचता को समझने की नजर देता है। दूसरी ओर ऐसे निबंध भी लिखे गए जो सीधे ढंग से यह बताना चाहते हैं कि इतिहास की उपयोगिता क्या है? संतराम बी० ए० का निबंध 'भारतीय स्कूलों में इतिहास की

१—सरस्वती, मार्च, १९११।

२—सरस्वती, मार्च, १९१८—१९।

३—इंदु, दिसंबर, १९१४।

४—इंदु, अगस्त, १९१४।

५—सरस्वती, फरवरी, १९०८।

६—मर्यादा, मई, १९१९।

७—मर्यादा, अक्टूबर, १९१९।

८—सरस्वती, जनवरी, १९१३।

शिक्षा[1]' ऐसा ही निबंध है। इस तरह के सारे प्रयासों में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की बड़ी रचनात्मक भूमिका थी। वे एक और ऐसे विषयों पर लिखने के लिये समकालीन लेखकों को प्रेरणा देते थे और 'सरस्वती' में उनकी रचनाएँ छापते थे, दूसरी ओर प्रकारांतर से 'इंदु' और 'मर्यादा' जैसी पत्रिकाओं में इसी तरह की संवेदना के निबंध लिखे जायें, यह कार्य भी कर रहे थे। जब उन्हें लगता था कि राष्ट्रीय संवेदना के निर्माण का कार्य सही ढंग से नहीं हो रहा है तो वे स्वयं इस विषय पर ज्यादा से ज्यादा लिख दिया करते थे। विचार विमर्श[2], नामक निबंध संग्रह में द्विवेदी जी के कई निबंध हैं जो प्राचीन भारतीय गौरव को एक विशेष भंगिमा के साथ व्यक्त करते हैं। ऐसे निबंधों में 'भारत के प्राचीन नरेशों की दिनचर्या', 'भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता', 'भारत की प्राचीन शिक्षा का आदर्श, 'सोमनाथ के मंदिर की प्राचीनता', 'प्राचीन भारत में लोकसत्तात्मक राज्य', 'प्राचीन भारत में युवराजों की शिक्षा', जैसे निबंध विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये निबंध मुख्यतः प्रचारात्मक हैं। उनका लेखन एक खास तरह की मानसिकता के निर्माण के लिये हुआ था

धर्मक्रियाएँ जिस तरह भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अंग हैं उसी तरह राजनीतिक संवेदना का नियमन भी करती हैं। आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदी युग में राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिये ऐसे निबंध भी लिखे गए जो धार्मिक क्रियाओं, पद्धतियों और विश्वासों से जुड़े हुए हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'मर्यादा[3]' में 'मातृभूमि की पूजा' शीर्षक निबंध में मातृभूमि को ईश्वर से जोड़ा और ईश्वर के पर्याय के रूप में देखने का प्रयत्न किया। दरअसल इस निबंध में अपनी बात कहने के लिये एक ऐसी पद्धति आविष्कृत की गई है जो धार्मिक अवस्थाओं के घटकों और प्रतीकों के सहारे खड़ी है; वरना उस समय तक ऐसे विचार भी आने लगे थे कि, 'राजनीति व्यावहारिक धर्म है, वह धर्म जो बातूनी नहीं है, जहाँ कोरी फिलासफी न चले, जिसमें पढ़ने से खरे खोटे की पहचान हो जाती है। राजनीति इस लोक की बादशाहत की मशीनरी है'।[4] वैचारिक स्तर पर राष्ट्रीय चेतना काफी साफ हो चुकी थी और भारत की पुरानी संस्कृति को याद करते हुए वर्तमान को संगठित तथा सशक्त बनाने के प्रयत्न जारी थे। अनुभव किया जाने लगा था कि अब भारतवर्ष की मोहनिद्रा टूटने लगी है। शिक्षित भारतीय, वर्ग और जाति से मुक्त होते हुए अब अपने को संपूर्ण भारत का

१—सरस्वती, १९१६।

२—विचार-विमर्श, निबंध सं० २ से १५ तक।

३—मर्यादा, जनवरी, १९११।

४—सरस्वती, मार्च, १९२३, सत्यदेव परिव्राजक।

नागरिक समझने लगे थे। इस आशय की अभिव्यक्ति पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र के 'समाज सेवा'[1], नामक निबंध में हुई है। इसी तरह का विचार संपूर्णानंद ने भी 'किधर' नामक निबंध में व्यक्त किया और साफ साफ कहा, 'अब हमारे मुख मंडल पर तंद्रा के स्थान पर जागरण के चिह्न दीख पड़ने लगे हैं। हमारी बाहुओं में बल, हमारे हृदयों में उत्साह, हमारी आत्माओं मे ओज आ चला है। पराधीनता के निविड़ तम को चीरकर स्वातंत्र्य का अरुणोदय हो रहा है।[2] इस तरह द्विवेदी युग में राजनीतिक विचार पूरी भारतीय मनःसर्जना से जुड़कर व्यक्त हो रहे थे। इस युग के निबंधों में कहीं विदेशी आंदोलनों का विवरण देकर, कहीं विदेशी शासन पद्धतियों की महत्ता बताकर, कहीं अंग्रेजी शासन पद्धति की आलोचना कर, कहीं स्वतंत्रता का स्वप्न दिखाकर ऐसी निबंध रचना हो रही थी जो एक ओर साहित्य का कोश भर रही थी, दूसरी ओर जन-जीवन के चिंतन को भी शिक्षा दे रही थी। इस तरह के निबंधों मे 'अंग्रेजी प्रजा का पराक्रम'[4], 'ब्रिटिश पार्लियामेंट का विकास और उसका संगठन'[5], 'फ्रांस का राष्ट्र विप्लव'[6], 'फ्रांस की राज्यक्रांति पर एक दृष्टि'[7], नेपालियन बोनापार्ट की शासन पद्धति'[8], 'अमेरिका का प्रजातंत्र'[9], 'दक्षिणी अफ्रीका और वहां की शासन प्रथा'[10], 'इंग्लैंड की शासन पद्धति'[11], 'अमेरिका का प्रजातंत्र'[12], 'स्वराज्य की योग्यता'[13], 'स्वराज्य और भारत'[14], 'स्वाधीनता और पराधीनता'[15], 'राष्ट्रीय

१--मर्यादा, भाग १३ संख्या ६।
२--'श्री शारदा', जुलाई १६२८।
३--महावीरप्रसाद द्विवेदी, सरस्वती, मार्च, १६०८।
४--देवीप्रसाद शुक्ल, सरस्वती, मार्च, १६१८।
५--महेंद्रपाल सिंह, 'मर्यादा', सितंबर, १६१२।
६--सोमदत्त विद्यालंकार, साहित्य, अंक ६, १६२२।
७--ईश्वरीप्रसाद, सरस्वती, दिसंबर, १६२२।
८--अनंतराम वर्मा, सरस्वती, मई १६२४।
६--अनंतराम वर्मा, सरस्वती, सितंबर, १६२४।
१०--सोमेश्वरदत्त शुक्ल, मर्यादा, दिसंबर, १६१३।
११--शिवनारायण द्विवेदी, मर्यादा, जनवरी, १६१५।
१२--बालमुकुंद शर्मा, इंदु, दिसंबर, १६१४।
१३--कृष्णदेवप्रसाद, मर्यादा, नवंबर, १६१६।
१४--जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, मर्यादा, मार्च, १६१७।
१५--नंदलाल भगत, मर्यादा, अप्रैल, १६१२।

आदर्श'[१], 'स्वदेशी आंदोलन'[२], 'भारतवर्ष में क्रांति लहर'[३] जैसे निबंध भाषा की स्पष्टता और वैचारिक प्रस्तुति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना के समानांतर यह भी अनुभव किया जाने लगा था कि विदेशी प्रभुसत्ता के चलते रहने की वजह कहीं न कहीं हमारे ही भीतर है। अतीत हमारा चाहे जितना भी गौरवपूर्ण रहा हो, हमारा वर्तमान गुलामी को सहने का आदी हो चुका है। हमारी सामाजिक आदतें, निष्ठाएँ और रूढ़ियाँ हमें काफी दूर तक तोड़ चुकी हैं। सामाजिक मूल्य पुराने, घटिया और समाजविरोधी हैं। ऐसी स्थिति में केवल जागने से नहीं होगा, अपने आमने सामने के माहौल को भी तोड़ना होगा। इस तरह की भावनाओं से प्रेरित होकर द्विवेदी युग के निबंधकारों ने भारतीय समाज के उन हिस्सों पर भी चोट की जो सामाजिक रूढ़ि बन चुके थे। 'ब्राह्मण' के संपादक पं० प्रतापनारायण मिश्र ने बाल विवाह जैसी एक चीज की 'पतिव्रता', 'ऊँच निवास' जैसे निबंधों में जो शुरूआत की वही द्विवेदी युग के निबंधों में वैचारिक चेतना के रूप में परिलक्षित होती है। मुकुटधर पांडेय का 'समाजसुधार'[४], कामताप्रसाद गुरु का 'समाजसेवा',[५] गोवर्धनलाल का 'हमारी सामाजिक अपूर्णता'[६], इत्यादि निबंधों में हिंदू समाज का सांस्कृतिक पर्यवेक्षण है और आधुनिक जीवन मूल्यों को स्वीकार करने के लिये प्रेरणा भी दी गई है। इन निबंधों में सामाजिक बदलाव के लिये जो आवाज उठाई गई है वह बहुत तेज नहीं है, केवल सांकेतिक ढंग से प्रस्तावना मात्र कर दी गई है। लेकिन इसी काल के एक निबंध 'प्राचीन और अर्वाचीन समाज'[७] में कन्नोमल एम० ए० ने काफी साफ सुथरे ढंग से परिवर्तन की सार्थकता को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है। आधुनिकीकरण की यह प्रक्रिया 'हिंदू जाति की दुर्दशा और उसके निवारण के उपायों'[८] और 'हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था'[९] जैसे निबंधों में और साफ ढंग से सामने आई।

१—जनार्दन भट्ट, मर्यादा, जुलाई, १९१२।

२—एक बैठाठाला, प्रभा (कानपुर), सितंबर, १९२०।

३—श्रीयुत् श, ष, स—प्रभा (कानपुर), अक्टूबर, १९२०।

४—'श्रीकमल', स० १९७३ वि०।

५—श्री शारदा, अगस्त, १९२२।

६—गोवर्धनलाल, 'लक्ष्मी', १९१८।

७—लक्ष्मी, मई, १९१९।

८—माधुरी, जुलाई, १९२४।

९—सरस्वती, अगस्त, १९२४।

सामाजिक जड़ता तोड़ने के लिये जिन उपायों की ओर द्विवेदी युगीन निबंधकारों ने ध्यान आकृष्ट किया उनमें पहला स्थान शिक्षा का है। इन विचारक निबंधकारों ने अनुभव कर लिया था कि रूढ़िवादिता और जहालत से लड़ने के लिये जनता को शिक्षित करना जरूरी है। वे जान चुके थे कि जिस जाति का अधिकांश भाग अशिक्षित हो और पूरे समाज का आधा हिस्सा अर्थात् स्त्री समाज अलग तरह के जीवन स्तर तथा वर्जनाओं में जीता हो, उसका कोई भविष्य नहीं है। इसलिये इन निबंधकारों ने स्त्री शिक्षा और शिक्षा के प्रचार प्रसार पर काफी जोर दिया। 'इंदु' में 'स्त्री शिक्षा का उपाय'[1] निबंध में बताया गया कि 'जो जो साधन मनुष्य के लिये परलोक तथा इहलोक के लिये आवश्यक हैं वे संपूर्ण साधन स्त्रियों के शिक्षित होने से ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शिक्षा के महत्व से संबंधित कई निबंध लिखे जिनमें 'भारत में शिक्षा की दशा'[2] और 'भारतीय मेंबरों की बात'[3] अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इन निबंधों में उन्होंने तत्कालीन शिक्षा की दयनीय स्थिति और पिछड़ेपन का सुलभ वर्णन किया है। वस्तुत: शिक्षा के महत्व को खोलकर सामने लाने का प्रयत्न संवेदना के स्तर पर हुआ। द्विवेदी युग के अनेक लेखकों ने अलग अलग ढंग से शिक्षा की व्याख्या की और इस ओर ध्यान आकृष्ट करने का काम करते हुए निबंध साहित्य का कोश भरा। विश्लेषण कुशलता की दृष्टि से गुन्नारायण मेहरोत्रा का 'भारतीय शिक्षा प्रणाली के दोष'[4], बनारसीदास चौबे का 'आधुनिक शिक्षा पद्धति'[5], गोपाल दामोदर तामस्कर का 'शिक्षा का अंतिम उद्देश्य'[6], हरिहरस्वरूप शर्मा का 'वर्तमान शिक्षा का आदर्श'[7], लोटूसिंह गौतम का 'आधुनिक शिक्षा और देश का भविष्य'[8], शिवदुलारे मिश्र का 'हमारी शिक्षा'[9], काशी प्रसाद पांडेय का 'प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली' महत्वपूर्ण हैं[10]।

१—इंदु, किरण ११ सं० १९६६।
२—सरस्वती, मई १९१५।
३—'विचार-विमर्श' में संकलित।
४—सरस्वती, जुलाई, १९१९।
५—मर्यादा, नवंबर, १९१२।
६—सरस्वती, मार्च, १९२१।
७—मर्यादा, जून, १९१६।
८—माधुरी, फरवरी, १९२४।
९—श्री कमला, सं० ८, २०३० सं०।
१०—मर्यादा, अगस्त, १९१२।

इन निबंधों में तथ्य निरूपण अधिक है। साहित्यिकता और वक्तव्य कौशल की दृष्टि से जो निबंध लिखे गए उनमें अशिक्षा की स्थिति को व्यक्त करने के लिये समूची सामाजिक संरचना पर नजर डाली गई है और यह लक्ष्य किया गया है कि अशिक्षा बिल्कुल अलग से कोई समस्या नहीं है। हमारे पिछड़ेपन की सारी समस्याओं से उसके संबंध हैं। सत्येंद्र का 'स्त्रियों की पराधीनता[१]', गोपालशरण सिंह का 'दहेज की कुप्रथा से हानियाँ'[२], मिश्रबंधुओं का 'संमिलित हिंदू कुटुंब प्रथा के दूषण'[३], जनार्दन भट्ट का 'हिंदुओं की संमिलित परिवार की प्रथा से हानियाँ[४]' और 'हिंदुओं में बाल विवाह[५]' तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा का निबंध 'दीपावली[६]' सामाजिक दृढ़ता पर चोट भी करते हैं और वे व्यंजना की तिर्यक् पद्धति से अपनी बात को ज्यादा से ज्यादा प्रभावशाली बनाकर प्रस्तुत करते हैं। इन निबंधों के अतिरिक्त इस युग में कुछ मूल्यांकनपरक निबंध भी लिखे गए जिनमें कहीं प्राचीन भारतीय पद्धतियों के गौरव का गान हुआ है और कहीं अद्यतन आधुनिक देशों के जीवन और समाज का उदाहरण देकर भारतीय अधोगति को प्रकारांतर से लक्ष्य किया गया है। ऐसे निबंधों में गंगाधर पंत का 'मन का नारी धर्म',[७] पं० रुद्रदत्त भट्ट का 'प्राचीन समय में भारतीय कृषकों की सामाजिक व आर्थिक अवस्था',[८] रमाशंकर अवस्थी का 'जापानी स्त्री समाज'[९], नारायणप्रसाद अरोड़ा का 'अमेरिका का गृह प्रबंध'[१०], महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'जापान में शिक्षा प्रणाली',[११] को द्विवेदी युग की जातीय चेतना को उद्बुद्ध करनेवाली प्रवृत्ति का परिचय देनेवाले निबंध कहा जा सकता है।

निबंध लेखन की एक भिन्न प्रकार की भंगिमा धार्मिक विषयों से सबद्ध निबंधों में दिखाई पड़ती है। इन निबंधों से इस बात का पता चल जाता है कि बौद्धिक

१—मर्यादा, मई, १९१३।
२—सरस्वती, जुलाई, १९१४।
३—सरस्वती, दिसंबर, १९०५।
४—सरस्वती, जनवरी, १९१४।
५—सरस्वती, फरवरी १९१९।
६—मर्यादा, नवंबर, १९१२।
७—सरस्वती, जनवरी, १९१५।
८—मर्यादा, अप्रैल, १९१४।
९—मर्यादा, सितंबर, १९१६।
१०—सरस्वती, जून, १९१३।
११—सरस्वती, जनवरी, १९०६।

लेखकों के लिये अब धर्म जड़ता का विषय नहीं रह गया था। अब वे धर्म को सामाजिक संदर्भ तथा दुनियाँ की जागृति से जोड़कर देखने लगे थे। उन्हें यह पता चल गया था कि हिंदू धर्म की तरह ही सभी धर्मों में ऊँचे आदर्शों और बृहत्तर मानव मूल्यों को महत्व दिया गया है। धर्म आदमी और आदमी के समाज को विभक्त नहीं करता, बल्कि एक नैतिक सीमा पर ले जाकर जाति और देश के अंतरालों को भरता हुआ एकाकार कर देता है। धर्म न किसी भाषा की वस्तु है, न किसी जाति की, न किसी देश की, अपितु संपूर्ण मनुष्य समाज के लिये उसकी उपयोगिता है। इस नई समझदारी के साथ ही द्विवेदी युग में धार्मिक विषयों पर निबंध लिखे गए। पर यह दूसरी बात है कि कुछ निबंधों में हिंदू धर्म की श्रेष्ठता और महत्ता को इस ढंग से प्रतिपादित किया गया है जिसमें वह दूसरे धर्मों की तुलना में श्रेष्ठ और विशिष्ट जान पड़े। राधाकमल का निबंध 'पाश्चात्य देशों को हिंदू धर्म का संदेश'[१], हर्षदेव के 'स्वामी विवेकानद और आधुनिक काल'[२], लक्ष्मीधर का 'बाइबिल में वेदांत शिक्षा'[3] उदात्त दृष्टि की सूचना देनेवाले निबध हैं। इन निबंधों के अतिरिक्त द्विवेदी युग में ऐसे निबंध भी लिखे जा रहे थे जो धर्म को सामाजिक संश्लिष्टता और जातीय जीवन से संपृक्त कर देते थे। भाई परमानंद के 'हिंदुत्व तथा हिंदू धर्म'[४], सत्यदेव का 'एशिया की धार्मिक एकता'[५], गौरीशंकर हीराचंद ओझा का 'यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म'[६], रूपनारायण पांडेय का 'धर्म'[७], और शीतलासहाय का 'धर्म की परिवर्तनशीलता'[८] केवल धर्म की व्याख्या करनेवाले निबंध नहीं हैं। इन निबंधों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि का युक्तिपूर्ण सह संबंध हुआ है। विश्वास और निष्ठा की अर्गलाओं को तोड़कर ये निबंध वैचारिक स्तर का निर्माण करते हैं और तर्क तथा विवेक से समाज और जाति की आचार संहिता को समझने के लिये अवकाश देते हैं। इन निबंधों को धार्मिक न कहकर वैचारिक कहना ही ज्यादा उपयुक्त है।

१—मर्यादा, जुलाई, १९१७।
२—सरस्वती, जुलाई, १९२४।
३—सरस्वती, दिसंबर, १९१२।
४—सरस्वती, जुलाई, १९२४।
५—सरस्वती, नवंबर, १९२२।
६—मर्यादा, दिसंबर, १९१०।
७—इंदु, जनवरी, १९१५।
८—प्रभा, अक्टूबर, १९२०।

अशिक्षा और धार्मिक जड़ता तोड़ने के लिये जैसे द्विवेदी युगीन निबंधकारों ने एक नैतिक और वैचारिक स्तर पर संघर्ष किया ठीक उसी तरह देश की आर्थिक विफलता को स्पष्ट करने के लिये भी निबंध लिखे गए। ये निबंध एक ओर गाँवों में रहने वाली जनता और उनके मुख्य पेशा कृषि की दयनीयता को स्पष्ट करते थे तो दूसरी ओर कृषि के आधुनिक साधनों तथा किसानों की कृषि संबंधी जटिलताओं को दूर करने के लिये सुझाव भी देते थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं इस उद्देश्य से 'खेती की बुरी दशा'[1] और 'कृषि विद्या के अदभुत आविष्कार'[2] जैसे निबंध लिखे और बड़ी कुशलता से कृषि कर्म में लगे हुए लोगों की मजबूरी और आधुनिक कृषि के महत्व को अलग अलग ढंग से विश्लेषित किया। द्विवेदी जी के अतिरिक्त गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'क्या भारत की भूमि कामधेनु बन सकती है[3] ?', कीचक ने 'कृषि की उन्नति'[4], ईश्वरदास मारवाड़ी ने 'भारतीय किसानों के उद्धार के उपाय',[5] कृष्णानन्द जोशी ने 'भारतीय किसान'[6], जगन्नाथ-प्रसाद मिश्र ने भी 'भारतीय किसान'[7] और रुद्र भट्ट ने 'कृषक समाज के कर्तव्य'[8] इत्यादि निबंध लिखे। कृषि की तरह ही आर्थिक जीवन से संबद्ध अन्य घटकों पर भी निबंध लिखे गए। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदुस्तान का व्यापार'[9], 'भारतीय आर्थिक और व्यापारिक स्थिति'[10] जैसे निबंध लिखकर निबंधकारों के लिये दिशा-निर्देश का कार्य किया। उन्होंने शायद यह लक्ष्य किया कि लेखक केवल साहित्यिक दुनियाँ का आदमी नहीं होता, पूरे जीवन की प्रत्येक भंगिमा से उसका संबंध होना चाहिए, इसीलिये द्विवेदी युग में आर्थिक विषयों पर काफी निबंध लिखे गए।

रचना विषय के अलावा द्विवेदी युगीन निबंधों पर विचार करने के लिये सर्जना पद्धति का निकष भी अपेक्षित है। और आश्चर्य है कि जिस तरह द्विवेदी युगीन निबंध विषयगत विविधता की दृष्टि से बहुमुखी हैं उसी तरह सर्जना-

---

१—सरस्वती, जुलाई, १९१५।

२—सरस्वती, मार्च, १९०८।

३—माधुरी, जनवरी, १९२४।

४—सरस्वती, अप्रैल, १९२१।

५—सरस्वती, अगस्त, १९१५।

६—सरस्वती, सितंबर, १९१५।

७—मर्यादा, फरवरी, १९१७।

८—इंदु, अगस्त, १९१५।

९—'विचार-विमर्श' में संकलित, पृ० ३०४।

१०—सरस्वती, अक्टूबर, १९०७।

कौशल की दृष्टि से भी विविध हैं। प्रस्तुत की दृष्टि से द्विवेदीयुगीन निबंधों का एक स्तर वर्णनात्मक है। वर्णनात्मक निबंधों की भी कई कई कोटियाँ हैं। कुछ निबंधों में निहायत स्थूल वर्णन मिलते हैं। ऐसे निबंधों में भाषा के रागात्मक पक्ष का कम से कम उपयोग हुआ है। गोविंददास का निबंध 'चित्तौड़ चर्चा'[1] भाषा लालित्य की दृष्टि से नगण्य है। इस निबंध में सुंदर को सुंदर, अच्छा को अच्छा कहकर काम चलाया गया है। सौंदर्यबोध संबंधी लाक्षणिकता या विविक्ति का लेखक ने कोई उपयोग नहीं किया है। इसी तरह संतराम बी० ए० ने 'किन्नर जाति[2]' नामक निबंध में परिचय देनेवाली भाषा पद्धति का उपयोग किया है। साहित्यिक रुचि के पाठकों के लिये इस तरह के निबंध सूचनात्मक एवं ज्ञानवर्धक हैं, लेकिन द्विवेदी जी ने जिस प्रशिक्षण के संकल्प से अपना साहित्यिक आंदोलन चलाया था वह बहुत दूर तक वैचारिक था। आकस्मिक नहीं है कि उस समय के पाठक के लिये वर्णनपरक, सूचनात्मक अनेक निबंध लिखे गए। स्वयं द्विवेदी जी का निबंध 'जयपुर'[3], गोविंददास का 'उदयपुर'[4], कुलदीप सहाय का 'केनिया'[5], घुमक्कड़ का 'मसूरी की सरसरी सैर'[6], द्विवेदी जी का 'नेपाल'[7], गंगासहाय का 'राजपूताने की झील'[8] और द्विवेदी जी का ही निबंध 'आगरे की शाही इमारतें'[9] सूचनात्मक निबंध हैं। इन निबंधों की सूची से जाहिर है कि द्विवेदी जी स्वयं इन विषयों पर लिखते थे और उनसे प्रेरित अनेक लोग ऐसे विषयों पर लिखकर उनके कार्यक्रम में संमिलित हो रहे थे। लेकिन इस कार्यक्रम के समानांतर रचनात्मक भाषा के आग्रही लेखकों का भी कार्यक्रम चल रहा था। ये लेखक यह मानकर चलते थे कि सूचना और वर्णन को भी साहित्य के भीतर आकर भाषा के रागात्मक तत्व से जुड़ जाना चाहिए। इसीलिये इसी युग में ऐसे निबंध भी लिखे गए जो वर्णनपरक तो हैं लेकिन वर्णन व्यक्तिनिष्ठ रागात्मकता और रचनात्मक भाषाबिंबों से संपृक्त हैं। जयशंकर 'प्रसाद' का निबंध 'प्रकृति सौंदर्य' और कृष्णदेव वर्मा का निबंध 'बुंदेलखंड पर्यटन' वर्णन की सीमाओं

१—'श्रीशारदा', वैशाख सं० १९८०, वर्ष ४, खंड १, सं० १, पृ० ५८।

२—साहित्यसुधा में संकलित, पृ० २१।

३—सरस्वती, फरवरी, १९०८।

४—श्रीशारदा, सं० १९८०, वर्ष ४, खंड १, सं० २।

५—श्रीशारदा, संख्या ६, भाद्रपद, सं० १९८०।

६—मर्यादा, जून-जुलाई, १९१३।

७—सरस्वती, १९०५, पृ० २६४।

८—सरस्वती, मार्च, १९०७।

९—लेखांजलि में संगृहीत, पृ० ८१।

को पारकर साहित्यिक बिंबों में मूर्त होते हैं, उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है।

'कहीं परिमल रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए अरविंदों पर मधुकर माला रस लेते हुए आनंदोल्लास से गूंज रहे हैं, कहीं अर्द्ध प्रस्फुटित रक्त तथा कोमल पत्तियों सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रस मग्न कोकिल अपनी कुहुक सुनाते हुए कोमल डालियों को दोलायमान करते हैं, सुरम्य वन, कुंज, लता, उपवन, पर्वत, तटी इत्यादि जहाँ दृष्टिपात करो उधर ही कुसुम पूरित डालियाँ दिखाई देती हैं।—'प्रकृति सौंदर्य'[1]

'नदी की थाह में नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं जिनपर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जल धारा की छटा दिखाती है।'[2]

लेकिन ऐसे निबंधों की स्थिति विरल ही है। वर्णनप्रधान निबंध नगर, प्रांत, ऋतु और पर्वों से ही अधिक संबंधित हैं। 'राजपूताने की झील'[3], 'कँवर जाति का गौरा त्योहार',[4] 'फिजी देश के असभ्य निवासी'[5], 'काश्मीर और उसके निवासी',[6] 'मध्यदेश के मूल निवासी और वहाँ की प्रचलित भाषा'[7], 'सिंहलद्वीप की रीति नीति',[8] 'ध्रुवी देश के वासी'[9] और 'आधुनिक ईरानी देश की स्त्रियाँ'[10] जैसे निबंध में परिचय की भाषा अपने शुद्ध तार्किक तंत्र में उपस्थित है। इसी तरह 'लंदन की सैर'[11], 'जयपुर की सैर'[12] 'टोकियो की सैर'[13] जैसे निबंधों में केवल परिचयमूलक भाषा ही मिलती है। यात्रा वर्णन की साहित्यिकता और लेखकीय इनवाल्वमेंट कतई नहीं मिलता। काव्य विषय होने के कारण ऋतु से संबंधित कई निबंधों में इस युग की स्वीकृत वर्णन पद्धति अस्वीकृत हो गई है। अनजाने ही भाषा में

१—'इंदु', श्रावण शुक्ल २, सं० १९६६, पृ० ८–९।
२—मर्यादा, जून, १९१२।
३—सरस्वती, जनवरी, १९१९।
४—सरस्वती, मार्च, १९०७।
५—सरस्वती, जुलाई, १९०५।
६—प्रभा (खंडवा), पौष शुक्ल १, सं० १९७०।
७—'देवनागर', सं० १९६४, पृ० ४४१।
८—'श्रीकमला', सं० ८, श्रावण, सं० १९७३।
९—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जुलाई, १९०९।
१०—मर्यादा, नवंबर १९१६।
११—सरस्वती, अप्रैल, १९१९।
१२—मर्यादा, जून, १९१२।
१३—मर्यादा, जनवरी, १९१३।

एक खास तरह का साहित्यिक कौशल आता गया है और भाषा के अलंकारिक तंत्र प्रबन्ध लाक्षणिकता का काव्योपम प्रयोग हो गया है। इस तरह के विरल निबंधों में रामसेवक पांडेय का 'वर्षा,'[1] द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी का 'वर्षा ऋतु'[2] और जयनारायण मल्लिक का 'पावस'[3] लक्ष्य करने योग्य निबंध हैं। पर्वों पर लिखे गए निबंधों में ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'दीपावली',[4] वियोगी हरि का 'होली',[5] आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव का 'विजयादशमी',[6] जैसे निबंध अनुसंधानपरक निबंध नहीं हैं। इन निबंधों में पर्वों की उपयोगिता का कोरा वर्णन मिलता है।

द्विवेदी युगीन निबंधों की एक भंगिमा यात्रा साहित्य के रूप में भी अपना व्यक्तित्व बनाती है। ये निबंध वर्णनात्मक हैं। ऐसे निबंधों में लेखकों ने यात्रा स्थानों की रम्यता को अधिक से अधिक उभारने का प्रयत्न किया है। यात्राएँ जिस आत्मसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष कराती हैं उसे लेखकों ने कम से कम छूने का प्रत्यय किया है। इसीलिये इन निबंधों की साहित्यिक अर्थवत्ता नगण्य ही है। फिर भी संतराम का 'व्यासकुंड की यात्रा',[7] चंडीलाल गुप्त के 'नैनीताल यात्रा'[8] अवधबिहारीशरण का 'ऋषिकेश की यात्रा',[9] ठाकुरप्रसाद का 'ध्रुवदेश की यात्रा',[10] लक्ष्मीकांत त्रिपाठी का 'माउंट एवरेस्ट की यात्रा'[11] और हरिशंकर उपाध्याय का 'कोलम्बस की जल यात्रा'[12] जैसे निबंध निबंध की एक विधा को विविक्त करते हैं।

भारतेंदु युग से ही निबंधों की एक शैली प्रचलित थी जिसमें कथानक, फैंटेसी और ललित कल्पना का संयोग हुआ करता था। 'राजा भोज का सपना'

१--सरस्वती, अक्टूबर, १६२१।
२--प्रदीप, मई--जून--जुलाई, १६०४।
३--लक्ष्मी, जून--जुलाई, १६२२।
४--मर्यादा, नवंबर, १६१२।
५--संमेलन पत्रिका, फाल्गुन, स० १६७६।
६--श्रीशारदा, आश्विन, स० १६८०।
७--सरस्वती, जनवरी, १६२३।
८--मर्यादा, मई, १६१२।
६--साहित्य पत्रिका, सितंबर, १६१३।
१०--नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, सं० १, जुलाई, १६०८।
११--श्रीशारदा, आश्विन, सं० १६८०।
१२--नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवंबर, दिसंबर, जनवरी, फरवरी, १६११, १६१२।

और 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' जैसे भारतेंदु युगीन निबंधों की परंपरा द्विवेदी युग में भी विकसित हुई। इस पद्धति के निबंधों में कथा तथ्य के सहारे लेखकीय वक्तव्य को रोचक और संप्रेषक बनाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इन निबंधों में आत्मतत्व, कल्पना और प्रतीकात्मकता की तहें इतनी बारीकी से संगुंफित हैं कि इन्हें गद्य की एक शक्ति के रूप में महत्व देना पड़ता है। निबंधों में लाक्षणिकता और अन्यापदेश का भी विन्यास पाया जाता है। ऐसे निबंधों की संख्या द्विवेदीयुगीन साहित्य में काफी है लेकिन निजामशाह का 'शिकारी को सच्ची कहानी',[1] श्रीकंठ पाठक का 'दंडदेव का आत्मनिवेदन',[2] विंध्येश्वरीप्रसाद उपाध्याय का 'जूते की आत्मकहानी',[3] शिवप्रसाद शर्मा का 'दीपक देव का आत्मचरित'[4] उल्लेखनीय निबंध हैं। स्वप्न कथाओं के रूप में स्मृति स्तरों से होते हुए गुजरने की प्रक्रिया में भी कुछ निबंध लिखे गए थे। इन निबंधों में कथातत्व की अपेक्षा मिथकीय संस्पर्श और स्मृति की कड़ियाँ सार्थक नियामकों के रूप में व्यवहृत हुई हैं। लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'विद्यारण्य',[5] लल्लीप्रसाद पांडेय का 'कविता का दरबार',[6] अवधबिहारीशरण का 'मेरा स्वप्न' इस दृष्टि से लक्ष्य करने योग्य नबंध हैं।

विवरण की कोटि में द्विवेदी युग के उन निबंधों का भी स्मरण आवश्यक है जो पुराण पुरुषों के चरित्रों को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। इन पुरुषों के जीवन से महत्वपूर्ण प्रसंग या घटनाएँ लेकर लेखकों ने अपने अभिप्राय तक यात्रा की है। साभिप्राय चरित कथन सहज ही किस्से या सूचना की कोटि पारकर निबंध की संश्लिष्टता और गद्यात्मकता तक पहुँच गए हैं। 'महाबली भीम के जीवन पर एक दृष्टि'[8] में महेंद्रनाथ चतुर्वेदी ने, 'भीष्म पितामह'[9] में पुरुषोत्तमदास टंडन ने और 'भगवान श्रीकृष्ण'[10] में पद्मसिंह शर्मा ने केवल

१—सरस्वती, अप्रैल, १६११।
२—सरस्वती, मार्च, १६२४।
३—नागरी हितैषिणी पत्रिका, फरवरी, मार्च, १६१३।
४—सरस्वती, नवंबर, १६०७।
५—सरस्वती, अप्रैल, १६०७।
६—सरस्वती, फरवरी, १६०६।
७—साहित्य पत्रिका।
८—इंदु, कला ५, खंड २, किरण १, आषाढ़, १६७६।
६—मर्यादा, मार्च, १६११।
१०—पद्मपराग में संग्रहीत, पृ० १।

कथा प्रसंगों की अवतारणा नहीं की है, कथा प्रसंगों को सार्थक ढंग से स्थापित किया है। इसी तरह ब्रजरत्नदास ने 'महारानी दुर्गावती'[1] में, जहूरबख्श ने 'देशभक्त बाजी प्रभु'[2] में, महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सवाई जयसिंह'[3] में, 'नाना फर्णनीस'[4] में लक्ष्मीधर वाजपेयी ने, 'नवाब आसफउद्दौला'[5] में द्वारका-प्रसाद चतुर्वेदी ने चरित्र कथन के साथ ही सांस्कृतिक परिवेश तथा मध्यकालीन युगबोध को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है।

चरिताश्रित निबंधों की कई कई आकृतियां द्विवेदी युगीन निबंधों के इतिहास से जुड़ती हैं। धर्मनेताओं, राजनेताओं और साहित्यकारों पर इस युग में बहुत बड़ी संख्या में निबंध लिखे गए। धर्मनेताओं में मुख्य रूप से श्री शंकराचार्य,[6] चैतन्य महाप्रभु,[7] महात्मा बुद्ध देव[8] पर लिखे गए रामप्रसाद पांडेय, रामानंद सिंह और लक्ष्मीधर सुमन के निबंध भाषा और संप्रेषण शैली की दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इसी तरह देशबंधु चित्तरंजन दास,[9] गोपाल कृष्ण गोखले[10], दादा भाई नौरोजी[11], प्रफुल्लचंद्र राय[12] पर लिखे गए श्री छविनाथ पांडेय, शिवनंदन सिंह, रामानुग्रह नारायण लाल और श्यामाचरण राय के निबंध उत्साहवर्धक हैं। इन निबंधों में सांकेतिक ढंग से राष्ट्रीयता की चेतना को अर्थ देने की कोशिश की गई है। साहित्यिक महापुरुषों पर लिखे हुए निबंधों में श्यामसुंदर जोशी का 'जर्मनी का कवि सम्राट् गेटे',[13] लल्लीप्रसाद पांडेय का 'डा० सैमुअल जानसन',[14] ऋषीश्वर नाथ भट्ट का

१—सरस्वती, मई, १९०५।
२—प्रभा (कानपुर), अक्टूबर, १९२०।
३—सरस्वती, १९०५, पृ० १९५।
४—सरस्वती, जून, १९०९।
५—मर्यादा, जुलाई, १९१२।
६—सरस्वती, अक्टूबर, १९२५।
७—लक्ष्मी, जून, १९१५।
८—प्रभा (खंडवा), फाल्गुन, सं० १९७०।
९—साहित्य, भाग १, खंड १, अंक १, श्रावण, सं० १९७९।
१०—इंदु, कला ६, खंड १, किरण ३, मार्च।
११—लक्ष्मी, फरवरी, १९१८।
१२—सरस्वती, दिसंबर, १९१५।
१३—सरस्वती, जुलाई, १९१७।
१४—प्रभा (खंडवा), बैशाख शुक्ल १, सं० १९७०।

'कविवर लल्लू जी लाल',[१] जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'स्व० बाबू बालमुकुंद गुप्त',[२] रासबिहारी शुक्ल का 'पं० बालकृष्ण भट्ट',[३] ज्वालाप्रसाद शर्मा का 'मिर्जा गालिब'[४] नाभक निबंध चरित्र कथन के समानांतर मूल्यांकन के स्तरों को भी छूते हैं।

द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य में अति वस्तुपरकता इसलिये है कि द्विवेदी जी निबंधों के माध्यम से राष्ट्र की संपूर्ण समस्याओं को एक साथ ही निपटा देना चाहते हैं। वस्तुत: निबंधों को वे साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक बदलाव के लिये इस्तेमाल करना चाहते थे। इस अंतर्दृष्टि का ही परिणाम था कि द्विवेदी युगीन निबंध निर्धारित साहित्य कक्षा के बाहर निकला और निबंध विधा से संबंधित अनुशासन और केंद्रीयता द्विवेदी युग में शिथिल सी दिखाई पड़ी। इस बिखराव और विविधता के बावजूद भारतेंदु युगीन निबंधों की व्यक्तिनिष्ठता अक्षुण्ण थी। कुछ लेखक लोकप्रियता और निबंधों के बहुरंगीपन से बचकर आत्मनिष्ठ होकर रचनात्मक निबंध लिख रहे थे। ये निबंध और निबंधकार साहित्यिक निबंध के अनुशासनों के भीतर थे और भारतेंदु युगीन रचनात्मक निबंधों की अगली और विकसित कड़ी थे। साहित्येतिहास की अनिवार्यताओं के भीतर बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की परंपरा विकसित कड़ी के रूप में सरदार पूर्णसिंह और माधवप्रसाद मिश्र के निबंधों में ही प्रतिनिधि रूप में दिखाई पड़ती है। इन निबंधकारों ने निबंध के साहित्यिक अर्थ को फैलाया और निबंध की सर्जना में नया क्षितिज खोला। यदि ये दो निबंधकार द्विवेदी युगीन निबंधों के इतिहास में अपनी रचनाएँ नहीं जोड़ते तो द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य विविधताओं का साहित्य विहीन संसार बनकर रह गया होता। सरदार पूर्णसिंह की 'सच्ची वीरता'[५], 'आचरण की सभ्यता'[६], 'मजदूरी और प्रेम'[७] तथा 'कन्यादान'[८] निबंध भाव कौशल और साहित्य सौंदर्य की कांक्षित सीमा तक विकसित किए हुए हैं। ये

१—प्रभा (खंडवा), सितंबर, १६१३।

२—देवनागर, सं० १६६४, पृ० २०६।

३—सरस्वती, नवंबर, १६१४।

४—सरस्वती, अप्रैल, १६१५।

५—सरस्वती, जनवरी, फरवरी, १६०६।

६—सरस्वती, १६१२, पृ० १०१ और १४१।

७—सरस्वती, १६१२, पृ० ४६२।

८—सरस्वती, अक्टूबर, १६०६।

निबंध केवल द्विवेदी युगीन, रचनात्मक गद्य के प्रतिनिधि प्रतीक नहीं हैं प्रत्युत आज तक विकसित और लिखित संपूर्ण हिंदी साहित्य की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। पं० माधवप्रसाद मिश्र के 'रामलीला'[1], 'परीक्षा'[2] जैसे निबंध भी पूर्णसिंह जी के निबंधों की तरह व्यक्तिनिष्ठता और साहित्यिकता के सार्थक अनुपात से रचे हुए निबंध हैं। यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि सरदार पूर्णसिंह के निबंध द्विवेदी युग के विशाल निबंधसाहित्य में आकस्मिक चमत्कार की तरह प्रकट हो जानेवाली रचनाएँ नहीं हैं। ये इतिहास की धारा की महत्वपूर्ण लहरें भी हैं क्योंकि इस जमाने में स्तर की दृष्टि से सामान्य होने पर भी कवित्वपूर्ण एकालापों की सहायता से लिखे हुए निबंधों की संख्या कम नहीं है। 'माधुरी'[3], 'क्यों रोते हो'[4], 'पवित्र प्रेम'[5], 'आशा',[6] 'वसंत की हवा'[7], 'द्रव्य का माहात्म्य'[8], 'सुख'[9], 'धैर्य'[10] और 'हृदयोद्गार'[11] जैसे इस काल के अनेक निबंध रचनात्मक हैं। निबंधों में पूर्णसिंह की प्रतिभा का आंशिक रूप तो दिखाई ही पड़ता है। व्यक्तिनिष्ठता की एकालाप शैली और सूक्ति बहुलता को चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने निबंधों में शास्त्र संदर्भों से मंडित किया। गुलेरी जी ने भावना, ज्ञान, तर्क और बिंब के द्वारा अपने निबंधों में एक ऐसी शक्ति विकसित की जिससे व्यक्तिनिष्ठ निबंधों के अनुशासन मे नई शर्तें और नए नियम जुड़ गए। गुलेरी जी के निबंध 'अपील' और 'ऐप्रोच' की दष्टि से व्यक्तिनिष्ठ हैं। लेकिन सुरचना और विन्यास की दृष्टि से शास्त्रीय संदर्भों और अध्ययन की गरिमाओं से भरे पूरे ही हैं। उन्होंने निबंधों की एक सर्वथा नई शैली ही आविष्कृत की थी जो आगे चलकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में पराकाष्ठा तक विकसित हुई। गुलेरी जी के निबंधों में 'मारेसि मोहि कुठाँव' और

१—माधव मिश्र निबंधमाला में संगृहीत।

२—वही।

३—माधुरी, संख्या २, जुलाई, दिसंबर, १९२२।

४—मर्यादा, नवंबर, १९१५।

५—प्रभा (खंडवा), अक्टूबर, १९१३।

६—मर्यादा, जुलाई, १९१९।

७—इंदु, मार्च, १९१४।

८—सरस्वती, अगस्त, १९०६।

९—लक्ष्मी, जून, १९१९।

१०—आनंद कादंबिनी, माघ, फाल्गुन, १९०६।

११—सरस्वती, अप्रैल, १९११।

'कछुआ धरम' ऐसे निबंध हैं जहाँ निबंध के इतिहास को एक पड़ाव मिलता है, एक मोड़ मिलता है और द्विवेदी युगीन निबंधों को एक अप्रत्याशित शीर्षक मिलता है। यह गुलेरी जी का ही प्रभाव था कि उस युग के कई निबंधकारों ने इस शैली में निबंध लिखने का प्रयत्न किया। इतिहासकार को सुविधा है कि वह पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के 'दमयंती का चंद्रोपालभ'[१] को गुलेरी के महत्व से जोड़ लें।

विषय वैविध्य और कई तरह की अनेकताओं ने द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य का विधा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने देने में कठिनाइयाँ भी पैदा कीं। शैली, स्वरूप और अंतर्संबंध की दृष्टि से यदि निबंध गद्य की एक निर्धारित अनुशासित विधा है तो द्विवेदी युगीन बहुमुखी निबंधों की सहायता से किसी निष्कर्ष तक पहुँचने में कठिनाई है, इसलिये कि विषयानुरोध के कारण द्विवेदी युगीन निबंध साहित्यिक व्यक्तित्व नहीं बना पाते। लेकिन द्विवेदी युगीन निबंध की यह विशेषता भी है कि उसके बहुमुखी विकास में वास्तविक प्रणयन भी चल रहा था। मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक निबंध अपना निर्धारित और कांक्षित व्यक्तित्व विकसित कर रहे थे। निबंधों की विशेषता मनोविज्ञान और आलोचनातत्व के कारण नहीं है, व्यक्तिगत रचाव के कारण है। यह संयोग ही है कि गद्यवत् रचाव का प्रतिनिधित्व मनोवैज्ञानिक निबंधों और समीक्षाओं ने किया। इस दृष्टि से यशोदा-नंदन अखौरी का निबंध 'परोपकार'[२], लक्ष्मीधर वाजपेयी की रचना 'सभ्यता'[३], पांडेय लोचनप्रसाद शर्मा की कृति 'क्रोध',[४] कामताप्रसाद गुरु का कृतित्व 'शिष्टाचार',[५] पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंध 'क्रोध'[६] और 'लोभ'[७], पं० कृष्णबिहारी मिश्र की 'अश्रेष्ठ चित्तवृत्ति'[८] अत्यंत महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये कृतियाँ उस समय की समकालीन चिंता धारा और साहित्यिक समस्याओं से जुड़ी हुई हैं। इन निबंधों ने वह भूमि तैयार की जिससे प्रेरित होकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने

१—सरस्वती नवंबर, १९२२।
२—साहित्य, कार्तिक, सं० १९७९।
३—कान्यकुब्ज, जुलाई, १९१४।
४—साहित्य पत्रिका, जुलाई, १९१९।
५—श्रीशारदा, चैत्र पूर्णिमा, सं० १९७९।
६—सरस्वती, १९०५।
७—सरस्वती, अप्रैल, १९०८।
८—लक्ष्मी, जून, १९१०।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में 'क्रोध',[१] 'श्रम',[२] 'निद्रारहस्य'[३], 'घृणा',[४] 'करुणा'[५], 'ईर्ष्या'[६] और 'लोभ' और प्रीति[७]' नामक निबंध लिखे। शुक्ल जी के निबंधों ने साहित्यिक निबंधों की कला और शैली को पराकाष्ठा तक पहुँचाया। ऐतिहासिक अस्वीकार के क्रम में द्विवेदी युग के हजारों निबंध छँट भी सकते हैं। लेकिन 'चिंतामणि' के निबंधों ने निबंधत्व का पर्याप्त महत्व प्राप्त कर लिया है। अतः द्विवेदी युग की ऐतिहासिक गरिमा यदि प्रभूत निबंध लेखन की दृष्टि से है तो शुक्ल जी के संदर्भ में अन्यतम साहित्यिक निबंधों की दृष्टि से भी है।

मनोवैज्ञानिक निबंधों की तरह ही आलोचनात्मक निबंधों का प्रचलन द्विवेदीयुग में हो गया था और बड़ी तेजी से लेखक निबंधों की उस विधा की नींव डाल रहे थे जिसे रचनात्मक निबंधों के समानांतर आलोचनात्मक निबंधों का नाम मिला। ऐसे निबंधों का प्रतिनिधित्व पं० कृष्णबिहारी मिश्र का निबंध 'भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव'[८] पं० चंद्रमोहन मिश्र का निबंध 'कविता का मर्म',[९] पं० द्वारिकानाथ मैत्र की 'आलोचना भाषा और साहित्य',[१०] पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी की 'समीक्षा, कवि और कविता',[११] जयशंकर प्रसाद की विवेचना 'कवि और कविता'[१२], कन्नोमल की आलोचना 'साहित्य क्या है?'[१३] जैसे निबंध करते हैं। इन निबंधों से स्पष्ट है कि द्विवेदी युग में गहरी आलोचनात्मक समझ-दारी थी और साहित्यिक विलक्षणताओं को निबंध विधा के भीतर विन्यस्त किया जाने लगा था। हिंदी के मूर्धन्य आलोचक और निबंधकार पं० रामचंद्र शुक्ल के आलोच-नात्मक निबंध इसी प्रवाह के भीतर है। उनका निबंध 'कविता क्या है?'[१५] और 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'[१६] इसी युग की रचनाएँ हैं। उस युग के निबंधों को देखते हुए लगता है कि शुक्ल जी उस युग की निबंध प्रवृत्ति के अनेक लेखकों में एक लेखक हैं। बाद में ऐतिहासिक अस्वीकार ने केवल शुक्ल जी की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा और लोगों को ऐसा लगने लगा है कि शुक्ल जी और उनकी आलोचनाएँ नितांत

१ से ७—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १७, १८, १९ और २३।

८—इंदु, सितंबर, १९१६।

९—इंदु, अगस्त, १९१५।

१०—इंदु, फरवरी, १९१५।

११—सरस्वती, जुलाई, १९०७।

१२—इंदु, सं० १९६७।

१३—साहित्य, श्रावण, १९७९।

१४—संमेलन पत्रिका, ज्येष्ठ, सं० १९८१।

१५—सरस्वती, अप्रैल, १९०९।

१६—माधुरी, जुलाई, १९२३।

मौलिक निबंध हैं। यह तद्युगीन साहित्यिकता का परिणाम नहीं है लेकिन वास्तविकता यह है कि शुक्ल जी अपने समय की प्रचलित धारा के ही लेखक हैं, उन्होंने कोई नवीन जमीन नहीं तोड़ी थी। 'चिंतामणि भाग २' के बहुत सारे निबंध और 'रस मीमांसा' के अधिकांश निबंध द्विवेदी युगीन आलोचनाओं की प्रचलित दिशा के ही विभिन्न कोण हैं। उन्हें द्विवेदी युगीन मर्यादा के बाहर रखने और अर्थ देने का कोई कारण नहीं है।

द्विवेदी युग में अनुसंधान परक निबंध भी बहुत अधिक लिखे गए। ऐसे निबंधों में अध्ययन, अन्वेषण और ऐतिहासिक संगति को गद्यबद्ध करते हुए लेखकों ने ऐसी नींव डाल दी थी जिसका विकास पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसंधानपरक निबंधों और अन्वेषणबहुल व्यक्तिगत निबंधों में दिखाई पड़ा। इस दृष्टि से बाबूराव विष्णु पराड़कर का 'वररुचि का समय',[1] चंद्रधर शर्मा गुलेरी के 'उलूकध्वनि',[2] गिरिजाप्रसाद द्विवेदी का 'युधिष्ठिर का समय'[3] तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'युधिष्ठिर का समय',[4] जैसे निबंधों के साथ जगन्मोहन वर्मा का 'आर्यों का आदि स्थान'[5] तथा मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का निबंध 'रामचंद्र का श्रेष्ठ पुत्र कौन था'[6] इत्यादि निबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी युगीन निबंधों का क्षितिज विस्तृत है, आयाम अनेकस्तरीय हैं। निबंधों की संख्या भी अपरमित है। राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, वाणिज्य, व्यवसाय, शिक्षा, साहित्य, कला, मनोविज्ञान और समीक्षा जैसे अनेकविध घटकों पर इस काल में पर्याप्त और प्रभूत लिखा गया। शैलीगत वैविध्य भी इस काल का बहुमुखी है। लेकिन द्विवेदी युगीन निबंध साहित्यिक विधा की दृष्टि से मनोविकारों की विवृति और साहित्य विवेचना की दृष्टि से ही अपनी असली पहचान बना पाते हैं। इस विशाल भंडार में व्यंग्य और विनोद संबंधी निबंध साहित्य प्रायः नगण्य ही हैं, केवल गुलेरी जी के निबंधों में व्यंग्य की संश्लिष्टता यत्र तत्र स्फुट रूप से दिखाई पड़ती है। उस युग में हास्य रसावतार लोग रहे ही होंगे लेकिन उनके व्यंग्य निबंधों का साहित्यिक महत्व शायद नहीं के बराबर है। नैतिक स्तर पर संघर्ष करती हुई परतंत्र जाति के योद्धा शायद कम ही हँसते मुस्कराते हैं। इस ऐतिहासिक जिजीविषा और नियति को ध्यान में रखने पर द्विवेदी युगीन व्यंग्याभाव वास्तविक ही लगता है।

१—सरस्वती, मार्च १९०९।

२—सरस्वती, जून, १९१४।

३—सरस्वती, अप्रैल, १९०५।

४—सरस्वती, जून, १९०५।

५—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, फरवरी, १९१२।

६—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८।

सातवाँ अध्याय

आचार्य द्विवेदी का पत्र साहित्य और भाषा संशोधन

किसी युग विशेष की साहित्यिक गतिविधियों की जानकारी के लिये तत्कालीन समाचारपत्र तथा वैयक्तिक पत्र साहित्य विशेष महत्वपूर्ण होते हैं। साहित्यकार के पत्रों में व्यक्तिगत चर्चाएँ प्रायः कम होती हैं और युगीन साहित्य पर विशेषतः सामग्री रहती है। द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'सरस्वती' हिंदी साहित्य के युग विशेष का प्रतिनिधित्व करती है। इधर द्विवेदी युग के साहित्यकारों का, विशेषतः द्विवेदी जी का, पर्याप्त पत्र साहित्य प्रकाशित हो चुका है। इस साहित्य में 'द्विवेदी पत्रावली' तथा 'द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र' (हिंदुस्तानी अकादमी) उल्लेखनीय हैं। इधर जब पद्मसिंह जी शर्मा का संपूर्ण साहित्य आगरा विश्वविद्यालय के क० मुं० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ ने प्राप्त कर लिया तो उसके साथ अलभ्य पत्र साहित्य से भरे बक्स भी प्राप्त हो गए जिनमें से कुछ पत्र विद्यापीठ के मुखपत्र 'भारतीय साहित्य' में प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनमें द्विवेदी जी का भी पर्याप्त पत्र साहित्य है। द्विवेदी जी का पत्र साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

भाषा संशोधन के संबंध में आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' के लिये तैयार की गई पांडुलिपियाँ महत्वपूर्ण हैं जिनकी ओर स्वयं आचार्य द्विवेदी ने श्यामसुंदरदास जी को एक पत्र में संकेत किया था :

"मेरे समय की 'सरस्वती' की १७ वर्ष की हस्तलिखित कापियाँ मेरे पास हैं। किसी समय भविष्य में वे शायद मूल्यवान् समझी जायँ। उनको देखने से पता लगेगा कि आज कल के हिंदी के अनेक धुरंधर लेखक किस तरह राह पर लाए गए थे। वे भी दे डालूँगा। सभा चाहे तो जिल्द बाँध कर रख छोड़े।"

(१९-१०-१९२३ के पत्र से)

हिंदी भाषा और व्याकरण के क्षेत्र में द्विवेदी जी का स्थान सर्वोच्च है। भाषा के आप पंडित थे और शुद्धता के समर्थक। बड़ी निडरता से आपने बड़े से बड़े लेखक की कृति की अशुद्धियों में सुधार किया था। आपके ही इस अथक परिश्रम से हिंदी भाषा सरल तथा स्वच्छ हुई। आपने 'सरस्वती' के रूप में सरस्वती की साधना की, घोर परिश्रम के फलस्वरूप आपका स्वास्थ्य जर्जर हो गया।

पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखे गए एक पत्र में आपने लिखा है :

'भाषा और व्याकरण पर एक और लेख लिखने का हमारा इरादा है। उसमें भी हम...... की त्रुटियाँ दिखलाएँगे और अच्छी तरह दिखलाएँगे।'

(दिनांक ११–१–०६ के पत्र से)

यह सर्वविदित है कि 'अनस्थिरता' शब्द साधु है अथवा असाधु, इस विषय पर विशेष चर्चा चल पड़ी थी। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी आचार्य द्विवेदी हिंदी की प्रकृति का हमेशा ध्यान रखते थे अतएव आपने हिंदी की प्रकृति के अनुसार 'अनस्थिरता' को सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस शब्द की चर्चा की ओर आपने कई पत्रों में संकेत किया है?

''अनस्थिरता' को आप संस्कृत क्यों कहते हैं? जैसे अनपढ़, अनगिनत आदि शब्द हैं वैसे ही उसे भी रखने में क्या हानि है?"

(दिनांक १७–१२–०५ के पत्र से)

"काशी के कई पंडितों ने 'अनस्थिरता' को साधु बतलाया। 'संस्कृत' चंद्रिका' के संपादक आप्पा शास्त्री विद्यावागीश ने तो कई तरह से उसकी साधुता साबित की।"

(दिनांक ११–१–०६ के पत्र से)

एक एक शब्द पर द्विवेदी जी विशेष ध्यान देते थे। शब्द, उससे लगे परसर्ग, वाक्यांश की उलट फेर से कहाँ तक अर्थ बदल सकता है, उसकी संभावनाओं पर विचार करते थे। 'भारत मित्र' के ये वाक्य देखिए—

'लालगढ़ के द्वार पर एजेंट साहब आपका स्वागत करके प्रिंस के पास ले गए, सिंहासन से आधी दूर पर प्रिंस ने महाराज से हाथ मिलाया।'

इसमें 'आधी दूर पर' का आप क्या मतलब समझे? क्या सिंहासन इतना बड़ा था जिससे उसपर चलना पड़ा? दूरी कैसी? लालगढ़ के द्वार और सिंहासन की? सिंहासन पर तो बीकानेर वालों से मिलने प्रिंस आए ही न होंगे। 'से' से सिंहासन को छोड़कर उसकी सीढ़ियों से कहाँ तक की दूरी का आधा? इसे हम उस भाषा के उदाहरण में देना चाहते हैं जो कोई न समझ सके। क्या 'अढ़ाई' शब्द भी नागरिक बोलते हैं? हम समझते हैं 'ढाई'। यह भी बतलाइए कि 'भोजन पर बैठना' भी कोई मुहावरा है। चौके पर बैठना तो सुना है। अँगरेजी में 'टेबिल पर बैठना' भी कहा जाता है—यह भी भारतमित्र का मुहाविरा है।'

(दिनांक १७–१२–०५ के पत्र से)

एक एक श्लोक का एक एक पद आप ध्यान से देखकर उपयुक्त एवं वांछित सुधार करने में नहीं हिचकिचाते थे। लेखक को कई कई सुझाव प्रस्तुत करते थे जिससे शब्द या शब्दों मात्र के बदलने से अर्थसौंदर्य एवं भावगांभीर्य बढ़ जाता हो। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

दूसरी पंक्ति प्रकाशते 'यस्य विशेष निश्चय:'

'येन कृतोऽस्ति निश्चय:'

'येन कृतो विनिश्चय:'

दूसरी पंक्ति गृहीत सद्धर्म्म--विशेष-संश्रय:

समूह

विचार

चौथी पंक्ति चकास्ति सोऽयं

स शोभते सौ

विभाति सोऽयं

इसमें से जो पाठ आपको अच्छा लगे रख लीजिए।

(दिनांक १५-५-०६ के पत्र से)

'इस' मृगीदृशा' वाले में प्रणयिता वाराङ्गनानामिव' को जगह 'प्रणामिलो वाराङ्गमनामिव' हो तो कैसे ? 'वासरा:' का उपमान 'प्रणयिता' ठीक होगा ?'

(दिनांक ४-११-०६ के पत्र से)

पारिभाषिक शब्दों में आप अधिक प्रचलित शब्द ही अपनाना चाहते थे, जैसे--

'गल्प शब्द बँगला में ही अधिक व्यवहृत होता है। हिंदी में क्यों लिया जाय ? आख्यायिका या कहानी से क्या काम नहीं चल सकता ?'

(पं० ज्वालादत्त शर्मा को लिखे दिनांक २३-११-१६ के पत्र से)

हिंदी व्याकरण में लिंग निर्धारण भी एक विकट समस्या है। इसपर भी आप यत्र तत्र प्रकाश डालते रहते थे।

लिंग के संबंध में एक पत्र में लिखा था, संस्कृत में जो शब्द जिस लिंग का है हिंदी में वह लिंग हमेशा नहीं रहता। व्यक्ति शब्द का यदि अधिकांश या सभी लेखक हिंदी में पुंलिंग मानते हैं तो वह लिंग उसका रहेगा।

(बाबू श्यामसुंदरदास को ११-११-२३ को लिखे पत्र से)

उर्दू शब्दों के बहिष्कार के आप विरोधी थे। इस संबंध में आपने एक पत्र में लिखा था.

'हिंदी लिखने में उर्दू फारसी के शब्द आवें तो हम कोई हानि नहीं समझते। कोई कोई उर्दू शब्द अधिक बोलचाल में आते रहने के कारण अधिक सरल और अधिक बलपूर्ण हो गए हैं। संमति से सलाह ही अधिक सरल है। धूल में मिला देने की अपेक्षा खाक में मिला देना कहने में ही अधिक बल है!'

(जनार्दन झा को लिखे दिनांक २४-२-०३ के पत्र से)

यही कारण है कि आपके पत्रों में साबित, बेजा, मौजूं, उजर, नफीस, बेहतर, जिक्र, मसविदा, नूह, फैसिला, मुहाविरा, खतम, इंतजार, तारीफ, मजे, दरकार, सख्त, फिक्र, कब्ज, रफा, इन्कार, दस्तंदाजी, शरीक, मजा नक्श, जरूर, तरजीह, इसरार, दस्तखत, मशगूल, आजिज़, नाचीज, चीज, सतर आदि प्रचलित और अप्रचलित शब्द तक प्रयुक्त हुए हैं। 'जियादह' जैसे शुद्ध रूप में लिखे शब्द भी मिल जायँगे जिसका आज 'ज्यादा' रूप ही स्वीकृत है।

यही नीति उनकी अंग्रेजी के शब्दों के संबंध में रही है। उनके पत्रों में फाइल, एजेंट, कार्ड, एडिटर, एडिशन, कंपोज, मार्क, मोनोग्राम, आदि शब्द सहज ही मिल जाते हैं। कुछ बहुवचन वाले रूप भी मिलते हैं। जैसे रीडर्स, मिल्स, थैंक्स, रेकार्ड्स, आदि। स्पेलिंग के अनुसार वर्तनी का प्रयोग मिलता है, जैसे 'मैशोन' लिखा गया है जो आज लोक में 'मशीन' बन चुका है। अँग्रेजी शब्दों की उच्चारणानुसार वर्तनी भी आपने चलाने का प्रयत्न किया, जैसे कमिटी, अक्टोबर, सारटीफिकेट, मैडल; पर आगे चलकर ये शब्द क्रमशः 'कमेटी, अक्टूबर, सार्टीफिकेट, मैडल रूप मे चले।

संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों की वर्तनी के प्रति तो आप अत्यंत सतर्क रहते थे और प्रायः पत्रों में लेखकों को उनकी ओर संकेत करते रहते थे, जैसे,

एक बार सेठ गोविंददास जी को पत्र में लिखा,

'पृष्ठ ९५ पर 'स्त्रियोपयोगी' शब्द खटकता है। जरा आप भी
विचार कर लीजिए। अंत के पद्यों की अंतिम पंक्ति में
'करके' में 'के' अधिक जान पड़ता है।'

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० रघुवीर सिंह को तो आप प्रायः लिखते रहते थे कि शुद्ध लेखन के लिये संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है अतएव आपके मतानुसार,

'एक काम कीजिए, किसी तरह थोड़ी सी संस्कृत सीख लीजिए। इससे आपको शब्द शुद्धि का ज्ञान हो जाएगा। फिर आप 'अनुगृहीत' को 'अनुग्रहीत' और 'रघुवीर' को 'रघुबीर' न लिखेंगे।'

एक और पत्र ७-२-३४ को आपने लिखा था। इस पत्र में अशुद्धियों की ओर आपने स्पष्ट संकेत इस प्रकार किया,

	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ ४	स्मशान	श्मशान
,,	उद्देश्यों	उद्देशों
पृष्ठ ५ लाइन २	उससे	उनसे
पृष्ठ ६ आखिरी लाइन	तो	तब

आपके पत्रों में भाषा संशोधन के अतिरिक्त तत्कालीन गतिविधियां, नोक-झोंक, आलोचना प्रत्यालोचना, सरस्वती की समस्या, लेखकों की स्थिति आदि समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। महाकवि शंकर की कविताओ के प्रति उनमें प्रेम था अतएव श्री पद्मसिंह शर्मा के अनेक पत्रों में उनके संबंध में अनेक सूचनाएं बिखरी पड़ी हैं। उर्दू साहित्य के आप कितने अधिक प्रेमी थे इसका ज्ञान भी इन पत्रों को पढ़कर ही होता है। द्विवेदी जी जीवन पर्यंत आर्थिक कष्ट में रहे। इसके लिये एक पत्र का अंश यहां उद्धृत करना चाहता हूँ :

'(२००) महीने की मुलाजिमत छोड़कर मैंने २३) महीने पर सरस्वती का काम शुरू किया था। सचाई, श्रम, उद्योग और निस्पृहता की बदोलत वह चल गया। मुख्य आकर्षण अपनी भाषा से प्रेम था। उस प्रेम की बदौलत जो कुछ धन खर्च से बचा वह भी मैंने हिंदी की उन्नति के लिये ही दे डाला। यह खानगी बात के लिखने का आशय केवल इतना ही है कि निस्पृहता और स्वाभाविक प्रेम साहित्य की उन्नति में विशेष सहायक होते हैं।'

(भारतीय जी के पत्र से उद्धृत दिनांक ९-४-१९३६)

आज ऐसे ही तेजस्वी, त्यागी और तन-मन-धन अर्पण करनेवाले सेवक की आवश्यकता है। काश, आज हिंदी के पास एक भी 'महावीर' होता!

आठवाँ अध्याय

द्विवेदी काल का भाषा संस्कार

हिंदी गद्य का छुटपुट प्रयोग तो कई शताब्दी पूर्व ही होने लगा था, पर व्यवस्थित रूप से इसका प्रचलन १८०० ई० के आसपास से फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ हुआ। भारतेंदु के पूर्व तो हिंदी की दशा बहुत दयनीय थी क्योंकि लेखकों के समक्ष भाषा का कोई स्थिर, निश्चित एवं सर्वसंमत रूप नहीं था। भाषा की अस्तव्यस्तता पर्याप्त थी, जो जैसा चाहता था वैसा लिखता था। जहाँ तक शासन का संबंध है, उस समय उर्दू तथा अंग्रेजी का बोलबाला था और समाज में भी उसी व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती थी जो उर्दू, फारसी तथा अँग्रेजी अच्छी जानता था। हिंदी गद्य का प्रारंभ ही कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ कि लल्लू जी लाल ब्रजभाषा से, सदासुखलाल पंडिताऊपन से, इंशाअल्लाह खाँ लखनऊ की बोली से प्रभावित रहे। सदल मिश्र भी काव्यात्मक भाषा के फेर में रहे। 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' के युग में आगे चलकर सितारेहिंद ने उर्दू मिश्रित भाषा के प्रयोग में हिंदी को फँसा दिया। श्री भारतेंदु ने तथा भारतेंदु मंडल के अनेक लेखकों ने बड़े उत्साह से हिंदी गद्य में नवीन प्रयोग किए। भाषा में ओज होते हुए भी उत्साह भी एकरूपता का अभाव बना रहा। शुद्ध, परिमार्जित तथा परिष्कृत भाषा का अभाव खटकता था। हिंदी भाषा की इस दिशा की ओर ध्यान दिलाते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में इस प्रकार लिखा है :

"बहुत से हिंदी के प्रौढ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फारसीदानी, अँग्रेजीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे। ..... पर 'अँगरेजी में विचार करनेवाले जब आप्टे का अँगरेजी संस्कृत कोश लेकर अपने विचारों पर शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिंदी बेचारी कोसों दूर जा खड़ी होती थी। वे हिंदी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नहीं लिखते थे। उनके बहुत से वाक्यों का तात्पर्य अँग्रेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे, केवल हिंदी या संस्कृत जाननेवाले नहीं। ......भारतेंदु और उनके सहयोगी 'वे इच्छा किया', 'आशा किया' ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और वाक्यविन्यास की सफाई पर भी उतना ध्यान नहीं रखते थे।"

(सं० २००२ के सं० पृष्ठ ४२५ से उद्धृत)

सन् १८७३ ई०, 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के प्रकाशन का वर्ष, अत्यंत महत्वपूर्ण

है। 'हिंदी नए चाल में ढली' उक्ति द्वारा भारतेंदु ने उस समय की यथार्थ स्थिति की ओर संकेत किया है। इसके प्रकाशन के साथ ही गद्य और पद्य दोनों में नवीन विविध रूप प्रस्फुटित हुए। एकदम नई भाषा और शैली के दर्शन इसमें मिलते हैं। उनकी भाषा परिनिष्ठित (मानक) मानी जाती थी पर एकदम दोषरहित नहीं कही जा सकती। भारतेंदु परिकर के अन्य सदस्यगण भी भाषा को अनेक विधाओं के माध्यम से विविध विषयों से संपन्न बनाने में लगे हुए थे। विस्तार तथा वैविध्य के समय भाषा के परिमार्जन तथा परिष्करण की ओर ध्यान कम जा पाता है। भारतेंदु के बाद तो भाषा की अराजकता और अधिक बढ़ गई। १८७३ ई० से १८९३ तक की अवधि में पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका था अतएव द्विवेदी जी को प्रारंभ में ही इस ओर सतर्कता से दृढ़ कदम उठाना पड़ा।

इसके कुछ समय बाद ही 'सरस्वती' का प्रकाशन सन् १९०० ई० से प्रारंभ हुआ जिसकी संपादन समिति में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू राधाकृष्णदास, पं० किशोरीलाल गोस्वामी तथा बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री थे। दो वर्ष बाद ही जनवरी १९०३ से द्विवेदी जी (महावीरप्रसाद) ने 'सरस्वती' का संपादनभार सँभाल लिया। प्रारंभ में द्विवेदी जी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, निर्भीकता तथा साहित्यिक अभिरुचि ने शीघ्र ही 'सरस्वती' को लोकप्रिय बना दिया। उनके संपादन में प्रकाशित 'सरस्वती' का इतिहास ही तत्कालीन हिंदी साहित्य का इतिहास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उनके संपादन में ही सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम 'शंकर' शर्मा रामचंद्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न, प्रेमचंद, सियारामशरण गुप्त आदि नवयुवक लेखकों ने हिंदी साहित्य में पदार्पण किया।

व्याकरणसंमत भाषा के प्रयोग की ओर द्विवेदी जी ने ध्यान दिलाया। तत्कालीन साहित्यकारों की रचनाओं में सर्वत्र ही व्याकरण संबंधी नियमों की अवहेलना तथा भाषा की अराजकता है। आचार्य द्विवेदी ने व्याकरण की भूलों का परिहार करके शुद्ध, व्यावहारिक तथा वैधानिक भाषा की प्राणप्रतिष्ठा की। शब्दों का शुद्ध ही नहीं, सार्थक, सामयिक एवं सुंदर प्रयोग भाषा में महत्व रखता है। व्याकरण की व्यवस्था बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है।

भाववाचक संज्ञा बनाने के लिये संस्कृत के दो प्रत्ययों का एक साथ प्रयोग किया जाता था, जैसे चातुर्यता, साम्यता, सौंदर्यता, तारुण्यता, माधुर्यता, आधिक्यता, धैर्यता आदि। द्विवेदी जी ने सबसे पहले इन साधु समझे जानेवाले प्रयोगों पर कुठाराघात किया। भाववाचक संज्ञा बनाने में इन अशुद्ध प्रयोगों का व्यवहार इतना अधिक चल निकला था कि बड़े-से-बड़े लेखक अछूते नहीं बचे थे। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि 'सुंदर' से 'सुंदरता' बनाया जाय अथवा 'सौंदर्य'। उक्त प्रकार के अस्वाभाविक

प्रयोगों को उन्होंने ठीक नहीं समझा। यहीं पर यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य द्विवेदी ने 'व्याकरणसंमत भाषा' के साथ साथ सरलता तथा सहजता पर भी बल दिया, जैसे संस्कृत 'मार्दव' के स्थान पर प्रचलित 'मृदुता', 'मृदुत्व', 'मृदुपन' आदि प्रयोगों में आपने 'मृदुता' पर आग्रह किया।

'जो', 'जिन', 'जिन्हों', 'जिन्होंने' आदि के रूप स्थिर किए गए तथा उनके सम्यक् प्रयोग पर बल दिया गया। 'उनका', 'जिनका' जैसे शुद्ध रूपों के स्थान पर 'विन्हों का', 'जिन्हों का' प्रयोग मिलता है। 'अंधकार पटल जिन्हों का ऐसी निशायें' में 'जिन्हों' के स्थान पर 'जिनका' के प्रयोग पर बल दिया। कर्ता कारक में 'जिन्हों' ठीक है पर अन्य कारकों में 'जिन' रूप ही शुद्ध समझा जाना चाहिए।

इसी प्रकार विशेषणों के प्रयोग पर भी बल दिया। अँग्रेजी का प्रभाव पड़ना शुरू हो चुका था; 'मुझे मेरी पुस्तक मिल गई', 'उसको उसका पत्र मिला' आदि। ऐसे वाक्यों में निजवाचक का प्रयोग होना चाहिए और उनके लिंग-वचन के अनुकूल 'अपना', 'अपनी', 'अपने' अपनाना चाहिए। वाक्य में क्रिया अंतिम कर्ता के अनुसार होनी चाहिए, इस नियम पर पहली बार अपने आग्रह किया। गद्य की भाषा में पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में वे स्थिरता ले आए। उनके पूर्व 'आय', 'जाय', 'सुनाय' आदि प्रयोगों की बहुलता थी क्योंकि ब्रजभाषा का प्रभाव अत्यधिक था। 'समझकर' के लिये 'समझे', 'देखकर' के लिये 'देख', 'बिताकर' के लिये 'बिताय' जैसे प्रयोग उन्होंने खड़ी बोली के व्याकरण के आधार पर अशुद्ध ठहराए।

लिंग, वचन की अशुद्धियों की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रकार की अशुद्धियों का विवेचनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। अशुद्धियों की विस्तृत तालिका के लिये डा० उदयभानु सिंह रचित शोधग्रंथ 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (सं० २००८) के पृष्ठ २१३ से २४४ द्रष्टव्य हैं। इन अशुद्धियों को स्वरगत लेखन-त्रुटियाँ, व्यंजनगत लेखन त्रुटियाँ, संज्ञा संबंधी संबोधन संशोधन, सर्वनाम संबंधी, लिंग सबंधी, वचन संबंधी, कारक संबंधी, संधि संबंधी, समास संबंधी, उपसर्ग-प्रत्यय सबंधी, आकांक्षा संबंधी, योग्यता संबंधी, सन्निधि संबंधी, वाच्य संबंधी, प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंधी, मुहावरों संबंधी संशोधन, कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल शब्द, अरबी-फारसी शब्दों के स्थानापन्न शब्द, अंग्रेजी शब्दों के स्थानापन्न शब्द, अन्य शब्दों के संशोधन शीर्षकों में बाँटा गया है। हिंदी भाषा को व्याकरणसंमत बनाने का जितना प्रयत्न द्विवेदी जी ने किया उतना किसी अन्य संपादक ने आज तक नहीं किया। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। आचार्य द्विवेदी द्वारा यह परिष्कार आंदोलन चार रूपों में चला :

१. सरस्वती संपादक के रूप में।

२. अनेक साहित्यकारों की अशुद्धियों और दोषों के आलोचक के रूप में।

३. हिंदी ग्रंथों की भाषा के संशोधक के रूप में।

४. भाषा-व्याकरण संबंधी लेख तथा भाषण द्वारा।

संपादक के रूप में किए गए सुधारों की ओर निर्देश किया जा चुका है। आलोचक के रूप में भी उनका महत्व कम नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। उनके इस कथन की पुष्टि में यहाँ कुछ उदाहरण उपयुक्त सिद्ध होंगे :

मिश्र बंधुओं की पुस्तक 'हिंदी नवरत्न' प्रकाशित होने पर उसकी भाषा में दोष दिखाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था :

"भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरणच्युत भी है। संभव है तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो चार उदाहरण लीजिए :

(१) हिंदी कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव और श्रुतिमधुर नहीं है। (भूमिका, पृष्ठ ३०)

'किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव . . . नहीं है' यह बिलकुल अशुद्ध है। 'सौष्ठव' की जगह 'सुष्ठु' चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं?

(२) हमने उनका वर्णन थोड़े में 'स्थाली पुलाक न्याय' दिखा दिया है। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देकर 'स्थाली पुलाक न्याय' से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और यदि सदोष है तो कितनी।

+ + +

'ब' और 'व' की तो बड़ी दुर्दशा हुई है। 'ब्रजभाषा', 'बल्लभाचार्य', 'बिरह', 'बिषय', 'बिध' और 'बियोग' आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें 'व' के बदले 'ब' का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के 'बिहारी' शब्दों में 'ब'

का प्रयोग किया है। हाँ, जिल्द के ऊपर जो नाम छपे हैं उनमें 'व' अवश्य है। पर वह शायद प्रेस वालों की कृपा का फल है।"

'बिहारबंधु' के संपादक पं० केशवराम भट्ट की 'हिंदी व्याकरण' शीर्षक पुस्तक की समीक्षा इस प्रकार प्रकाशित हुई :

"आप 'चाहिये' को 'चाहिए' क्यों नहीं लिखते ?

'इये' प्रत्यय की जगह 'इए' क्यों न हो ? स्वर प्रधान है, कंपन अप्रधान। जहाँ तक स्वरों से काम निकले तहाँ तक व्यंजनों के प्रयोग की क्या आवश्यकता ? अकेले ए' का जैसा उच्चारण होता है, वैसा ही 'इ ए' का होता है। फिर द्राबिड़ी प्राणायाम क्यों ! यदि कोई यह कहे कि 'इए' करने से संधि हो जायगी, तो ठीक नहीं। हिंदी में इस प्रकार की संधि नित्य मानने से बड़ा गड़बड़ होगा। 'आईन' इत्यादि शब्द फिर लिखे ही न जा सकेंगे। हाँ, 'आयीन' चाहे कोई भले ही लिखे।"

हिंदी व्याकरण

'परंतु जब कोई किसी विषय को लिखने बैठता है तो उसके सामने बहुत से ऐसे ऐसे भाव भी खड़े होते हैं।' द्विवेदी जी ने लिखा—"इस वाक्य में 'तो' की जगह 'तब' होता तो ठीक होता। 'जब' के साथ 'तब' का ही प्रयोग उचित जान पड़ता है।

"फिर 'या' का अक्षय भंडार रहते इसे किसी दूसरे का ऋणी होने देना अच्छा नहीं।"

इसपर द्विवेदी जी ने लिखा कि 'अक्षय' यहाँ पर भंडार का विशेषण है अतएव वह 'अक्षय्य' क्यों नहीं ?

आपने 'हिंदी कालिदास' की समालोचना (कानपुर, १९०१ ई०) अत्यंत कठोर शब्दों तथा प्रखर शैली में लिखी। इससे आचार्य की प्रखरता का आभास होता है—

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण के नियमों की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कहीं क्रिया है तो कर्ता नहीं और कर्ता है तो क्रिया नहीं। कारक चिह्नों की भी अतिशय अवहेलना हुई है। जहाँ कहीं मूल में समापिका क्रिया है वहाँ अनुवाद में मनमानी असमापिका और जहाँ असमापिका है वहाँ समापिका कर दी गई है। कहीं एक के स्थान पर दो दो, तीन तीन क्रियाएँ रखी गई हैं और कहीं एक भी नहीं। काल और वचन विचार को भी अनेक स्थलों पर तिलांजलि मिली है। इन महान् दोषों के कारण भाषा पद्यों का ठीक ठीक अन्वय नहीं हो सकता।

छटि तम नील धार की भाँति ।
सेवत विमल जोन्ह युत राती ॥
कहुँ गेहन महँ चलत फुहारा ।
कहुँ मन ज्योति अनेक प्रकाश ॥
कहुँ चंदन घसि अंग लगावत ।
यहि रितु नर मन ताप नसावत ।

अब कहिए कि प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ क्या समझें ? 'छटि' यह तो असमापिका क्रिया है, तत्संबंधी समापिका क्रिया कहाँ है ? फिर इससे अर्थ क्या निकलता है, सो भी बताइए । हमारी बुद्धि में तो 'नील धार की भाँति वन छँटकर जोन्हयुत विमल रात्रि का सेवन करता है ।' यही अर्थ भासित होता है। क्या कहना ! अश्रुतपूर्व अर्थ है । अंधकार चाँदनी का सेवन करने लगा ! हम प्रार्थनापूर्वक पूछते हैं 'नील धार' क्या पदार्थ है जिसकी उपमा 'तम' से दी गई है । 'सेवत' का कर्ता यदि 'नर' मानते हैं तो क्रिया काशी में और कर्ता कश्मीर में इस प्रकार की दशा होती है और फिर 'छटि तम नील धार की भाँति' यह चरण विकिर पिंडवत् अलग ही रह जाता है । उसका अन्वय ही नहीं हो सकता । फुहारे आप ही आप चलते हैं । मणि ज्योतियाँ भी आप ही आप प्रकाशित होती हैं, परंतु क्या चंदन भी आप ही आप घिस जाता है ? यदि 'घसि लगावत' का कर्ता 'नर' है तो तीसरी और चौथी पंक्ति में उस नर का कोई कर्तृत्व नहीं पाया जाता । 'नर' ने यदि फुहारों और मणि ज्योतियों से कुछ काम ही न लिया तो उनका होना निष्फल हुआ । अनुवादक जी के ईप्सित अर्थ को केवल योगी जन योग दृष्टि द्वारा ही जान सकते हैं, अन्य की गति नहीं जो जान सके ।"

विविध प्रांतीय लेखक अपनी स्वाभाविक शैली में अपने ही क्षेत्र के शब्दों एवं मुहावरों के साथ ही वाक्य विन्यास को भी हिंदी में लाने लगे । ह्रस्व 'इ' के स्थान पर दीर्घ 'ई' पर मराठी का प्रभाव लक्षित होता है, इसी से प्रभावित होकर 'छोड़', 'जोड़' के स्थान, पर 'छोड', 'जोड' लिखा जाता था । उर्दू के प्रभाव से 'हुवा', 'लावो' आदि रूपों में 'व' को लिखा जाने लगा । पंजाबी प्रभाव से 'मेरे लिए' के स्थान पर 'मेरे को' लिखा जा रहा था । इस प्रकार की व्याकरणगत अशुद्धियाँ दूर कीं । इस विषय पर अपने 'भाषा और व्याकरण' (सरस्वती, नवंबर, १९०५ तथा 'भाषा और व्याकरण' (सरस्वती, फरवरी, १९०६ ई०) शीर्षक लेख भी लिखे । सन् १९०५ तथा १९०६ ई० में प्रकाशित इन लेखों ने साहित्य जगत में क्रांति ला दी, जिसके कारण कुछ समय के

लिये हिंदी जगत् में साहित्यिक मूल्यांकन दब सा गया और भाषागत समीक्षा ही प्रधान हो गई । भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद, गदाधर सिंह, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों की रचनाओं से पर्याप्त उदाहरण लिए गए । कुछ लेखकों ने इन लेखों की सराहना की और कुछ ने विरोध। सबसे अधिक बाबू बालमुकुंद गुप्त तिलमिला उठे। उन्होंने द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर उसकी साधुता में संदेह किया। 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर दोनों पक्षों की ओर से काफी लिखा गया। 'अनस्थिरता' की शुद्धि के विषय में द्विवेदी जी ने नागपुर के माधव सप्रे को साक्षी में लिया। सन् १९०६ की सरस्वती में उन्होंने स्वयं उत्तर दिया। द्विवेदी जी ने 'अनमिल आखर अरथ न जापू।' 'हित अनहित पशुपच्छिहु', 'अनदेखी अनसुनी बनाय, कुकथा कहै, सभा में आय', 'अनहोनी होनी करै होनी होन न देय' आदि उद्धरणों द्वारा 'अनस्थिरता' शब्द की सिद्धि के लिये समानांतर 'अनहित', 'अनदेखी', 'अनसुनी', 'अनहोनी' आदि उदाहरण प्रस्तुत किए। 'ता' प्रत्यय की सार्थकता पर भी विवेचन प्रस्तुत किया जो पीछे दिया जा चुका है।

इसी समय विभक्तियों को लेकर भी दल बन गए। पं० गोविंदनारायण मिश्र विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे। इस विवाद में द्विवेदी जी अधिक नहीं पड़े क्योंकि वे स्वयं विभक्तियाँ न मिलाकर लिखने के पक्ष में थे और इस आंदोलन के प्रमुख लेखक पं० मिश्र उनके कट्टर पक्षपाती थे जिन्होंने 'आत्माराम की टें टें' में श्री बालमुकुंद गुप्त की पूरी खबर ली थी।

वर्तनी संबंधी अशुद्धियों की ओर भी द्विवेदी जी ने ध्यान दिया, साथ ही वर्तनी की एकरूपता का भी प्रयास किया। काव्योपयुक्त शब्द तथा रूप भी गद्य में लिख दिए जाते थे, जैसे, 'जाने' के लिये 'जानैं', 'धीरों' के लिये 'धीरौं'। उस समय वर्तनी के क्षेत्र में भी अराजकता थी, एक ही शब्द के दो दो और कहीं कहीं तीन रूप प्रचलित थे—हुआ—हुवा, हुए—हुये—हुवे, चाहिये—चाहिए गये—गए, नयी—नई। द्विवेदी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'इस विषमता ने उदर में शूल उत्पन्न कर दिया है।'

कुछ शब्दों की अशुद्ध वर्तनी चल रही थी जिसके शुद्ध रूपों के प्रचलन की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया, जैसे भ्रष्ट, दृश्य, सिद्धि, भगीरथ के स्थान पर भृष्ट, द्रश्य, सिद्धी, भागीरथ रूप प्रचलित हो रहे थे।

पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक की तीन चार कहानिया तथा लेख प्रकाशित होने पर द्विवेदी जी ने उनसे कहा, "आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते। पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की लेखन शैली की ओर आपका ध्यान अवश्य जाता। 'सरस्वती' की अपनी निजी लेखन शैली है। वह मैं आपको बताता हूँ। देखिये 'लेने' के अर्थ में जब

'लिये' शब्द लिखा जाता है तब 'यकार' से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब एकार से लिखा जाता है। जो शब्द एकवचन में यकारांत रहते हैं, वे बहुवचन में भी यकारांत ही रहेंगे। जैसे—'किया–किये, 'गया–गये' परंतु स्त्रीलिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'देखिए' इत्यादि में 'एकार' लिखा जाता है। अकारांत शब्दों का बहुवचन एकारांत होता है, जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'।

(सरस्वती, भाग ४०, संख्या २.)

द्विवेदी जी वाक्यविन्यास ठीक करते समय विराम चिह्नों का निर्धारण भी करते चलते थे। विराम चिह्नों के प्रयोग में आपपर अंग्रेजी का पूरा प्रभाव था। सरस्वती में अनेक व्याख्याएँ तथा आलोचनाएँ प्रकाशित कीं। पूर्ण विराम तथा अल्प विराम के सम्यक् प्रयोग पर आपने विशेष बल दिया। बालमुकुंद गुप्त के विषय में द्विवेदी जी द्वारा खीझकर लिखा गया एक वाक्य विराम चिह्नों का प्रयोग सीखने के लिये पर्याप्त होगा।

"ये अरबी, फारसी और उर्दू के दास 'सत्य को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूती', 'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पांच सौ' को 'पान्सौ' लिखकर अपनी जूबांदानी साबित करते हैं।"

पं० सुधाकर द्विवेदी की 'रामकहानी' की आलोचना (सरस्वती, अक्टूबर १९०९ ई०) भी विराम-चिह्नों के सम्यक् प्रयोग का अच्छा उदाहरण है।

"इस पुस्तक की भाषा न हिंदी है, न उर्दू है, न गंवारी है। वह इन सबकी खिचड़ी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उड़द आदि सात धान्य, कोई कम कोई अधिक, सब एक में गड्ड बड्ड कर देने से जैसे सतनजा हो जाता है, वैसे ही इस पुस्तक की भाषा भी कई बोलियों की खिचड़ी है।" आगे चलकर द्विवेदी जी ने लिखा है कि "इस कहानी में सैकड़ों व्याकरण विरुद्ध वाक्य भरे हैं, यथा लिंग संबंधी 'ऐसी नशा', 'तीखी तीर', 'बेसर की मोती', 'रूप की हर आदि। लिंगदोष तो यत्र तत्र मिलता ही है जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्र के इस वाक्य को देखिए 'वा कोट पतलून पहिनने से अगरेजों ने उन्हें अपनी बराबर बना लिया है'।"

ब्राह्मण ८।७४

शब्दों के सम्यक् प्रयोग पर भी आपने बल दिया। शब्दों की मार्मिकता के अनुसार उनके प्रयोगों की व्यवस्था की। भाषा की समृद्धि की दृष्टि से उनके ये प्रयोग प्रशंसनीय रहे। 'कवि कर्तव्य' शीर्षक निबंध में आप लिखते हैं :

"बहुत से शब्द ऐसे हैं जो सामान्य रीति से सब एक ही अर्थ के व्यंजक हैं, परंतु विशेश ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक् पृथक् शब्दों में पृथक् पृथक् शक्तियों का गर्भित रहना प्रकट होता है। 'तन्वी' शब्द का सामान्य अर्थ स्थल विशेष में 'स्त्री' होता है। परंतु 'तनु' शब्द का अर्थ 'कृश' होने के कारण 'तन्वी' का विशेष अर्थ 'दुर्बल' है। यदि कहें कि 'यह तन्वी अपने पति के साथ सुख से अपने घर में रहती है।' तो यहाँ 'तन्वी' शब्द उस अर्थ का व्यंजक नहीं हो सकता जो अर्थ 'रामा' इत्यादि शब्दों का होता है। परंतु यदि हम कहें कि 'तन्वी अपने प्रियतम का वियोग बड़े धैर्य से सहन कर रही है' तो यहाँ 'तन्वी' शब्द की गर्भित शक्ति से वियोग द्योतक अर्थ को सहायता पहुँचती है। अतः ऐसे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रशस्त है। अर्थ सौरस्य के लिये जहाँ तक संभव हो, ऐसे शक्तिमान शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।"

(रसज्ञरंजन, पृष्ठ १७–१८ म)

हिंदी के शब्द भंडार को समृद्ध करने की इच्छा से अनेक लेखकों ने प्रचुर मात्रा में नवीन शब्दों का निर्माण किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'महादुस्कथ्य' (ब्राह्मण–५) जैसे संस्कृत, 'मुड़चिड़ों' (ब्रा० १) जैसे ठेठ ग्रामीण देशी तथा 'शुकलोचनत्व' (तोताचश्मी) (ब्रा० ५) आदि शब्दों का निर्माण किया। पर साथ ही कहीं कहीं बेमेल शब्दों के प्रयोग, जैसे, 'अबाध्य अथारिटी', 'बालाई अमदनी'; अशुद्ध श ों के प्रयोग, जैसे 'प्रयतन', 'आसिरवाद' तथा संधिदोषयुक्त शब्दों के प्रयोग, जैसे, 'उन्नत्यावनति' आदि मिल जाते हैं।

शब्द संगति के क्षेत्र में उन्होंने क्रांति उपस्थित कर दी। इस युग मे 'शब्दाभाव' का अनुभव किया गया जिसकी पूर्ति के लिये प्रायः लेखक संस्कृत से शब्द ले लेते थे जैसा कि पं० प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' से ऊपर उदाहरण दिए गए हैं। उनका मत था कि संस्कृत, उर्दू. फारसी आदि के सरल तथा व्यावहारिक शब्द ही लिए जायँ। संस्कृत के कठिन तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग के भी आप विरोधी थे। आपके मतानुसार ऐसे शब्दों के प्रयोगों से भाषा दुर्बोध होगी। पं० प्रतापनारायण जी ने 'देशोन्नत्यभिलाषियों' (ब्राह्मण–१) जैसा शब्द बनाया। 'गृह', 'लेखनी' तथा 'उच्च' के स्थान पर 'घर', 'कलम' तथा 'ऊँचा', लिखने के आप पक्षपाती थे। 'नोकवती नासा' के स्थान पर 'नोकदार नाक' आप पसंद करते थे। इस संबंध में 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' (इलाहाबाद, १९०७ ई०) के पृष्ठ ४९–५० पर आपने लिखा है :

"जो संस्कृत भाषा हजारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं। स्वतंत्रता सबके लिये एक सी लाभदायक है। कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतंत्रता

प्यारी न हो ? फिर क्यों हिंदी मे संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाय ? क्यों न स्वतंत्र कर दी जाय ? संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गए हैं उनका प्रयोग हिंदी में होना ही चाहिए । ये सब अब हिंदी के शब्द बन गए हैं। उनसे घृणा करना उचित नहीं।"

संस्कृत, फारसी के अस्वाभाविक शब्दों[1] के प्रयोग के ही आप विपक्षी थे। वाग्जाडंबर से उन्हें चिढ़ थी। उनका कहना था कि जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। परंतु यह गुण नहीं, दोष है।

(रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १८)

उनकी दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के हो सकते हैं :

१. प्रांतज—प्रांत विशेष के लोग ही समझ सकते हैं।

२. क्षणभंगुर—किसी कारण से कुछ समय के लिये गढ़ लिए गए हैं।

३. व्यापक—हिंदी प्रदेश के सभी लोग समझ सकें।

इस संबंध में द्विवेदी जी का मत था कि प्रथम दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग न किया जाय। तीसरे प्रकार के शब्दों का प्रयोग ही उपयुक्त है। उस समय के उपन्यासों में 'अलँग', 'भभरा', 'येकह', 'सोहराना', 'लगे बझे', 'महराना', 'टंटा बखेड़ा', 'खार रखना', 'ढासना', 'तर्खा' आदि शब्दों का प्रयोग हो रहा था। इस दृष्टि से प्रांतज तथा क्षणभंगुर प्रयोगों को उचित नहीं ठहराया गया। अशिष्ट तथा अश्लील शब्दों के प्रयोग का विरोध किया गया।

इस समस्या पर डा० श्रीकृष्णलाल ने भी अपना मत दिया है, 'हिंदी भाषी प्रदेश उत्तरी भारत में दूर तक फैला हुआ है और एक हिंदी प्रांत की बोली के शब्द दूसरे प्रांत के आदमियों की समझ में ठीक से नहीं आ सकते। इसलिये

---

१. संस्कृत शब्दों के अस्वाभाविक प्रयोग की ओर तत्कालीन लेखकों में से श्री मन्नन द्विवेदी (रामलाल, १९१४ ई०) बनारस की भाषा की हँसी उड़ाते हुए लिखते हैं :

'एक अनाथिनी ब्राह्मण बालिका की अचानक गुप्त हो जाने की किंवदंती नाना रूप से स्थान स्थान में पावस के विद्युत् सदृश प्रबल वेग से प्रसारित हो रही है।'

श्री सुधाकर द्विवेदी ने भी अपने उन मित्र की हँसी उड़ाई जिन्होंने एक चिट पर लिखकर दिया था, 'गृह का कपाट मुद्रित था आपसे भेंट न हुई। हताश होकर परावर्तित हुआ।'

(डा० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास)

पृ० १५८–१५९।

प्रांतज शब्दों की अपेक्षा संस्कृत शब्द, जो पंजाब के अतिरिक्त सभी जगह समझे जा सकते थे, अधिक संख्या में लिए गए। फिर बोलियों के शब्दों में कुछ ग्रामीणता और अश्लीलता की गंध आती है जिसे नगर निवासी सहन नहीं कर सकते। इस कारण भी बोलियों के शब्द भाषा में बहुत कम लिए गए।'

(वही, सं० १९५२, पृ० १७१-७२।)

खिचड़ी भाषा के आप कट्टर विरोधी थे क्योंकि इससे प्रवाह में बाधा पड़ती है। प्रेमचंद के 'उर्दू बेगम' में फारसी मिश्रित भाषा ही है।

उस समय इस प्रकार के प्रयोग चल रहे थे, जैसे 'मुंह पर पड़े हुए परदे में से भी आंतरिक मनोगत हस्तगत करनेवाली नजर अवगुंठनवती प्रमदा पर फेंकते हुए अजीजी (आजिजी) से संपुष्टाचार्य ने कहा।'

श्री गयाप्रसाद शुक्ल पद्य में इस प्रकार लिख रहे थे—

याद आई वतन की हमें जब कभी
अश्कबारां सी यह चश्मेतर हो गई।
खून-दरसा दिया दिल पै बिजली गिरी
हा! तबीयत मेरी तरबतर हो गई।

श्री प्रतापनारायण मिश्र भी 'फैशोन्नति', 'रेल दंड' जैसे समास बना रहे थे। इस प्रकार की संकर शब्दावली का प्रयोग उस युग से ही प्रारंभ हो गया था।

इस प्रकार एक साथ ही दूर दूर तक फैले हुए लेखकों ने अनेक आदर्श और अपनी रुचि के अनुसार परंपरा का पालन करते हुए प्रयोग किए, फलतः भाषा विशृंखल हो गई और अराजकता फैल गई। इस अराजकता का ही डटकर विरोध आचार्य द्विवेदी ने किया। मातृभाषा की सेवा के लिये उत्साह तो था पर उसके फलस्वरूप संस्कृत, मराठी, बँगला, अँग्रेजी, उर्दू पढ़े लिखे लेखक अपनी अपनी भाषागत विशेषताएँ लेते आए। उन्होंने अपनी अपनी भाषा के शब्दों, पदावलियों, अभिव्यक्तियों, क्रियारूपों को स्थान दिया। ऐसे उदाहरण दिए जा चुके हैं। आज भी यही स्थिति प्रादेशिक भाषाओं के संदर्भ में सत्य है। जो प्रयोग हिंदी में नहीं हैं, जिन अर्थच्छायाओं मे युक्त शब्द नहीं हैं उनका स्वागत होना चाहिए। पर अनावश्यक शब्दों को स्थान देना उचित नहीं।

एक प्रवृत्ति और फैलती जा रही थी कि क्यों न हिंदी शब्दों की वर्तनी उच्चारण के अनुरूप लिखी जाय। सिद्धांततः इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए पर इसके परिणामस्वरूप वर्तनी में व्यर्थ ही इतने रूप प्रचलित हो जाते हैं कि कभी कभी पहचानना कठिन हो जाता है। अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण तो आज पर्याप्त भिन्न हो चुका है। कई बार वर्तनी सुधार की बात उठाई गई है पर कुछ

गिने चुने शब्दों को छोड़कर परिवर्तन नहीं किया जा सका है। हिंदी में तो ऐसी स्थिति नहीं है। हाँ, ठीक उच्चारण की दृष्टि से नियमों को बना लेना चाहिए, साथ ही कोशों में आक्षरिक विभाजन दिया जाना उचित है।

भारतेंदु काल के अनेक लेखकों ने बदली हुई वर्तनी (उच्चारणानुरूप) का प्रयोग प्रारंभ कर दिया था, पर एक लेखक एक ही वर्तनी के प्रयोग में पर्याप्त अभ्यस्त हो, ऐसी बात नहीं थी, जिसके फलस्वरूप दो-दो रूप मिलते हैं :

उस्का---उसका

इस्की---इसकी

मुसल्मान---मुसलमान

यही नहीं, पं० प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' पत्र में 'जिस्तरह' 'इस्कीतरह' जैसे रूप भी मिलते हैं।

वाक्य स्तर पर भी अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ मिल जाती हैं। एक ही वाक्य में एक ही क्रिया के कई कर्ता हों तो क्रिया का लिंग अंतिम कर्ता के अनुरूप होता है। इस नियम की प्रायः अवहेलना मिलती है। द्विवेदी जी ने बड़ी दृढ़ता से इस नियम की ओर ध्यान दिलाया। 'चिट्ठी लिखा', 'मुझे बात करना है', 'भाषा ठीक होना चाहिए' आदि अशुद्ध लिंगों का प्रयोग मिलता है। कुछ उदाहरण शुद्ध भाषा के संदर्भ में दिए जा चुके हैं। लिंग की दृष्टि से कोई संस्कृत व्याकरण का आश्रय लेता था तो कोई हिंदी का। 'आत्मा' संस्कृत में पुल्लिंग है जबकि हिंदी में स्त्रीलिंग। लिंग की प्रवृत्ति के अनुसार इसका स्त्रीलिंग प्रयोग ही उचित तथा मान्य है। अंग्रेजी उर्दू से आगत शब्दों के लिंग निर्धारण में एकरूपता का पर्याप्त अभाव मिलता है।

वचन संबंधी अशुद्धियाँ प्रायः कम मिलती हैं, फिर भी 'ये आज्ञा हमारे फुसलाने मात्र को है।' ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं।

कारक चिह्नों के प्रयोग में भी अराजकता थी; जैसे, कर्म और संप्रदान में एक ही कारक चिह्न होने के कारण उसका प्रयोग 'को' के रूप में ही अधिक मिलता है। संप्रदान के लिये 'के लिये' का प्रयोग धीरे धीरे बढ़ता गया। अन्य प्रसगों में भी 'को' का प्रयोग कर दिया जाता था, जैसे 'क्या यह सामर्थ्य किसी दूसरे को हो सकता है।'

योजक 'और' का अभाव भी मिलता है, जैसे,

'पुत्र पिता सकुचेगा'

शब्दों की सन्निधि और क्रम में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग मिलते हैं। अंग्रेजी के वाक्य विन्यास का भी धीरे धीरे व्यापक प्रभाव पड़ रहा था। इसपर तीव्र प्रहार 'सरस्वती' में किए जाते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के गद्य में क्रियाओं के प्रयोग में त्रुटियाँ मिलती हैं, 'शिक्षा करना शिक्षा नहीं है। 'करना' के स्थान पर 'देना' का प्रयोग होना चाहिए।

'प्रयत्न रखना चाहिए।' 'रखना' के स्थान पर 'करना' का प्रयोग उचित है'।

भाषागत सौष्ठव तथा भावानुकूलता पर भी आपने बल दिया। अनेक लेखकों की रचनाओं पर बँगला, मराठी, अँग्रेजी, उर्दू, का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। भावों के अनुरूप सुंदर तथा सरस शैली का विकास करने का पूरा पूरा श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। खड़ी बोली 'पद्य' की भाषा को भी आपने सुधारा। पद्य और गद्य की भाषा[1] के अंतर को भी आपने समाप्त किया। इस संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है :

'खड़ी बोली के पद्य विधान पर भी आपका पूरा पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के संपादनकाल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में छाप दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ हो गई।'

(हिंदी साहित्य का इतिहास, २००२ सं०, पृ० ५३०–३१)

इसी समय 'श्रीसमयसार टीका' की आलोचना भी भाषा सुधार का एक सुंदर नमूना है। भूमिका में लेखक ने इस प्रकार लिखा था, 'इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समान विद्वतारहित व्यक्ति का न था तौ भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है उसपर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अवलोकन करेंगे क्योंकि मुझ जैसे अल्पज्ञानी द्वारा भी भूलें हो जाना संभव है।'

द्विवेदी जी ने इस प्रकार नोट लिखा—

'यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह बड़ी अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी। खैर, शैली का विचार जाने दीजिए। 'इस' और 'भाषा' शब्दों के बीच एक 'की' दरकार है। दूसरे वाक्य में 'पर' शब्द व्यर्थ है। 'तौ' का इम्ला ही गलत है। वह 'तो' होना ही चाहिए। अंतिम वाक्य का उत्तरांश तो सचमुच ही हास्यजनक हो गया है।

---

१. 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक् पृथक् न होनी चाहिए। यह एक हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।'

('कवि कर्तव्य', जुलाई, १९०१ से)

भूलें हो जाना तो प्रकांड पंडितों से भी संभव है, प्रति अल्पज्ञों से हो जाना तो कुछ बात ही नहीं। फिर 'भी' अव्यय की क्या सार्थकता है?'

आचार्य द्विवेदी ने व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई की ओर विशेष ध्यान दिया। इस दिशा में खड़ी बोली के सुधारार्थ उनके द्वारा जो प्रयत्न किए गए वे केवल महत्वपूर्ण ही नहीं, हिंदी भाषा के विकास में अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। उनके इस प्रयास से हिंदी का महत्व बढ़ा और प्रचार की दिशा में योग मिला। आज के साहित्यकार इस दृष्टि से उनके अपार ऋणी तथा कृतज्ञ हैं। आचार्य शुक्ल के इस कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं कि 'गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।'

आधुनिक गद्य तथा पद्य की भाषा के परिमार्जन एवं संस्कार का प्रधान श्रेय आचार्य द्विवेदी को ही है जिन्होंने ललकारकर कहा, 'सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपने निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माँ को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा शुश्रूषा में रत रहता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए; इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।'

आचार्य द्विवेदी ने भाषा संस्कार के साथ उच्च कोटि के साहित्य पर भी बल दिया।

भाषा संस्कार के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने काफी श्रम किया। स्वयं लिखना सरल है किंतु संशोधन या संस्कार करना अत्यंत कठिन है। सुप्रसिद्ध पत्रकार पराड़कर जी ने उनकी संशोधन 'कापी' देखी थी। मालूम होता है कि बीच बीच में कुछ शब्दों को छोड़कर आपने सारा मजमून फिर से लिख डाला है। एक ख्यातनामा साहित्यिक की पुस्तक का एक अध्याय आपके पास संशोधनार्थ भेजा गया था। संयोगवश उसकी कापी मेरे देखने में आ गई थी। देखकर आश्चर्य हुआ। उसमें मूल कम और संशोधन अधिक था।

जो संपादक अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करते थे उनको ओर लक्ष्य करके बड़ी खिन्नता से 'विधि विडंबना' में लिखा।

'शुद्धाशुद्ध शब्द तक का जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये नये अखबार।'

'ग्रंथकार लक्षण' कविता में द्विवेदी जी ने ग्रंथकारों की भी खबर ली :

शब्द शास्त्र है किसका नाम
इस झगड़े से जिन्हें न काम,
नहीं विराम चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता
इधर उधर से जोड़ बटोर,
लिखते हैं वे तोड़ मरोड़
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में आपके प्रति ठीक ही लिखा है :

संस्कार की वे रक्षा चाहते थे अतः ग्रामीण एवं देशीय शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते थे तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्यविन्यास के साथ साथ सलीस उर्दू की मुहावरेबाजी दिखाने का भी उन्हें शौक था। यह उनकी आरंभ और मध्यकाल की गद्यशैली की विशेषता थी। पद्य में और अपने प्रौढ़ काल के गद्य में द्विवेदी जी की यह टकसाली हिंदी—न संस्कृत, न उर्दू की पदरचना—चलती रही।'

(भूमिका भाग पृष्ठ ८)

इस संबंध में आचार्य द्विवेदी ने 'अपनी कहानी' में स्पष्ट लिखा है कि 'संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता, यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं।'

नवाँ अध्याय

द्विवेदी काल का उर्दू अदब

तरतीब (अनुक्रम)

१– तमहीद (भूमिका)

२– शाइरी

(क) नज़्म निगार

१. इस्माईल मेरठी (१८४४-१९१७)
२. अकबर इलाहाबादी (१८४६-१९२१)
३. 'नज़्म' तबातबाई (१८५२-१९३३)
४. 'शौक़' किदवाई (१८५३-१९२८)
५. नादिर काकोरी (१८५७-१९१२)
६. सूरज नरायन 'मेह्र' (—१९३३)
७. मौबतराय 'नज़र' (१८६६-१९२३)
८. 'सुरूर' जहानाबादी (१८७२-१९१०)
९. अल्लामा इक़बाल (१८७३-१९३८)
१०. चकबस्त (१८८२-१९२६)
११. अज़मतुल्ला खाँ (१८८७-१९२७)

(ख) ग़ज़लगो शाइर

१. 'शाद' अज़ीमाबादी (१८४६-१९२७)
२. 'रियाज़' खैराबादी (१८५३-१९३८)
३. 'सफ़ी' लखनवी (१८६२-१९५०)
४. 'साक़िब' लखनवी (१८६९-१९४६)
५. हसरत मोहानी (१८७५-१९५१)
६. 'फ़ानी' बदायूनी (१८७९-१९४१)
७. 'सीमाब' अकबराबादी (१८८०-१९५१)
८. 'अज़ीज़' लखनवी (१८८२-१९३५)
९. 'आरज़ू' लखनवी (१८८२-१९५२)

तमहीद

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी काल (सन् १८९३–१९१८ ई०) तक के उर्दू अदब का जाइज़ा पेश किया गया है। उर्दू अदब में सन् १८५७ के विप्लव के बाद से पहले महायुद्ध का ज़माना बड़े परिवर्तनों का ज़माना है। उन सब परिवर्तनों का ज़िक्र प्रस्तुत निबंध की सीमा से बाहर है, तो भी जो तब्दीलियाँ द्विवेदी काल में स्पष्ट रूप में सामने आईं, उनकी तरफ़ इशारा किया जायगा और उन तमाम शाइरों और अदीबों से भी बहस की जाएगी जिनकी अदबी ज़िंदगी इस दौर में अपने शिखर पर पहुँची। इस निबंध में ऐसे तमाम साहित्यकारों को शामिल किया गया है, जिनका देहांत बीसवीं सदी की दूसरी दहाई में हुआ। उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जैसे इस्माईल मेरठी और नादिर काकोरवी, जिनकी पैदाइश उन्नीसवीं सदी के मध्य हुई, यद्यपि उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास पैदा होनेवाले सभी साहित्यकारों को शामिल नहीं किया गया। निबंध में साहित्यकारों का क्रम उनकी पैदाइश के विचार से रखा गया

है और सन् हर जगह ईस्वी दर्ज किया गया है। पैदाइश के सन् की आख़िरी हद १८८७ ई० क़ाइम की गई है, इस तरह गोया अज़मतुल्ला खाँ (जन्म सन् १८८७ ई०) और अब्दुर्रहमान बिजनौरी (१८८५ ई०) को तो शामिल किया गया है, लेकिन अबुल् कलाम आज़ाद (१८८८ ई०) और जगतमोहन लाल 'रवाँ' (१८८९ ई०) को शामिल नहीं किया गया, क्योंकि उनका ज़माना निश्चित रूप से बाद का है। इन उसूलों के अलावा ज़ियादातर नज़र इस बात पर रही है कि वे सब लेखक और शाइर इस निरीक्षण में ले लिए जायँ, जिनकी शुह्रत अपने बलंदी पर इस ज़माने में पहुँची, या जिनके महत्वपूर्ण कारनामे इस दौर में सामने आए, या जिनकी अदबी ज़िंदगी का बड़ा हिस्सा इस दौर में बीता।❀

उर्दू साहित्य में आधुनिक काल का आरंभ सन् १८५७ के बाद से होता है। अंग्रेजी हुकूमत की बिसात उलटने की नाकाम कोशिश के बाद मुग़लों का चिराग़ हमेशा के लिये बुझ गया। इस वक्त मुसलमान जीविका की दृष्टि से ख़ासे पिछड़े हुए थे। सन् १८५७ ई० की घटनाओं की नाकामी से उनकी हालत और भी ख़राब हो गई थी। हार, बेदिली और नाउम्मीदी की भावना व्याप्त थी। ऐसे में सर सैयद अहमद ख़ाँ ने बेहतर यही समझा कि अंग्रेजो से समझौता करके पच्छिमी तालीम से फ़ायदा उठाया जाय और अक्लीयतपसंदी के संदेश को सब तक पहुँचाया जाय,

---

❀ इस निबंध के लिखने में उर्दू की निम्नलिखित तारीख़ें सामने रही हैं :

१. बाबूराम सक्सेना—तारीख़े अदबे उर्दू (तर्जुमा मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी), १९२९ ई०

२. हामिद हसन क़ादरी—दास्ताने तारीख़े उर्दू, १९५७ ई०

३. अब्दुल क़ादिर सर्वरी—जदीद उर्दू शाइरी, १९४५ ई०

४. एजाज़ हुसैन—मुख़्तसर तारीख़े अदबे उर्दू, १९६० ई०

५. नसीम क़ुरैशी—उर्दू अदब की जदीद तारीख़, १९६१ ई०

६. मुहम्मद सादिक़—हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर, १९६४ ई०

इनमें से कोई भी तारीख़ अदबी तारीख़नवीसी के आला मेआरों पर पूरी नहीं उतरती। ये सब की सब किसी न किसी एतबार से अधूरी और नाक़िस हैं। हवालों और सनों की ग़लतियाँ आम हैं। इसलिये प्रस्तुत निबंध लिखते हुए ज़ियादातर असल माख़ज़ (मूल कृति) यानी अदीबों की कृतियों से सीधे मवाद (सामग्री) ली गई है, और राय क़ायम करते हुए भी पिछली बातों को दुहराने के बजाय स्वतंत्र दृष्टि से काम लेने को ज़ियादा अहमीयत दी गई है। इस मक़ाला की तैयारी में मनोरमा अबोल साहबा से बेहद मदद मिली, जिसके लिये उनका तहे दिल से शुक्रिया अदा किया जाता है।

ताकि मुसलमान हिंदोस्तान की क़ौमी और जीविकावाली ज़िंदगी में आगे चलकर पूरी तरह हिस्सा ले सकें। सर सैयद की तहरीक इस लिहाज़ से एक प्रगतिशील तहरीक थी कि उन्होंने नई रोशनी का स्वागत करने पर जोर दिया, साइंस के लाभों से परिचित कराया, मज़हब के दक़ियानूसीपन को दूर किया, उसकी सही रूह को सामने लाने के लिये किताबें लिखीं और कलंक और रूढ़ि के जाले हटाए, और सामाजिक सुधार के लिये हर मुमकिन कोशिश की, लेकिन अंग्रेज़ों से उनकी समझौता-बाज़ी, हिंदोस्तानी क़ौमपरस्ती की बुनियादी भावना से बुरी तरह टकराती थी। बाद में जब उसने अंग्रेज़परस्ती का रूप ले लिया, तो उनका घटिया कर्म और भी उभर-कर सामने आने लगा।

मुसलमानों में उस समय भी एक वर्ग वहाबी आंदोलन के उत्तराधिकारियों का और देवबंद के उलेमा का ऐसा मौजूद था जो अंगरेज़ों से किसी कीमत पर समझौता करने को तैयार न था और अंगरेज़ों की अनुकूलता प्राप्त करने को ईमान बेचकर खाने के समान समझता था। शिबली, जिनकी प्रारंभिक शिक्षा में उलेमा का हाथ रहा था, यद्यपि सर सैयद के परस्तार थे, लेकिन बाद में उनकी अंगरेज़-परस्ती ही की वजह से उनके विरुद्ध हो गए थे। १८८७ ई० में जब कांग्रेस की नींव डाली गई तो सर सैयद ने मुसलमानों को इससे दूर रहने की राय दी और इस तरह क़ौमी आंदोलन के दो धारे एक दूसरे से कटकर अलग अलग बहने लगे। सर सैयद चूँकि एक ज़बरदस्त व्यक्तित्व रखते थे, उनके ख़यालात का प्रभाव उनके समकालीनों और बाद में आनेवालों पर बहुत गहरा पड़ा। उर्दू साहित्य में उनके आंदोलन के लाभ और हानियाँ, दोनों पक्षों की झलक देखी जा सकती है। एक तरफ़ सर सैयद और उनके साथियों के कारनामे हैं, तो दूसरी तरफ़ शिबली और उनके प्रभाव भी काम करते रहे हैं।

द्विवेदी काल के आरंभ में यद्यपि सर सैयद और उनके कतिपय मित्र जीवित थे तथापि साहित्यिक धरातल पर वह आंदोलन अपना उद्देश्य पूरा कर चुका था और उसका कार्य शुरू हो चुका था। इस लिहाज़ से ज़मीन नए आनेवालों के लिये ख़ाली हो चुकी थी। इन नए आनेवालों में इस्माईल मेरठी, शुकर जहानाबादी, अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, नादिर काकोरवी, नज़्म तबातबाई और इक़बाल के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। हाली ने ग़ज़ल के विरोध में आवाज़ उठाई थी और उसका असर भी हुआ था लेकिन यह ज़ुल्मी काफ़िर उर्दू के मुंह कुछ इस तरह लग चुकी थी कि पूरी तरह किसी के छुटाए न छूट सकी! इस काल में भी शाद अज़ीमाबादी, रियाज़ ख़ैराबादी, सफ़ी लखनवी, साक़िब लखनवी, हसरत मोहानी, फ़ानी बदायूनी, सीमाब अकबराबादी, अज़ीज़ लखनवी और आरज़ू लखनवी जैसे चोटी के शाइरों ने ग़ज़ल ही के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की और पूरी अंतःशक्ति

ग़ज़ल ही में लगा दी। किंतु सच यह है कि यह काल पद्य का था। आधुनिक गद्य रचना का आरंभ हाली और आज़ाद के काल में हो चुका था; किंतु काव्य की इस विधा ने इसी काल में यौवन प्राप्त किया। इस्माईल मेरठी, नज्म तबातबाई और नादिर काकोरवी ने रूपों के नए अनुभव किए और अकबर इलहाबादी, सुरूर जहानाबादी, इक़बाल और चकबस्त ने इसे कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। आधुनिक जातीय ढंग का प्रथम प्रकाशन शिबली के यहाँ मिलता है। सुरूर जहानाबादी ने उर्दू में देशप्रेम का रिश्ता प्राचीन आर्य पद्धति से मिला दिया और भारत को माता के रूप में देखा। उन्होंने इसमें प्रेम की अपनी शान पैदा कर दी कि इसके आकर्षण में आज तक कमी नहीं आई। चकबस्त मिश्रित सभ्यता और अपेक्षाकृत विशाल राष्ट्रीय आंदोलन के सर्वश्रेष्ठ शाइर थे। उनकी कविताएँ पढ़कर ऐसा लगता है कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के उद्दाम भावों और उसकी धड़कनों को उर्दू के शरीर में समाविष्ट कर दिया था। अकबर इलाहाबादी का क्षेत्र दूसरा है। वह तेजी से बदलती हुई दुनियाँ पर व्यंग्य करते थे। उस कठोर परिस्थिति में वह खुद भी हँसते थे और दूसरों को हँसाने का गुर भी जानते थे। लेकिन उनका हास जहाँ नई सभ्यता और मिश्रित राष्ट्रीयता पर वार करता है, ट्रैजेडी का पक्ष लिए हुए है, क्योंकि आधुनिक काल के तक़ाज़ों को समझने में वह असमर्थ थे और हर नई चीज़ से भड़कते थे! योरप जाने से पहले इक़बाल की शाइरी राष्ट्रीयता के रंग में डूबी हुई थी। आरंभिक कविताओं में "सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा" के रचयिता ने स्वदेश के प्रत्येक कण को देवता बनाकर पेश किया था। इक़बाल उर्दू में एक बौद्धिक ज्वालामुखी की हैसियत रखते हैं। भाषा पर उन्हें जो अधिकार प्राप्त था और उनके चिंतन में जो गहराई और ऊँचाई थी, उसने उर्दू को नए अर्थगौरव से परिचित कराया। राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विचार से शिबली के बाद सुरूर जहानाबादी, चकबस्त और हसरत मोहानी की शाइरी को दूसरी तरफ़ रखकर देखा जा सकता है। अंतिम दो शाइरों की रचनाएँ सर सैयद के पृथक्तावादी देश का भाषाई परिणाम था।

इस काल में उपन्यास और कहानियों पर भी प्रमुख रूप में ध्यान दिया गया। उर्दू में उपन्यास का आरंभ नजीर अहमद और रतननाथ सरशार के हाथों हुआ था। इस विधा को इस काल में मुंशी सज्जाद हुसैन, अब्दुलहलीम शरर, मिर्ज़ा मु० हादी रुस्वा, राशिद अलमेरी ने आगे बढ़ाया। रुस्वा ने 'उमराव जान अदा' लिखकर उर्दू में बाक़ायदा यथार्थ लेखन की नींव डाली और उर्दू को ऐसा नावेल दिया जिसकी गणना क्लासिक्स में होती है। इस काल में उर्दू उपन्यास और कहानी की दुनियाँ का सबसे उज्वल नक्षत्र यथार्थतः प्रेमचंद हैं; लेकिन इस इतिहास में उनका उल्लेख क्रमानुसार दूसरी जगह आ चुका है, इसलिये उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जाएगी।

समालोचना को भी उर्दू में लगभग इसी काल में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस क्रम में चकबस्त, वहीदुद्दीन सलीम, अब्दुर्रहमान बिजनौरी और मौलवी अब्दुल हक़ के कारनामों का स्थान ऐतिहासिक है। मौलवी अब्दुल हक़ ने अपने प्रयत्नों से 'अंजुमने-तरक़्क़िए-उर्दू' के काम को आगे बढ़ाया। उर्दू के प्राचीन और अप्राप्य तज़्किरों, दवावीन (ग़ज़ल संग्रहों) तथा कुल्लियात को इकट्ठा किया और अपनी भूमिकाओं के साथ प्रकाशित करके अज्ञात नाम से निकाला। उन्होंने उर्दू व्याकरण और उर्दू शब्दकोश भी लिखा। वे निस्संदेह बीसवीं सदी की पहली पंक्ति में उर्दू के सबसे बड़े उपकारक थे।

इस काल में उर्दू में कई और कारनामे भी सामने आए। गद्यकारों में ख़्वाजा हसन निज़ामी का स्थान बहुत ऊंचा है। दिल्ली की टकसाली ज़ुबान में वह बहुत प्रबल शैली में गद्यरचना करते थे। उन्होंने सौ से अधिक किताबें यादगार छोड़ी हैं। लाला श्रीराम ने उर्दू शाइरों के बृहत्तम जीवनचरितों का बीड़ा उठाया, लेकिन उसे पूरा न कर सके। "ख़ुमख़ाना जावेद" की सिर्फ़ चार जिल्दें प्रकाशित हुई हैं। उर्दू का सर्वोत्तम लुग़त (शब्दकोश) "फ़रहंग आसफ़िया" भी इसी काल में प्रकाशित हुआ जिसे सय्यद अहमद देहलवी ने चौबीस बरस की मेहनत से तैयार किया था। पत्रकारिता के जगत में सर अब्दुल क़ादिर और दयानरायन निगम के कारनामे का कम महत्व नहीं। देश और काल ने इस दौर में नए विचारों के प्रकाशन में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया।

इस प्रस्तावना के बाद इस दौर के शाइरों और गद्यकारों को अलग अलग पेश किया जायगा और उनकी संक्षिप्त जीवनी लिखने के बाद उनकी कृतियों और कारनामों का निरीक्षण किया जायगा।

इस्माईल मेरठी

मौलाना इस्माईल मेरठी १८४४ ई० में मेरठ में पैदा हुए। मामूली शिक्षा पाने के बाद सोलह बरस की उम्र ही में सरश्त-ए-तालीम में मुलाज़मत शुरू कर दी। १८८८ ई० में आगरा के सेंट्रल नार्मल स्कूल में नियुक्त हो गए। इस स्कूल में बारह बरस तक शैक्षिक सेवा करने के बाद १८९८ ई० में पदमुक्त हुए और १९१७ ई० में देहावसान हुआ।

इस्माईल मेरठी का ख़ास कारनामा उनकी वे स्कूली किताबें हैं जो विद्यार्थियों के लिये लिखी गई हैं। मौलाना इस्माईल ने बच्चों के मनोविज्ञान पर दृष्टि रखते हुए विभिन्न विषयों पर शिष्टाचार संबंधी और उपदेशात्मक पद्य रचे हैं, बच्चों के लिये रचनाएं प्रस्तुत की हैं। आज भी उर्दू के विद्यार्थी उन्हीं स्कूली किताबों में इन पद्यों को बड़ी दिलचस्पी से पढ़ते हैं।

इस्माईल मेरठी ने गद्य रचना भी की है, लेकिन बच्चों के लिये सादा और प्रभावपूर्ण पद्य लिखनेवाले शाइर, एक शिक्षाविद् की हैसियत से उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इस्माईल मेरठी भी सर सैयद के इस्लामी आंदोलन से प्रभावित थे। हाली ने अपनी कविताओं के द्वारा क़ौम की वर्तमान स्थिति का जो नक़्शा पेश किया था उसकी हैसियत केवल तथ्यनिरूपण की सी थी, लेकिन इस्माईल मेरठी ने अपने फ़न को कौम की सर्वोत्तम सेवा के लिये उत्सर्ग करते हुए नई नस्ल की शिक्षा का बीड़ा उठाया। इसके साथ ही अपने मिज़ाज को उर्दू शाइरी की पुरानी राह से कुछ कुछ आजाद करके बहुत सादे ढंग से सोद्देश्य पद्य लिखे। इन कविताओं को ऐसी सुधारवादी और शिक्षाप्रद (डाइडेक्टिक) कविता के नाम से पुकारा जा सकता है जिसका उद्देश्य नैतिक और संशोधक भावों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करना और हृदयंगम कराना हो। अत: इस्माईल मेरठी ने अपनी पद्य रचनाओं में इसी बात का खास ध्यान रखा है कि कविता पूर्ण प्रभावशाली हो, पढ़नेवाले की रुचि का परिष्कार हो और कविता के द्वारा शाइर जो संदेश देना चाहता है वह जेहन की गहराइयों तक पहुँच जाय।

जातीय सुधार के उद्देश्य को सामने रखते हुए इस्माईल मेरठी ने अपनी नज़्मों में अतीत गौरव की अपने काल की अवनति से तुलना भी की है और क़ौमी फ़ैशन की बुराइयों का भी उल्लेख किया है। इस्माईल मेरठी की रचनाएं 'कुल्लियात' (काव्यसंग्रह) की शक्ल में सन् १९०१ ई० में प्रकाशित हुई थीं। इसमें बच्चों के लिये लिखी गई नज़्मों के अलावा वे कौमी नज़्में भी शामिल हैं जिनमें देशप्रेम की भावनाएँ कूट कूट करभरी हुई हैं। इन रचनाओं की भाषा सरल है, लेकिन शैली नितांत आकर्षक है। ग़ज़लों के शेरों में भी नज़्म के विषय स्पष्ट हैं और सुधार तथा शिक्षा के भाव भी मौजूद हैं। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति ने मौलाना इस्माईल मेरठी को एक ऐसे शिक्षक के रूप में पैदा किया जो नई पौद की शिक्षा को अपना ईमान बना चुका था।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में इस्माईल मेरठी ने अमीर ख़ुसरो के कलाम और जीवनचरित के संग्रह का काम शुरू किया था, लेकिन उम्र ने साथ न दिया और यह काम पूरा न हो सका। फिर भी इस्माईल मेरठी ने उर्दू के विद्यार्थियों के लिये जो बहुमूल्य सेवाएँ प्रदान की हैं, उसका उपकार आज भी जारी है और आगे भी बरक़रार रहेगा।

पढ़ाने के उद्देश्य से शाइरी को अभिव्यक्ति का साधन बनाने के अलावा इस्माईल मेरठी की नज़्में एक तरह का अनात्मिक प्रकृतिचित्रण का अद्वितीय नमूना हैं। इस कला में उन्हें कमाल हासिल था। पांचभौतिक प्रकृति की विशेषताओं को उन्होंने ऐसे जीवंत रूपकों की सूरत में प्रस्तुत किया है कि प्रकृति एक जीती जागती

सबल शक्ति के रूप में सामने आती है। जिस प्रकार वैदिक साहित्य में पांचभौतिक प्रकृति को रूपायित किया गया है उसी तरह का रूपकात्मक ढंग इस्माईल मेरठी की नज्मों में भी मौजूद है।

उदाहरणस्वरूप "सुब्ह की आमद" पर उनकी जो नज्म है, उसमें सुब्ह (प्रभात) एक जीवित और गतिशील दृश्य के रूप में प्रकट होती है :

ख़बर दिन के आने की मैं ला रही हूँ, उजाला ज़माने में फैला रही हूँ।
बहार अपनी फ़ितरत से दिखला रही हूँ, पुकारे गले साफ़ चिल्ला रही हूँ।
उठो सोने वालों कि मैं आ रही हूँ।

हिरन चौंक उठे चौकड़ी भर रहे हैं, कलोलें हरे खेत में कर रहे हैं।
नदी के किनारे खड़े चर रहे हैं, ग़रज़ मेरे जल्वे पे सब मर रहे हैं।
उठो सोनेवालो कि मैं आ रही हूँ।
बड़ी धूम से आई मेरी सवारी, जहाँ में हुआ अब मेरा हुक्म जारी।
सितारे छुपे रात अंधेरी सिधारी, दिखाई दिए बाग़ और खेत क्यारी।
उठो सोनेवालो कि मैं आ रही हूँ।

इस नज्म में ऋग्वेद के उन विचारों का प्रत्यावर्तन मौजूद है जो ऊषा के बारे में हैं और जिनमें प्रभात की ज्योति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह रोशनी के दरवाज़े खोल देती है, वह संसार को जगाती है।

प्रकृति चित्रण की दृष्टि से, इस्माईल मेरठी की नज्में एक विशेष महत्व रखती हैं। प्रभात पवन के विषय में एक कविता के कुछ छंद देखिए :

होने को आई सुब्ह तो ठंडी हवा चली, क्या धीमी धीमी चाल से यह ख़ुशअदा चली।

लहरा दिया है खेत को हिलती हैं बालियाँ, पौदे भी झूमते हैं मचलती हैं डालियाँ।

सर सब्ज़ हों दरख़्त न बागों में तुझ बग़ैर, तेरे ही दम क़दम से है आती चमन की सैर।

इस्माईल मेरठी ने अपनी शाइरी को अगर निश्चित विषय और सुधारवादी तथा नैतिक शिक्षा का साधन बनाने की कोशिश न की होती तो शायद वे प्रकृति चित्रण के साथ साथ वास्तविक और प्राकृत कवि भी माने जाते, लेकिन केवल रचना शैली के ज़ोर से उन्होंने जो कविताएँ रची हैं; उनमें भी हमें अपनी धरती की वह सुगंध महसूस होती है जो अच्छी शाइरी की पहचान है।

अकबर इलाहाबादी

अकबर इलाहाबादी १६ नवंबर सन् १८४६ ई० को इलाहाबाद के पास एक देहात में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा स्कूल में पाई। सन् १८६६ ई० में मुख्तारी की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और नायब तहसीलदार का पद प्राप्त किया। कुछ काल बाद वकालत की परीक्षा पास की और मुंसफ के पद पर प्रतिष्ठित कर दिए गए। इस पद से उन्नति करके सब जज के पद पर पहुँच गए। सन् १९०३ में इसी पद से पेंशन पाई और सन् १९२१ ई० में इनका देहांत हुआ।

अकबर इलाहाबादी का ज़माना, भारत के इतिहास का वह आंदोलनपूर्ण का ज़माना है, जब आज़ादी के आंदोलन की धूम के साथ साथ पश्चिम की भौतिक सभ्यता और पूर्व की आध्यात्मिक पद्धति के बीच वैचारिक संघर्ष बड़े ज़ोरों से चल रहा था। बौद्धिकों का एक वर्ग ऐसा था जो भारतीय जनता के अभ्युदय के लिये पश्चिमी विचार और पश्चिमी विद्याओं से लाभ उठाना आवश्यक समझता था। सर-सैयद का अलीगढ़ आंदोलन इसी कोशिश में था। इसके विपरीत देश की सभ्य और बौद्धिक जिंदगी में एक वर्ग वह था, जो पूर्व की सभ्यता और अपनी आध्यात्मिक पद्धति की रक्षा के लिये पश्चिमी पद्धति पर व्यंग्य के नश्तरों से आक्रमण कर रहा था। अकबर इलाहाबादी ने इस वैचारिक संघर्ष में इसी दूसरे वर्ग का साथ दिया जिसे पुराणपंथी वर्ग कहा जा सकता है।

अकबर इलाहाबादी की कविताएँ 'कुल्लियति' (काव्यसंग्रह) के रूप में मौजूद हैं। रचनात्मक दृष्टि से अकबर की कविता का परीक्षण किया जाय तो हमें अनुमान होता है कि अकबर की शाइरी का प्रारंभ उन विचारों से मिलता जुलता है जिन्हें उर्दू ग़ज़ल की लखनवी शैली से संबद्ध समझा जा सकता है। अकबर के काव्य का एक बड़ा हिस्सा ग़ज़ल की खास शैली की प्रतिध्वनि प्रतीत होता है। लेकिन बाद की रचनाएँ, ग़ज़ल के विशिष्ट विषयों और खास टोन के विपरीत व्यंग्य और विनोद की एक नई दिशा को सामने लाती हैं। सचमुच, अकबर की कविताओं का यही भाग है जो उन्हें उर्दू शाइरों में एक विशिष्ट शैली का प्रतिष्ठापक बनाता है।

तंज़ (व्यंग्य) कठोर ढंग का बौद्धिक अपनापन (कमिटमेंट) और सामाजिक शिष्टाचार की शोभा के साथ कलाकार की प्रातिभ हाज़िरजवाबी और श्रेष्ठ प्रतिभा का प्रकाशन होता है। उर्दू शाइरी में अकबर से पहले भी व्यंग्यात्मक कविता की बहुत सी मिसालें मौजूद हैं। लेकिन उस व्यंग्य में उत्कृष्ट प्रतिभा के स्थान पर व्यक्तिगत वैरभाव का प्रकाशन ही विशेष कर सामने आया है। अकबर वह पहले कवि हैं जिन्होंने कविता में व्यंग्य को विद्रोहात्मक भावप्रकाशन के लिये एक साधन बनाया। उनकीकविता में परंपरा की सुरक्षा का प्रयत्न भी मिलता है। इसके लिये उन्होंने व्यंग्य के जो नश्तर इस्तेमाल किए हैं उनमें ज़बान का इस्तेमाल मुख्य रूप से वैशिष्ट्य रखता है। अकबर

ने साहित्यिक और कांबजनोचित पद्धति की बजाय, ऐसी बातचीत की भाषा से काम लिया है, जिसमें उर्दू के अतिरिक्त अँगरेजी के शब्द भी बहुतायत से मिलते हैं। और ये शब्द अपने जातीय बोध के अलावा तीक्ष्णता के विचार से भी अत्यंत पूर्ण व्यंग्य को जन्म देते हैं दृष्टांत के लिये निम्नलिखित छंद में अँगरेजी शब्दों को जिस तरह बरता गया है उससे अकबर की विशिष्ट पद्धति का अनुमान किया जा सकता है :

जो पूछा मैंने हूँ किस तरह 'हैपी'
कहा उसने कि मेरे साथ में पी

उसके दस्ते नाजनीं से पाई 'टी'
अब कहाँ हममें रही है 'पाइटी'।

शौक़ लैलाए-'सिविल सर्विस' ने इस मजनून को (सिविल सर्विस)
इतना दौड़ाया लँगोटी कर दिया पतलून को—

गए शर्बत के दिन, यारों के आगे अब तो ए अकबर
कभी सोडा, कभी लेमनेड, कभी विस्की कभी टी है।

इन पद्यों से व्यंग्य की तीखी लहरों के अलावा, अकबर के ज़माने में घटित होनेवाली सामाजिक तब्दीलियों से समीक्षात्मक परिचय का अनुमान भी होता है। अकबर का आरंभिक काव्य और उनकी शैली, तीखी भाषा और कथन तथा उपमाओं में अकबर की व्यंगात्मक कविता की तुलना की जाय तो हम उस नई पद्धति से परिचय प्राप्त करते हैं जिसमें अकबर ने उर्दू शाइरी को नए और जीवंत रूपकों से समन्वित किया है और समाजी शऊर से बाह्यार्थनिरूपक कविता के लिये रास्ते को समतल किया है। अकबर के निम्नलिखित शेर उनके आरंभिक काल का प्रतिनिधित्व करते है :

निगाह पड़ती है उनपर तमाम महफिल की ।।
वो आँख उठाके नहीं देखते किसी की तरफ़।

अब तो है इश्क़ें बुताँ में जिंदगानी का मजा ।।
जब ख़ुदा का सामना होगा तो देखा जायगा।

जब ये देखा कि जहाँ में कोई मेरा न रहा ।।
शिद्दते यास से मैं आप भी अपना न रहा।

इन शेरों में उर्दू शाइरी की परंपरा का पालन तो मिलता है, लेकिन प्रतिभा की वह चिनगारी नहीं है जो किसी कलाकार को शैलीकार और युगप्रवर्तक व्यक्तित्व प्रदान करती है। अतः अकबर की शाइरी के इस रंग को वह प्रसिद्धि प्राप्त न हो सकी जो उनके व्यंगपरक काव्य को प्राप्त है।

अकबर का व्यंग्य सिर्फ़ चोट नहीं करता, बल्कि सुधार, शिक्षा और परिवर्तन के लिये उकसाता है। वह उस 'पैग़ाम' को भी पढ़नेवाले तक पहुँचा देता है जिसका स्पष्ट उल्लेख शाइरी में नहीं मिलता।

अकबर पश्चिमी सभ्यता के घोर विरोधी थे। यह विरोध यदि केवल उसके बुरे पहलुओं तक सीमित रहता तो उसमें कोई ख़राबी नहीं थी। लेकिन कहीं कहीं मालूम होता है कि वह 'पाइप के पानी' से लेकर 'टाइप के अक्षर' तक हर नई चीज़ को बुरा समझते थे और व्यंग्य की ढाल से नए परिवर्तनों की राह रोकना चाहते थे। उनके ज़माने में हिंदोस्तान में जो ज़बर्दस्त समाजी परिवर्तन पैदा हो रहा था, उसे समझने में वह असमर्थ थे। अँगरेज़ी मुलाज़िम होने के कारण राजनीति से उनकी किनाराकशी ज़रूरी थी, लेकिन अपने कतिपय छंदों में उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का मज़ाक़ भी उड़ाया है और उसके विरोध के जोश में हिस्सा लेनेवालों पर फब्तियाँ कसी हैं। वह विदेशी सभ्यता के प्रकट रूप के विरोध के जोश में नई शिक्षा और नई रोशनी की तमाम उपलब्धियों को देश और क़ौम के लिये हानिकारक बताते थे। इस कारण उनकी कविता सिर्फ़ एक व्यंग्यकार के फ़ितूर की कविता है। इसके पीछे हिंदोस्तान की समाजी और राजनीतिक तब्दीलियों का कोई गहरा चिंतन नहीं है :

मर्ऊब हो गए हैं विलायत के नाम से,
अब सिर्फ़ मना करते हैं देसी शराब को।

हामिदा चमकी न थी, इंगलिश से जब बेगाना थी,
अब है शम्मा अंजुमन पहले चराग़े ख़ाना थी।

आशिक़ी का हो बुरा, उसने बिगाड़े सारे काम,
हम तो ए-बी में रहे, अग़यार बी० ए० हो गए।

नज्म तबातबाई

नज्म तबातबाई का पूरा नाम सैयद अली हैदर था और नज्म तख़ल्लुस। सन् १८५२ ई० में लखनऊ के एक शिक्षित परिवार में पैदा हुए। उर्दू के अतिरिक्त फ़ारसी और अरबी भाषाओं में कमाल हासिल किया।

नज्म की विद्वत्ता और बहुज्ञता की ख्याति ऐसी थी कि लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह ने शहज़ादों को पढ़ाने के लिये नज्म तबातबाई को लखनऊ से मटियाबुर्ज (कलकत्ता) भेजा और वह कई बरस तक यह सेवा करते रहे। वाजिद अली शाह के देहावसान के बाद हैदराबाद दकन चले गए और निज़ाम कालेज में प्रोफ़ेसर बना दिए गए। लगभग तीस बरस तक निज़ाम कालेज में रहने के बाद, आपको नवाब हैदराबाद ने 'वली अहद' का शिक्षक बनाया और विद्यासेवी होने के उपलक्ष्य में वज़ीफ़ा भी मुक़र्रर किया। फिर उस्मानिया यूनिवर्सिटी की प्रतिष्ठा हुई और हैदराबाद के विद्याप्रेमी व्यक्तियों ने संसार की श्रेष्ठ विद्यासंबंधी और साहित्यिक कृतियों को उर्दू में अनूदित करने के लिये उस्मानिया यूनिवर्सिटी में एक अनुवाद प्रतिष्ठान स्थापित किया। इस विभाग में देश की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों और उत्तम अनुवाद के कार्य संपन्न हुए। नज्म तबातबाई को अनुवाद प्रतिष्ठान के साहित्य-निरीक्षक के रूप में इस प्रतिष्ठा से संबद्ध कर दिया गया। अनुवाद प्रतिष्ठान से प्रकाशित होनेवाले सभी अनुवाद नज्म तबातबाई के निरीक्षण के बाद ही मुद्रित होते थे। सन् १९३३ ई० में इस अद्वितीय व्यक्तित्व का तिरोधान हुआ।

उर्दू काव्य में नई राहें निकालनेवालों में नज्म तबातबाई का नाम नामावली में सर्वप्रथम है। उन्होंने कविता के उन आधुनिक विचारों से मिलाया है जो पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के द्वारा नज्म के मिज़ाज में रच बस गए थे। रदीफ़ और क़ाफ़िया की पाबंदी उर्दू कविता को क़ैद किए हुए थी। नज्म तबातबाई ने महसूस किया कि उर्दू नज्म की तरक़्क़ी सिर्फ़ इसी सूरत में संभव है कि उसे दूसरी भाषाओं की शैलियों से एक नया जीवन प्रदान किया जाय और काव्यात्मक अभिव्यक्ति को स्वच्छंदता की पद्धति से परिचित कराया जाय।

उर्दू काव्य को एक नई दिशा प्रदान करने के उद्देश्य से, नज्म तबातबाई ने अपनी स्वेच्छया लिखित कविताओं के अतिरिक्त अंगरेजी कविताओं के अनुवादों पर भी प्रमुखतः ध्यान दिया। उन्होंने टामस ग्रे, सर अल्फ्रेड लायल, लांगफेलो और संफ़ो की कविताओं के जो अनुवाद किए, उनसे उर्दू में आधुनिक काव्य रचना के लिये रास्ता आरंभ हुआ। नज्म के अनुवादों में टामस ग्रे की एक विश्वप्रसिद्ध कविता (एलिजी इन ए कंट्री चर्चयार्ड) का अनुवाद 'गोरे गरीबाँ' मुख्य रूप से उल्लेख्य है। इस अनुवाद में नज्म तबातबाई ने न सिर्फ़ यह कि असल नज्म की रूह को स्थानांतरित कर दिया है, बल्कि ग्रे की नज्म के बाह्य कलेवर को भी परिष्कृत उर्दू में प्रयुक्त किया है। यह अनुवाद देहली बारह जुलाई, सन् १८९७ ई० के अब्दुल्हलीम शरर के रसाले 'दिलगुदाज' में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद के सिलसिले में अब्दुल्हलीम शरर ने अपने परिचयात्मक नोट में लिखा था :

'ऐसी मक़बूल रोज़गार और ऐसी सरमायए-इंगलिस्तान नज्म जिसका तर्जुमा हमारे वाजिबुल अज़ीम अल्लामा और मुस्तनद ज़माना शाइर जनाब मौलवी हैदर अली साहब नज्म तबातबाई ने किया है, मगर किस खूबी से, जिसका इज़हार करना हमारे अख्तियार से बाहर है। ऐसा जाँगुदाज़ और मुयस्सिर नज्में ओरिजिनल तौर पर भी उर्दू में कम लिखी गई हैं न कि तर्जुमा, और फिर इस पाबंदी के साथ कि जिस तरह पहले मिस्रा का काफ़िया तीसरे मिस्रा से और दूसरे मिस्रा का चौथे मिस्रा से अँगरेजी में मिलता है, उसी तरह हमारे मौलाना ने बड़े लुत्फ़ से अपनी तर्जे-काफ़ियाबंदी को छोड़कर उर्दू में मिलाया है। उर्दू में स्टैंज़ा कहने की इब्तदा इस नज्म से होती है।'

नज्म तबातबाई का यह अनुवाद आज भी अनुवाद की कसौटी के लिये मिसाल समझा जाता है।

नज्म तबातबाई की जिंदगी विद्या संबंधी कार्यों में बीती। यह कारण है कि उनकी नज्मों में बौद्धिकता और विद्या के श्रेष्ठ प्रकाशन के साथ एक प्रकार की कलात्मक ऐकांतिकता तो मिलती है, लेकिन सामाजिक जीवन के संबंध में उस तरह का विवादात्मक रवैया नहीं मिलता जो अकबर की नज्मों में मौजूद है, या हाली ने अपनी शाइरी में आगे बढ़ाया। अलबत्ता नज्म तबातबाई की कविताओं में वह नैतिक दृष्टिकोण अवश्य मौजूद है जो उस सदी के आरंभिक काल में कतिपय उर्दू पद्य रचयिता कवियों की विशेषता रहा है।

नज्म तबातबाई एक बुद्धिमान् धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने उर्दू कविता की शैलियों में नई दिशाओं की तलाश का जो कारनामा संपन्न किया है वह उर्दू काव्य के इतिहास में बड़ा महत्व रखता है।

शौक़ क़िदवाई

उर्दू कविता की उन्नति में हिस्सा लेनेवाले कवियों में शौक़ क़िदवाई का नाम भी खास अहमीयत रखता है। शौक़ क़िदवाई का अस्ल नाम मुंशी अहमद अली था। शौक़ तखल्लुस करते थे। लखनऊ के करीब कस्बा जगौर में १८५३ ई० में पैदा हुए। आरंभिक शिक्षा बदायूँ में प्राप्त की। फिर शिक्षा की ग़रज़ से रामपूर चले आए। शिक्षा पूरी करने के बाद अख़बारनवीसी को अपने जीविकोपार्जन का साधन बनाने की कोशिश की और लखनऊ से एक अख़बार 'आज़ाद' जारी किया। लेकिन यह अख़बार कामयाब न हो सका। इसलिये प्रतापगढ़ में मुलाज़िमत अख़्तियार कर ली। मुलाज़िमत के सिलसिले में कुछ दिनों भोपाल में भी रहे। आख़िर में वह रियासत रामपूर में बस गए और उर्दू की एक लुग़ात (हामिदुल लुग़ात) के संपादन का काम करते रहे। सन् १९२८ ई० में इनका इंतक़ाल हो गया।

शौक़ क़िदवाई की क़ाबिलेज़िक्र कविता 'तरान-ए-शौक़' है, जो सन् १८८७ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह कविता दरअस्ल एक मस्नवी है, जिसमें इश्क़ और मुहब्बत की एक घटना को काव्यबद्ध किया गया है। इसी तरह एक और मस्नवी 'क़ासिम-व-ज़ोहरा' है जो सन् १९१५ ई० में प्रकाशित हुई थी।

शौक़ क़िदवाई के ज़माने में उर्दू कविता अपनी क़ौमी, सियासी, इख़लाक़ी और उपदेशात्मक ख़ूबी के लिये प्रसिद्ध थी। आभ्यंतरिक ढंग के भावप्रकाशन के नमूने उस वक़्त ख़ास ख़ास ही नज़र आते थे। शौक़ क़िदवाई ने कविता को आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिये इस्तैमाल किया और ऐसे विषयों पर कविताएँ लिखीं जिनका संबंध सर्वसाधारण और सार्वजनिक ख़यालों से नहीं, बल्कि अंदरूनी भावनाओं से था। शौक़ की ऐसी कविताओं में "आलमे ख़याल", "हुस्न", "बहार", "साइंस और मज़हब" वग़ैरह ख़ास तौर पर मशहूर हैं। "आलमे ख़याल" एक ऐसी हिंदोस्तानी ख़ातून के भावों की तरजुमान है, जिसका शौहर परदेस गया हुआ है। इस नज़्म में शौक़ क़िदवाई ने सादगी और भावों की मिठास के साथ नारीसुलभ भावों की बड़ी भरपूर अक्कासी की है। शौक़ की इस नज़्म पर जस्टिस सर मुहम्मद सुलेमान ने समीक्षा करते हुए लिखा था कि यह नज़्म वह है, जिसमें औरत का दिल, मर्द का क़लम बनकर बोल रहा है। इस कविता के कुछ शेर ये हैं :

ख़त से पड़ी जिगर प चोट, दाग़ हरे हुए हैं आज,
तुम से हज़ारहा गिले, दिल में भरे हुए हैं आज।
ख़त है तुम्हारे हाथ का, पढ़ती हूँ इसको बार बार,
खोलती हूँ हज़ार बार, चूमती हूँ हज़ार बार।
जिनसे लिखा गया है ख़त, काश वो उँगलियाँ मिलें,
मरा ख़याल चूम ले जाके वहीं, जहाँ मिले।

हुस्नो इश्क़ और मिलन विरह के अतिरिक्त शौक़ ने कतिपय शाहिदाती नज़्में भी लिखी हैं। इन नज़्मों में यथार्थ दृश्यचित्रण की वही विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो मुहम्मद हुसेन आज़ाद, हाली और इस्माईल मेरठी की नज़्मों की श्रेष्ठता की ख़ूबी हैं। दृष्टांत के लिये बरसात के विषय पर शौक़ की नज़्म के कुछ हिस्से मुलाहिज़ा कीजिए :

हो चले तालाब लबरेज़ और नहरें भर चलीं,
नद्दियाँ अपनी हदों से बढ़ के क़ब्ज़ा कर चलीं।
पेचोख़म के साथ बहने से खुला मस्ती का हाल,
नद्दियाँ चलती हैं मैदानों में मतवालों की चाल।
किसलिये ग़ुस्सा की हालत इनमें तारी हो गई,
उफ़ लबों पर आ गया आवाज़ भारी हो गई।

———

नद्दियों को लेके यूं दर्या समंदर से मिले,
ले के अरमानों को आशिक़ जैसे दिलवर से मिले।

शौक़ क़िदवाई की कविता शैली की सादगी के साथ भावों के चित्रण का नमूना है। उन्होंने ग़ज़ल में भी बहुत कुछ कहा है। लेकिन नज़्मों में उनकी प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई।

नादिर काकोरवी

मुंशी नादिर अली ख़ाँ नादिर काकोरी १८५७ ई० में लखनऊ के करीब काकोरी में पैदा हुए। उर्दू और फ़ारसी के अलावा अंग्रेज़ी साहित्य का मुताला किया और अपने जीवन का अधिकांश उर्दू अदब की ख़िदमत में ही बिताया। सन् १९१२ में पैंतालीस वरस की उम्र में इंतक़ाल हुआ।

नादिर काकोरवी ने अपनी मुख़्तसर सी ज़िंदगी में उर्दू शाइरी की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। उनका काव्य "जज़बाते नादिर" के नाम से दो जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है। नादिर की साहित्यसेवा का अनुभव करते हुए हाल ही में तरक़्क़ी-ए-उर्दू बोर्ड, कराची (पाकिस्तान) ने "जज़बाते नादिर" को विशेष प्रयत्न से प्रकाशित किया है।

नादिर काकोरवी नई उर्दू शाइरी और उर्दू नज़्म के प्रतिष्ठापकों में गिने जाते हैं। उन्होंने उर्दू शाइरी के पुराने दक़ियानूसी तर्ज़ से और ग़ज़ल के प्रचलित रवैए को तब्दील करने में ख़ास हिस्सा लिया है। शुरू शुरू में उनकी ख्याति का कारण वे पद्यात्मक अनुवाद थे जो उन्होंने अँगरेज़ी कवियों की कविताओं से किए। उन अनुवादों में बाइरन और टामस मूर की कविताओं के अनुवाद विशेष रूप से समादृत हुए। नादिर की कविता पर उन दोनों कवियों का बहुत गहरा असर था। अत: उनके काव्य में बाइरन की तरह शारीरिक प्रेम व्यापार, प्रकृति पूजा, मुल्की और समाजी ढंग के अतिरिक्त शैली की सादगी के साथ चिंतन और विचार की ऊँची उड़ान भी मौजूद है और टामस मूर की तरह की वह मार्मिक अभिव्यक्ति भी है जिसमें पढ़ने और सुननेवाले के विचारों को संमोहित कर देने की सलाहियत होती है। इसके अतिरिक्त नादिर ने टामस मूर की लंबी कविता "लाला रुख़" के तर्ज़ पर इसी शीर्षक से एक मस्नवी भी लिखी है।

नादिर काकोरवी का काल उर्दू साहित्य के इतिहास में कविता के लिये शैलियों के निर्माण का काल है। नादिर के ज़माने में उर्दू में दो ऐसे ख़ास साहित्यिक रिसालों की धूम मची हुई थी, जो हिंदोस्तान के दो बिभिन्न भागों में साहित्यिक क्रांतियों के लिये प्रसिद्ध थे। उन रिसालों में एक "दिल गुदाज़" था जो लखनऊ के प्रसिद्ध उपन्यासकार, अब्दुल हकीम शरर का निर्देश लिए होता था, और दूसरा "मख़ज़न"

जो लाहौर से सर अब्दुल क़ादिर की निगरानी में निकलता था। इन दो पत्रों के अलावा "अदीब" (इलाहाबाद) और "ज़माना" (कानपुर) में भी नई बोली की रचनाओं को विशेष रुचि के साथ प्रकाशित किया जाता था। नादिर काकोरवी के पद्यात्मक अनुवाद इन पत्रों में छपे और तमाम उर्दू वालों के ध्यान के केंद्र बन गए। फिर इन्हीं पत्रों में नादिर की मनोरम कविताएँ प्रकाशित होनी शुरू हुईं। और नादिर को नई शैली के अहम नज़्म निगार का स्थान मिल गया। उनकी जिन कविताओं को अपार प्रतिष्ठा मिली उनमें शुआए उम्मीद, पंकरे बे-ज़बान, फ़लसफ़ए, मुक़द्दस सर ज़मीन, मादरे हिंद, रात के बेचैन घंटे और अक्सर शबे तनहाई में, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नादिर को अपने वतन से मुहब्बत थी। उन्होंने इस सर ज़मीन की पवित्रता को और हिंदोस्तान के गौरव को अपनी कविताओं का विषय बनाया। स्वदेशप्रेम के पवित्र और निश्छल भावों से भरपूर कविताओं में नादिर काकोरवी की "मुक़द्दस सर ज़मीन" और "मादरे हिंद" को विशेष महत्व प्राप्त है।

नादिर काकोरवी की कविताओं में हमें ऐसे अर्थगर्भित रूपक मिलते हैं, जो प्रतीक (सिंबल) से क़रीब हैं। नादिर ने अपनी कविता "सैरे दर्या" में ऐसे ही रूपकों से काम लिया है:

सैरे दर्या, लुत्फ़े कश्ती और घटा छाई हुई.
बढ़ चली हद से जवानी, जोश पर आई हुई।
दस्तहाए गुल से कश्ती को बनाकर अहदेगुल,
ले चला तफ़रीह को अहदे शबाब और अहदे गुल।
आशिक़ो माशूक दोनों सैर करने को चले,
आशनायाने मुहब्बत डूब मरने को चले।

कविता में "दर्या" उन भावों का रूपक है जो जवानी के रंगीन और वासंती काल से संबद्ध हैं। "कश्ती" को इस इनफ़रादी ज़िंदगी के रूपक की हैसियत से प्रस्तुत किया गया है, जो यौवन काल के भावनात्मक बाढ़ में प्रवाहित है। कविता अंत तक पहुँचते हुए इस रूपकात्मक भावप्रकाशन से वर्णनात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। नादिर की अधिकांश कविताओं में यही एक ऐब (दोष) है कि उनका आरंभ तो एक नए ढंग से होता है लेकिन अभिप्रेत परिणाम की ख़्वाहिश से कविता का अंत वर्णनात्मक होकर रह जाता है। तो भी, उर्दू कविता को कल्पनाशक्ति और तख़्लीक़ी (सर्जनात्मक) दृष्टिकोण की रविश से आश्ना करने का जो काम नादिर काकोरवी ने जिस हद तक भी पूर्ण किया है, वह प्रशंसनीय है।

सूरज नरायन मेह्र

सूरज नरायन मेह्र देहली के रहनेवाले और एक प्रतिष्ठित कायस्थ वंश की आँख और दीपक थे। लाहौर के गवर्नमेंट कालेज से बी० ए० करने के बाद सरिश्तए तालीम, पंजाब में नौकर हो गए, और एक लंबे अर्से तक देहली और रावलपिंडी के इलाकों में इंस्पेक्टर आव स्कूल्स की सेवाएँ संपन्न कीं।

गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में अपनी शिक्षा के समय ही (१८८२ ई०) मेह्र एक सफल कवि के रूप में मशहूर हो गए थे। १८८६ ई० में शिमला में होनेवाली कायस्थ सभा के वार्षिक उत्सव में उन्होंने अपनी एक कौमी नज्म पढ़ी थी जिसके कारण साहित्य जगत् में उनकी प्रसिद्धि बढ़ गई और वह लोगों के ध्यान के केंद्र बन गए। कुछ दिनों बाद उनका पहला काव्यसंग्रह 'कलामे मेह्र' नाम से प्रकाशित हुआ। फिर १९१० ई० में 'मुकद्दमे मेह्र' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। मेह्र का देहांत सन् १९३३ में हुआ।

उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, और अंगरेजी भाषाओं में मेह्र की पैठ थी। उन्होंने सरिश्तए तालीम की नौकरी के जमाने में इस्माईल मेरठी के ढंग पर बच्चों के लिये कविताएँ लिखी। और कुछ अंगरेजी कविताओं के अनुवाद भी किए, लेकिन मेह्र के अनुवादों को उतनी मान्यता नहीं मिली।

मेह्र ने संस्कृत साहित्य और भारतीय दर्शन का गहरा अध्ययन किया था। इसी कारण उनकी कविताओं मे नैतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त उस दर्शन की छाप बहुत गहरी है, जो वैराग्य और भोग के त्याग की शिक्षा देता है। ऐसी दार्शनिक कविताओं में 'रमूज़े इश्क", "रमूज़े इरफ़ान", "तर्के खुदी", "हम: औसत" और "तालिबे हक़" इत्यादि ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें वेदांत और गीता के सिद्धांतों की छाया बहुत स्पष्ट है। मेह्र का आध्यात्मिकता से जो संबंध था उसका सबूत एक यह भी है कि उन्होंने अपने काव्यसंग्रह "कलामे मेह्र" के दूसरे भाग को महात्मा शिवव्रतलाल, संपादक "साधू" पत्रिका के नाम से संपृक्त किया है। उस ऋषि और पहुँचे हुए वृद्ध और सत पर मेह्र की विशेष श्रद्धा थी।

मेह्र की कविता सत्यों के ब्रह्मज्ञान की कविता है। उनके काव्य में सूफ़ियाना और ब्रह्मज्ञान के रंग की वह शान मौजूद है जो पूर्ण सादगी के होते हुए हृदय पर गंभीर प्रभाव छोड़ जाती है। मेह्र के शिष्ट और निर्दोष हास्य का अनुमान "कलामे मेह्र" (अव्वल) में उनकी भूमिका की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है:

"नज्म का मुआज़ना मुरस्सा अशआर और मिस्रआत से करना बड़ी भारी गलती है। जिन ज़बानों में मय्यारे मुवाज़ना का दर्जा ऐसा असुफ़ल हो जाता है, उनमें अस्ली शाइरी मफ़्क़ूर होकर महज़ लफ़्फ़ाज़ी रह जाती है। चुस्तिए बंदिश और हम-तराश व शौकते अल्फ़ाज़ ऐसी चीज़ें हैं कि जिद्दत व कुद्रत मआनी की संजीदगी

व मतानत तबीयत में जरूर असर पैदा करती है, लेकिन यह असर भड़का देनेवाला नहीं। उल्टा ख़ामोशी और हैरत पैदा कर देनेवाला है।"

इन पंक्तियों से जहाँ मेह्र की आलोचनात्मक योग्यता और काव्यसिद्धांत का परिचय मिलता है, वहीं यह भी अंदाज़ा होता है कि मेह्र उर्दू ग़ज़ल की ग़ैर फ़ितरी रविश और ग़ज़लगोई के उस अंदाज़ से नफ़रत करते थे जिसके कारण उर्दू में शाइरी के नाम पर लफ़्फ़ाज़ी रवाज पा गई थी। इस एतबार से मेह्र ने उर्दू शाइरी की इस्लाह में विशेष भाग लिया है। उनका एक कारनामा यह भी है कि उन्होंने हिंदुओं की कई धार्मिक पुस्तकों को उर्दू में अनूदित किया।

नौबत राय 'नज़र'

नौबतराय 'नज़र' १८६६ ई० में लखनऊ के एक प्रतिष्ठित कायस्थ घराने में पैदा हुए। शेर और साहित्य का प्रेम स्कूल में ही पैदा हो गया था। लखनऊ में ही शिक्षा दीक्षा पाने के कारण नज़र की रचनाओं में उस गंगा जमुनी सभ्यता का रंग मौजूद है, जिसपर हिंदोस्तान को गर्व है।

नज़र को उर्दू भाषा और साहित्य से विशेष लगाव था। इसलिये उर्दू साहित्य के अभ्युदय के लिये उन्होंने कई पत्रों में समादरणीय सेवाएँ समर्पित कीं। सन् १८९७ ई० में ख़ुद भी एक साहित्यिक पत्र निकाला, जिसका नाम "ख़दंग नज़र" था। इस पत्र में हर महीने श्रेष्ठ कविताएँ प्रकाशित होती थीं। ग़ज़लों के अलावा नज़र ने इस पत्र में साहित्यिक लेख भी लिखे। दुर्भाग्य से यह रिसाला अधिक दिनों तक चल न सका।

१९०४ ई० में नज़र "ज़माना" पत्र के सहायक संपादक नियुक्त हुए। फिर जनवरी १९१० ई० में जब इलाहाबाद से उर्दू का एक और ख़ास साहित्यिक पत्र "अदीब" निकला तो उसका संपादन भी नौबतराय नज़र को सौंपा गया। १९१४ ई० में नज़र ने नवल किशोर प्रेस में मुलाज़िमत कर ली और "अवध" अख़बार के संपादन का काम करते रहे। १९२३ ई० में नज़र का देहांत हुआ।

नौबत राय 'नज़र' ने गद्य, पद्य और ग़ज़ल के द्वारा उर्दू भाषा और साहित्य की प्रशंसनीय सेवाएँ की हैं। इनकी ग़ज़लें यद्यपि लखनऊ स्कूल के विशेष रुचि की समर्थक हैं, लेकिन नज़्मों में उन्होंने एक अलग राह निकाली। प्रेम संबंधी कविताओं के अलावा देशप्रेम के भाव को उभारनेवाली कविताएँ भी लिखीं, और कविता की शैली को अपनी नवीनताप्रिय रुचि से सँवारा।

नज़र की कविताएँ ग़ज़ल की कतिपय विशेषताओं से सुसज्ज हैं। इन नज़्मों में उपमाओं और रूपकों का व्यवहार नज़र की नेकदिली का संकेत करता है। नज़र कलात्मक कोमलता और कथन शैली की विशेषताओं पर मुग्ध थे। शब्द चयन पर विशेष ध्यान देते थे, और शेर के बाहरी रूप को प्रमुख अंग मानते थे।

कला और तर्जे अमल में दक्ष शिष्टता का प्रकाशन लखनऊ स्कूल की विशेषता रही है। नौबत राय 'नज़र' ने भी इस शिष्टता को और अधिक चमकाने में हिस्सा लिया है। उनकी नज़्मों (कविताओं) में यद्यपि किसी ख़ास दृष्टिकोण की छाया मौजूद नहीं है, लेकिन वह अपने ज़माने की समस्याओं से अपरिचित भी नहीं थे। नज़र ने हिंदोस्तानी चाल और अपने देश के आध्यात्मिक विचार को अपनी कविताओं के द्वारा प्रस्तुत करते हुए इस पवित्र भूमि को प्रेम का संदेश दिया, जो 'नज़र' के ज़माने में अंग्रेजों के अधीन थी। देशसेवा के विषय में नौबत राय 'नज़र' के कतिपय गद्यात्मक निबंध भी विशेष महत्व रखते हैं। विशेषतः "ज़माना" के द्वारा उन्होंने जिन विचारों को प्रकाशित करने की कोशिश की, उन्हें हिंदोस्तान की आज़ादी की लड़ाई के विचारों से संबद्ध किया जा सकता है।

नज़र का काव्यसंग्रह "अन्वारे नज़र" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनके काव्य में "नैचुरल कविता" के रवैए को प्रस्तुत करनेवाली कविताओं के अतिरिक्त ऐसी कविताएँ भी मौजूद हैं जो यादों की कैफ़ियत और ख्वाबों के या यथार्थता के विनाश को एक विशेष यथार्थवादी विचार के साथ पेश करती हैं। दृष्टांत के लिये 'नज़र' की एक लंबी कविता "ज़िक्रे शबाब" के कुछ छिटपुट बंद देखें :

याद अय्याम कि थी अपनी जवानी की नुमूद,
हाय वो आलम कि अपना भी था ज़िंदों में शुमार।
सुब्ह थी सुब्हे तमन्ना, शाम थी शामे मुराद,
ताला बेदार था ।

एक खंजर था नियामे नाज़ से निकला हुआ,
उनकी चश्मे नर्गिसीं में सुर्मँए-दुंबालादार।
शोखियों में वो अदाएँ थीं कि बिजली मात थी,
गुफ़्तगू में वो शरारत थी कि उड़ते थे शरार।

अल् गरज़ थी हर तरफ़ अर्ज़ानिए ऐशो निशात,
जामे ज़र्रीं में छलकती थी शराबे ख़ुशगवार।
दिन थे अपने ईद के दिन, अपनी रातें शब्बरात,
रोज रहती थी उरूसे कामरानी हम-किनार।

'नज़र' की कविताओं में उर्दू शाइरी की क़दीम तहज़ीब के एहतिराम के साथ साथ ज़माने के मुताबिक़ नई राहों से हमकिनार होने की ख़्वाहिश मौजूद है। उन्होंने उर्दू अदब की जो बहुमूल्य सेवाएं की हैं उनके कारण नज़र को उर्दू का एक सच्चा सिपाही कहा जा सकता है।

दुर्गासहाय 'सुरूर' जहानाबादी

दुर्गासहाय सुरूर उर्दू के उन शाइरों में हैं, जिन्होंने आज़ाद और हाली के बाद नई उर्दू कविता को परवान चढ़ाने में बड़ी मदद दी। वह सन् १८७२ में जहानाबाद, जिला पीलीभीत में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा वहीं पाई। कविजनोचित प्राकृतिक रुचि इन्हें मिली थी। इनकी जिंदगी दुःखों और मुसीबतों की लंबी कहानी है। जवानी में ही पत्नी का देहांत हो गया। उसके कुछ समय बाद इकलौता बेटा भी जाता रहा। इन सदमों ने 'सुरूर' का दिल तोड़कर रख दिया। हरवक्त शेरो-शायरी में डूबे रहते थे। आदमी थे आज़ाद मिज़ाज। रोजगार के लिये इन्होंने कुछ नहीं किया। हमेशा तंगी और गरीबी का जीवन बिताया। दुःख भुलाने के लिये शराब पीना शुरू किया, लेकिन इसी की ज्यादती ने जीने न दिया और ठीक जवानी में सन् १९१० में परलोक सिधारे।

जीविका की कृशता के कारण अपनी कविताएँ कौड़ियों के मोल बेच दिया करते थे। इसपर भी इनकी कविताओं के दो संग्रह 'जामे सुरूर' और 'ग़मखानए-सुरूर' प्रकाशित हो चुके हैं। बनारस से एक ग्रंथ 'इंतख़ाबे नवाए सुरूर' के नाम से प्रस्तावना के साथ हाल ही प्रकाशित हुआ है। उन्होंने नए ज़माने की विशेषताओं को अपनाया, लेकिन पुराने ज़माने के शायराना हिस को हाथ से जाने न दिया। इनकी कविता दर्द और प्रभाव से भरपूर है। इनका दिल खूंगश्ता तमन्नाओं का घर बन गया था और उसका प्रभाव उनकी कविता पर गंभीर रूप से पड़ा है, यानी व्यक्तिगत निष्फलता और अप्राप्ति ने उनके हार्दिक भावों को कठिन से कठिनतर बना दिया था। सुरूर जिस भी चीज़ पर नज़र डालते थे वह उन्हें दूल्हन की तरह हसीन नज़र आती थी, जवानी से भरी और मुहब्बत से चूर! उनकी पूरी शाइरी पर इस ख़्याल की छाया पड़ती मालूम होती है। वतन की खाक का वर्णन हो, भारतीय गौरव का उल्लेख हो, अथवा प्राकृतिक दृश्यों का चित्रांकन, उनका ध्यान प्रायः और अधिकांशतः बाहरी प्रभाव और कैफ़ियतों को त्याग कर उन्हें सुंदरी के रूप में देखता था। उनके काव्य की सरसता और रंगीनी भी उनकी कल्पना की इसी अनुभूतिप्रवणता का नतीजा मालूम होती है। विषय चाहे कैसा हो, और ख़याल कुछ हो 'सुरूर' हर चीज़ को अनुभूति के चित्र में ढालने और उसे मूर्त अनुभूति बनाकर पेश करने में अपना जवाब नहीं रखते।

'सुरूर' ने वतन पर बराहेरास्त जो नज़्में लिखी हैं, उनमें 'इश्क़े हुब्बे वतन', 'ज़मज़मए-वतन', 'सर ज़मीने वतन', 'ख़ाके वतन', 'मादरे हिंद', और 'यादे वतन' ख़ास-तौर पर उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल की शाइरी के पहले देशप्रेम की भावना इलाक़ाई और व्यक्तिगत थी, हाली और आज़ाद के आंदोलन के बाद देशप्रेम पर कविताएँ आम तौर से लिखी जाने लगी थीं और हिंदोस्तान के शाइरों ने पूर्ण रूप

से उन्हें पेश करना शुरू कर दिया था, लेकिन 'सुरूर' का कारनामा यह है कि इन्होंने स्वदेश की कल्पना माँ और देवी के रूप में की। सुरूर उर्दू के पहले प्रमुख शायर हैं जिनकी मातृभूमि की कल्पना भारत की प्राचीन परंपरा से संबंध रखती है। इनकी नज्म 'मादरे हिंद' का यह बंद देखिए :

तेरा देवस्थान देवी दिल के काशाने में है,
तेरी तस्वीरे मुक़द्दस हर सनमख़ाने में है।
लक्ष्मी तू है, ज़माने में उजाला है तेरा,
हर कँवल का फूल पानी में शिवाला है तेरा।
सुरसुती का रूप है, दुर्गा का है अवतार तू,
नुत्क़ो दानिश की है देवी मादरे दमख़्वार तू।
उफ़ ये सुंदर छब तेरी ये साँवली सूरत तेरी,
दिल के मंदिर की है ज़ीनत मोहिनी मूरत तेरी।

'सुरूर' की ख़ूबी यह है कि वह माँ या देवी की कल्पना का विस्तार करते हैं और इस पवित्र कल्पना में प्रेम की पूरी शान पैदा कर देते हैं :

यह तबस्सुमहाए शीरीं, यह अदाए-जाँनवाज़,
आह यह शफ़कत भरी तेरी सदाए-जाँनवाज़।
आस्माँ के नूर की है जल्वागाहे नाज़ तू,
ख़ुल्द की है पाक देवी मादरे दमसाज़ तू।

'सुरूर' को हिंदोस्तान के कण कण से और इसके दृश्यों तथा स्थानों और प्रभाव तथा हालात से गहरी मुहब्बत थी, लेकिन उनकी और उनके बाद के उर्दू शाइरों की वतनियत में फ़र्क यही है कि सुरूर की मातृभूमि संबंधी शाइरी अपना रंगों राग सियासत से नहीं लेती, अर्थात् उसकी नवैयत राजनीतिक नहीं, बल्कि सौंदर्य भावनात्मक है और यह 'सुरूर' की प्रतिष्ठा और विशेषता का राज है।

अल्लामा इक़बाल

डाक्टर शेख़ मुहम्मद इक़बाल उर्दू के उन शाइरों मे से एक हैं जिनकी प्रतिष्ठा सिर्फ़ अपनी ज़ुबान तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय हैसियत रखती है।

इक़बाल २२ फ़रवरी, सन् १८७३ ई० को स्यालकोट में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा एक पुराने ढंग के मकतब में पाई। अँगरेज़ी शिक्षा के लिये इस्काच मिशन कालेज, स्यालकोट में दाखिल हुए। यहाँ से एफ़० ए० पास करने के बाद लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में दाखिल हो गए। गवर्नमेंट कालेज में इक़बाल ने दर्शन को ऐच्छिक विषय के रूप में चुना। इस विषय में उन्हें प्रोफ़ेसर आर्नल्ड से

से फ़ायदा उठाने का मौक़ा मिला, जो दर्शन में श्रेष्ठ गुरु होने के अलावा प्राच्य विद्याओं और विचारों से विशेष दिलचस्पी रखते थे।

गवर्नमेंट कालेज, लाहौर से बी० ए० पास करने के बाद इक़बाल ने १८९९ ई० में पंजाब यूनिवर्सिटी से दर्शन में एम० ए० की डिग्री हासिल की। कुछ दिनों बाद ओरिएंटल कालेज, लाहौर में दर्शन और इतिहास के प्रोफ़ेसर मुकर्रर हो गए। इसके बाद वह गवर्नमेंट कालेज में ही दर्शन और अँगरेजी भाषा और साहित्य की शिक्षा देते रहे। सन् १९०५ ई० में उच्च शिक्षा के लिये योरप चले गए। योरप में उन्होंने ट्रिनिटी कालेज, कैंब्रिज से दर्शन और आचारशास्त्र की डिग्री ली और फिर जर्मनी की म्यूनिख़ यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट किया। डाक्टरेट के लिये उनके निबंध का विषय "ईरान और मा़बादुल तिब्बियात" था। यूरोप निवास के जमाने में उन्होंने बैरिस्टरी का इम्तहान भी पास कर लिया। लंदन यूनिवर्सिटी में थोड़े दिनों तक अरबी के शिक्षक भी रहे। १९०८ ई० में इक़बाल यूरोप से हिंदोस्तान वापस आ गए और गवर्नमेंट कालेज की नौकरी छोड़ने के बाद वकालत का पेशा अपना लिया।

सन् १९२२ ई० में इक़बाल की विद्या और साहित्य संबंधी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें "सर" का ख़िताब मिला। १९२६ ई० में उन्होंने अमली तौर पर राजनीति में हिस्सा लेना शुरू किया और विधाननिर्मात्री सभा के लिये चुनाव में खड़े हो गए। कामयाबी हासिल होने पर 'मजलिसे कानूनसाज़' (विधाननिर्मात्री सभा) में लाहौर मंडल के प्रतिनिधि रहे। १९२८ ई० में इक़बाल मद्रास यूनिवर्सिटी की दावत पर दक्षिणी भारत तशरीफ़ ले गए और "रीकंस्ट्रक्शन ऑव इस्लामिक थाट" के मौज़ूअ पर अपने मशहूर विचार पेश किए। १९३० में मौसूफ़--ए--ऑल इंडिया मुस्लिम लीग के सदर की हैसियत से इलाहाबाद की सभा में वह सदारती प्रवचन पढ़ा, जिसमें हिंदोस्तान की आज़ादी और मुसलमानों की सियासी क़ौमियत के संबंध में बहुत महत्व के सुझाव रखे गए थे।

सन् १९३१ में इक़बाल ने लंदन की गोल मेज़ कान्फ़रेंस में शिरकत की और वापसी पर स्पेन, फ़िलस्तीन और तुर्की वग़ैरह का दौरा किया। सन् १९३३ में अल्लामा इक़बाल को नादिरशाह शहीद ने काबुल बुलाया और अपने मुल्क की शिक्षा संबंधी समस्याओं के बारे में इक़बाल से मशविरे तलब किए।

इस महाकवि ने २१ अप्रैल, सन् १९३८ ई० को देहत्याग किया और लाहौर में शाही मस्जिद की बगल में दफ़न हुए।

इक़बाल की ज़िंदगी का यह वृत्तांत उनकी सफलताओं का और उनकी ख्याति का सबूत है। उर्दू कवियों में साहित्यिक और सामाजिक ज़िंदगी में ऐसी सफलता किसी दूसरे कवि को नसीब नहीं हुई। इक़बाल को आरंभिक जीवन से ही शाइरी का शौक़

था। शुरू में पारंपरिक ढंग की शाइरी करते थे, और 'दाग़' देहलवी से इस्लाह लेते थे, लेकिन शग़ूर की पुख़्तगी के साथ साथ उनकी शाइरी में वे तत्व प्रकट होने शुरू हुए जिनकी नींव अपने ज़माने के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक विवेक के अलावा, उनके आधार पर क़ायम थी, जिनका संबंध तमाम जातियों और सारे विश्व से है

लाहौर में एक अंजुमन 'जमायते इस्लाम' के नाम से क़ायम थी। इस अंजुमन के सालाना जलसों में उर्दू अदब के विशिष्ट व्यक्तियों को निमंत्रित किया जाता था। चूँकि इस अंजुमन का मक़सद जातीय उपकार था इसलिये जलसों में तद्विषयक कविताएं ही पढ़ी जाती थी। इक़बाल ने भी 'अंजुमन जमायते इस्लाम' के जलसे में कविताएँ सुनाने के लिये, कविताओं की ओर ध्यान दिया और अपनी सबसे पहली कविता, 'नालए-यतीम" उस अंजुमन के एक जलसे में पढ़ी थी। इसके बाद इक़बाल ने अपनी कविताओं में "अब्रे गुहरबार" और "ज़यादे उम्मत" भी इसी अंजुमन के लिये रची थी।

उन कविताओं की शुहरत तमाम उर्दू जगत् में पहुँची और इक़बाल को एक ख़ास जातीय कवि समझा जाने लगा। इन दिनों लाहौर से शेख़ अब्दुल क़ादिर के संपादकत्व में उर्दू का एक विशिष्ट रिसाला "मख़ज़न" जारी था। इस पत्र में आधुनिक कविता और उर्दू कविता के आंदोलन को बड़े ज़ोर शोर से चलाया जा रहा था। इसलिये इकबाल ने "मख़ज़न" के लिये भी कविताएँ लिखीं। "हिमाला", "चाँद", 'एक आर्ज़ू", "कौमी गीत", "तस्वीरे दर्द" और "तरानए हिंदी"—

सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा।

जैसी श्रेष्ठ नज़्में सबसे पहले मख़ज़न में ही छपीं।

अल्लामा इकबाल की साहित्यिक उपलब्धियों का यह वृत्तांत १९०५ ई०. अर्थात् उनके यूरोप जाने से पहले का है। अर्थात् यूरोप यात्रा से पहले इक़बाल एक देशसेवी राष्ट्रकवि की हैसियत से उर्दू साहित्य में अपना स्थान बना चुके थे। इस ज़माने में वह मातृभूमि के प्रत्येक कण को देवता समझते थे। "तरानए हिंदी" के अलावा, जो बेहद प्रशंसित हुआ था, इक़बाल ने "नया शिवाला" जैसी नज़्म भी लिखी :

सच कह दूँ ए बरहमन गर तू बुरा न माने,
तेरे सनमकदों के बुत हो गए पुराने।
पत्थर की मूरतों में समझा है तू ख़ुदा है,
ख़ाके वतन का मुझको हर ज़र्रा देवता है।

शक्ती भी शांती भी भगतों के गीत में है,
धरती के बासियों की मुक्ती पिरीत में है।

यूरोप में रहते समय इक़बाल को पाश्चात्य विद्याओं और कलाओं के अध्ययन का अवसर मिला। यह वह ज़माना था जब यूरोप एक महायुद्ध को झेलने के बाद कला-संबंधी और मशीनी उन्नति से एक ऐसी सभ्यता जन्म ले रही थी, जिसने यूरोप की आध्यात्मिक ज़िन्दगी को एक ख़राबे (वेस्ट लैंड) में बदल दिया था। तमाम आला क़द्रें और नैतिक बंधन नष्ट हो रहे थे और यूरोप के सभी विद्वान् इस बिखराव और अबतरी के कारण बहुत चिंतित थे।

यूरोप में इस गिरावट और बिखराव के मुशाहिदे (अनुभव) ने इक़बाल को स्वभावतः पूर्वी सभ्यता, और भारत की आज़ादी के भावों से भर दिया। उनके सीने में मानवीय प्रेम और आत्मिक विश्वास की रक्षा के लिये वह शोला भड़क उठा जिसने इक़बाल की शाइरी को विश्वव्यापी मानवता और उच्च संमान का केंद्र बना दिया। यही वह शोला था जिसने यूरोप से वापस आने के बाद इक़बाल को एक ऐसी क्रांति का संदेशवाहक बना दिया जो विश्व के राष्ट्रों में पूरब की बलंदी के सपनों में सुसज्ज था। इक़बाल का काव्य ध्यान और चिंतन, खोज और शोध तथा मानवीय अभ्युदय के दर्शन को नई दिशा देता है। उन्होंने ख़ुदी के फ़लसफ़े को रूपायित किया, जो मौलाना रूम, इब्नुल् अरबी और नीत्शे के चिंतन और विचार का परिणाम था। अपने इस "नज़रिया ख़ुदी" को इक़बाल ने अपनी फ़ारसी नज़्म "इस्रारे ख़ुदी" में तफ़्सील के साथ पेश किया है।

"फ़लसफ़ए ख़ुदी" के अतिरिक्त इक़बाल के दार्शनिक काव्य का एक ख़ास तत्व वह "मर्दे मोमिन" है, जिसके विचार को इक़बाल ने अपनी अपेक्षाकृत अधिक कविताओं में व्यक्त किया है। "मर्दे मोमिन" से इक़बाल को वही विचार अभीष्ट है, जो नीत्शे ने "फ़ोक़ुल बशर" (मानव की श्रेष्ठता) के द्वारा प्रस्तुत किया है। अंतर यह है कि इक़बाल ने इस विचार को "इस्लाही नज़रीयात" तक सीमित रखा है। अगर "मर्दे मोमिन" की व्याख्या की जाए तो बुनियादी तौर पर हमें मानवीय गौरव और मानवीय श्रेष्ठता के एक ऐसे "कर्दार" (आचरण) का बोध होता है, जिसमें मानव श्रेष्ठता की सभी विशेषताएं मौजूद हैं। "मर्दे मोमिन" और 'फ़लसफ़ए ख़ुदी" को पेश करने के लिये इक़बाल ने संसार के भेदों और रहस्यों की छान बीन और ज़िंदगी की बुनियादी हक़ीक़तों (यथार्थों) की व्याख्या के साथ ब्रह्मज्ञान संबंधी दर्शन से भी मदद ली और अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये नए साँचे भी गढ़े। उन्होंने नई, बालिग़ी, शख़्सी (मानवीय) और तारीख़ी लक्षणों के ज़रिये अपनी शाइरी को वह विश्वव्यापी दिशा प्रदान की है जो दुनियाँ की श्रेष्ठ कविता की पहचान है।

इक़बाल ने पूरब को जो इज्ज़त दी, उसके कारण उन्हें 'प्राच्य कवि' (शाइरे मशरिक़) की उपाधि से याद किया जाता है। उनकी रचनाओं में (१) असरारे ख़ुदी, (२) रमूज़े बेख़ुदी, (३) पयामे मशरिक, (४) ज़बूरे अजम, (५) जावेदनामा, (६) मस्नवी, पस चे बायद कर्द, (७) अक़वाये मश्रिक, फ़ारसी में हैं; और (१) बांगे-दिरा, (२) बाले जिब्रील, (३) ज़र्बे कलीम उर्दू मे हैं। इसके अतिरिक्त इक़बाल का आख़िरी दौर का काव्य उनके देहावसान के बाद "अमुंगाने हिजाज़" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें अधिकांश रचनाएँ फ़ारसी में हैं, लेकिन उर्दू काव्य भी शामिल है।

इकबाल की विशिष्ट दार्शनिक कविताओं में एक लंबी कविता "ख़िज्रे राह" है, जो अलग पुस्तकाकार छप चुकी है। इस कविता में इक़बाल के वे बुनियादी विश्वास मौजूद हैं जिनकी विशेषताएँ दूसरी बहुत सी कविताओं में मिल सकती हैं। जीवन के संबंध में अपने विचारों को इक़बाल ने इस कविता में जिस गंभीर विचार और चिंतन की कैफ़ियत के साथ पेश किया है, उसकी मिसाल देखिए :

बरतर अज़ अंदेश-ए-सूदो ज़ियाँ है ज़िंदगी,
है कभी जाँ और कभी तस्लीमे जाँ है ज़िंदगी।
तू इसे पैमानए इम्रोज़-ओ-फ़र्दा से न नाप,
जावेदाँ, पैहम दवाँ, हर दम अवाँ है ज़िंदगी।
अपनी दुनियाँ आप पैदा कर, अगर ज़िंदों में है,
सिर्रे आदम है, ज़मीरे कुन फ़ुकाँ है ज़िंदगी।
ज़िंदगानी की हक़ीकत कोहकन के दिल से पूछ,
जूए शीरो तिश्ना वो संगे गिराँ है ज़िंदगी।
बंदगी में घुटके रह जाती है इक जूए कम् आब,
और आज़ादी में बहे बेकराँ है ज़िंदगी।

इक़बाल के नज़दीक ज़िंदगी ज़मानो-मकाँ के विचार से श्रेष्ठ है और इसकी विशेषता वह गतिशीलता और कर्मठता है जो सारे बंधनों को तोड़ देती है। इक़बाल आज़ादी को ज़िंदगी का जौहर क़रार देते हैं और खोज बीन को इस जौहर की प्राप्ति का साधन बताते हैं।

इक़बाल की "मस्जिदे क़रतबा" स्पेन में मुसलमानों के महान् नाक़ी की कहानी प्रस्तुत करती है, लेकिन इस कविता के ढंग में इक़बाल ने ऐसी तकनीक काम में लाई है जिसमें तामीर का तमाम प्रोसेस मौजूद है और मिस्रों के साथ साथ 'मस्जिदे क़रतबा' की तामीर के अमल को सिर्फ़ नग़मा के ज़रीए पेश कर देता है।

इक़बाल पूरब के उन कवियों में हैं जिन्हें विश्वव्यापी ख्याति मिली और जिन्होंने उर्दू शाइरी के वज़न और वक़ार में बहुत बड़ा इज़ाफ़ा किया।

चकबस्त

पंडित ब्रजनारायन चकबस्त कश्मीरी पंडित थे। उनके पूर्वजों ने लखनऊ में स्थायी निवास बना लिया था। चकबस्त का जन्म १८८२ ई० में फ़ैज़ाबाद में हुआ। छोटी उम्र में ही लखनऊ आ गए। प्रारंभिक शिक्षा के बाद १९०५ ई० में कैनिंग कालेज से बी० ए० की डिग्री हासिल की। फिर १९०८ ई० में वकालत पास करने के बाद प्रैक्टिस शुरू कर दी। वकालत के पेशे में चकबस्त को बहुत सफलता मिली और लखनऊ के विशिष्ट वकीलों में गिने जाने लगे।

१२ फ़रवरी, १९२६ को चकबस्त किसी मुक़दमे की पैरवी के लिये रायबरेली गए हुए थे। रास्ते में ही फ़ालेज का हमला हुआ और चंद घंटों के बाद देहांत हो गया।

चकबस्त भारत माता के उन सपूतों में हैं, जिन्होंने मुल्क और क़ौम की आज़ादी के गीत गाए हैं और भारतीय जनता के हृदय पर अपने अमिट प्रभाव छोड़े हैं।

चकबस्त को बचपन से ही शाइरी का शौक़ था। उन्होंने नौ साल की उम्र से शेर कहना शुरू कर दिया था। उर्दू के विशिष्ट कवियों का अध्ययन उन्होंने बड़ी दिलचस्पी से किया। पुराने गुरुजनो में उन्हें मीर अनीस, आतिश और गालिब से प्रेम था। चकबस्त की कविता में उन गुरुजनों के तर्ज़े अमल का ख़ास असर है।

चकबस्त ने काव्यारंभ ग़ज़ल से किया था. लेकिन उनका युग उन शोलों में अपने ख़मीर को ढाल रहा था जो मुल्की आज़ादी के जाँनिसारो के सीनों में दहक रहे थे। यह ज़माना प्रेम की जलन तो चाहता था, लेकिन हुस्न के साज का बंदी नहीं था। देश में एक इन्क़लाब की शुरूआत हो रही थी, और यह मुम्किन नहीं था कि देश सुलग उठे और शाइर बाँसुरी बजाता रहे। इसलिये चकबस्त ने अपने मुल्की और क़ौमी कर्तव्य का अनुभव करते हुए ग़ज़ल की उस रविश को त्याग दिया, जो महज़ सपनों, इच्छाओं और संयोग वियोग की दास्तान थी। चकबस्त की इच्छा थी कि वह उस पवित्र भूमि और स्वदेश की सेवा करें और अपने गीतो से देश को जगाएँ। अपने स्वदेशीयो में आज़ादी की रूह फूंक दें और उन्हें इस भूमि के पूजन का तरीक़ा सिखा दें। इसलिये उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे चार भागों में बाँटा जा सकता है :

१—ऐसी कविताएँ, जिनमें राष्ट्रीय भावनाएँ प्रवाहित है और राष्ट्रीय ऐकमत्य और पारस्परिक मेल मिलाप को काव्यविषय बनाया गया है।

२—देशप्रेम, जिसमें हिंदोस्तान के ऐतिहासिक यथार्थों. दृश्यों धार्मिक विश्वासों और अतीत काल के गौरव को प्रस्तुत किया गया है।

३—राजनीतिक कविताएँ, जिनमें ग़ुलामी के बुरे प्रभाव, धर्म और पारस्परिक सद्भाव से बेगानगी और फ़िरक़ापरस्ती के कारण आज़ादी की राह में रोड़े अटकाने की समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं।

४—दोस्तों और राष्ट्र के नेताओं के मरसिए, जिनका उद्देश्य आज़ादी की लड़ाई को मदद पहुंचाना था। इन कविताओं में लड़ाई के अलमबरदारों के स्वभाव और कर्मों को उपदेशात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चकबस्त का काव्यसंग्रह "सुब्हे वतन" उर्दू शाइरी में देश, राष्ट्र, आज़ादी के श्रेष्ठ संमान का संग्रह है। उनकी कविताएँ हिंदोस्तान के एक विप्लवी दौर की तारीख़ (इतिहास) हैं।

चकबस्त की 'ख़ाके हिंद', 'वतन का राग', 'हमारा वतन', 'आवाज़ए क़ौम', की गिनती ऐसी कविताओं में होती है, जिनका स्थान हिंदोस्तान की आज़ादी में प्रमुख हिस्सा लेनेवाले महान् व्यक्तियों के बराबर है। चकबस्त ने मुसद्दस (षट्पदी-बद्ध रचना) के ढंग पर एक लंबी कविता में रामायन की कतिपय घटनाओं का वर्णन किया है, जिसका उद्देश्य उस ऐतिहासिक और अध्यात्मिक घटना के महत्व का प्रकाशन है, जो रामचंद्र जी से मुख़्तस्स (विशिष्ट) है।[1] मरसिए के अंदाज़ में देश के नेताओं की मृत्यु पर उन्होंने जो नज़्में लिखी हैं, उनमें गोपाल कृष्ण गोखले की मौत पर लिखी हुई नज़्म से चकवस्त के उन भावों का परिज्ञान होता है जो आज़ादी की भावनाओं से भरपूर थे और अँगरेज़ों की नृशंसता से देश की मुक्ति के मुंतज़िर थे।

चकबस्त हिंदोस्तान में सयुक्त राष्ट्रीयता को फलता फूलता देखना चाहते थे। उन ख़्वाबों की ताबीर (स्वप्नफल कथन) ये जो फ़ित्ने (विघ्न डालनेवाले) षड्यंत्री थे उनपर चकबस्त ने भाव व्यक्त करते हुए कहा है :

नए झगड़े, निराली काविशें ईजाद करते हैं,
वतन की आबरू अहले वतन बरबाद करते हैं।
बलाए-जाँ हैं ये तस्बीह और जुन्नार के फंदे,
दिले-हक़बीं को हम इस क़ैद से आज़ाद करते हैं।

---

१. इस एक बंद से इस अनुपम कविता के प्रभाव, प्रवाह और सरलता का अंदाजा होगा :

दिल को सँभालता हुआ आख़िर वो नौनिहाल,
ख़ामोश माँ के पास गया सूरते ख़याल।
देखा तो एक दर में है बैठी वो ख़स्ताहाल,
सक्ता सा हो गया है ये है शिद्दते मलाल।
तन में लहू का नाम नहीं, जर्द रंग है,
गोया बशर नहीं कोई तस्वीरे संग है॥

क़ौम की शीराज़ाबंदी का गिला बेकार है,
तर्ज़े हिंदू देखकर, रंगे मुसल्माँ देखकर;
इंतशारे क़ौम से जाती रही तम्कीने क़ल्ब,
नींद रुख़सत हो गई ख़्वाबे परीशाँ देखकर।

हिंदोस्तान की पुरानी सभ्यता और अतीत की महनीय श्रुतियों को श्रद्धा सुमन चढ़ाते हुए 'ख़ाके हिंद' में कहते हैं :

शम्मा अदब न थी जब यूनाँ की अंजुमन में,
ताबाँ था मेह्रे दानिश, इस वादिए कुहन में।
गौतम ने आबरू दी, इस माबिदे कुहन को,
सरमद ने इस ज़मीं पर सद्क़े किया वतन को।
अकबर ने जामे-उल्फ़त बख़्शा है इस चमन को,
सींचा लहू से अपने राना ने इस चमन को।
सब सूर बीर अपने इस ख़ाक में निहाँ हैं,
टूटे हुए खँडर हैं, या उनकी हड्डियाँ हैं।

बरसों से हो रहा है बरहम समाँ हमारा,
दुनियाँ से मिट रहा है नामो-निशाँ हमारा।

ए सूरे-हुब्बे-क़ौमी इस ख़्वाब से जगा दे,
भूला हुआ फ़साना कानों को फिर सुना दे।

उनकी नज़्म 'वतन का राग' के ये शेर किसी ज़माने में बेहद मशहूर थे :

यह जोशे पाक ज़माना दबा नहीं सकता,
रगों में ख़ूँ की हरारत मिटा नहीं सकता;
यह आग वह है जो पानी बुझा नहीं सकता,
दिलों में आके यह अरमान जा नहीं सकता।
तलब फ़िज़ूल है काँटे की फूल के बदले,
न लें बिहिश्त भी हम होम रूल के बदले।

इन शेरों में एक ऐसे शायर की बेचैन रूह मौजूद है जो अपने वतन के सम्मान, अपने क़ौम की बहबूदी, और अपने मुल्क को गुलामी के शिकंजे से छुड़ाने के लिये अपने हमवतनों को जगाना चाहता है।

चकबस्त ने नज़्मों की तरह अपनी ग़ज़लों में अभिव्यक्ति शैली को पेचीदगियों

से पाक रखा है और अत्यंत सीधे सादे अंदाज़ में अत्यंत पेचीदा विषयों को कलात्मक ढंग से पेश कर दिया है। उनकी ग़ज़ल का यह शेर बेहद मशहूर और प्रशंसित है :

ज़िंदगी क्या है ! अनासिर में ज़ुहूरे - तरतीब,
मौत क्या है ! इन्हीं अजज़ा का परीशाँ होना।

अज़मतुल्ला ख़ाँ

गीत और गीतनुमा नज़्मों को उर्दू शाइरी का बाक़ायदा हिस्सा बनाने का सेहरा अज़मतुल्ला ख़ाँ के सर है। वह देहली में सन् १८८७ ई० मे पैदा हुए। बचपन ही में हैदराबाद चले गए और प्रारंभिक शिक्षा वहीं प्राप्त की। बाद में अलीगढ़ आए और यहाँ से डिग्री पाने के बाद हैदराबाद में शिक्षा विभाग में नियुक्त हो गए। शाइरी में अपनी अद्वितीय अभिव्यक्ति शैली और नए विचारों की वजह से इन्हें बहुत जल्द प्रसिद्धि मिल गई। जियादा उम्र नहीं पाई और दिक़ की बीमारी से १९२८ ई० में नई शाइरी की यह शम्मा हमेशा के लिये बुझ गई।

उर्दू में नए तर्ज़ की शाइरी का प्रारंभ करने के लिये अज़ामतुल्ला ख़ाँ का ज़िक्र हमेशा आदर और सम्मान के साथ किया जायगा। हाली और आज़ाद ने उर्दू शाइरी की आंतरिक रवायत में परिवर्तन किए थे, तो अज़मतुल्ला ख़ाँ ने इसके कलात्मक पहलू में विस्तार का झंडा बलंद किया। अपने विचारों के प्रचार के लिये उन्होंने निबंध भी लिखे और नज़्में भी कहीं। उनका कहना था कि उर्दू उरूज (छंद) जो अरबी से लिया गया है, उर्दू ज़बान के हिंद आर्याई मिज़ाज का साथ नहीं देता। यह पुराना भी हो चुका है और इससे शाइर अपने विचारों का इज़हार स्वच्छंदता से नहीं कर सकता। वह "ग़ज़ल की गर्दन बेतकल्लुफ मार देने" के पक्ष में थे। उन्होंने नए ज़माने की ज़रूरतों के सामने हिंदी पिंगल और अँगरेज़ी छंदबंध के नमूनों को सामने रखकर उर्दू के लिये एक नया छंदबंध (उरूज) तजवीज़ किया। उनकी शाइरी इसी सादा और आसान ढंग से उसूलों की रोशनी में लिखी गई है। वह ज़बान भी सादा, नरम और आसान इस्तेमाल करते थे, और हिंदी शब्दों को भी बड़े सलीक़े से उर्दू में खपाते थे। इस लिहाज़ से अगर यह कहा जाए कि उनकी शाइरी कलात्मक स्तर पर उर्दू और हिंदी कविता के बीच एक पुल की हैसियत रखती है तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अधिक रचनाएँ नहीं कीं। लेकिन जितनी भी की हैं, वह अछूती शैली का होने के कारण सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी नज़्मों और गीतों का संग्रह 'सुरीले बोल' के नाम से हिंदी और उर्दू में छप चुका है।

अजमतुल्ला ख़ाँ की शाइरी का मौलिक विषय सौंदर्य और प्रेम है। लेकिन चूँकि वह घिसे पिटे रास्ते पर चलने के आदी नहीं थे, यहाँ भी उन्होंने अपनी राह अलग बनाई। उन्होंने हुस्न और इश्क़ को घर के माहौल में पेश किया, जो उर्दू में नई चीज थी। उनके अधिकांश गीत घर के जिक्र से शुरू होते हैं और उनमें घर से प्यार मुहब्बत की सुगंध मिलती है। उनके गीतों में घर की चहारदीवारी में रहनेवाली हिंदोस्तानी औरत की भावनाओं की सच्ची तस्वीरें मिलती हैं। वह घर के काम काज, बहनों भाइयों की मुहब्बत, बचपन के खेलकूद, हल्के हल्के सुख दुख, उठती जवानी की रंगीनी, नई नई मुहब्बत और मीठे मीठे अरमानों को ऐसी सचाई और सफ़ाई से बयान करते हैं, मानो आपबीती सुना रहे हों। उनकी कविताओं और गीतों को घरेलू यादों के कारवाँ कहना उचित होगा। 'तुम्हे याद हो कि न याद हो' का आरंभ इस प्रकार होता है :

थे पड़ोसी हम पै यह हाल था
कि घरों में खिड़की बनाई थी,
थे अजीज हम ये ख़याल था
कोई शै न हमसे पराई थी।
तुम्हें याद हो कि न याद हो।
यूँ ही खेल खेल में जब कभी,
कोई दूल्हा बनता दुल्हन कोई।
मेरी तुम हमेशा बनीं बनी!
बहुत इस पे उड़ती थी गो हँसी।
तुम्हें याद हो कि न याद हो।

'मुझे पीत का याँ कोई उल न मिला' और 'मेरे हुस्न के लिये क्यूँ मरें' का रंग भी यही है। अजमतुल्ला ख़ाँ के अक्सर गीत दुःखमय हैं और जवानी के आरंभ (वय:संधि) के दुःख का चित्रांकन करते हैं। लेकिन बाज गीतों में उन्होंने घर गिरस्ती के चित्र भी पेश किए हैं। उनमें मियाँ बीवी के मेल मिलाप और ख़ानादारी की दिलचस्पियों की चित्रकारी मिलती है और आरजूओं की कलियाँ सर जोड़कर मुस्कुराती हुई नजर आती हैं। 'बरसात की रात दकन में' के ये शेर देखिए :

बच्चों को उढ़ाई है दुलाई,
सब नींद की है राज दुहाई,
क्या ही भली साँस की गरमाई.
जिस्म की गर्मी अपनी उनकी।

दिन मरदाना काम में गुज़रे,
मन की मिहनत हाथ के धंदे,
ताँबे के टके का हुन बरसे,
सुख की हों या दुख की बातें।
घर में बालक आबादी हो,
चाहनेवाली घरवाली हो,
हँसी खुशी गुज़रे जाती हो,
यूँ ही बरसें बरसात की रातें।

गरज़ यह कि अज़मतुल्ला ख़ाँ ने उर्दू शाइरी को क़ाफ़िया आराई से (तुकबंदी से) बचाने की ईमानदारी से कोशिश की और विषयों की रंगारंगी और विचारों की शृंखला और वज़न तथा छंदों के स्वच्छंद व्यवहार पर ज़ोर दिया। उन्होंने गीतनुमा नज़्मों के कामयाब नमूने पेश किए, जो उर्दू शाइरी में इज़ाफ़ा की हैसियत रखते हैं।

'शाद' अज़ीमाबादी

सैयद अली मुहम्मद 'शाद' अज़ीमाबादी जनवरी १८४६ में अज़ीमाबाद में पैदा हुए। शाद का खान्दान इज्ज़त और प्रतिष्ठा के ख़याल से धन-धाम और विद्या तथा विद्वत्ता का हिंडोला था। इस माहौल में रहकर उन्होंने उर्दू और अरबी, फ़ारसी की शिक्षा पाई। पंद्रह बरस की उम्र से शाइरी की ओर उन्मुख हुए और गद्य तथा पद्य में बहुत कुछ यादगारें छोड़ीं। १८९१ ई० में हुकूमत ने उन्हें ख़ान बहादुर का ख़िताब और एक हज़ार रुपए सालाना का वज़ीफ़ा दिया। बत्तीस साल तक ग्रानरेरी मैजिस्ट्रेट रहे और १९२७ ई० में पटना में स्वर्गवास हुआ। शाद की कविताएँ (१) "नग़मए इलहाम", (२) "इल्हामाते शाद" और (३) "शाद के क़तआत", के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं।

शाद ने हर क्षेत्र में काम किया, लेकिन उनकी विशेषता ग़ज़लों में अधिक चमकी। शुरू में शाद का लहजा हर्ष और उल्लास का था। इस विचार से शैली में रंगीनी और अभिव्यक्ति के ढंग में एक प्रकार की ज़िंदादिली और अहं का भाव था, लेकिन बाद में 'शाद' का स्वर दुःखमय हो गया। दुःखमय ढंग की ग़ज़लों के अतिरिक्त उन्होंने मरसिए भी लिखे हैं लेकिन उनके मरसियों की वर्णन शैली कुछ अधिक प्रभावशाली नहीं है।

शाद ने उर्दू ग़ज़ल में मुहावरों के प्रयोग को एक नया रुख़ दिया और ग़ज़ल में बातचीत के ढंग को शामिल करके एक नया तर्ज़ चलाया। इसी तरह एक ही मिस्रा में असंभव और टूटे फूटे वाक्यों का प्रयोग उनके शेरों में एक अजीब आकर्षण पैदा कर देता है। जैसे--

रस भरी हाय वह आँखें तिरी काली काली वे पिए मतवाली।
साँवला रंग नमकरेज़, जराहाते जफ़ा उफ़ कहाँ ध्यान कहाँ॥

शाद की कविता में भाषा की सादगी और मिठास असाधारण प्रभाव पैदा कर देती है। उनके निम्नांकित शेर से कविता की विशेषताओं का अंदाज़ा लगाया जा सकता है:

दिल अपनी तलब से सादिक़ था, घबरा के सूए मत्लूब गया।
दरिया से ये मोती निकला था दरिया में जाकर डूब गया॥

जफ़ाए यार का दिल को मलाल आ ही गया,
हज़ार ध्यान को टाला ख़याल आ ही गया;
ज़रा सी ठेस भी शीशे को थी बहुत साक़ी,
हज़ार तूने बचाया था बाल आ ही गया।

ढूंढोगे अगर मुल्कों मुल्कों मिलने नहीं नायाब हैं हम,
ताबीर है जिसकी हसरतो ग़म, ए हमनफ़सो वह ख़्वाब हैं हम।
मैं हैरतो हसरत का मारा ख़ामोश खड़ा हूँ साहिल पर,
दर्याए-मुहब्बत कहता है, आ कुछ भी नहीं पायाब हैं हम।

तमन्नाओं में उलझाया गया हूँ,
खिलौने देके बहलाया गया हूँ,
नहीं उठते क़दम क्यूँ जानिबे दैर,
किसी मस्जिद में बहकाया गया हूँ।

कभी रो दिए, कभी सर धुना, कभी सोज़े ग़म ने फ़ना किया,
यही मिस्ले शम्मा के सुब्ह तक, सरे शाम से हमें काम है।

रुस्वाइयों की हद न रही मेरी राह में,
हद है कि ख़ुद ज़लील हूँ अपनी निगाह में।

रियाज़ ख़ैराबादी

रियाज़ ख़ैराबादी का पूरा नाम सैयद रियाज़ अहमद था; रियाज़ उपनाम रखते थे। १८५३ ई० में ख़ैराबाद (ज़िला सीतापुर) में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा

अपने पिता से प्राप्त की। फिर ख़ैराबाद के एक अरबी स्कूल में दाख़िल हो गए। छात्र जीवन में ही शाइरी का चस्का पड़ गया। अमीर मीनाई के शागिर्द हो गए, और अपनी कविताओं पर उनसे इस्लाह लेने लगे। रियाज़ ने ख़ैराबाद से एक साहित्यिक पत्र "गुलकदा रियाज़" के नाम से जारी किया। यह पत्र अधिक दिनों तक चल न सका, लेकिन रियाज़ ने हिम्मत न हारी और "रियाज़ुल अख़बार" के नाम से एक और रिसाला शुरू किया। कुछ अर्सा बाद रियाज़ ख़ैराबाद से लखनऊ आ गए। और पंद्रह सोलह साल तक बड़ी कामयाबी के साथ यह रिसाला निकालते रहे और इसके साथ "फ़ित्नः" और "इत्रे फ़ित्ना" भी निकालने लगे। बाद में सरकारी मुलाज़िमत क़बूल कर ली और गोरखपूर आ गए। लखनऊ के निवास के समय रामपूर के नवाब कल्ब अली ने रियाज़ को रामपूर बुलाया था, लेकिन वह रामपूर ज्यादे दिन न रह सके। रियाज़ को अपने वतन से ख़ास मुहब्बत थी। इसलिये बाक़ी ज़िंदगी वहीं बिताई और १९३५ ई० में प्राण त्याग किया। उनके मरने के बाद उनका काव्यसंग्रह 'रियाज़े रिज़्वान' के नाम से प्रकाशित हुआ।

रियाज ख़ैराबादी अपनी शाइरी के विचार से उर्दू में ख़म्रियात के नेता का दर्जा रखते हैं। उनकी बारीकियाँ बड़े बड़े शराबियों को अचरज मे डाल सकती हैं। लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि रियाज़ ने ज़िंदगी में न कभी शराब पी और न कभी मैख़ाने का रुख़ किया। फिर भी उनके काव्य में रिंदी और सरमस्ती का ऐसा नश्शा है, जो शब्दों को भी शराब के रंग में रँग देता है। उर्दू ग़ज़ल में ऐसी शोख़ बेबाक और चुलबुली शाइरी सिर्फ़ रियाज़ ख़ैराबादी से ही संबद्ध है। रियाज़ का काव्य रियाज़े रिज़्वाँ' के नाम से छप चुका है। निम्नलिखित चुने हुए शेरों से उनकी काव्यगत विशेषताओं का अनुमान किया जा सकता है :

मैं नहीं जाऊँ, वह महशर हो कि हो महफ़िले वाज़,
दोश पर मेरे सुबू हाथ में मीना होगा।

छलकाएँ लाओ भर के गुलाबी शराब की,
तस्वीर खैंचें आज तुम्हारे शबाब की।

सद साला दौरे चर्ख़ था, सागर का एक जाम,
निकले जो मैकदे से तो दुनियाँ बदल गई।

जामे मैं तौबा शिकन, तौबा मिरी जामे शिकन,
सामने ढेर है टूटे हुए पैमानों का।

कोई मुँह चूम लेगा इस नहीं पर,
शिकन रह जायगी यूँ ही जबीं पर।

इस तरह कि घुँघरू कोई छागल का न बोले,
जब छम से धरें गोद में चुपके से उठाएँ।

महफ़िले वा'ज़ तो तादेर रहेगी कायम,
मैकदा यह है अभी पीके चले आते हैं।

सफ़ी लखनवी

सफ़ी लखनवी का पूरा नाम सैयद अली नक़वी ज़ैदी था। २ जनवरी १८६२ ई० को लखनऊ के एक प्रतिष्ठित घराने में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा घर पर पाई। इंट्रेंस का इम्तहान लखनऊ के कनिंग कालेजिएट स्कूल से पास किया। १८८३ ई० में सरकारी नौकरी कर ली, और दीवानी अदालत में विभिन्न पदों पर काम करते रहे। १९२१ ई० में पेंशन पाने के बाद एकांत ग्रहण कर लिया। सन् १९५० ई० में मृत्यु हुई।

सफ़ी लखनवी की गिनती वर्तमान काल के उन ग़ज़लगो शाइरों में की जाती है, जिन्होंने लखनऊ की उर्दू शाइरी का रुख़ बदला, और ग़ज़ल में लफ़्फ़ाज़ी मुआमलाबंदी की पुरानी परंपरा को ख़त्म करके ग़ज़ल की एक नई इमारत बनाने में मदद दी। ग़ज़लों के अलावा सफ़ी ने नज़्में भी लिखीं। उन नज़्मों में ख़ास तौर पर हिंदोस्तान के विभिन्न शहरों के बारे में, और उन शहरों के इतिहास से संबद्ध नज़्में अहमियत रखती हैं। इसके अलावा सफ़ी ने एक मसनवी 'तर्जीमुलहयात' के नाम से लिखी थी जो 'इक़ानामी आव ह्यू मन लाइफ़' का स्वतंत्र अनुवाद है। इसी मस्नवी पर हिंदोस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद की तरफ़ से सफ़ी लखनवी को पुरस्कृत भी किया गया था।

सफ़ी की ग़ज़ल, उन शैलियों और सिद्धांतों को मानती है, जो देहली स्कूल की विशेषताएँ समझी जाती है। ग़ज़ल के ख़ास विषयों को सादा और सरल भाषा में पेश करना, मुहावरों और उपमाओं को शुद्ध स्वाभाविक ढंग से काव्यबद्ध करना सफ़ी की विशेषता है। अपने ज़माने की समस्याओं को एक ख़ास इख़लाक़ी और इस्लाही दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर देने में सफ़ी को कमाल हासिल था। इनका एक संग्रह 'लख़्ते जिगर' के नाम से छप चुका है। लेकिन अभी बहुत सी कविताएँ हैं जो संग्रह के रूप में जनसाधारण के सामने नहीं आ

सकीं। सफ़ी के कतिपय शेर कहावत बन चुके हैं। उनकी ग़ज़लों के कुछ चुने हुए शेर ये हैं :

ग़ज़ल उसने छेड़ी, मुझे साज़ देना,
ज़रा उम्रे रफ़्ता को आवाज़ देना।

देख यूँ थक के बैठ ए दिले हस्रत अंजाम,
क़दमे सई अभी सरहदे आग़ाज़ में है।

हाल अपना अब ये है बेदारिए-एहसास से,
सोते सोते जिस तरह ख़्वाबे परीशाँ देखे।

दिल के अजज़ाए परीशाँ को हिक़ारत से न देख,
कहीं सदियों में यह सरमाया बहम होता है।

आकर जो नहीं जाती, वह है शाबे-तनहाई,
जाकर जो नहीं आती, वह उम्र गुरेज़ाँ है।

ज़हूल है ज़हूल सफ़ी आबे हयात,
ज़िंदगी बढ़के मुसीबत हो गई।

साक़िब लखनवी

मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन क़िज़िलबाश नाम, और साक़िब उपनाम रखते थे। २ जनवरी १८६६ ई० को आगरे में पैदा हुए। बचपन में अपने पिता के साथ लखनऊ आ गए। आरंभिक शिक्षा के बाद इंट्रेंस का इम्तहान पास किया। आगे की शिक्षा के लिये १८८६ ई० में सेंट जांस कालेज, आगरा में दाख़िला लिया। शिक्षा पूरी न कर सके, और तिजारत का सिलसिला शुरू कर दिया। फिर कलकत्ता चले गए। फिर १६०६ ई० से १६०८ ई० तक ईरान के राजदूत के प्राइवेट सेक्रेटरी के पद पर प्रतिष्ठित रहे। १६०८ ई० ही में साक़िब को राजा साहब महमूदाबाद ने बुला लिया, और मीर मुंशी के ओहदे पर मामूर कर दिया। हिंदोस्तान के बँटवारे के बाद जब रियासत ख़त्म हो गई तो एकांत पकड़ लिया और १६४६ ई० में इंतकाल हो गया।

साक़िब ने अपने लिये ग़ज़ल में वह रात चुनी, जो मीर और ग़ालिब की बनाई हुई थी। ग़ालिब के तर्ज़ और मीर की ज़बान को अपने लिये राह का मशाल बनाकर ग़ज़ल के आम रवैये से अलग अपनी डगर बनाई। उनके कलाम में रूप

और प्रेम की वारदात की बजाय ज़िंदगी और ज़िंदगी के संबंधों पर दार्शनिक मनन और चिंतन की परछाइयाँ मिलती हैं। लखनऊ स्कूल के अन्य शाइरों में अज़ीज़ लखनवी और सफ़ी लखनवी ने भी ग़ालिब की पैरवी अख़्तियार करने की कोशिश की है, लेकिन साक़िब के समकालीन शायरों में ग़ालिब का रंग विशेषताओं के साथ सिर्फ़ साक़िब के काव्य में ही मौजूद है।

साक़िब अपने समय के स्वाभिमानी ग़ज़लगो हैं। उन्होंने चिंतन और कल्पना की ऊँचाइयों को प्रेम और मिलन के सुख से बेहतर माना है और मीर का अनुकरण करते हुए अपनी ग़ज़ल में वही नैराश्य और सोज़ो गुदाज़ की वही विशेषता पैदा करने की कोशिश की है, जो मीर की शाइरी की ख़ूबी है। साक़िब के निम्नलिखित शेर उनके तर्ज़े सुखन (काव्यशैली) का प्रतिनिधित्व करते हैं:

आइना जिसमें सदा डूब के उभरा किया हुस्न,
एक ठहरा हुआ पानी है, ख़ुद आराई का।
हुस्न के हाथ बँधे तो, वह ज़रा देर सेहर
मुझ पे एहसान तिरी आई हुई अँगड़ाई का।

इश्क़ में सहल थी फ़र्हाद की तक़बीद मगर
यह निरी हिम्मते आला को गवारा न हुआ।

बूए गुल फूलों में रहती थी मगर रह न सकी,
मै तो काँटों में रहा और परेशाँ न हुआ।

है रौशनी क़फ़स में मगर सूझता नहीं,
अब्रे सियाह, जानिबे गुलज़ार देखकर।

ख़ुदा आबाद रक्खे, हम सफ़ीराने गुलिस्ताँ को
जो कोई फूल खिलता है तो हमको शाद करते हैं।

चल रे हमदम ज़रा साज़े तरब की छेड़ भी सुन लें,
अगर दिल बैठ जाएगा तो उठ आएँगे महफ़िल से।

ज़माना बड़े शौक़ से सुन रहा था,
हमीं सो गए दास्ताँ कहते कहते।

इक उम्र काट दी है सवादे गुनाह में,
धोता हूँ शब को बैठके दामां कभी कभी।

हसरत मोहानी

सय्यद फज़लुल्हसन, हसरत मोहानी, सन् १८७५ ई० में मोहान (ज़िला-उन्नाव) में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा मोहान में पाई। सन् १८९५ में फतहपूर के गवर्नमेंट स्कूल से इंट्रेंस का इम्तहान पास किया। आगे की शिक्षा के लिये अलीगढ़ आ गए, और सन् १९०३ में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से बी० ए० पास किया। अलीगढ़ में छात्र काल में हसरत मोहानी को उर्दू के मशहूर साहित्यकार सैयद सज्जाद हैदर (जो वर्तमान काल की मशहूर नावेलनिगार कुर्रतुल ऐन हैदर के वालिद थे) और खिलाफ़त आंदोलन की नींव डालने वाले मौलाना शौकत अली का सामीप्य प्राप्त था।

अलीगढ़ में छात्रावस्था में ही हसरत मोहानी ने राजनीति में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। शिक्षा प्राप्ति के तुरत बाद इन्होंने एक रिसाला (पत्र) 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के नाम से जारी किया, और साहित्यिक सरगर्मियों के साथ-साथ क्रियात्मक रूप में राजनीति में भी हिस्सा लेते रहे। हुकूमत ने इन्हें बाग़ी करार दिया, और कई बार सख़्त क़ैद की सजा हुई। हसरत ने अपने एक शेर में इस वर्तमान दशा की तरफ़ इशारा करते हुए कहा है :

है इश्के सुख़न जारी, चक्की की मशक्क़त भी,
इक तुर्फ़ा तमाशा है हसरत की तबीअत भी।

हसरत ने आज़ादी की लड़ाई में ख़ास तौर पर हिस्सा लिया। वह स्वदेशी आंदोलन के ज़बर्दस्त समर्थक थे, ज़िंदगी भर कभी कोई विलायती चीज़ इस्तेमाल न की। राजनीतिक दृष्टिकोण के अलावा उन्होंने अपने रूहानी अकाइद (आध्यात्मिक धर्मविश्वास) के बारे में ख़ुद लिखा है :

"मैं क़दामत परस्त सुन्नी और सूफ़ी हूँ। तसव्वुफ़ को मज़हब का जौहर समझता हूँ और तसव्वुफ़ का माहसल (उपलब्धि) मेरे नज़दीक जज़्बए-इश्क है।"

हसरत को बीसवीं सदी का एक प्रतिभाशाली दरवेश कहा जा सकता है। अपने सिद्धांतों पर पाबंद रहते हुए उन्होंने अत्यंत वज़ादारी के साथ कलंदराना ज़िंदगी बसर की। सियासी ज़िंदगी में महात्मा गांधी, मौलाना आज़ाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू के करीब रहते हुए भी, कभी पद की इच्छा नहीं की। ज़िंदगी में सख़्त मुसीबतें झेलीं, लेकिन कठिनाइयों के आगे घुटने नहीं टेके। अपने ज़माने के इस शैलीकार शाइर और महान् राजनीतिज्ञ ने १३, मई सन् १९५१ ई० को लखनऊ में प्राण त्यागे, और फ़िरंगी महल के कब्रिस्तान में दफ़न हुए।

हसरत को आधुनिक ग़ज़ल के बानियों में गिना जाता है। उनकी शाइरी अपने ज़माने की सच्ची पैदावार है। वह उन तमाम आंदोलनों से प्रभावित थे, जो उनके ज़माने में व्यवहृत हो रहे थे। अतः अपने ज़माने के सियासी और समाजी शऊर से बाख़बर होने के साथ साथ उन्होंने साहित्य और काव्य के उन सभी सिद्धांतों से लाभ उठाया, जो नए साहित्यिक आंदोलनों के द्वारा प्रचार पा रहे थे। हसरत की ख़ूबी यह है कि उन्होंने अपने इर्द गिर्द फैले बेशुमार विचारों (नज़रीयात) को कला की कसौटी पर परखने के बाद अपनी शाइरी के लिये एक ऐसी मुन्फ़रिद (व्यक्तिगत) टोन (लबो लहजा) अपनाया जिसमें परंपरागत शऊर और नवीनता की भावना दूध और शक्कर की तरह घुल मिल गए हैं। प्रोफ़ेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने हसरत की शाइरी पर आलोचना (तबसिरा) करते हुए लिखा है:

"हसरत के मिज़ाज में ऐंच पेंच नहीं है। वह कांग्रेसी, कम्यूनिस्ट, सूफ़ी अलग अलग हैं। उनके इहसासात में तसादुम या तज़ाद नहीं मिलता। हसरत कहीं नक़ाब में नज़र नहीं आएँगे। जो शख़्स अपनी शख़्सियत के किसी पहलू को कमज़ोर न समझता हो, वह नक़ाब का मुहताज नहीं होता।"

हसरत ने उर्दू ग़ज़ल को एक स्वाभाविक और नार्मल रवैये से परिचित कराया है। उनके शेरों में न प्रेम की वह जलन है कि ज़मीन और आसमान सुलगते हुए नज़र आएँ और न बिरह की वे दशाएँ कि सूरज पर हमेशा रात की अँधेरी छाई दिखाई पड़े। इसके विपरीत उन्होंने शाइरी में एक ऐसी अंदरूनी लै को रवाज दिया है, जिसमें लहजा धीमा और असर ज़्यादा है। इस आभ्यंतर संवेदना का अक्स जिस कोमल पैराए में शाइरी की रूह बनकर प्रकट होता है, उसमें हसरत का काव्य एक विशिष्ट महत्व का अधिकारी है। उनके प्रेम के तसव्वुर (विचार) में एक मँजी लै मिलती है। वह आपबीती घटाते या बढ़ाते नहीं। उनके यहाँ प्रेमिका की जो यथार्थता और सौंदर्य का जो घरेलूपन मिलता है, वह उर्दू ग़ज़ल की प्रिय थाती है। सितारों की छाँव में मिलने, जलती धूप में नंगे पाँव चलने और चुपके चुपके रोने का तसव्वुर (कल्पना) उर्दू ग़ज़ल में नया विस्तार लेकर आया था:

बर्क़ को अब्र के दामन में छुपा देखा है,
हमने उस शोख़ को मजबूरे हया देखा है।

अल्ला रे जिस्मे यार की ख़ूबी कि ख़ुद बख़ुद,
रंगीनियों में डूब गया पैरहन तमाम।

हुस्ने बेपर्वा भो ख़ुदबीं भो ख़ुद भारा कर दिया,
क्या किया मैंने कि इज़हारे तमन्ना कर दिया।

अल्लाह रे काफ़िर तिरे इस हुस्न की मस्ती,
जो ज़ुल्फ़ तिरी साब: कमर लेके गई है।

नहीं आती तो याद उनकी महीनों तक नहीं आती,
मगर जब याद आते हैं, तो अक्सर याद आते हैं।

रंग सोते में चमकता है तरहदारी का,
तुर्फ़ा आलम है तेरे हुस्न की बेदारी का।

ये शेर और इस क़िस्म के अन्य शेरों में हसरत ने उर्दू शाइरी को हार्दिक भावों का वह नया चलन प्रदान किया है, जिसमें उद्देश्य (मफ़हूम) एक ऐंद्रिय प्रभाव के साथ अपने दायरे को महान् से महत्तर बनाता जाता है।

हसरत के शेर माँ, याद, रद्दे अमल, और काल्पनिक बारीकियों का ऐसा लतीफ़ (मृदुल) इम्ज़िाज (समन्वय) पेश करते हैं, जिनमें शाइरी आत्मकथन और अभिप्राय की खोज का एक जीवित और गतिशील सूरत बन जाती है। निम्नांकित शेरों में हसरत के काव्य की ये ख़ूबियाँ पूरे कमाल के साथ प्रकाशित हुई हैं :

याद में सारे वो ऐशे बाफ़रागत के मजे,
दिल अभी भूला नहीं, आग़ाज़े उल्फ़त के मजे।

फंदए-अह्ले-जफ़ा की मुझे परवा क्या थी,
तुम भी हँसते हो मेरे हाल पै रोना है यही।

शरह बे-मेह्रिए-अहबाब कहूँ क्या हसरत,
रंज ऐसा दिले-मायूस को कम पहुँचा था।

क्या हुए वह दिन कि मह्वे आरज़ू थे हुस्नो इश्क़,
रब्त था दोनों में गो रब्ते शनासाई न था।

रोशन जमाले यार से है अंजुमन तमाम,
दहका हुआ है आतिशे गुल से चमन तमाम।

यही वह नया अंदाज़ है, जिसने ग़ज़ल को शख़्सियत (व्यक्तित्व) के विश्वास और व्यक्तिविशेष के आभ्यंतर भावों से मिलाया है। इस नए अंदाज़ के ज़रीए

हसरत ने उर्दू ग़ज़ल को आशिक़ों (प्रेमियों) और हसीनों (प्रेमिकाओं) की भीड़ से भाव और चिंतन की दुनियाँ में ला दिया है ।

हसरत मोहानी ने अपनी शाइरी के अलावा 'रिसाला उर्दू-ए-मुअल्ला', उर्दू की क्लासिकी शाइरी के चयन और दीवाने ग़ालिब की शरह के ज़रीए भी उर्दू साहित्य की महती सेवाएँ की हैं । उन्होंने प्राचीन शाइरों की कविता का चयन "इंतख़ाबे सुख़न" के नाम से ग्यारह जिल्दों में पूर्ण किया । ख़ुद हसरत मोहानी का काव्य "कुल्लियाते हसरत" के नाम से प्रकाशित हो चुका है ।

फ़ानी बदायूनी

शौकत अली खाँ नाम, फ़ानी तख़ल्लुस करते थे । १३ सितंबर १८७९ ई० को इस्लाम नगर (जिला बदायूँ) में पैदा हुए । फ़ानी के पिता पुलीस में इंस्पेक्टर के ओहदे पर थे । ग़दर से पहले उनका ख़ानदान अच्छा खासा जागीरदार ख़ानदान था, लेकिन उनकी जागीर का बड़ा हिस्सा अंगरेज़ी हुकूमत ने ज़ब्त कर लिया । इसके बावजूद फ़ानी के हिस्से में जो जायदाद आई, वह बहुत काफ़ी थी, लेकिन फ़ानी की बेपरवाह तबीयत के कारण, यह सब बरबाद हो गई । शिक्षा के बाद फ़ानी ने बरेली कालेज से १९०१ ई० में बी० ए० का इम्तिहान पास किया । फिर उसी कालेज से १९०८ ई० में एल–एल० बी० की डिग्री पाई । काफ़ी अरसा तक लखनऊ और बरेली में वकालत करते रहे। वकालत में कोई ख़ास कामयाबी हासिल नहीं हुई, अलबत्ता अपनी गंभीरता, और मिज़ाज के कारण अपनी तमाम जायदाद ख़त्म कर डाली और बड़ी तंगी की हालत में गुज़र बसर करते रहे । उम्र के आख़िरी हिस्से में हैदराबाद चले गए और वहीं २७ अगस्त सन् १९४१ ई० को मृत्यु हुई ।

फ़ानी को उर्दू ग़ज़ल में निराशा का इमाम (नेता) समझा जाता है । तेरह बरस की उम्र से शाइरी शुरू की, और बीस बरस की उम्र तक एक पूरा दीवान तैयार कर दिया, जो प्रकाशित नहीं हुआ । १९२४ ई० में उनका पहला दीवान 'बाक़ियाते फ़ानी' के नाम से छपा । एक संग्रह उनके मरने के बाद छपा है ।

फ़ानी ने शाइरी में ग़ज़ल की सिन्फ़ को चुना, लेकिन न किसी की उस्तादी कबूल की और न किसी बड़े शाइर के अनुकरण को अपना आदर्श बनाया । उनके व्यक्तित्व में शोक का असाधारण अधिकार था। दशाओं की विषमता और समाज की रविश से उकताकर उन्होंने अपने व्यक्तिगत दुःख को शाइरी की ज़बान में बयान कर दिया है। फ़ानी के काव्य की समीक्षा करते हुए

मजनूँ गोरखपुरी ने उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की इसी इन्फ़रादियत (एकाकीपन) को उनकी कविता का बुनियादी तत्व सिद्ध किया है, और लिखा है :

'अगर फ़ानी की शाइरी उनके किरदार की नुमाइंदा (प्रतिनिधि) है तो उससे ज़्यादा उनकी तस्वीर की वह सचाई और बेरियाई है, जिससे उसके किरदार का ख़मीर हुआ है, और जिसको अगर वह चाहें भी तो नहीं छिपा सकता। फ़ानी की तस्वीर से भी वही गहरी और रची हुई ग़मगीनी टपकती है, जो उनकी शाइरी की असली और इन्फ़रादी ख़सूसियत है।'

फ़ानी के ज़माने में दाग़ की शाइरी का तूती बोल रहा था। इसलिये वह अपने ढंग को दाग़ के ढंग के प्रभाव से तो सुरक्षित न रख सके, लेकिन उसमें अपनी व्यक्तिगत सोच के वे तत्व अवश्य समो दिए जो सोज़ो गुदाज़ (जलन और द्रवणशीलता) की चित्रावली है। फ़ानी के नज़दीक मौत एक सार्वभौम सत्य है और वेदना एक ऐसा व्यापक विपत्तिमय तत्व है, जो कला की रूह का मुतरादिफ़ (अनुगामी) है। उनके कलाम में जो गहरी संजीदगी है, और उदासी का जो आसमान छाया हुआ है, उसने फ़ानी की ग़ज़ल को मौसीक़ी (संगीत) की ऐसी दर्दीली लै बना दिया है, जिसको सुनकर दिल बेहद प्रभावित होता है। निम्नलिखित शेर उनके फ़न और शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं :

फ़स्ले गुल आई या अजल आई क्यूँ दरे ज़िंदाँ खिलना है,
क्या कोई वहशी और आ पहुँचा, या कोई क़ैदी छूट गया।

फ़ानी हम तो जीते जी वह मैयत हैं बे ग़ोरो कफ़न,
ग़ैरत जिसको रास न आई, और वतन भी छूट गया।

इक मुअम्मा है समझने का न समझाने का,
ज़िंदगी काहे को है, ख़्वाब है दीवाने का।

अब नए सर से छेड़ पर्दए-साज़,
मैं ही था एक दुखभरी आवाज़।

ज़िक्र जब छिड़ गया क़यामत का,
बात पहुँची तेरी जवानी तक।

न इब्तदा की ख़बर है, न इंतिहा मालूम,
रहा ये वहम कि हम हैं, सो वह भी क्या मालूम।

दिल का उजड़ना सहल सही, बसना सहल नहीं ज़ालिम,
बस्ती बसना खेल नहीं है, बसते बसते बसती है।

ज़िंदगी ख़ुद क्या है फ़ानी यह तो क्या कहिए मगर,
मौत कहते हैं जिसे वह ज़िंदगी का होश है।

ज़मीने गोरे ग़रीबाँ में इक जगह न ठहर,
यहीं कहीं निगहे शर्मसार हम भी हैं।

सुने जाते न थे तुमसे मेरे दिन रात के शिकवे,
कफ़न सरकाओ मेरी बेज़ुबानी देखते जाओ।

बिजलियाँ टूट पड़ीं जब वो मुक़ाबिल से उठा,
मिल के पलटी थीं निगाहें कि धुवाँ दिल से उठा।

हर नफ़स उम्रे गुज़श्ता की है मैयत फ़ानी,
ज़िंदगी नाम है मर-मर के जिए जाने का।

सीमाब अकबराबादी

आशिक़ हुसैन, सीमाब अकबराबादी १८८० में अकबराबाद (आगरा) में पैदा हुए। शुरू में अरबी और फ़ारसी की शिक्षा पाई। अंग्रेज़ी की शिक्षा अधूरी रही। और एफ़० ए० के दूसरे साल में तालीम को अधूरी छोड़कर रेलवे विभाग में मुलाज़िम हो गए। १८९८ ई० में दाग़ देहलवी के शागिर्द हो गए और बाक़ायदा शाईरी से दिलचस्पी लेने लगे। कुछ दिनों बाद नौकरी छोड़ दी, और आगरा से एक पत्र मुरस्सा जारी किया, जो काफ़ी दिनों तक चलता रहा। १९२१ ई० में आगरे में ही क़स्रुल अदब के नाम से एक अंजुमन क़ायम की, जिसका उद्देश्य तसनीफ़-ओ-तालीफ़ (संपादन और प्रकाशन) था। इस अंजुमन की ओर से उन्होंने कई पत्र निकाले। 'पैमाना' और 'सुरैया' के अलावा आख़िरी पत्र 'शाइर' के नाम से जारी किया था, जो आज तक बंबई से उनके साहबज़ादे एजाज़ सिद्दीक़ी की इदारत (संपादकत्व) में निकल रहा है। हिंदोस्तान के बँटवारे के बाद अपने संबंधियों और मित्रों से

मिलने के लिये कराची (पाकिस्तान) चले गए और ३१ जनवरी, १९५१ को वहीं मौत हुई।

सीमाब अकबराबादी ने गद्य और पद्य में लगभग तीन सौ किताबें संपादित की हैं, उनमें से अधिकांश छप चुकी हैं, और कुछ अभी तक अप्रकाशित हैं। संपादन और प्रकाशन के अतिरिक्त सीमाब अकबराबादी को एक सिलसिले की हैसियत प्राप्त है। भारत और पाकिस्तान में उनके सैकड़ों शागिर्द हैं, जिन्होंने सीमाब से शिक्षा ली है। शागिर्दों का यह सारा हल्क़ा उर्दू में 'आगरा स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके प्रतिष्ठापक सीमाब अकबराबादी थे।

सीमाब ने अपनी शाइरी की शुरूआत ग़ज़ल से की थी, लेकिन बाद में काव्य-रूपों पर लेखनी चलाई, और नए तर्ज़ की नज़्में भी लिखीं। लेकिन नज़्मों के मुक़ाबले में उनकी ग़ज़लें नक़ल और घिसे पिटेपन से रहित हैं। उन्हें असाधारण पैठ हासिल थी, इसलिये सिर्फ़ अभ्यास के बल पर भी बहुत कुछ कह लेते थे। इसी कारण उनकी नज़्में तख़लीक़ (सर्जन) की बजाय सिन्फ़गरी के तत्त्व प्रस्तुत करती हैं। उनके यहाँ वह तल्लीनता और समर्पण संचित है जो श्रेष्ठ कविता की विशेषता है। संभवतः इसका कारण उनका बहुभाषी होना है। उनकी ग़ज़लों की बाज़ पंक्तियों से उनके कलाम की ख़ूबियों का अंदाज़ा लगाया जा सकता है :

न था वो भेद कि दुनियाँ मुझे समझ लेती,
मैं ख़ुद भी अपने समझने में कामयाब न था।

क़फ़स से छुटके बड़ी देर में ठिकाना मिला,
ख़याल से भी कहीं दूर आशियाना मिला।

रफ़्ता रफ़्ता समझ में आएगा,
मेरा नग़मा है दूर की आवाज़।

दफ़्अतन् साज़े दो आलम बेसदा हो जाएगा,
कहते कहते रुक गए, जिस दिन तेरा अफ़साना हम।

हर चीज़ पुर-बहार थी, हर शै में हुस्न था,
दुनियाँ जवान थी, मेरे अह्दे-शबाब में।

कहानी मेरी रूदादे-जहाँ मालूम होती है,
जो सुनता है उसी की दास्ताँ मालूम होती है।

बेखुदी में भी न भूला मैं रहे-मंजिल दोस्त,
सरखुशी में भी मेरे पाँव को लरजिश न हुई।

अज़ीज़ लखनवी

असल नाम मिर्जा मुहम्मद हादी और अजीज तखल्लुस था। १८८२ ई० में लखनऊ के एक विद्वत्परिवार में पैदा हुए। लखनऊ के प्रसिद्ध आलिमों और फ़ाजिलों से हर्फ़ों नहो, फ़क़ा मो उसूल (बौद्धिकता और सिद्धांत), साहित्य और अरबी फ़ारसी विद्याएँ हासिल कीं। फिर जिंदगी भर स्वाध्याय में लगे रहे। जवानी के उभरते ही शाइरी शुरू कर दी। उन्नीस बरस की उम्र में शेर कहने लगे। बाद में सफ़ी लखनवी के शागिर्द हो गए। बाद में अपनी प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के सहारे अपने दौर के मशहूर शाइरों में गिने जाने लगे। अजीज लखनवी से जिन शाइरों ने कृपा प्राप्त की है, उनमें नवाब मिर्जा जाफ़र अली खाँ 'असर', जोश मलीहाबादी, और जगतमोहनलाल 'रवाँ' जैसे प्रमुख शाइर भी हैं। १९३५ ई० में लखनऊ में इंतक़ाल किया। उनका कलाम (काव्य) 'गुलकदए अजीज' और 'सहीफ़ए विला' के नाम से छाया हो चुका है। लेकिन अभी बहुत-सा कलाम ऐसा मौजूद है, जो किताबी सूरत में सर्वसाधारण के सामने नहीं आया है।

अजीज लखनवी ने जिस जमाने में शाइरी शुरू की, उस वक़्त लखनऊ की पुरानी ग़जल की रवायत को खत्म करने, और नई कथन शैली को अपनाने की तहरीक शुरू हो चुकी थी। खुद अजीज के उस्ताद सफ़ी लखनवी ने इस फ़न में विशेष योगदान किया था। इसलिये इन्होंने भी ग़ज़ल के नए मिजाज को अपनाया और उस्ताद का मर्तबा हासिल किया। अजीज लखनवी के कलाम पर राय देते हुए मौलाना अबुल् कलाम आज़ाद ने लिखा था :

"लखनऊ के जदीद तर्जे तग़ज्जुल में हज़रत अजीज का कलाम हमेशा शौक़-ओ-दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाता है। मैंने 'गुलकदा' के किसी सफ़्हा को उम्दा और दिलपसंद अशआर से खाली न पाया।"

अजीज ने ग़ज़लों के अलावा मर्सिए और नज्में भी लिखीं, लेकिन उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी ग़ज़लिया शाइरी है। कुछ शेर नमूने के तौर पर दिए जाते हैं :

अपने मरकज़ की तरफ़ मायले परवाज था हुस्न,
भूलता ही नहीं आलम तेरी अंगड़ाई का।

सुर्ख़ डोरे तेरी आंखों के इलाही तौबा,
चाहिए था उन्हें पैवस्त रगे-जाँ होना।

बेहक़ीक़त दिल की हस्ती को समझते थे मगर,
इस लहू की बूंद ने आलम तहोबाला किया।

बेकार ये ग़ुस्सा हो क्यूँ उसकी तरफ़ देखो,
आईने की हस्ती क्या, तुम अपनी तरफ़ देखो।

दिल ने दुनियाँ नई बना डाली,
और हमें आज तक ख़बर न हुई;
हिज्र की रात काटनेवाले,
क्या करेगा अगर सहर न हुई।

इक जहाँ रोएगा, बाल उनके परीशाँ होंगे,
हाय इक रोज़ मेरे घर में ये सामाँ होंगे।

आरज़ू लखनवी

पूरा नाम सैयद अनवार हुसैन था। सन् १८८२ ई० में लखनऊ में पैदा हुए। पाँच बरस की उम्र से तालीम का सिलसिला शुरू हुआ। बारह बरस की उम्र से शाइरी शुरू की, और अपने समय के एक प्रमुख उस्ताद जलाल लखनवी को अपना काव्यगुरु बनाया, और कुछ ही दिनों में काव्यकला के भेदों और रहस्यों से परिचित हो गए।

आरज़ू लखनवी, अपने उन फ़िल्मी गीतों के कारण भी बहुत प्रशंसित हुए हैं, जो उन्होंने कलकत्ते मे मदन थिएटर और न्यू थिएटर की फ़िल्मों के लिये रचे। गीत रचना ही उनकी जीविका का साधन था। इसलिये कलकत्ते में रहने के अलावा वे बंबई में भी फ़िल्मों के लिये गीत लिखते रहे। इस गुणी शाइर ने १८५२ ई० में वफ़ात पाई।

आरज़ू उन शाइरों में हैं, जिन्होंने अपनी शाइरी के द्वारा एक नई जबान के निर्माण मे हिस्सा लिया है। उन्होंने फ़ारसी और अरबी शब्दों और वाक्य-विन्यासों को कम करने के बाद एक ऐसी जबान इस्तेमाल की जिसे ख़ुद उन्होंने "ख़ालिस उर्दू" का नाम दिया है। ठेठ उर्दू और हिंदी के शब्दों पर रचित आरज़ू

की भाषा दरअस्ल वही "हिंदोस्तानी" है, जिसे महात्मा गांधी इस देश में प्रचलित देखना चाहते थे।

आरज़ू ने अपनी ख़ालिस हिंदोस्तानी ज़बान में भी शाइरी की वह तमाम विशेषताएँ पैदा कीं, जो पुरानी ग़ज़ल की विशेषताएँ समझी जाती हैं। उनके काव्य में सादगी के बावजूद वह गीराई (पकड़) और गहराई मौजूद है, जो अच्छी शाइरी का हिस्सा होती है। आरज़ू की ग़ज़ल में गीत की सी कैफ़ियत पाई जाती है। इसका सबब उनके वे गीत हैं, जो उन्होंने फ़िल्मों के लिये लिखे, आज भी वह अपने साहित्यिक मान और सम्मान के लिये ख्यात हैं। अपनी इस ख़ास शैली के के जरिए आरज़ू ने उर्दू ग़ज़ल में एक क्रांतिकारी कारनामा अंजाम दिया और यह साबित कर दिया कि बोझिल शब्द, कृत्रिम वाक्यविन्यास और खनकती हुई उपमाओं के ज़रीए ही शाइरी नहीं होती। अगर शाइर सर्जनात्मक चिंतन की संपत्ति रखता हो तो अपने निजी उस्लूब (ढंग) में भी श्रेष्ठ कविता की मिसाल क़ायम कर सकता है।

आरज़ू लखनवी के तीन संग्रह—(१) फ़ुग़ाने आरज़ू, (२) जहाने आरज़ू और (३) सुरीली बाँसुरी प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें "सुरीली बाँसुरी" हिंदीमय कोमल और सरस शब्दों की शाइरी के लिये ख़ास तौर पर प्रसिद्ध है। आरज़ू की दिल में उतर जानेवाली शाइरी की कुछ मिसालें ये हैं:

हाथ से किसने साग़र पटका मौसम की बेकैफ़ी पर
इतना बरसा टूट के बादल डूब चला मैख़ाना भी।

हठ अपनी अपनी बात की है, ध्यान अपनी अपनी आन का है,
हम हैं कि तुले हैं मिटने पर, वह हैं कि मिटाए जाते हैं।

पानी में आग ध्यान से तेरे भड़क गई,
आँसू में कौंदती हुई बिजली चमक गई।

काली घटाएँ, कौंदा लपका, रो के जो कोयल कूक गई,
जितनी गहरी साँस खिंची थी, उतनी लंबी हूक गई।

जिसने बना दी बाँसुरी गीत उसी के गाए जा,
साँस जहाँ तक आए जाए एक ही धुन बजाए जा।

बहते आँसू तो रोक ले जिसने
नद्दियों का बहाव रोका है।

हाँ मेरी डबडबाई आँख देख बँधी रहे न धाक
वह भी लगाए जाए आग तू भी लगी बुझाए जा।

मौलवी सैयद अहमद देहलवी

मौलवी सैयद अहमद देहलवी उर्दू ज़बान के उन उपकर्त्ताओं में से हैं, जिन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी उर्दू की सेवा में बिताई।

सैयद अहमद ८ जनवरी सन् १८४६ को देहली में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा निजी मदरसों में पाई। नार्मल स्कूल के भी छात्र रहे। छात्रजीवन में एक लंबी फ़ारसी नज़्म "तिफ़्लीनामा" (बचपन की कहानी) लिखी। इसके बाद लेखन और संपादन के दूसरे कामों में लग गए। सैयद अहमद देहलवी को एहसास था कि उर्दू में ऐसी किताबें मौजूद नहीं हैं जो तालीम निस्वाँ (स्त्री शिक्षा) के लिये मुफ़ीद हों। इसलिये उन्होंने लड़कियों के लिये कई किताबचे इसी दृष्टिकोण से संपादित किए। उन्होंने १८६६ ई० में नैतिक शिक्षा के लिये एक किताबचा लिखा, जिसमें तक़दीर और तदबीर (कर्म) के बीच तुलना द्वारा दो विपरीत रवैयों को सुधारवादी विचार से प्रस्तुत किया गया है। इस किताबचे (कंजुल, फ़वायद) पर शासन की ओर से डेढ़ सौ रुपए इनाम में दिए गए।

उस ज़माने में सूबा बिहार के एक अंग्रेज़ स्कूल इंस्पेक्टर मिस्टर फैलन "उर्दू लुग़त" तैयार कर रहे थे। उन्होंने सैयद अहमद को इस काम को पूरा करने के लिये बिहार बुला लिया, जहाँ वे दानापुर में सात बरस तक लुग़त (शब्दकोश) की तैयारी में लगे रहे। फिर अलवर के महाराज ने एक सफ़रनामे की तरतीब के लिये उनकी सेवाएँ प्राप्त कीं और इनाम इकराम से इनका संमान किया। इस काम से खाली होने के बाद उन्होंने शिक्षा विभाग में नौकरी कर ली, और देहली, शिमला के स्कूलों में काम करते रहे। सरकार की ओर से उन्हें 'ख़ान' का ख़िताब मिला।

सैयद अहमद देहलवी का सबसे प्रमुख कारनामा उर्दू शब्दकोश है, जो "फरहंगे आसफ़िया" के नाम से चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। सैयद अहमद की इस लुग़त से पहले उर्दू में कोई पूर्ण और प्रामाणिक लुग़त मौजूद नहीं थी। सैयद अहमद ने चौबीस बरस तक इस लुग़त की तदवीन (शब्द संचयन) का काम किया। चूंकि उनके पास इसकी इशाअत (प्रचार) के लिये पैसा नहीं था, इसलिये उसका एक हिस्सा "अरमुग़ाने देहली" के नाम से नमूने के तौर पर प्रकाशित करा

दिया। और किसी ऐसी ग़ैबी (गुप्त) मदद की राह देखते रहे, जिसके जरीये वह अपनी बरसों की मिहनत को जनसाधारण तक पहुँचा सकें। इस लुग़त का काम उन्होंने सन् १८६८ ई० में शुरू किया था, और सन् १८६२ ई० में यह संपन्न हुआ। सौभाग्य से हैदराबाद के नवाब ने इस महत्वपूर्ण कारनामे को प्रकाशित कराने का बीड़ा उठाया, और सैयद अहमद को पाँच हज़ार रुपए के इनाम के अलावा पचास रुपए माहवार का वज़ीफ़ा भी दिया। लुग़त के प्रकाशन के बाद पंजाब की हुकूमत ने भी मौलवी साहब को पाँच सौ रुपए का नज़राना पेश किया, और लुग़त की एक हज़ार जिल्दें ख़रीद लीं।

"फ़रहंग आसफ़िया" के अलावा मौलवी सैयद अहमद ने जो नस्री (गद्यबद्ध) किताबें लिखीं, उनमें "रसूमे-हिंद" और "मुहाकम-ए-उर्दू" विशेष रूप में उल्लेख्य हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर मौलवी साहब की लगभग पचीस किताबें और हैं जो शिक्षणात्मक दृष्टिकोण से विशेष महत्व रखती हैं। उर्दू भाषा के इस उपकारी का देहांत सन् १६१६ ई० में हुआ।

ख़्वाजा सैयद नासिर नज़ीर देहलवी

ख़्वाजा सैयद नासिर नज़ीर देहली के रहनेवाले थे। अगस्त सन् १८६५ ई० में पैदा हुए। गद्य के अलावा शाइरी से भी दिलचस्पी थी। फ़िराक़ तख़ल्लुस करते थे। इनके नाना ख़्वाजा मीर 'दर्द' उर्दू के श्रेष्ट सूफ़ी शाइर थे। दादा और पिता भी अपने दौर के उलमा (विद्वानों) में गिने जाते थे। विद्या और कला के हिंडोले में परवरिश पानेवाले सैयद नासिर नज़ीर 'फ़िराक़' देहलवी ने अरबी, फारसी की ऊँची शिक्षा पाई थी। शिक्षा के बाद फ़ने तिब्ब (आयुर्वेद) के पाने की कोशिश की, और हकीम महमूद ख़ाँ देहलवी से तिब्ब की प्राप्ति की सनद पाई।

शिक्षा से मुक्त होने के बाद धर्मपुर (जिला बुलंदशहर) के नवाब के यहाँ ख़ास तबीब और साहबज़ादों के उस्ताद का काम किया। फिर अलीगढ़ कालिज के सफ़ीर (दूत) की हैसियत से बंबई, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि का दौरा किया। आख़िरी उम्र में अपने वतन देहली वापस आ गए, और सन् १६३३ में देहांत हो गया।

देहली को पुराने ज़माने से सभ्यता, कला और भाषा के विचार से पूरे देश में एक इम्तियाज़ (विशेषता) हासिल रही है। देहली के बादशाहों को उर्दू से ख़ास ताल्लुक़ रहा है, इसलिये उर्दू को उर्दू-ए-मुअल्ला और क़िले मुअल्ला की ज़बान भी कहा जाता है। देहली के शरीफ़ों और रईसों का एक ख़ास ढंग था, जो देहली से जोड़ा जाता है। इस ढंग को उर्दू का निहायत शाइस्ता, सुस्ता

(मार्जित) और रचा हुआ उस्लूब (ढंग) कहा जा सकता है। देहली की जबान और आम बोलचाल में जो मुहावरे प्रयुक्त होते थे, उनका भी एक खास मिज़ाज था। सैयद नासिर ने अपनी गद्य रचना में देहली की उसी खास जबान का और यहाँ के क्षेत्रीय विशेष मुहावरों का प्रयोग किया है।

सैयद नासिर की रचनाओं में तारीख़ी हैसियत (ऐतिहासिक महत्व) की रचना "मैख़ानए-दर्द" है, जो हज़रत ख़्वाजा मीर दर्द की जीवनी है। इसके अलावा देहली, देहली के बादशाह, अह्ले शहर और अह्ले क़िला की तहज़ीब, रस्मोरवाज, मेले ठेलों और त्योहारों के बारे में सैयद नासिर ने निम्नांकित किताबें लिखी हैं :

१. दिल्ली का आख़िरी दीदार,
२. लाल क़िला की एक झलक,
३. दिल्ली का उजड़ा हुआ लाल क़िला।

इन रचनाओं के अलावा (१) बेगमों की छेड़छाड़, (२) सात ताक़तों की कहानियाँ, (३) दकन की परी, (४) मजामीने फ़िराक़, कहानियों के ढंग की दास्तानें हैं, जिनमें उस समय के नागरिक जीवन का भरपूर चित्रण किया गया है। सैयद नासिर ने विभिन्न विषयों पर जो निबंध लिखे वे 'चार चांद' के नाम से किताबी सूरत में मौजूद हैं।

सैयद नासिर की रचनाएँ उस दिल्ली की यादगार हैं, जो अब मिट चुकी है, लेकिन वे अपने तहज़ीबी गुजरे दृश्यों की वजहसे बड़ी अहमियत रखती हैं।

लाला श्रीराम

लाला श्रीराम देहली के एक अत्यंत प्रतिष्ठित खांदान के दीपक थे। आपकी बंश परंपरा अकबर के मशहूर वज़ीर राजा टोडरमल से संबद्ध है। श्रीराम के पिता राय बहादुर मदन गोपाल एम० ए०, बार-एट-ला अपने जमाने की मशहूर शख़्सियत थे। श्रीराम १८७५ ई० में देहली में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा देहली में पाई, फिर अपने पिता के साथ लाहौर चले गए। १८९५ ई० में लाहौर से ही बी० ए० पास किया, और १८९८ में एम० ए० और मुंसफ़ी का इम्तिहान पास करने के बाद सरकारी मुलाज़िमत में आ गए। लाहौर, अमृतसर और देहली में जज के पद पर प्रतिष्ठित रहे। लेकिन सेहत की ख़राबी की वजह से सन् १८०७ में इस्तीफ़ा दे दिया, और बाकी उम्र उर्दू साहित्य की सेवा में बिताई।

लाला श्रीराम ने 'ख़ुमख़ान-ए-जावेद' के नाम से उर्दू शाइरों का तज्किरा लिखा है, जिसकी चार मोटी जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं। उस तज्किरे (विवरण)

के द्वारा लाला श्रीराम ने पुराने कलाकारों के अन्वेषण की एक ऐसी कसौटी बनाई है, जिसमें कला की सफ़ाई के अलावा एक वैज्ञानिक प्रणाली भी मौजूद है। दाग़ देहलवी के कलाम के प्रचार का सेहरा भी लाला श्रीराम के सर है। इनके पास उर्दू के श्रेष्ठ हस्तलेखों का बहुत बड़ा ज़खीरा मौजूद था, जिसका कुछ हिस्सा अब बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी में सुरक्षित है। अफ़सोस कि उनकी उम्र ने साथ न दिया, वर्ना उर्दू शाइरी की तारीख़ (इतिहास) पूरी करने में वे असाधारण योग-दान करनेवाले थे। 'ख़ुमख़ान-ए-जावेद' की चार जिल्दें शाया हुईं, और यह अधूरी है लेकिन इसकी तारीख़ी हैसियत सर्वमान्य है। और इसमें उर्दू के बिलकुल गुमनाम शाइरों के संबंध में भी बहुत सी अन्वेषणात्मक सामग्री जमा कर दी गई है। उर्दू तज्किरा नवीसों (विवरण लेखकों) में लाला श्रीराम का स्थान बहुत ऊँचा है।

मेहदी इफ़ादी

मेहदी इफ़ादी उर्दू के उन लेखकों में हैं, जो अपने रचे हुए जमालीयाती (सौंदर्य संबंधी) ज़ौक (रुचि) और अपनी हसीन गद्य रचना की वजह से हमेशा याद रखे जाएंगे। उन्नीसवीं सदी के आख़िर और बीसवीं सदी के शुरू में उनकी तहरीरों (लेखों) ने लोगों का ध्यान खींचना शुरू किया। वे सरकारी मुलाज़िम थे। उन्होंने ज़ियादा उम्र नहीं पाई, और उनका देहांत सन् १९२१ ई० में हुआ।

उनके मज़मूनों (लेखों) का संग्रह "इफ़ादाते मेहदी" के नाम से मशहूर है। उनके मकातीब (पत्रों) का एक संग्रह भी छप चुका है। उन्होंने बहुत नहीं लिखा, लेकिन जो कुछ लिखा, वह गद्य की शोभा और लेखन की ग़ैर-मामूली लताफ़त (कोमलता) और शिगुफ़्तगी (खिलावट) की वजह से अदब में मुस्तक़िल हैसियत रखता है। मेहदी इफ़ादी यूरोप के रूमानी लेखकों से प्रभावित थे, और दिलकश पैराए में बहुत रचा रचा कर नस्र लिखते थे। वह सौंदर्यप्रेमी तबीअत के मालिक थे और उनके ज़ेहन में आला दर्जा की इख़्तिराई (मौलिक) तमीज़ थी। नई तर्कीबें, नए इस्तिआरे (रूपक) और नई इस्तिलाहें (परिभाषाएँ) बनाने में उनका जवाब नहीं था। उनके लेखों का एक हिस्सा अदबे लतीफ़ (कोमल साहित्य) से संबंध रखता है, जहाँ भाषा की मनोहारिता और लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन ही सब कुछ है। उन्होंने सर सैयद दौर की अदबी शख़्सियतों (साहित्यिक व्यक्तित्वों) के बारे में कतिपय आलोचनात्मक निबंध भी लिखे, जो गंभीर अध्ययन और चिंतन मनन के परिणाम हैं। उनकी राय आम तौर पर सोची समझी, जची तुली होती थी। अपनी उन आलोचनाओं, साहित्यिक लेखों और अपनी सौंदर्यनिर्माती स्टाइल की वजह से मेहदी इफ़ादी उर्दू में हमेशा संमान के साथ याद किए जाएँगे।

ख़्वाजा हसन निज़ामी '

ख़्वाजा हसन निज़ामी देहलवी, हज़रत ख़्वाजा निज़ामुद्दीन के ख़ानदान से संबंध रखते थे। १८८० ई० में देहली में पैदा हुए। हज़रत निज़ामुद्दीन ने देहली के उस माहौल में परवरिश पाई, जिसके कारण देहली को 'बाईस ख़्वाजा की चौखट' कहा जाता है। विद्या और साहित्य के साथ साथ आध्यात्मिक विश्वासों और सिद्धांतों में असाधारण योग्यता प्राप्त की। राजनीति में भी हिस्सा लिया, और १९५५ ई० में अल्लाह के प्यारे हो गए।

ख़्वाजा हसन निज़ामी उर्दू के शैलीकार लेखक हैं। उनमें देहली की टकसाली ज़ुबान के वह जौहर मौजूद थे, जिनकी मिशाल मुश्किल से ही मिल सकती है।

ख़्वाजा साहब ने क़ुरान हकीम की तग़य्युर (परिवर्तन), हदीसों के तर्जुमे, इस्लामी और तालीमी पुस्तिकाएं, मृत देहली की तारीख़, ग़दर की घटनाएँ और ग़दर में शाही ख़ान्दान के लोगों की तबाही के विषयों पर अनगिनत किताबें बनाईं। यह सारी रचनाएँ और ख़्वाजा साहब का पत्र "मुनादी" प्रत्येक रुचि के व्यक्तियों में बड़ी उत्कंठा और शौक़ के साथ पढ़े जाते थे, और बेइंतहा प्रशंसित थे।

ख़्वाजा साहब ने उर्दू में इंशाइए (एसे) के फ़न को दीप्ति दी है, उनके निबंध लताफ़ते ब्यानी (वर्णन की सूक्ष्मता) के अलावा उच्च कोटि की बौद्धिकता की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इस लतीफ़ फ़न को उन्होंने अपने जिन मज़मूनों में कमाल की सीमा तक पहुँचाया है, उनमें मच्छर का एलाने जंग, सिगनल की लाल आँख, कीकर हमारा गुलाब तुम्हारा, पैसे की सरगुज़श्त, फ़ाम किब्ला टु शिमला, आबिदे शब जिंदादार (उल्लू), झींगुर का जनाज़ा, मक्खी और मच्छर का मुबाहिला वग़ैरह आज भी बड़ी दिलचस्पी से पढ़े जाते हैं। हास्यपूर्ण लेखों के अलावा उर्दू ज़िहाफ़त में भी ख़्वाजा हसन निज़ामी ने महत्वपूर्ण योगदान किया है।

मुंशी सज्जाद हुसैन

उर्दू में हास्य और व्यंग्य को सींचनेवाले मुंशी सज्जाद हुसैन का जन्म १८५६ ई० में काकोरी में हुआ। उनके पिता मंसूर अली डिप्टी कलेक्टर थे। मुंशी सज्जाद हुसैन ने लखनऊ के कैनिंग कालेज में शिक्षा प्राप्त की थी। १८७७ ई० में उन्होंने उर्दू में तंज़ और ज़राफ़त (हास्य व्यंग्य) के विषय पर पहला रिसाला "अवध पंच" जारी किया। ख़ुद भी व्यंग्यपरक और हास्यपरक नावेल लिखे, और अपने रिसाले के ज़रीये भी इस विकसित कला की तरवीज (चलाने) में हिस्सा लेते रहे। १८८७ ई० कांग्रेस में शरीक हुए और मरते दम तक उसके हामी रहे। १९१५ ई० में इस नश्वर दुनियाँ से कूच कर गए।

यह कहना ग़लत न होगा कि उर्दू नस्र (गद्य) में तंज़ और ज़राफ़त के चिराग़ को मुंशी सज्जाद हुसैन ने ही रोशन किया है। उनका रिसाला "अवध पंच" हिंदोस्तान के अदबी सिहाफ़त (साहित्यिक पत्रकारिता) में एक युगनिर्माता कर्तृत्व का भारवाहक था। इस रिसाले में राजनीतिक, सामाजिक और तहज़ीबी विषयों पर ऐसे व्यंग्यात्मक और हास्यपरक लेख छपते थे जिनमें क़ौमी और मुल्की सुधार का विचार मौजूद हो। अवध पंच के ज़रीये उर्दू को रतननाथ सरशार जैसा उपन्यासकार और अकबर इलाहाबादी जैसा शाइर नसीब हुआ। इन दो महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों के अलावा बीसवीं सदी की प्रारंभिक दहाई में उत्तर भारत के बहुमूल्य कलाकारों ने इस रिसाले से रौशनी पाई है।

उर्दू पंच को एक युगनिर्माता रिसाला बनाने में मुंशी सज्जाद हुसैन की व्यक्तिगत शख़्सियत को बड़ा दख़ल था। उनके स्वभाव में ज़ेहानत का वह बेदार शोला मौजूद था जो संजीदा से संजीदा विषय को व्यक्तिगत अनुभव और बुद्धि-कौशल से पानी कर देता है। मुंशी सज्जाद हुसैन ने उर्दू को हास्यपरक नाविलों में (१) हाजी बग़लूं, (२) तरहदार लौंडी, (३) प्यारी दुनियां, (४) अहमकुल् ज़मीन, (५) मीठी छुरी, (६) कायापलट, (७) हयात शेख़चिल्ली जैसी व्यंग्यात्मक पुस्तकें दी है। पंडित रतननाथ सरशार के बाद हास्यपरक उपन्यासकारों में दूसरा महत्वपूर्ण नाम मुंशी सज्जाद हुसैन का ही है, जिनकी कृतियां रतननाथ सरशार की कृतियों की तरह अनश्वर जीवन प्राप्त कर चुकी हैं।

मुंशी सज्जाद हुसैन ने हास्य और व्यंग्य के उस्लूब (ढंग) को भी सुधारा है। भाषा के वे तत्व जो अपना स्थानीय महत्व रखते हैं, सज्जाद हुसैन के उस्लूब में एक नए अंदाज़ से नमूदार (प्रकट) होते हैं। इस उस्लूब के समर्थन के कारण उर्दू को कई बेहतरीन ज़राफ़त निगार (हास्यलेखक) प्राप्त हुए हैं। और इसका सेहरा मुंशी सज्जाद हुसैन के सर है।

मुहम्मद हादी रुस्वा

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी नाम और रुस्वा तख़ल्लुस (उपनाम) था। रुस्वा उपन्यासकार भी थे, शाइर भी, तार्किक भी और साइंसदां भी। लेकिन उर्दू में उनका महत्व उनके ज़िंदा जावेद नावेल 'उमराव जान अदा' की वजह से है। वह सन् १८५८ में लखनऊ के एक खाते पीते ख़ानदान में पैदा हुए। प्रारंभिक शिक्षा में स्कूली किताबों के अलावा नजूम और उक़लैदिस (ज्योतिष और सामुद्रिक विद्या) अपने पिता से पढ़ी। अभी कम उम्र ही थे कि माता पिता का साया सिर से उठ गया। रुड़की से ओवर सियरी का इम्तिहान पास करके बलूचिस्तान रेलवे सर्विस में मुलाज़िम हो गए। यहां केमिस्ट्री के पढ़ने का शौक़ पैदा हुआ, और लगन का यह आलम था कि नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। घर का सामान

बेचकर विलायत से केमिस्ट्री का सामान मँगवाया और उसकी पढ़ाई में लग गए। आखिर एक विदेशी यूनीवर्सिटी से डाक्टरेट की डिग्री हासिल की। बरसों लखनऊ के कालेजों में फ़ारसी के मुदर्रिस रहे। आखिर उम्र में उस्मानिया यूनीवर्सिटी में नियुक्ति हो गई थी। १९३१ ई० में देहांत हुआ।

रुस्वा का अध्ययन बहुत विस्तृत था। फ़िलसफ़ा, साइंस, डाक्टरी, प्रवचन, नजूम (ज्योतिष), साहित्य और लेखन, शाइरी, उरूज (काव्यशास्त्र)—हर चीज में इनकी पहुँच थी। फ़ारसी, अरबी और उर्दू के अलावा हिंदी, संस्कृत, इबरानी और अंगरेज़ी से भी बखूबी वाकिफ़ थे। तबीअत में एक तरह की बेपरवाही थी। जो काम किया, उसे छोड़ दिया; जो लिखा ख़ूब उसकी परवा नहीं की। निहायत सादा ज़िंदगी बसर करते थे। उनके बैठने के कमरे में एक चटाई बिछी रहती थी। एक कोने में किताबों और काग़ज़ों का ढेर लगा रहता था। यहीं एक अँगीठी और हुक़्क़ा रखा रहता था। लिखने की रफ़्तार ग़ैरमामूली थी। कम से कम पचास किताबें उनके क़लम से लिखी गई होंगी। नावेलों की संख्या चार है: जाते शरीफ़, शारीफ़ज़ादा, इफ़शाए राज़, और उमराव जान अदा; लेकिन शुह्रत सिर्फ़ आखिरी नावेल को हासिल हुई।

उमराव जान अदा एक ऐसी लड़की की दास्तान है जिसको बचपन में बहकाकर बेच दिया जाना है, और बाद में उसे तवाएफ़ बना दिया जाता है। कहने को तो यह एक तवाएफ़ की आपबीती है, लेकिन दरअस्ल यह उर्दू का अकेला नावेल है, इसलिये कि मरकज़ी किरदार की नक़ल और हरकत से जगह जगह के हाल और घटनाओं का नक़्शा आँखों के सामने आता रहता है। इस नावेल का कमाल यह है कि इसमें उस ज़माने के अवध की ज़िंदगी की जीती जागती तस्वीरें महफ़ूज़ (सुरक्षित) कर दी गई हैं। इतनी भरपूर और इतनी रौशन कि समाजी हक़ीक़तनिगारी (यथार्थचित्रण) का हक़ इससे बेहतर उर्दू में आज तक अदा नहीं हुआ। अदा का मरक़ज़ी किरदार (केंद्रस्थ कर्म) सचमुच एक ऐसा फ़ानूस है कि जिसके गिर्द उस ज़माने की पूरी ज़िंदगी घूमती हुई दिखाई देती है। नवाब, नवाबज़ादे, रईस, रईसों के मुसाहब, तमाशबीन, डाकू, बाग़ी, आलिम, आमी (अपढ़) इन सबसे नावेल की दुनियाँ आबाद नज़र आती है, और इनके साथ साथ लखनवी समाज की ज़िंदगी, फ़ुर्सत, और ऐयाशी, वहाँ के लोगों की नफ़ासत और लताफ़त (नाज़ुकमिजाज़ी), और शाइस्तगी (शिष्टाचार) और उस ज़िंदगी की ज़ाहिरी चमक दमक और अंदरूनी खोखलापन और रयाकारी (मक्कारी), इन सबको पूरे रचनात्मक सौंदर्य के साथ साथ रुस्वा ने पेश किया है। उनका कारनामा यह है कि उन्होंने उमराव जान अदा के ज़रीये उर्दू नावेल को हक़ीक़तनिगारी की सर्वोत्तम रवायत से परिचित कराया। अवध की ज़िंदगी का उनका मुशाहिदा (निरीक्षण)

बहुत गहरा था और उसी को उन्होंने कलात्मक चाबुकदस्ती के साथ नावेल में पेश कर दिया है। उन्होंने जिस तरह जज़्बात की मसौवरी (चित्रण) की है और इन्नत के चित्ताकर्षक दृश्य दिखाए हैं उसे देखते हुए रुस्वा की आंतरिक गहराई और उनके मानवप्रकृति के गंभीर अध्ययन का क़ायल होना पड़ता है।

रुस्वा बहुत सादा, लेकिन पुरकार (आकर्षक) गद्य लिखते थे। उसमें लख़नवी उर्दू की रवानी और रंगीनी भी है और तासीर और लताफ़त भी। शेरों का प्रयोग भी अवसर के उपयुक्त सुंदर हुआ है। रुस्वा का भाषा पर असीम अधिकार था और जहाँ जैसा चाहते थे समाँ बाँध कर रख देते थे। भाषा और वर्णन की इन ख़ूबियों की वजह से भी उनके नावेल उमराव जान अदा को उर्दू में एक श्रेष्ठ कृति का दर्जा हासिल है।

मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर'

उर्दू नावेल, गद्यलेखन, काव्यरचना और उच्च कोटि की पत्रकारिता को बलंदी की शाहराह से हमकिनार करनेवाले मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' लखनऊ के एक प्रतिष्ठित परिवार के दीपक थे। १८६० ई० में लखनऊ में पैदा हुए। नौ साल की उम्र में कलकत्ता चले गए, क्योंकि उनके वालिद अवध के आख़िरी नवाब वाजिद अली शाह के साथ मटियाबुर्ज (कलकत्ता) में थे। वाजीद अली शाह की साहित्यिक रुचि ने मटियाबुर्ज में एक नया लखनऊ बना दिया था। अवध के बेहतरीन उलमा और श्रेष्ठ व्यक्ति यहाँ मौजूद थे। शरर ने इसी माहौल में परवरिश पाई और उन्नीस बरस की उम्र तक विद्या और बुद्धि के दीपकों से रौशनी पाते रहे। उसके बाद वह लखनऊ आ गए। शादी की और इल्म की प्यास बुझाने के लिए देहली का रुख़ किया। देहली में उन्होंने अपने वक़्त के एक महान् विद्वान मौलवी मुहम्मद नज़ीर हुसैन से अरबी विद्या की शिक्षा प्राप्त की और वतन वापस चले गए। उन दिनों लखनऊ में विद्या और साहित्य का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक केंद्र, मुंशी नवलकिशोर का मकतबा (प्रेस) था जहाँ से उर्दू और फ़ारसी की बेशुमार किताबें छपती थीं। इसी प्रेस से निकलनेवाले 'अवध अख़बार' ने शरर की सेवाएँ प्राप्त कीं और शरर के तख़लीक़ी (रचनात्मक) जौहर प्रकट होने शुरू हो गए।

अवध अख़बार ने 'शरर' को अपने नुमाइंदे की हैसियत से हैदराबाद भेज दिया। हैदराबाद में अब्दुल हलीम शरर' ने अपना पहला नावेल 'दिलचस्प' लिखा और बंकिमचंद्र जी के नावेल दुर्गेशनंदिनी का अँगरेज़ी से उर्दू में तर्जुमा किया।

१८८७ ई० में शरर ने लखनऊ से अपना वह अहम तारीख़ी रिसाला 'दिलगुदाज़' जारी किया, जो वक़्फ़े वक़्फ़े (रुक रुककर) से एक लंबे अर्से तक उर्दू साहित्य की सेवा करता रहा। उर्दू शाइरी की तारीख़ में अब्दुल हलीम 'शरर' के इस रिसाले को ख़ास अहमियत हासिल है, क्योंकि सबसे पहले इसी रिसाले ने उर्दू की

नई कविता का आंदोलन शुरू किया और आलोचनात्मक लेखों के ज़रीए उर्दू शाइरी और उर्दू गद्यलेखन को नए तक़ाज़ों के मुताबिक़ रवायत (परंपरा) की ज़ंजीरों से आज़ाद कराया।

हैदराबाद में विभिन्न प्रकार की साहित्यिक सेवाएँ करने के अलावा 'शरर' ने यहीं से इंगलिस्तान का सफ़र भी किया और वहाँ फ़ांसीमी ज़बान सीखी। विदेश से वापस आने के बाद हैदराबाद और लखनऊ में रहते थे। १९०४ ई० में मुस्तक़िल तौर पर लखनऊ में रहने लगे और लेखन और संपादन के अलावा विभिन्न रिसाले जारी किए। इस महान् और अथक व्यक्ति ने १९२४ ई० में देह त्यागी, और उर्दू गद्य मे अपने नावेलों, लेखों और तारीखी किताबों का एक बहुमूल्य समाया अपनी मरणोत्तर संपत्ति के रूप में छोड़ा।

अब्दुल हलीम 'शरर' उर्दू में तारीख़ी नावेलनवीसी के आरंभकर्ता हैं। उन्होंने अपने नावेलों के ज़रीए, उर्दू नावेल को वह जिहत (दिशा) दी है, जिसके कारण उर्दू नावेल ने पहली बार नावेल के हक़ीक़ी फ़न को अपनाया। 'शरर' के नावेलों में कर्मचित्रण, प्लाट और दृश्यचित्रण के अंग, एक मज़बूत कलात्मकता के वाहक हैं। वह ख़िताबत (रेटरिक) जो रतननाथ सरशार के नावेलों के ज़रीए उर्दू में रिवाज पा गई थी, उसे ख़त्म करने का सेहरा 'शरर' के सर हैं।

'शरर' ने मनगढ़ंत नावेलों की बजाय तारीख़ी नावेलों पर ज़्यादा ध्यान दिया। ग़ालिबन् इसकी वजह यह है कि उन्होंने इस्लामी तारीख़ का गहरा मुताला किया था और तारीख़ से ख़ास दिलचस्पी रखते थे। लेकिन उन नावेलों के ज़रीये उन्होंने उर्दू को इस फ़न के संयोजक अंगों से परिचित कराया और क़ारईन (आकर्षण) का एक ऐसा वसीअ हल्का पैदा किया, जो महज दिलचस्पी के लिये किस्से कहानियों से वाबस्ता रहता है, लेकिन अपने ज़ौक़ की सहीह (समुचित) सुरक्षा नहीं कर पाता। 'शरर' ने इस तबक़े को न सिर्फ़ दिलचस्प नावेल दिए, बल्कि उन नावेलों के ज़रीये इस्लाह और तामीर (सुधार और निर्माण) के हक़दार को भी प्रस्तुत किया।

इन नावेलों में पहली बार वह ज़ुबान इस्तेमाल की गई जो पुरानी दास्तानी तर्ज़ की चित्रकारी से आज़ाद थी, और जिसमें नावेल का गद्य अपनी सहीह मुंतिक़ (वक्ता) के अनुसार मौजूद है। मकालियों को किरदार फ़न के मुताबिक़ फ़ितरी लहजे में अदा करने का काम भी पहली बार 'शरर' ने ही पूरा किया है।

अब्दुल हलीम 'शरर' को इल्मोफ़न (विद्या और कला) के एक ऐसे सिपाही से तश्बीह दी जा सकती है, जिसने अपनी उम्र का बेशतर हिस्सा अपने पेशे की अज़मत (गौरव) और अपनी शख़्सीयत के प्रकाशन और प्रस्तुतीकरण के लिये क़लम की वादियों में बिताया है। शरर ने लगभग नौ रिसाले जारी किए, जिनमें

'बिलगुदाज' को उर्दू अदब की तारीख कभी फ़रामोश नहीं कर सकेगी। उन्होंने लगभग अट्ठाईस तारीखी नावेल, इक्कीस जीवनियाँ, चौदह काल्पनिक नावेल, पंद्रह तारीखी किताबें, मुनज्जिम ड्रामों और नज़्मों वग़ैरह के लगभग छह संग्रह लिखे। उनकी कुल रचनाएँ एक सौ से जियादा हैं। इस विस्तृत लेखन के कारण वह कोई एक ऐसा लाजवाल सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ लिख नहीं सके, जो उनके फ़न की मजमूई अज़मत का निशान हो, लेकिन अपने बाद आनेवालों के लिये ऐसे निशानात जरूर छोड़ गए, जिनसे गुज़रे बग़ैर अज़मत को पाना नामुमकिन है।

उनकी किताब 'गुज़श्ता लखनऊ' लखनऊ की तहज़ीब और मुआशरत पर बेहतरीन माख़ज़ (निधि) की हैसियत रखती है।

मौलाना राशिदुल् ख़ैरी

राशिदुल् ख़ैरी १८७०ई० में देहली के एक इल्मी ख़ानदान में पैदा हुए। अरबी, फ़ारसी के अलावा इस्लामी धर्मशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। अंग्रेज़ी तालीम के लिये अरबिक स्कूल में दाख़िल हुए, और १८९०ई० में तालीम से फ़ारिग़ होकर १८९१ में सरकारी नौकरी कर ली। उन्नीस साल बाद इस नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। मौलाना के तालीम निस्वाँ और इस्लाहे ख़वातीन के कामों से दिलचस्पी थी। इस मक़सद के लिये उन्होंने १९२८ ई० मे मुसलमान लड़कियों के अध्ययन के लिये एक रिसाला 'बनात' जारी किया, जो काफ़ी अरसे तक निकलता रहा। इस बाकमाल लेखक ने ३ फ़रवरी, १९३२ ई० को इस जहाँ से कूच किया।

राशिदुल् ख़ैरी, उर्दू नावेल में अलमिया निगारी (करुणापूर्ण या शोकपूर्ण लेखन) के इमाम माने जाते हैं। उन्हें 'मुसव्विरे ग़म' (दुःख का चित्रकार) का लक़ब भी दिया गया है, लेकिन राशिदुल् ख़ैरी के नावेलों का दायरा मुस्लिम घरानों की स्त्रियों के नेक भावों और उनकी जीविका-संबंधी परेशानियों और दुखों तक सीमित है। राशिदुल् ख़ैरी मुस्लिम महिलाओं को असरी शऊर (कालोचित ढंग) से आगाह कराना और उन्हें उस दुःख-दर्द (कर्ब) का अंदाज़ा कराना चाहते थे, जो पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी फ़ैशन की तरक्क़ी के साथ हिंदोस्तानी घरानों में महिलाओं की आदत बन रहा है। राशिदुल् ख़ैरी से पहले डिप्टी नज़ीर अहमद ने इस्लाही जज़्बात के तहत अपने नावेलों मे मुस्लिम मुआशरत (मिल-जुलकर रहना) की नागुफ़्ताबहा (अकथनीय) हालत को पेश किया था। पूरब के घरानों को माग़्रिबी तहज़ीब के प्रभावों से आज़ाद रखने की कोशिश में, उन्होंने भी घरेलू ज़िंदगी की समस्याओं को अपने नावेलों का मौज़ूअ (विषय) बनाया। राशिदुल् ख़ैरी (जो डिप्टी नज़ीर के

भांजे भी थे) ने नज़ीर अहमद की नक़ल में, इसी दृष्टिकोण को अपने नावेलों में पेश किया। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्होंने बहुत ही दुखद, शोकपूर्ण और प्रभावी घटनाओं को ग़म और अंदोह के कठोर दुःखमय रूप में बयान किया है। अकबर इलाहाबादी इसी उद्देश्य को हास्य व्यंग्य के नश्तरों से पाना चाहते थे, लेकिन राशिदुल् ख़ैरी ने मातमी अंदाज़ से इस्लाह करना चाहा।

राशिदुल् ख़ैरी ने लगभग साठ किताबें लिखी है, जिनमें अधिक संख्या उनके नावेलों की है। राशिदुल् ख़ैरी को भावों के चित्रण में असाधारण अधिकार प्राप्त था। कल्पना की ऊँची उड़ान और अपने विषय की रमणीयता के ज़रीये वे अपने किरदारों की ज़ेहनी कैफ़ियतों, घटनाओं और माहौल को दुःखमय और दुःख की अतिशयता की जीती-जागती चित्रावली बना देते थे। ऐसे जमाने में जबकि मुस्लिम घरानों में स्त्रीशिक्षा का आरंभ हो रहा था और पश्चिमी सभ्यता के तेज़ी से असर जमानेवाले क़दमों के साथ-साथ, हिंदोस्तान मे सुधारवादी आंदोलन बड़े ज़ोर शोर से जारी थे, राशिदुल् ख़ैरी और नज़ीर अहमद के नावेलों ने ख़ास तौर पर अपना असर क़ायम किया था। विशेषतः राशिदुल् ख़ैरी के नावेल महिलाओं में अत्यंत प्रशंसित थे, और लड़कियों को तालीमी और इस्लाही आवश्यकताओं के लिये पढ़ाए जाते थे। राशिदुल् ख़ैरी के सर्वाधिक प्रशंसित नावेलों में, "सुब्हे ज़िंदगी", "शामे ज़िंदगी", "शबे ज़िंदगी", "नौहा ज़िंदगी", "गुदड़ी में लाल", आदि का नाम लिया जा सकता है।

सर शेख़ अब्दुल् क़ादिर

उर्दू की साहित्यिक पत्रकारिका को श्रेष्ठ कसौटी देनेवाले, और उर्दू साहित्य मे नए अदब का पौदा लगानेवाले, शेख अब्दुल् क़ादिर १८७८ ई० में लुधियाना में पैदा हुए। १८९४ ई० में क्रिश्चियन कालेज, लखनऊ से बी० ए० विशेष योग्यता के साथ पास किया। इसके बाद पंजाब के अंग्रेज़ी अख़बार 'आबज़र्वर' के एडीटोरियल स्टाफ़ में शामिल हो गए। १८९८ ई० में 'आबज़र्वर' के प्रधान संपादक बना दिए गए। १९०४ ई० में अख़बार की नौकरी छोड़कर बैरिस्टरी का इम्तिहान देने के लिये इंगलिस्तान गए। डिग्री हासिल करने के बाद विभिन्न मुल्कों का दौरा करते हुए हिंदोस्तान वापस आए। १९११ ई० में लायलपुर में वकालत शुरू की। १९२० ई० में लाहौर आ गए, और अपने वक्त के बेहतरीन बैरिस्टरों में शुमार हुए। १९२१ ई० हाई कोर्ट के जज बना दिए गए। १९२३ ई० में पंजाब की लेजिस्लेटिव के मेंबर चुने गए और एसेंबली की सदारत के ओहदे तक तरक़्क़ी की। १९२५ ई० में पंजाब के शिक्षा मंत्री मुक़र्रर हुए, और १९२६ ई० में लीग ऑव् नेशंस के सातवें इजलास में हिंदोस्तानी नुमाइंदे की हैसियत से हिस्सा लिया। यह इजलास जिनेवा में बनाया गया था। विद्या, कला और मुल्क की

क़ौमी जिंदगी में महती सेवाएँ प्रदान करनेवाले इस मुनकर, उद्यमी और साहित्यिक ने सन् १६५० ई० में परलोक गमन किया।

शेख़ अब्दुल् कादिर ने उर्दू अदब और अदबी सेहाफ़त में जो सेवाएँ की हैं उनमें सबसे अहम वह रिसाला है, जो उन्होंने "मख़्ज़न" के नाम से १६०१ ई० में लाहौर से जारी किया था। शेख़ अब्दुल् क़ादिर १६२० ई० तक इस रिसाले के मुदीर (संचालक) रहे। "मख़्ज़न" के मुखपृष्ठ पर यह वाक्य लिखा रहता था : "नौ करोड़ हिंदोस्तानी उर्दू बोलते हैं और इसी क़द्र हिंदोस्तानी उर्दू समझते हैं।" जैसा कि इस कलीदी (कुंजीनुमा) जुम्ले से ज़ाहिर है, "मख़्ज़न" उर्दू ज़ुबान और हिंदोस्तान की एक विस्तृत आबादी के भावों और विचारों तथा अदब के तर्वीज (उन्नयन) को अपना मक़सद बना चुका था। इसके अलावा "मख़्ज़न" के ज़रीए शेख़ अब्दुल् क़ादिर उर्दू को जदीद उलूम (नई विद्याएँ) और दूसरी ज़बानों के अदब से रूशनास (परिचित) कराना चाहते थे। अप्रैल, १६०१ ई० में "मख़्ज़न" के पहले शुमारे (अंक) के इदारिए (संपादकीय) में शेख़ साहब ने अपने अभिप्रायों और उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए लिखा था :

"अंग्रेज़ी नज़्मों के नमूने पर तबअज़ाद नज़्में, अंग्रेज़ी नज़्मों के बामुहावरा तर्जुमे शाया करना, ताकि मक़सदे मोन की तकलीद करनेवाले जदीद मज़ाक़ से आगाह हों।"

अल्लाम इक़बाल को नज़्मनिगारी की तरफ़ मायल करने और उनके शुअरी मज़ाक़ को आफ़ाक़ी क़द्रों से रूशनास कराने में शेख़ अब्दुल क़ादिर का बहुत बड़ा हिस्सा है। इक़बाल की मशहूर नज़्म 'हिमाला' सबसे पहले "मख़्ज़न" (शुमारा, १) में ही शाया हुई थी। "मख़्ज़न" ने उर्दू अदब में जो क्रांतिकारी कारनामे अंजाम दिए, उसका अंदाज़ा सर अब्दुल् क़ादिर के इदारए की उस तहरीर से लगाया जा सकता है, जो अप्रैल, सन् १६०४ के "मख़्ज़न" में शामिल है :

"सिर्फ़ तीन साल हुए मुल्क में उर्दू रिसाले ख़ाल ख़ाल नज़र आते थे दो तीन मुफ़ीद और नामवर पर्चे जारी होकर बंद हो चुके थे, और चौथे वह, जो जिल्अमम शाइरी के रिसाले थे, और शाइरी भी एक ख़ाससिन्फ़, यानी : ग़ज़ल में भी एक तरह ख़ास की क़ैद के साथ हर गुलदस्ते में मुख़्तलिफ़ शुअरा का तरही कलाम दर्ज होता था, और कभी कोई ग़ज़ल ज़ायद होती तो उस पर "ग़ैरतरही" लिखा जाता। अप्रैल, १६०१ ई० में 'मख़्ज़न' ने जनम लिया। इसके जुम्ला मक़ासिद में से एक मक़सद नीचर ममीज़ाख़ेज़ मुसल्लम नज़्म को रवाज देना था। यह मक़सद भी ख़ातिरख़ाह पूरा हुआ।"

जिस तरह अंग्रेज़ी साहित्य में "स्क्रूटिनी" रिसाले ने अपने लेखकों का एक महत्त्व ग्रुप पैदा किया, उसी तरह "मख़्ज़न" के ज़रीए उर्दू को आधुनिक ज़ेहन

रखनेवाले पत्रकारों का एक इतना बड़ा गिरोह मिल गया, जिन्होंने उर्दू साहित्य को एक नया इतिहास प्रदान किया है।

"मख्ज़न" की इन महान् सेवाओं के अलावा सर अब्दुल् क़ादिर ने उर्दू शाइरी पर अंग्रेजी में लेख भी लिखे हैं, जो किताबी सूरत में छप भी चुके हैं। उर्दू की बक़ा (रक्षा) और तरक़्क़ी के लिये उन्होंने पंजाब में "उर्दू सभा" के नाम से एक एकादमी भी क़ायम की थी। सर अब्दुल क़ादिर के बहुत से मज़ामून (लेख) उर्दू में भी छप चुके हैं।

दयानरायन निगम

मुंशी दयानरायन निगम उर्दू गद्य के इतिहास में अपने दो रिसालों के कारण एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी पैदाइश १८८४ ई० में कानपुर के एक प्रतिष्ठित कायस्थ खानदान में हुई। दयानरायन निगम ने १९०३ ई० में कानपुर के क्राइस्ट चर्च कालेज से बी० ए० की डिग्री पाई। तालीम से फ़ारिग होते ही 'ज़माना' के नाम से एक रिसाला जारी किया। १९१५ ई० में आनरेरी मजिस्ट्रेट मुक़र्रर हुए। सिहाफ़ती (पत्रकारिता) और इल्मी सेवाओं को देखकर हिंदुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद ने निगम साहब को अपना रुक्न (संरक्षक) मुक़र्रर किया। १९१२ ई० में निगम ने एक रोजनामा (दैनिक) अख़बार 'आज़ाद' भी निकाला, लेकिन यह कामयाब न हो सका। 'ज़माना' चालीस साल तक चलता रहा और बेहद प्रशंसित हुआ। दयानरायन निगम का १९४२ ई० में देहांत हो गया।

दयानरायन उन अदबी सिहाफ़ियों में गिने जाते हैं, जिन्होंने मुल्क की सियासी, समाजी, इल्मी, अदबी, तालीमी और इस्लाही कामों में गैरमामूली ख़िदमतें अंजाम दी हैं। निगम एक आज़ाद ख़याल और हुर्रियत पसंद (स्वतंत्रता प्रेमी) पत्रकार थे। साहित्य की महती रुचि रखते थे। इसलिये 'ज़माना' लगभग पचीस बरस तक उत्तरी भारत की साहित्यिक और समाजी ज़िंदगी का केंद्र बना रहा। इस रिसाले ने मुल्क को प्रेमचंद जैसा महान् फ़नकार दिया और जिगर, जोश, फ़िराक़ जैसे चोटी के शाइरों से रूशनास कराया। 'ज़माना' की अहम ख़ुसूसियत यह थी कि उसमें उर्दू के दूसरे रिसालों की तरह सिर्फ़ शेर-ओ-शाइरी या अदबी तख़लीक़ात (रचनाएँ) शाया नहीं होती थीं, बल्कि तात्कालिक मस्लों पर समाजी और सियासी मज़मून भी शामिल होते थे। दयानरायन के ख़ुद अपने मज़मून भी 'ज़माना' में छपते थे, और देश में दूर दूर तक आदर और संमान की निगाह से देखे जाते थे। दयानरायम निगम ने 'ज़माना' के ज़रीये अपने समय की महान् सेवाएँ की हैं, और वह उर्दू सिहाफ़त में संजीदा और प्रतिष्ठित पत्रकारिता के बानियों (प्रतिष्ठापकों) में गिने जाते हैं।

मौलाना वहीदुद्दीन सलीम

मौलाना वहीदुद्दीन सलीम ने सन् १८६० ई० में पानीपत के एक इल्मी और मज़हबी घराने में आँख खोली। इब्तदाई तालीम अपने वतन में हासिल की। लाहौर जाकर अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी का मुताला किया। तालीम से फ़रिग़ होकर रियासत भावलपुर और रियासत रामपुर में मुदर्रिसी और इल्मी सेवाएँ प्रदान कीं। फिर हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी और दारुल् तर्जुमा से वाबस्ता हो गए। मौलाना को सर सैयद अहमद ख़ाँ से बेतरह अक़ीदत थी, चुनांचा सर सैयद के इंतक़ाल तक उनकी क़ुर्बत में उनके सेक्रेटरी का काम पूरा किया। सर सैयद की मृत्यु के बाद एक रिसाला "मुआरुफ़" के नाम से जारी किया जो जल्द ही बंद हो गया। फिर अलीगढ़ गज़ट और मुस्लिम गज़ट, लखनऊ का संपादन किया। "दारुल् तर्जुमा" हैदराबाद से संबंध के समय एक किताब 'वज़ाअ इस्तिलाहात' लिखी। तन्क़ीदी (आलोचनात्मक) लेख भी लिखे, जिनका एक संग्रह 'इफ़ादात सलीम' बहुत मशहूर है। मौलाना को शाइरी से भी ख़ास दिलचस्पी थी। १६२८ ई० में गुज़र गए।

मौलाना वहीदुद्दीन सलीम उर्दू तनक़ीद (आलोचना) के उन निर्माताओं में शुमार होते हैं, जिन्होंने हाली और सर सैयद के आलोचना संबंधी सिद्धांतों को प्रकाश दिया है। इनपर उन दिनों शख़्सियतों का बहुत गहरा असर था, और एक अर्सा तक उनकी नज़दीकी से इन्होंने लाभ उठाया था। वहीदुद्दीन 'सलीम' आलोचना में किसी ख़ास तकियाफ़िक्र (चिंतनधारा) के हामि नहीं थे। अदब (साहित्य) को इस्लाही और मुआशरती (सुधार और मेलजोल करानेवाला) चिंतनों और विचारों के प्रकाशन का साधन समझते थे। ग़ज़ल में क़ाफ़िए की नाप जोख की रविश को नापसंदगी की निगाह से देखते थे। इसीलिये ख़ुद भी नज़्मों की ओर खिंचे रहे। उनकी आलोचना में दृष्टिकोण भी काम करता है। लेकिन कुल मिलाकर वह हाली और सर सैयद के अनुगामी हैं।

'इफ़ादाते सलीम' में पुरानी उर्दू शाइरी के अलावा अरबी शाइरी और समकालीन शाइरी की समस्याओं पर भी लेख शामिल हैं।

मौलवी अब्दुल् हक़

मौलवी अब्दुल् हक़ की गिनती उर्दू ज़बान के उन उपकारियों में होती है, जिन्होंने इस ज़ुबान को और इस ज़ुबान की तहज़ीब को अपने ख़ून से सींचा है। मौलवी अब्दुल हक़ सन् १८७० ई० में हापुड़ (ज़िला मेरठ) में पैदा हुए। शुरू की तालीम अपने वतन में पाई। १८६१ ई० में अलीगढ़ कालेज में दाख़िल हो गए। १८६५ ई० में विशेष योग्यता के साथ बी० ए० की डिग्री हासिल की।

शिक्षा प्राप्त करने के बाद हैदराबाद चले गए, और मदरसा आसफ़िया, दारुल् तर्जुमा और सरिश्तए तालीम में ऊँचे ओहदों पर काम करते थे। अंत में उस्मानिया कालेज. औरंगाबाद के प्रिंसिपल मुक़र्रर हुए। १९३० ई० में इस मुलाजिमत से छुट्टी पा ली। उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद के प्रधान अधिकारी ने आपसे लाभ उठाने के लिये उर्दू विभाग के अध्यक्ष का पद दिया और प्रोफेसर के तौर पर उस्मानिया यूनिवर्सिटी में शामिल किया।

औरंगाबाद में रहने के समय मौलवी अब्दुल् हक़ अंजुमन तरक़्क़िए उर्दू के सेक्रेटरी नियुक्त किए गए थे। हैदराबाद में संबंधों की सहूलियत के साथ उन्होंने अंजुमन तरक़्क़िए उर्दू के माध्यम से उन महान् कारनामों का आरंभ किया जिनके द्वारा 'उर्दू' ज़ुबान की काफ़ी तरक़्क़ी हुई। हैदराबाद से सन् १९३८ ई० में अंजुमन का दफ़्तर देहली स्थानांतरित हो गया, और मौलवी अब्दुल् हक़ भी देहली आ गए। १९४८ ई० में पाकिस्तान चले गए। वहाँ अंजुमन को नए सिरे से क़ायम किया। उर्दू भाषा की अद्वितीय सेवा करने की वजह से 'बाबा-ए-उर्दू' के लक़ब से याद किए जाने लगे, और १९६१ ई० में कराची (पाकिस्तान) में देहांत हुआ। मौलवी अब्दुल् हक़ ने उर्दू आलोचना को साइंटिफ़िक बनाने में असाधारण कार्य किया है।

वह पहले समालोचक थे, जिन्होंने सहीह् मतन और तहक़ीक़ (यथार्थ) को समीक्षा का प्रमुख अंग समझा और उसपर ज़ोर दिया। मौलवी हक़ पर 'हाली' का असर बहुत गहरा था, लेकिन उन्होंने हाली के तर्ज़ पर अदब को कौमी इस्लाह का वसीला नहीं समझा। उनके नज़दीक अदब मेल जोल संबंधी और शख़्सी अनुभवों और ऊँचे तजुर्बों का ऐसा प्रकाशन है, जो भाषा और तहज़ीब के उच्च मूल्यों की रचना करता है। अब्दुल् हक़् साहित्य और समीक्षा के पच्छिमी सिद्धांतों से भी परिचित थे; लेकिन पूर्वी साहित्य को एक विशेष तहज़ीब की पैदावार ख़याल करते थे। उन्होंने पच्छिमी समीक्षासिद्धांत से मदद ली, लेकिन प्राच्य साहित्य को उसकी परंपरा और तहज़ीब के विस्तृत मंज़र (दृश्य) के पीछे देखने की कोशिश नहीं की।

मौलवी अब्दुल् हक़ के रचनात्मक कामों में, कुल्लियाते मुहम्मद कुली कुतुबशाह का तआरुफ़ और सबरस का प्रकाशन उल्लेखनीय है। उन्होंने कई पुराने उर्दू शाइरों के दीवान और तज़किरों को भी तरतीब देकर छपवाया और इस तरह उर्दू की पुरानी अदबी तारीख़ की गुमशुदा कड़ियों को जोड़ा। मीर तक़ी 'मीर' की ख़ुद लिखी गई जीवनी "ज़िक्रे मीर" और उनके तज़्किरे "नुकातुश्शुअरा" को भी उन्होंने तहक़ीक़ और तरतीब के बाद छपवाया। इसके अतिरिक्त उर्दू की आरंभिक नश्वोनुमा (क्रमिक विकास) में सूफ़ियाए-कराम का हिस्सा "मरहटी ज़ुबान पर फ़ारसी का

असर", "मरहूम देहली कालेज" जैसी मालूमाती किताबें लिखीं। उर्दू की ग्रामर "कवायद उर्दू" के नाम से लिखी। उन्होंने "हिंदी-उर्दू-हिंदोस्तानी" की बहसों में भी हिस्सा लिया, जिससे मुतअल्लिक़ (संबद्ध) उनकी कई तक़रीरें (भाषण) "ख़ुत्बात अब्दुलहक़" में मौजूद हैं।

उन्होंने अँग्रेज़ी-उर्दू डिक्शनरी भी संपादित की, जो इस वक्त तक उर्दू में सबसे ज़ियादा मुस्तनद (प्रामाणिक) और मुकम्मल (पूर्ण) डिक्शनरी समझी जाती है। इंशा पर्दाज़ी में "ख़ाका निगारी" की सिन्फ़ भी मौलवी अब्दुल् हक़ के द्वारा उर्दू में राएज (प्रचलित) हुई। उन्होंने विभिन्न शख़्सीयतों के जो क़लमी ख़ाके तैयार किए, वे, "चंद हमअस्र" के नाम से किताबी सूरत में छप चुके हैं; जब तक ज़िंदा रहे, उर्दू को मुरत्तब (व्यवस्थित) करते रहे जो उर्दू ज़ुबान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण, खोजपूर्ण रिसालों में गिना जाता है।

मौलवी अब्दुल् हक़ की शख़्सियत एक इंसाइक्लोपीडिया थी और वह सही अर्थों में "बाबा-ए-उर्दू" थे।

चकबस्त

इस दौर के तनक़ीदनिगारों (समालोचकों) में चकबस्त (१८८२-१९२६) का ज़िक्र भी ज़रूरी है। उनके हालात और शाइरी का बयान इस निबंध के शाइरी वाले हिस्से में पहले आ चुका है। चकबस्त को नज़्मो नस्र (पद्य और गद्य) दोनों पर क़ुदरत हासिल थे। समालोचना में उनकी दो ख़ास कृतियाँ हैं: मज़ामीने चकबस्त और "मार्कए चकबस्तो शरर"। दूसरी किताब में नसीम और उनकी मस्नवी 'गुल्ज़ारे नसीम' के बारे में वह बहस है, जो चकबस्त और शरर के बीच हुई थी और जिसका सिलसिला एक मुद्दत तक जारी रहा था। चकबस्त की तनक़ीद का बुनियादी रुझान शनासी की तरफ़ है। उन्होंने ज़ियादातर उन शाइरों और मुसन्निफ़ीन (लेखकों) पर क़लम उठाया, जिनसे उन्हें वालिहाना अक़ीदत (प्रेममय श्रद्धा) थी। वह ख़ामियों और कमज़ोरियों से बहुत कम बहस करते हैं और अपनी तमामतर तवज्जेह शाइर या अदीब की अदबी सेवाओं और उसके मिज़ाज और मक़ाम पर मरकूज़ (केंद्रित) कर देते हैं। ज़बान पर उन्हें जो अधिकार प्राप्त था, उसका प्रमाण उनके गद्य से भी मिलता है। उसमें लखनवी ज़ुबान का लोच और प्रवाह है, शैली है; बहस में वह ज़ाती (व्यक्तिगत) अंदाज़ अख़्तियार नहीं करते, बल्कि गंभीर इल्मी ढंग से अपनी बात कहते थे और बेबाकी और साहस से काम लेना जानते थे। उनका यथार्थ कथन, उनकी समीक्षा का सबसे ज्वलंत गुण है। यह शायद उनकी वकालत का प्रभाव था कि उनकी समीक्षा में हर जगह बहुत ज़्यादा सहानुभूति पाने की कोशिश मिलती है और इसमें उन्हें ख़ासी कामयाबी भी हुई।

डाक्टर अब्दुर्रहमान बिजनौरी

डाक्टर अब्दुर्रहमान बिजनौरी, उर्दू मे बिजदानी (खोजपूर्ण) और तासिराती (प्रभावग्राही) तनक़ीद के बानी समझे जाते हैं। वह ग़ालिब के सबसे बड़े तरफ़दार भी कहे जाते हैं। १८८५ ई० में सेवहारा (जि० बिजनौर) में पैदा हुए। १९०२ ई० में अलीगढ़ कालेज में दाख़िल हुए और बी० ए०, एल-एल० बी० की डिग्री लेने के बाद सन् १९०७ में इंगलिस्तान रवाना हो गए, जहाँ उन्होंने बैरिस्टरी की सनद हासिल की, फिर जर्मनी से फ़िलसफ़े में डाक्टरेट करने के बाद १९११ ई० में हिंदोस्तान वापस आ गए। कुछ दिनों तक बैरिस्टरी का पेशा जारी रखा, फिर भूपाल रियासत में 'मुशीरे तालीमात' (शिक्षा परामर्शदाता) बना दिए गए। हिंदोस्तान में पहली बार एक बाजाप्ता मुस्लिम यूनिवर्सिटी के क़याम (स्थापना) के लिये सबसे पहला ख़ाका डाक्टर बिजनौरी ही ने तैयार किया था। लेकिन अंग्रेज़ी हुकूमत इस यूनिवर्सिटी के क़याम की सख़्त विरोधी थी। १९१८ ई० में मुल्क में इन्फ़्लुएंजा की बीमारी फैली। डाक्टर बिजनौरी भी उसी आफ़त के शिकार हुए, और इल्मोअदब (विद्या और साहित्य) का यह सूरज ऐन जवानी के आलम में तैंतीस बरस की उम्र में डूब गया।

डाक्टर बिजनौरी ने उर्दू तनक़ीद में कोई भारी भरकम किताब तो नहीं छोड़ी, लेकिन ग़ालिब के फ़न पर उनका एक मुख़्तसर किताबचा 'मुहासिन कलामे ग़ालिब' डाक्टर बिजनौरी की आला तनक़ीदी सलाहियतों के अलावा, ग़ालिब के आलोचकों में अतिशय मुतनाज़िया हैसियत (विवादात्मक अधिकार) का मालिक है। डा० बिजनौरी से पहले 'हाली', मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' और सर सैयद ने उर्दू आलोचना को कलात्मक पहलू से रूशनास कराने की कोशिश की थी, लेकिन उन महानुभावों का ज़माना और उनका मिज़ाज फ़नी उमूर (कलात्मक मामलों) के अलावा, क़ौमी इस्लाह और पूरब तथा पश्चिम की कशमकश में उलझा हुआ था। इसी वजह से खालिस अदबी तनक़ीद का तसव्वुर क़ायम हो जाने के बावजूद ऐसी तनक़ीदी किताबें मौजूद नहीं थीं जिन्हें अदबी तनक़ीद का ग़ैर-मुलव्वस (विशुद्ध) नमूना कहा जा सके। डा० बिजनौरी के लंबे निबंध 'मुहासिन कलामे ग़ालिब' को अदबी तनक़ीद का पहला बाजाप्ता मिसाल कहा जा सकता है। बिजनौरी ने अपने इस निबंध में ग़ालिब को एशिया के महान् कवियों में शुमार किया है। उनके मक़ाले का नीचे लिखा हुआ जुम्ला ग़ालिब के बाजदीगर नाक़िदों की नज़र में इंतहाई मुतनाज़िया है :

'हिंदोस्तान की इलहामी किताबें दो हैं, मुक़द्दस वेद और दीवाने ग़ालिब।'

'मुहासिन कलामे ग़ालिब' के इस कलीदी जुम्ले (लघु वाक्य) पर अक्सर बेशतर नाक़िदों ने बहस की है, और बेशतर नाकिद इसपर मुत्तफ़िक़ (एक-मत) हैं कि डाक्टर बिजनौरी ने ग़ालिब के सुख़न फ़हम का नहीं, बल्कि तरफ़-दार का रोल अदा किया है।

हक़ीक़त यह है कि 'मुहासिन कलामे ग़ालिब' उर्दू में पच्छिमी तनक़ीदी नज़रियात (आलोचनात्मक मान्यताओं) को रवाज देने की पहली मज़बूत कोशिश है। डाक्टर बिजनौरी ने अंग्रेजी अदब-ओ-तनक़ीद का भरपूर अध्ययन किया था। उनकी समीक्षा में कालरिज और वर्ड्स्वर्थ के समीक्षा सिद्धांतों की झलक साफ़ ज़ाहिर है। वह कालरिज की तरह शाइरी को सानूई तख़य्युल (सेकण्डरी इमैजिनेशन) की सर्जना समझते थे। शाइरी आहंग को उस संगीत से ताबीर करते हैं, जो शब्दों के मोती प्रभावों में फ़ने तामीर (वास्तु कला) का सा आक-र्षण पैदा करती है। भाषा और शब्दों की बहस में भी उसी विचार को प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं जो कालरिज और वर्ड्स्वर्थ के बीच होनेवाली बहस में प्रकट हुआ था। इसी तरह तश्बीह (उपमा) और इस्तआरों (रूपकों) की तारीफ़ भी पच्छिमी आलोचकों की दृष्टि से करते हैं।

उर्दू में ग़ालिब जैसे महान् कवि को समीक्षा के पश्चिमी सिद्धांतों से परखने की यह पहली बाक़ायदा कोशिश थी। इसके अलावा डाक्टर बिजनौरी ने टैगोर और इक़बाल पर भी निबंध लिखे हैं, जो 'वाक़यात बिजनौरी' में शामिल हैं। उन्होंने टैगोर की गीतांजलि के तर्जुमे की भी कोशिश की थी, लेकिन इस काम को पूर्णता तक न पहुँचा सके।

डाक्टर बिजनौरी ने पच्छिमी विधाओं के फ़ैज़ से, उर्दू समीक्षा को एक नई दिशा देने की कोशिश की, लेकिन उनकी उम्र ने साथ न दिया, और वह अपनी समीक्षा को भावों और जिज्ञासाओं की साहसिक मदहिया कैफ़ियत से, इल्मी और विश्लेषणात्मक (तजज़याती) समीक्षा की मंज़िलों तक न पहुँचा सके। फिर भी उनका यह कारनामा संमाननीय है कि उन्होंने ग़ालिब की शाइरी को परंपरा के विचार से अलग करके एक मुनज्ज़िमे कुल' (आर्गैनिक होल) की हैसियत से पढ़ने और समझने की कोशिश की। वह ज़िंदा रहते तो शायद इल्मोअदब के और बहुत से नए गोशों से उर्दू अदब को और अपने क़लम को रूशनास कराने में सफल होते।

उपसंहार

द्विवेदी काल के महत्वपूर्ण साहित्यकारों और शाइरों की सेवाएं और उनके कारनामों का जायज़ा ऊपर पेश किया गया। द्विवेदी काल की समाप्ति और पहले

महायुद्ध के बाद से दूसरे महायुद्ध तक की दो दहाइयों में भी ज्यादातर उन्हीं साहित्यकारों की आवाजें साहित्य जगत् में गूंजती रहीं, उदाहरणार्थ शाइरी में इक़बाल, हसरत और फ़ानी तथा नावेल और कहानी में प्रेमचंद सबसे अधिक मातबर समझे जाते थे। यद्यपि शाइरों में असग़र, जिगर और जोश का इज़ाफ़ा हो गया और कहानी साहित्य में कुछ योरप की रूमानी तहरीक के असर और कुछ टैगोर के असर से कोमल साहित्य का आरंभ हुआ और यलारम, सुल्तान हैदर जोश, मजनूं गोरखपुरी और नियाज़ फ़तहपुरी की इंशाइयत (लेखन) अपनी बहार दिखाने लगी, लेकिन सिक्का वही प्रेमचंद का चलता रहा। रूस के इनक़लाब के बाद मार्क्सीयत के असर उर्दू पर भी पड़ने लगे थे और इक़बाल तथा प्रेमचंद के आखिरी बरसों में उनका असर स्पष्ट रूप में अनुभूत होने लगा था। इस दौर की सबसे रंगीन शख्सीयत हसरत मोहानी की है; वह मार्क्सी भी थे, गांधीवादी भी; शाइर भी थे, सियासतदां भी; सूफ़ी भी थे और कृष्णभक्त भी। खद्दर पहनते थे, कई बार जेल गए, और उम्र भर "चक्की की मशक्क़त" के साथ "मश्के सुखन' को भी निभाते रहे। दूसरे महायुद्ध से कुछ ही बरस पहले तरक़्क़ी पसंद तहरीक की इब्तिदा हुई, प्रेमचंद और हसरत मोहानी इसके सरपरस्तों में थे। धीरे धीरे इस तहरीक ने ज़ोर पकड़ा। पहले महायुद्ध के ज़माने में साहित्यकारों और उनके प्रभावों से जो फ़ेज़ा बनी हुई थी, उसमें अब भूचाल सा आ गया। पुराने सुधार और स्वदेशी साहित्य की बिसात उलट गई। समाजी यथार्थचित्रण और वर्गवादी कशमकश की नई रुझानों का तूफ़ान सा आ गया, और नए साहित्यकारों और शाइरों ने नए अदब की नई बिसात बिछानी शुरू की।

दसवाँ अध्याय

पत्र पत्रिकाएँ और उनका साहित्यिक योगदान

सन् १९०० से १९२० तक के काल को एक विशिष्ट साहित्यिक युग की संज्ञा दी जा सकती है। इस युग को नीतिवादी और इतिवृत्तात्मकता प्रधान कहा गया है। उसमें पौराणिकता की ओर रुझान की प्रधानता बतलाई गई है। भाषा शैली की रूक्षता तथ्यवादिता और परोन्मुखी दृष्टि को भी महत्वपूर्ण कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन लोगों के अनुसार यह युग भावों की प्रबलता का युग नहीं है। यह ज्ञानसंपादन और सतर्क अभिव्यक्ति का युग है। उसमें क्लासिकल युग होने की क्षमता नहीं है परंतु मर्यादा, औचित्य तथा रचनासौष्ठव पर विशेष ध्यान है। इस युग की पत्रपत्रिकाओं के प्रत्येक अंक में हमें आधुनिक साहित्यिक चेतना के विकास के सूत्र मिलेंगे। अनंत संभावनाओं के बीज हमें जिस युग में मिलते हैं उसे अभिनंदनीय ही कहा जायगा। इस युग के पूर्व हिंदी पत्र पत्रिकाओं की स्थिति बड़ी दयनीय थी। प्रथम तो उसके पाठक ही अत्यल्प थे, क्योंकि हिंदी भाषा तबतक उनकी रोटी रोजी से नहीं जुड़ी थी। हिंदी पढ़ने की ओर उनका झुकाव नहीं था। दूसरे, पराधीन देश की पत्र पत्रिकाओं पर शासक वर्ग का बड़ा नियंत्रण था। फलतः स्वतंत्रतापूर्वक सामयिक समाचार या विचार की अभिव्यक्ति का अभाव था, जो उस समय की नवजागृत चेतना की मांग थी। तीसरे, अधिकांश जनता का अशिक्षित होना भी एक कारण था, दूसरी तरफ शिक्षित जनता अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाकर उसके ताने बाने में इस प्रकार बुन दी जाती थी कि हिंदी पढ़ना उसके लिये हीनता का द्योतक हो जाता था। अधिकांश पत्र चार पाँच वर्ष जीवन ढोकर समाप्त हो जाते थे, जब कि उनका मूल्य अत्यंत अल्प होता था। करोड़ों जनसमुदायवाले इस विशाल देश की जनता के मध्य उनकी तीन सौ प्रतियाँ बड़ी कठिनाई से बिकती थीं। खरीदनेवाले को उसका उतना अल्प मूल्य देना भी भारी था, जैसा 'ब्राह्मण' पत्रिका के संपादक प्रतापनारायण मिश्र के इन शब्दों में व्यक्त होता है--

'आठ मास बीते जजमान, अब तो करो दच्छिना दान'। 'अबला हितकारक' के संपादकीय में भी यही ध्वनि मिलती है--

'जब से इस पत्र ने सचित्र रूप धारण किया है बराबर चित्र नहीं दे सका। इसके दो विशेष कारण हैं। प्रथम ग्राहकों की लापरवाही अर्थात् अस्वीकृति की

सूचना न देना और वी० पी० जाने पर लौटाकर वृथा हानि पहुँचाना[1]। (संपादकीय वक्तव्य)

इस काल के अनेक पत्रों की संपादकीय टिप्पणियाँ इस प्रकार पाठकों की उदासीनता का दुखड़ा रोती दिखाई देती हैं। यथा 'सारसुधानिधि' की संपादकीय टिप्पणी देखिए—

'अनेक ग्राहक 'सारसुधानिधि' का दाम भेजना भूल गए, और उन लोगों ने हम हम लोगों को अपदस्थ करने में कसर नहीं रक्खी, क्योंकि कई सूचना और विशेष सूचना दे देकर ग्राहकों को चैतन्य किया वरन् उनमें से बहुतों को चिट्ठी भेजी परंतु उनको क्या थोड़ा सा देना कहीं याद हो सकता है?'[2]

इस युग के प्रमुख साप्ताहिक 'भारतमित्र', 'हिंदी बंगवासी', 'हितवार्ता', 'श्री वेंकटेश्वर समाचार', 'बिहार बंधु', 'भारत जीवन' थे। 'हिंदोस्तान' एक दैनिक पत्र था, जो उस समय प्रकाशित होता था। 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'सुदर्शन', 'ब्राह्मण' तथा 'हिंदी प्रदीप' उस काल के मासिक पत्र थे। समस्यापूर्तियों के लिये उस काल में 'रसिक वाटिका' थी। इन सब पत्रों में भारतेंदु शैली की प्रधानता थी। भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से इसमें एक स्वच्छंदता थी। 'साहित्य' के मूल संस्कार का इनमें प्रायः अभाव रहता था। लेखों में किसी रुचि विशेष का परिचय नहीं मिलता था। शैलियों में व्यक्तित्व का अभाव था। पत्र में वस्तु स्थापन तथा क्रम आयोजन में भी कोई सौंदर्य कल्पना नहीं थी। व्यवस्था में सुरुचि देखने को नहीं मिलती। विषय सीमित थे। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इस पीढ़ी का हिंदी साहित्य को कोई योगदान ही नहीं है। वस्तुतः युग का सच्चा स्वरूप उन दो पीढ़ियों को लेकर ही बनता है जो एक दूसरे का हाथ थामकर चलती हैं। इस युग से ही आगे बढ़ने और बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलने लगता है। विविधता की ओर प्रयास के साथ ही अपनी बात कहने की लालसा भी परिलक्षित होती है। और इन सबके साथ एक चुहल की भावना है जो इस काल की प्राणशक्ति है। यथा—

'जापान में एक ८० वर्ष के मनुष्य ने ३६ बार विवाह किया और ३५ स्त्रियों को छोड़ दिया। शाबास, कार्तिकी कूकुर से भी बढ़ गए।'[3]

'गत परसों, बकराईद की रात को यहाँ के एक मुसलमान ने अपनी बीबी को कुठार से मार डाला। मीमाइन की एक मुसलमान से यारी थी। बकराईद की मुबारक रात थी। आशिक माशूक एक चारपाई पर बहार करते थे कि

---

१. 'अबला हितकारक', मई १९१२, पृ० ३।

२. 'सारसुधानिधि'।

३. 'भारतवर्ष', दिसंबर, १९८०।

बाहर लगा खसम भी आ हाजिर हुआ। भला किस पर सहा जाय। मीमा कुल्हाड़ी लेकर पेड़ा। आशिक तो भाग गए पर माशूक का किया इश्क ने काम आखिर तमाम।"[1]

साहित्यिक शैली की उस जिंदादिली ने आगे आनेवाली पीढ़ी को सामाजिकता का जीवित संपर्क सिखलाया ही, साथ ही कथालेखन की शैली भी दी। तत्कालीन पाठक चेहरे पर दो इंच की मुसकान से लाभान्वित हुआ अलग।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता पर दृष्टिपात करते समय जो बात सबसे पहले आकर्षित करती है वह है युग का राष्ट्रीय जागरण। इस शताब्दी में धर्म और समाज सुधार के आदोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। इस समय विदेशी सत्ता से संत्रस्त जनता कांग्रेस के नेतृत्व मे स्वशासन की माँग करने लगी थी। 'बायकाट' और 'स्वदेशी' की नीतियों के द्वारा विदेशी सत्ता का परोक्ष विरोध भी किया जाने लगा था। ऐसे समय जनता की समाचार तत्व की पिपासा का जागृत होना सहज ही था। ऐसी स्थिति में जातीय पत्र तथा भाषा जो भूमिका निभा सकते थे वह कर सकने में असफल रहे। इसका सबसे बड़ा कारण था शिक्षित वर्ग का अंग्रेजी की ओर झुकाव, क्योंकि अंग्रेजी उच्च शिक्षा की माध्यम थी। इसके अतिरिक्त हिंदी पत्रों के पास ऐसे साधन भी नहीं थे कि वे अंग्रेजी पत्रों को ही भाँति शीघ्रतापूर्वक समाचार मँगाकर छाप सकें। अतः सामयिकता के क्षेत्र मे गौण स्थान हो जाने के कारण अधिकांश हिंदी पत्र साहित्यिक प्रयासों की ओर उन्मुख हुए। उस पत्रकारिता का जो रूप था उसमें मासिक पत्र ही महत्वपूर्ण थे। साप्ताहिकों की संख्या बहुत कम हो गई थी।

इन बीस वर्षों की अवधि में लगभग बीस हिंदी दैनिक समाचार पत्र निकले, पर इनमें अधिकतर पत्रों का जीवन बड़ा अल्प था। कुछ दैनिक तो केवल महासमर के कारण लोगों की तत्कालीन समाचार-पिपासा-तृप्ति हेतु ही दैनिक बने। महासमर के पश्चात् उनका जीवन या तो समाप्त हो गया या वे मासिक अथवा साप्ताहिक में परिणत हो गए। यथा—'अभ्युदय', 'भारतजीवन', 'श्री वेंकटेश्वर समाचार', 'प्रयाजी प्रताप', 'आनंद' आदि। 'आज', 'वर्तमान', 'दैनिक प्रताप', 'भविष्य', 'विजय' आदि तो सन् १९२० में निकले, जिनमें 'आज' ही ऐसा पत्र है जो आज तक पूरे यश के साथ हिंदी साहित्य जगत् की सेवा कर रहा है।

'सिपाही' (१९०३), 'राजस्थान समाचार' (१९०४), 'हिंदोस्थान' (१९०८), 'भारतमित्र' (१९१२), 'हिंदी बिहारी' (१९१३), 'कानपुर गजट' (१९१३),

---

१. 'भारतवर्ष', अगस्त, १८८२।

'कलकत्ता समाचार' (१९१४), भी दैनिक रूप में निकले पर इनमें कोई भी दीर्घजीवी न हो सके। इन दिनों समाचार मँगाने की कोई व्यवस्था नहीं थी, फलतः अधिकतर पत्र अपने समाचार के लिये अंग्रेजी के पत्रों पर ही अवलंबित थे। समाचारपत्र की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह विलंब नहीं कर सकता। हिंदी पत्रों के पास ऐसे साधन नहीं थे कि वे अंग्रेजी पत्रों की ही भाँति शीघ्रतापूर्वक समाचार मँगाकर छाप सकें। पहले की बात और थी जब अंग्रेजी पत्र बहुधा सुलभ नहीं थे। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा का उतना प्रसार न था। अब परिस्थिति विपरीत थी। नए शिक्षित वर्ग को अपनी उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी में समाचार मिलने लगे थे। अतः ऐसे समय दैनिक निकालना बड़े परिश्रम तथा साहस का कार्य था। दैनिक निकालने के लिये संपादक बिचारा किस तरह सहायक विहीन होकर अथक परिश्रम करता था इसका एक चित्र अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के शब्दों में ही देखिए—

'दैनिक पत्र के लिये कई सहकारियों की आवश्यकता होती है। पर सहकारी एकमात्र पं० वसुदेव मिश्र थे। दिसंबर में दिल्ली दरबार हुआ था और ये इन्हीं दिनों छुट्टी पर काशी चले गए। लाख समझाने पर भी इनकी समझ में नहीं आया कि बाद को छुट्टी ले लें। इनकी अनुपस्थिति में क्या कठिनाई हुई वह भुक्तभोगी के सिवा कोई जान नहीं सकता। मित्रों के परामर्श पर हमने गया के कृष्णराव जी को रखा। परंतु इनका व्यवसाय काशी की सुरती की फेरी करना था और जिस समय भारतमित्र आफिस में काम होता था, प्रायः वही समय इनकी फेरी का भी होता था। फिर भी अभाव की कुछ भी पूर्ति इनसे नहीं हुई, यह नहीं कहा जा सकता।

'भारतमित्र आफिस में ही मेरा बिछौना बिछ जाता था, पर सोने को कम मिलता था। स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, तथा सोचा गया कि कलकत्ते से बादशाह के विदा होते ही दैनिक संस्करण बंद कर दिया जाय। तदनुसार कोई दो महीने दैनिक चलाकर १७ जनवरी १९१२ से बंद कर दिया गया।'[1]

'सरस्वती' (१९०० ई०)

हिंदी पत्र पत्रिकाओं का यह संकटकाल था। उसका समाचार पक्ष अंग्रेजी के समक्ष गौण होता ही जा रहा था, साहित्यपक्ष भी निर्बल न हो जाय इसके लिये सजगता की आवश्यकता थी। ऐसे समय हिंदी साहित्यजगत् में 'सरस्वती' का आविर्भाव इंडियन प्रेस के स्वामी श्री चिंतामणि घोष की अध्यक्षता तथा नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के संस्थापक श्री श्यामसुंदरदास के संपादकत्व में सन् १९०० में मासिक रूप में हुआ। इसके उद्देश्य तथा विषय के संबंध में प्रारंभ में ही पत्रिका में लिखा हुआ है—

'इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि

---

१ 'समाचार पत्रों का इतिहास', अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, पृ० ३३६।

और यथार्थ पूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव भरित ग्रंथराशि को प्रसव करे।

'इस पत्रिका में कौन कौन से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिए कि इसका नाम 'सरस्वती' है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चंपू, इतिहास, जीवनचरित, पंच, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कलाकौशल आदि साहित्य के यावत् विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रंथादि की यथोचित समालोचना की जायगी।'

इससे स्पष्ट है कि 'सरस्वती' का उद्देश्य बड़ा व्यापक था। वह संकुचित अर्थ में साहित्यिक पत्रिका नहीं थी। हिंदी के सभी अंगों को पुष्ट करके पाठकों में साहित्यिक अभिरुचि संपन्न करने के साथ ही उन्हें आधुनिक और प्राचीन ज्ञान विज्ञान संबंधी लेख देकर ज्ञानवर्धन करना उसका उद्देश्य था। इसमें एक ओर संस्कृत के महाकवि भारवि और प्राचीन एथेंस के वाग्मी पैरिक्लीज पर लेख थे, तो दूसरी ओर डा० जानसन की उत्तरी ध्रुव यात्रा का वर्णन भी था। फोटोग्राफी, रेलगाड़ी और जंतुओं की सृष्टि पर लेख के साथ ही भारतवर्ष की पुरानी इमारतों, लंका, नागरी अक्षरों आदि पर ज्ञानवर्धक लेख थे।

किंतु उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग साहित्यिक लेखों का था। 'हमीरहठ' और 'पं० श्रीधर पाठक का कविता' आधुनिक प्रणाली की समालोचना के हिंदी पत्रों में पहले लेख थे। इसी प्रकार हिंदी में गंभीर साहित्यिक विवाद का श्रीगणेश 'नैषध-चरित-चर्चा और सुदर्शन' से होता है। प्रसिद्ध विद्वान् और अपने समय के शीर्षलेखक पं० माधवप्रसाद मिश्र 'सुदर्शन' के संपादक थे। नैषधचरित की उन्होंने समालोचना की थी, उसी का यह उत्तर था। कविताओं से तत्कालीन रुचि का पता लगता है। अधिकांश कविताएँ प्रकृति से संबंधित हैं। कुछ संस्कृत कविताओं के अनुवाद है, किंतु उस ब्रजभाषा के युग में भी 'सरस्वती' ने प्रथम वर्ष ही में खड़ी बोली में तीन चार कविताएँ प्रकाशित की और आश्चर्य की बात तो यह है कि 'सरस्वती' में पहली खड़ी बोली की कविता ब्रजभाषा के कवि पं० किशोरीलाल गोस्वामी की लिखी हुई थी। दूसरी खड़ी बोली की कविता पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की है। अतएव कविता के क्षेत्र में प्रथम वर्ष में ही 'सरस्वती' ने खड़ीबोली की कविता को, जब कविता में ब्रज-भाषा की ही प्रधानता थी, प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया। उन दिनों पत्रों में खड़ी

बोली की कविता प्रकाशित ही सकती थी। नागरी लिपि और हिंदी के प्रचार और प्रसार की [illegible] सरस्वती का एक [illegible] है। नागरी अक्षरों [illegible] एक विद्वत्तापूर्ण लेख [illegible] उसने प्रथम वर्ष में ही प्रकाशित किया। भारतेंदु, [illegible] शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के जीवनचरित्रों को प्रकाशित कर [illegible] प्रमुख व्यक्तियों और साहित्य निर्माताओं के चरित्रवर्णन द्वारा [illegible] हिंदी [illegible] की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया।

संपादन और प्रकाशित सामग्री के उच्च स्तर का होते हुए भी आरंभ में 'सरस्वती' को हिंदीजगत् से उत्साहवर्धक समर्थन नहीं मिला। प्रकाशक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पर इतना होने पर भी प्रथम तीन वर्षों में ही 'सरस्वती' ने हिंदी संसार में अपना स्थान बना लिया था। उस समय वह हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका मानी जाने लगी थी। उसकी छपाई, सफाई, चित्र और अलंकरण बेजोड़ थे। लेखों की विविधता और उपादेयता स्वीकार की जा चुकी थी। उस समय के उत्तर प्रदेश और बिहार के अधिकांश प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हिंदी लेखक उसके साथ सहयोग करने लगे थे। ऐसे समय सन् १९०३ में 'सरस्वती' की कमान महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में आई। आरंभ में द्विवेदी जी को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। पर धीरे धीरे उन्होंने 'सरस्वती' के लेखकों का एक मडल बना लिया जिसमें विविध विषयों के विशेषज्ञ थे। द्विवेदी जी सर्वदा नई प्रतिभाओं की खोज में रहते थे। वे नए और होनहार साहित्यप्रेमी युवकों को हिंदी में लिखने को प्रोत्साहित करने लगे। वे उनसे लेख लिखवाते, किंतु उनकी भाषा उनके मन की नहीं होती तो उसे फिर से लिख देते थे। प्रसिद्ध व्यक्तियों से 'सरस्वती' में लिखने का आग्रह करते थे।

द्विवेदी जी के साहित्यिक विवादों ने तत्कालीन हिंदी साहित्यिक जगत् में एक नवीन जीवनउत्पन्न कर दिया था। 'कालिदास की निरंकुशता', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि ऐसे विवाद थे जिनसे साहित्यिक क्षेत्रों में चहल पहल ही नहीं हुई, इनसे लागों को साहित्यिक समस्याओं पर स्वतंत्र विचार करने तथा दोनों पक्षों के तर्कों का मूल्यांकन करने की भी आदत पड़ गई और इसका स्थायी परिणाम बहुत शुभ हुआ।

भाषा के परिष्कार के क्षेत्र में भी 'सरस्वती' ने बहुत बड़ा कार्य किया। इसके पूर्व भाषा में एकरूपता नहीं थी। व्याकरण की बड़ी शिथिलता थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' द्वारा इसका बड़ा विरोध किया। सरस्वती का प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि उसके प्रचलित रूपों का प्रचलन हिंदी क्षेत्र में मान्य हो जाता था।

भाषा की एकरूपता के साथ साथ कविता के लिये खड़ी बोली की पुष्टि भी 'सरस्वती' की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इसके द्वारा आधुनिक खड़ी बोली की कविता को प्रतिष्ठा ही नहीं प्राप्त हुई, उसका आशातीत प्रचार भी हुआ। हिंदी के कितने ही कवियों ने, जो आज हमारे मूर्धन्य कवि माने जाते हैं, इसी के प्रोत्साहन से ही अपनी काव्यसाधना में सफलता प्राप्त की। खड़ी बोली कविता का पूरा विकास 'सरस्वती' के अंकों में देखा जा सकता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचरित उपाध्याय की कविताओं से लेकर मैथिलीशरण गुप्त के युग तक पहुँचने का संपूर्ण

इतिहास इसके अंकों में अंकित है। पं० नाथूराम शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि कितने ही कवि 'सरस्वती' द्वारा ही चमके।

कहानियों के क्षेत्र में इसकी सेवाएँ अनुपम हैं। वास्तव में आधुनिक हिंदी कहानी का जन्म ही सरस्वती में हुआ। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' सर्वसम्मति से हिंदी की पहली आधुनिक कहानी मानी जाती है। बंग महिला की कहानियों ने उस नूतन प्रवृत्ति को पुष्ट किया। बाबू वृंदावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'सरस्वती' में सन् १६०७ में छपी। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था', जो कहानी के क्षेत्र में मील का पत्थर मानी जाती है, 'सरस्वती' ही में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी छापने का सौभाग्य भी 'सरस्वती' को प्राप्त हुआ था। उस युग में 'सरस्वती' की कहानियों से अनुप्राणित होकर वे लोग भी, जो कवि या गंभीर लेखक थे, कहानी लिखने का प्रयोग करने लगे। उदाहरण के लिये रामचंद्र शुक्ल ने 'ग्यारह वर्ष का समय' और बालकृष्ण शर्मा ने 'संत' नामक कहानी लिखी जो 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई। फिर तो विश्वंभर-नाथ कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा आदि सभी लेखक कहानी में दिखाई देने लगे।

हिंदी जनता को दूसरी भाषाओं की कहानियों से परिचित कराने के लिये सरस्वती ने अन्य भाषाओं की कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित किए। यही नहीं, रवींद्र बाबू की बँगला कहानियों का पहला अनुवाद हिंदी ही में हुआ और वह सन् १६०२ में 'सरस्वती' में छपा। आरंभ ही से इसने वैज्ञानिक कहानियों की ओर ध्यान दिया और कितनी ही वैज्ञानिक कहानियाँ प्रकाशित कीं।

'सरस्वती' ने विविध ज्ञान विज्ञान विषयक बिखरी हुई चेतना को समेटने का भी कार्य किया। द्विवेदी जी ने इसे विविध विषय समन्वित पत्रिका बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया। सबसे महत्वपूर्ण इसकी संपादकीय टिप्पणियाँ थीं, जो विविध विषयों पर होती थीं, पर वे राजनीतिक विषयों पर नहीं होती थी। सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, शिक्षा संबंधी विषयों पर उनकी टिप्पणियाँ ज्ञानवर्धक और विचारोत्तेजक होती थी। नियमित रूप से इस प्रकार संपादकीय टिप्पणियाँ लिखना हिंदी मासिक पत्रों में शायद सबसे पहले 'सरस्वती' ने ही प्रारंभ किया। हिंदी की समस्याओं पर उसकी टिप्पणियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती थीं, क्योंकि वे सारे हिंदी संसार का प्रतिनिधित्व करती मानी जाती थी।

'सरस्वती' ने साहित्यिकता के साथ सामयिकता का निर्वाह भी बड़े सुचारु तथा नवीन ढंग से किया। हिंदी साहित्य की सामयिक अवस्था का

चित्रण करने तथा उसका गहरा प्रभाव डालने के लिये इसने सर्वथा एक नया ढंग अपनाया, वह ढंग था व्यंग्य चित्रों का। इन चित्रों की सामग्री साहित्य के विविध क्षेत्रों से ली गई है। 'हिंदी साहित्य में चार लेखक', 'खड़ी बोली का पद्य' में संकर शैली के कवियों पर, 'मातृभाषा का सत्कार' में अंग्रेजी के पढ़े लिखे लोगों के लिये, 'काशी का साहित्य वृक्ष' में काशी के अकुशल उपन्यासकारों पर एवं 'मदरसों में प्रचलित हिंदी और उसके पुरस्कर्ता' में शिक्षा विभाग के अधिकारियों तथा पाठ्य पुस्तक लेखकों पर सीधा और मार्मिक व्यंग्य है। इन व्यंग्य चित्रों के द्वारा संपादक ने हिंदी साहित्य की सामयिक दशा का मार्मिक और प्रभावशाली रूप उपस्थित किया। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य पर उपदेश से अधिक व्यंग्य का प्रभाव पड़ता है। अपनी त्रुटियों पर कटाक्ष सुन वह सजग होता है। 'सरस्वती' के वे व्यंग्य चित्र इस दिशा में एक सफल प्रयोग थे।

साहित्यिक दृष्टि से इसने एक और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके ही माध्यम से बाल साहित्य तथा स्त्री साहित्य को पत्रिकाओं में उचित स्थान मिला। 'सरस्वती' के 'बालविनोद' शीर्षक ने बालकोपयोगी साहित्य का निर्माण कर बालकों में पत्र पत्रिकाओं के पठन पाठन मे ऐसे समय रुचि उत्पन्न करने का प्रयास किया जब कि स्वयं बालक के अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित माता पिता तक की हिंदी पत्र पत्रिकाओं में रुचि न थी। आदर्श नारी जीवन के चित्रण के साथ आख्यायिका, निबंध आदि के द्वारा महिलोपयोगी साहित्य का भी समावेश इसमें हुआ। यही नहीं, समय समय पर महिलाओं की लिखी रचनाओं को छापकर लिखने की प्रेरणा भी प्रदान की गई। यह वह समय था जब समाज में स्त्री शिक्षा नगण्य थी। अतः स्त्रियां घर की चहारदीवारी तक ही सीमित थीं। उनके पास न तो राजनीतिक जीवन था और न सामाजिक प्रतिष्ठा। पैसा, आभूषण, रूढ़िवादिता ही उनका जीवन था। पर देश राजनैतिक दृष्टि से जागृत हो चुका था। ऐसे समय समाज के एक अंग का पिछड़ा होना दुर्भाग्य का द्योतक था। 'सरस्वती' ने समाज के इस अंधकार युक्त क्षेत्र को प्रकाशित कर एक महत् कार्य किया। उसका अनुकरण कर फिर तो अनेक पत्रिकाओं ने महिलोपयोगी साहित्य की ओर ध्यान दिया। यही नहीं, कुछ ही काल उपरांत अनेक महिलोपयोगी पत्रिकाएं भी निकलने लगीं।

'सरस्वती' ने आरंभ से ही हिंदी के प्रचार और प्रसार का व्रत ले रखा था। भाषा की शुद्धता और सौष्ठव की ओर इसका पूर्ण ध्यान रहा। इसके लिये आवश्यकता पड़ने पर उसने निर्भीक आलोचना का भी सहारा

लिया। हिंदी को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कराने और उसे भारत की सार्वदेशिक भाषा स्वीकार कराने के लिये यह अपने जन्मकाल से ही प्रयत्नशील रही। संक्षेप में, शिव और लोकोपयोगी साहित्य सृजन ही उसका लक्ष्य रहा।

बीसवीं शताब्दी की हिंदी पत्रकारिता पर दृष्टिपात करते समय जो बात सबसे पहले ध्यान में आती है, वह है पत्रिकाओं का साहित्य की ओर पूर्ण रूप से झुकाव। उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते होते नए शिक्षित मध्यमवर्ग को अपनी उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी में समाचार मिलने लगे। इस कारण सहसा हिंदी पत्रकारिता का एक बड़ा प्राणवान अंश उससे छिन गया। उस समय तक पत्रकारिता का जो रूप रह गया था, उसमें मासिक पत्र ही महत्वपूर्ण थे। साप्ताहिकों की संख्या बहुत कम हो गई थी और विश्वयुद्ध के आरंभ के पूर्व दैनिक पत्र थे ही नहीं। साहित्य की दृष्टि से इस समय चलनेवाली पत्रिकाओं में 'हिंदी प्रदीप', 'भारतमित्र' 'हिंदी बंगवासी', 'भारतजीवन', 'भारत भगिनी' आदि ही थीं। इनमें से 'भारतमित्र' को छोड़कर सब आलोच्य युग के मध्य में ही बंद हो गई। इन पत्रिकाओं में कविता, कहानी नाटक, उपन्यास, समालोचना, निबंध आदि विविध विषयों का समावेश कर साहित्य के विकास में पूर्ण योगदान करने का स्तुत्य प्रयास हुआ। भाषा, धर्म और सामाजिक प्रश्नों को लेकर अकसर आकर्षक बहसें छिड़ जाती थीं, इनसे साहित्य रचना को उत्तेजना मिलती थी। इस प्रकार अनेक नई विधाओं से संपन्न नया साहित्य समाचार तत्व को अपने में समाहित करके आगे बढ़ रहा था।

हिंदी प्रदीप (१८७७-१९०७ ई०)

पं० बालकृष्ण भट्ट के संपादकत्व में विक्टोरिया प्रेस, प्रयाग से निकलता था। इसमें छपे पं० बालकृष्ण भट्ट के निबंध तत्कालीन निबंध साहित्य के विकास की एक कड़ी ही थे। भट्ट जी ऐसे निबंधकार थे जो विरासत में भारतेंदु की परंपरा को लेकर द्विवेदी युग के विकास में योगदान कर रहे थे इन्होंने 'हिंदी प्रदीप' में सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर निबंध लिखे और भारतेंदु की व्याख्यात्मक और विचारात्मक शैली को विकसित किया।

यह विविध विषय समन्वित पत्रिका थी। नाटक, उपन्यास, समालोचना, निबंध, कहानी सभी क्षेत्रों में इसका अपूर्व योगदान रहा। इसमें सद्यः निकलनेवाली 'सरस्वती' की आलोचना इस प्रकार की गई है—

'समालोचना (सरस्वती)—इस नाम की सचित्र मासिक हिंदी मैगजीन काशीनागरी प्रचारिणी के पाँच पंच द्वारा जन्म ग्रहण कर ठीक समय से प्रकाशित

होती है....मैगजीन का मुख्य काम साहित्य उन्नति का है और साहित्य की उन्नति कविता से होती है तो इसलिये कुछ काव्य भी होना चाहिए पर काव्य में पुराने ढंग का असत् नष्ट काव्य नायिका नायक के झगड़े न हों, रस की कविता से बल्कि उसका न होना अच्छा, अंग्रेजी से जो आख्यायिकाएँ ली जायें उनका यथातथ्य अनुवाद न हो केवल (प्लाट) मात्र लिए जायें तो अच्छा हो (ओरिजिन) स्व-कपोल-कल्पित इस प्रकार के आख्यान या आख्यायिकाएँ ठेठ हिंदी में लिखे जायँ तो क्या कहना[१]।'

यह कहा जा सकता है कि 'हिंदी प्रदीप' से पूर्व हिंदी पत्रकार कला का कोई उज्वल इतिहास नहीं था। सच बात तो यह है कि पत्रकारिता तब जन्म ले रही थी। उसका पालन पोषण कर उसे युवा बनाने और सौंदर्य प्रदान करने का बहुत श्रेय 'हिंदी प्रदीप' को है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' के ही माध्यम से आधुनिक आलोचना को जन्म दिया। इसकी संचिकाएँ ऐसे निबंधों से भरी पड़ी हैं जिनका स्वर आलोचनात्मक है।

निबंध और आलोचना के अतिरिक्त आलोच्य काल में इस पत्रिका में 'किरातार्जुनीय नाटक', 'शिशुपाल वध नाटक,' 'सूरत की बेडोल सूरत' आदि नाटक 'घड़ी की कुघड़ी', 'दो चाघड़ों की बातचीत' आदि वार्तालाप, 'भाग्य का फेर', 'सुंदरी' आदि उपन्यास भी निकले।

भारतमित्र (१८७८ से आलोच्य काल के उपरांत भी चलता रहा)

पं० छोटूलाल मिश्र के संपादकत्व में कलकत्ता से इसका प्रकाशन हुआ। इसके मुख पृष्ठ पर ही इसका उद्देश्य छपा रहता था—

'ज्यो स्तु सत्यनिष्ठानां येषां सर्वे मनोरथा।'

आरंभ में यह पत्र पाक्षिक था, तत्पश्चात् साप्ताहिक हो गया। १८९७ तक यह दैनिक रूप में निकलने लगा। पर सन् १९१२ से यह स्थायी रूप से दैनिक हुआ। इसके संपादन का कार्य अनेक लोगों ने सँभाला। आलोच्य काल में इसका संपादन बालमुकुंद गुप्त, पं० अमतलाल शर्मा, बाबू शिवनारायण सिंह, पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे ने किया।

'भारतमित्र' एक तेजस्वी राजनीतिक पत्र के रूप में विख्यात हुआ। देश की राजनीति, वाणिज्य, भाषा और समग्र जातीय चेतना का विकास ही इसका लक्ष्य था। आलोच्य काल में भी यह पत्र अपने उद्देश्य का निर्वाह कर रहा था। पर इसका उद्देश्य राजनीतिक होते हुए भी साहित्य के विकास में परोक्ष रूप से

---

१. 'हिंदी प्रदीप', १९०० ई०, पृ० ४०।

सहायक ही रहा। इसी के माध्यम से श्री बालमुकुंद गुप्त ने हिंदी आलोचना साहित्य का प्रचार एवं सृजन किया। आलोचक गुप्त जी की सबलतम आलोचना का निदर्शन समकालीन लेखकों पर लिखी गई आलोचनाएँ हैं। इस प्रकार की आलोचना में रचना का कलात्मक रूप गौण और रूप की लोकप्रियता प्रमुख है। गुप्त जी ने अपनी आलोचना द्वारा अतिशय शृंगारिकता के पुनरावर्तन का विरोध 'काम शास्त्र',[1] कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृति का प्रतिवाद, सुशील कवि की 'उजाड़ गाँव', साधु तथा योगी नामक रचनाओं की समीक्षा[2] द्वारा और क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य का निरसन 'तुलसी सुधारक' की आलोचना[3] द्वारा किया।

'भारतमित्र' के द्वारा गुप्त जी ने चरित्र चर्चा की एक अभूतपूर्व शैली का विकास किया। 'प्रयाग समाचार' के जन्मदाता पं० देवकीनंदन तिवारी, साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० देवीसहाय, पांडेय प्रभुदयाल, बाबू रामदीन सिंह, पं० गौरीदत्त, पं० माधव मिश्र, मुंशी देवीप्रसाद प्रभृति हिंदी के वे लेखक थे जिनके जीवन-चरित गुप्त जी ने 'भारतमित्र' में प्रकाशित करके उनको पुनर्जीवित किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा बालमुकुंद गुप्त के बीच 'अनस्थिरता' संबंधी विवाद का माध्यम भी यही पत्र था। इस वादविवाद से भाषा और व्याकरण को एक नई व्यवस्था मिली। 'भारतमित्र' में ही 'उर्दू कलाकारों का इतिहास', 'हिंदी संवादपत्रों का इतिहास' प्रकाशित हुआ। दोनों के लेखक गुप्त जी ही थे। वस्तुतः संवादपत्रों के इतिहास प्रकाशन का 'भारतमित्र' का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान है।

पत्र लेखन तथा कटाक्षपूर्ण शैली का उत्कृष्ट स्वरूप उस काल में यदि कहीं द्रष्टव्य है तो 'भारतमित्र' के 'शिवशंभु के चिट्ठे' में। यथा—

'आपने माई लार्ड ! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया। खाली अपना ख्याल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिये भी कुछ कर्तव्य पालन किया। एक बार यह बातें बड़ी धीरता से मन में विचारिये। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गये। अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिए, नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा।'[4]

---

१. भारतमित्र, फरवरी, १६०५ ई०।

२. वही, २१ अगस्त, १८६६ ई०।

३. वही, १६०२ ई०।

४. वही, अप्रैल, १६०३ ई०।

आनंद कादंबिनी (१८८१ ई०)

पं० बदरीनारायण उपाध्याय के संपादकत्व में निकलती थी। पत्रिका में अधिकांश कविता और लेख चौधरी जी के ही रहते थे। आलोचना के क्षेत्र में इस पत्रिका का योगदान स्तुत्य है।

भारतजीवन (१८८४ ई०)

रामकृष्ण वर्मा के संपादकत्व में काशी से निकलता था। १६१४ ई० में यह कुछ दिन के लिये दैनिक भी हुआ। यह भी विविध-विषय-समन्वित पत्र था। नाटक, उपन्यास, कहानी, गजल, कवित्त आदि से सज्जित होकर इस पत्र ने हिंदी के विकास में अपना योग देने का प्रयास किया। यह शासकों की दृष्टि में गिरना नहीं चाहता था अतः ऐसे समाचारों से बचता था जिनके द्वारा शासकों के अत्याचार का उद्घाटन होता था।

मित्र (१८८८ ई०)

काशी उपन्यास कार्यालय से बाबू बालमुकुंद वर्मा के संपादकत्व में मासिक रूप में प्रकाशित होता था। आवरण पृष्ठ पर संस्कृत श्लोक छपा रहता था—

शोकाराति भय त्राणं, प्रीति श्रम्म भाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं, मित्रमित्यक्षर द्वयम्।

श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने पं० दामोदर शास्त्री को इसका संपादक मानते हुए लिखा—

'पं० दामोदर शास्त्री सुलेखक थे। बाबू बालमुकुंद गुप्त ने तो उन्हें 'बिहारबंधु' का प्रथम संपादक भी लिख दिया है। यह भी लिखा है कि नाथद्वारे में जो लेखक मंडली थी, उसमें श्री दामोदर शास्त्री जी थे। 'मित्र' के संपादक भी वे थे यह शायद गुप्त जी को न मालूम था।'[१]

'मित्र' में कविता, लेख, उपन्यास आदि विविध विषय निकलते थे। 'झाँसी की रानी', 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' शीर्षक उपन्यास भी निकला। इसमें निकलनेवाला 'झाँसी की रानी' संभवतः आगे चलकर वृंदावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी' का आधार बना क्योंकि इसके कुछ वार्तालापों का ज्यों का त्यों वृंदावनलाल जी ने प्रयोग किया है। यथा—

'विवाह में वधू वर का गाँठ जोड़ा होना सब में प्रचलित है। सो मनुबाई ने

---

१. समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० २०२।

गाँठ जोड़े के समय कहा कि 'जरा मजबूत गिरह देना।' यह सुनकर लोग चकित हुए और जिन लोगों ने इस गूढ़ बात का मतलब समझा वे स्तब्ध हो बैठे।'[1]

समय समय पर तत्कालीन पत्रों पर प्रतिक्रिया भी इसमें निकलती थी :—

'बंबइया त्रिभाषी सहयोगी 'भारतधर्म' ने आशातीत उन्नति की है। महाराष्ट्र संपादक के हाथ से संपादित होकर हिंदी में सनातन धर्म का समर्थन करने में वह बड़े जोरदार लेख लिखने लगा है।'[2]

लोगों में हिंदी पत्रों के प्रति रुचि जागृत करने का प्रयास भी परिलक्षित होता है—

'हिंदी समाचार पत्रों से कलकत्तावासियों का बड़ा प्रेम है; हमने देखा है कि छोटे से बड़े बूढ़े तक बड़े आदर के साथ पत्रों को पढ़ते हैं। हमारे काशी निवासियों को उनका अनुकरण करना चाहिए।'[3]

भारतभगिनी (१८८८ से १९०६ ई०)

श्रीमती महादेवी नामक महिला के संपादकत्व में सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका में निबंध, कविता, कहानी आदि विविध विषय निकलते थे। पर इसकी भाषा बड़ी अनगढ़ थी। यथा—

'हे पापी जीवों को एक क्षण में विनाश करके पृथिवी का भार कम करने हारे प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर।'

—संपादकीय लेख[4]।

हिंदी बंगवासी (१८९० ई०)

पं० अमृतलाल चक्रवर्ती के संपादकत्व में इसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इनके संपादकत्व में १८ वर्ष तक यह चलता रहा, इसके पश्चात् बाबू बालमुकुंद गुप्त, बाबूराव विष्णु पराड़कर, अंबिकाप्रसाद बाजपेयी तथा लक्ष्मण नारायण गर्दे ने भी इसके संपादन का कार्य किया था। यह पत्र पूरे आलोच्य काल में हिंदी के विकास में योगदान करता रहा। उस समय यह अपने ढंग का एक नया अखबार था समाचार के अतिरिक्त इसमें लेख, कहानी, चरित्र चित्रण, व्यंग्य चित्र आदि भी होते थे। इसकी भाषा पर बंगला का अधिक प्रभाव था।

---

१. 'मित्र', अप्रैल, १९०६, पृ० १३।
२. वही, अगस्त–सितंबर, १९०३, पृ० २।
३. वही १९०५, पृ० ११।
४. भारतभगिनी, मई, १९०५।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका (सन् १८९६ से अब तक चल रही है)

यह त्रैमासिक के रूप में बाबू श्यामसुंदरदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, श्री कालिदास और राधाकृष्णदास के संपादकत्व में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई। १९०७ ई० में इसके संपादक श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, रामचंद्र वर्मा, वेणीप्रसाद बनाए गए। १९२० में पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्यामसुंदरदास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और मुंशी देवीप्रसाद संपादक हुए।

इसमें इतिहास, साहित्य, भाषातत्व, पुरातत्व आदि के बारे में लेख प्रकाशित होने लगे। खोज संबंधी सामग्री भी पाठकों के सामने आने लगी।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिंदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र, श्यामसुंदरदास, अंबिकादत्त व्यास और मिश्रबंधु जैसे धुरंधर लेखकों की प्रतिभा को विकसित होने के लिये अवसर मिला तथा द्विवेदी युग के गद्य लेखकों की एक विशाल परंपरा निर्मित हुई। पत्रिका के जून, सन् १८९८ के अंक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नागरी ! तेरी यह दशा', श्यामसुंदरदास कृत 'भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच' जैसे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। अतः पत्रिका के प्रारंभिक अंकों से ही हिंदी साहित्य के विविध अंगों पर विचार होने लगा।

भाषाचंद्रिका (१९०० ई०)

हरे कृष्ण अगरवाला द्वारा तारा यंत्रालय, काशी से प्रकाशित होती थी। मुख पृष्ठ पर यह छंद लिखा रहता था—

> घोर तमिस्रा-रैन-अविद्या, अंधकार अज्ञान मई।
> कुहू निशी-घन-जल-माया, भारत-नभ-मंडल छाई ॥
> मोह, निंद-वश-अचेत आरज पूर्व्व गौरव भुव गई।
> अब जागि देखि ललित भाषा-चन्द्रिका परकाश भई ॥

साथ ही यह भी लिखा है—

'काव्य, उपन्यास, प्रबंध, संदर्भ, संगीत, नाटक, प्रहसन, रंगरस, परिहास, इतिहास, भूतत्व, पुरातत्व, विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक और धर्म संबंधी विविध साहित्य और समालोचना और शिल्प, किमिया वा रसायन, इंद्रपाल, कौतुक, मेलकी, भोजबाजी, आग्नेयबाजी, प्रभृत आश्चर्य और कौतूहलवर्द्धिनी विविध-कला-विद्या प्रकाशिनी अपूर्व मासिक पत्रिका।'

'शिल्पकला' शीर्षक लेख द्वारा आधुनिक भारत से शिल्पकला का लोप होने पर क्षोभ व्यक्त करता हुआ लेखक तत्कालीन सभ्यता के अनुकरण की प्रवृत्ति पर एक सुंदर कटाक्ष प्रस्तुत करता है—

'आज जो विशंति मुद्राजीवि मुहर्रिर या सरकारी कर्मचारी हैं, वह भी अपने को सभ्य समझते हैं, और लोक समाज दिखाने के लिये कोट, पेंटुलन, हाट और घड़ी, दाढ़ीधारी होकर, मयुर पुच्छ भूषित काक के समान शोभा पाते हैं, उन्हें अपने देश की उन्नति और विद्या की चर्चा से क्या प्रयोजन है ? मुंह में बाई साइ या चुरुट दाबे हुए, जेब से दियासलाई की पेटी निकालकर घिसते हैं, और सगर्व पीछे के तरफ अल्प टेढ़े होकर मुंह में आग लगाते हुए धुवाँ फेंक रहे हैं। धन्य सभ्यता ! बाबू से एक बार पूछिए तो सही, जिस रोज इंगलैंड वासी यह दियासलाई और चुरुट का आना भारतवर्ष में बंद कर देंगे, उस रोज बाबू की यह सभ्यता कहाँ जायगी ?[1] ('शिल्पकला')

पत्रिका की भाषा आदि से अंत तक त्रुटिपूर्ण है। स्वयं संपादक भूमिका में अशुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं। यथा—

'यदि इसमें परिमल मय फुल होगा तो वायु अवश्य ही उसका सौरभ वहन करता हुआ बहता होगा।'

'अब हम अपनी यह दीर्घ भूमिका परिसमाप्त करते हैं। जो कुछ इसमें हमारी भूल और भ्रम हो उस महानुभव पाठकगण अपनी उदारता से क्षमा करेंगे।'[2]

छत्तीसगढ़ मित्र (१६०० ई०)

सर्वश्री रामराव चिंचोलकर और माधवराव सप्रे के संपादकत्व में विलासपुर से यह मासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि के प्रति जागरूक इस पत्रिका में निबंध, जीवनचरित्र, कविता, व्यंग्य आदि विषय रहते थे। त्रिमूर्ति जी के 'विद्यारण्य' शीर्षक एक व्यंग्य शैली में लिखे निबंध में तत्कालीन कवियों की अलंकारप्रियता पर कटाक्ष देखिए—

'इधर देख यह जो तेरे सन्मुख एक पुरातन वृक्ष खड़ा है उसकी डालियाँ फूलों के बोझ से लदी हुई कैसी सुमनोहर दीख पड़ती है। इन फूलों में से सुधामयी मधुधारा अप्रतिहत बह रही है और रसज्ञ भ्रमरों के झुंड के झुंड इसके चारों ओर जुटे हैं। इस प्रतापी वृक्ष को भाँति भाँति अलंकार लताओं ने इतना वेष्ठित कर लिया है कि इसका सारा शरीर लतामय हो गया है। कुछ दिनों से तो ये लताएँ (अलंकार रूपी) इतनी बढ़ रही हैं कि इस वृक्ष का मूल स्वरूप ही अब दृष्टिगोचर नहीं होता। इस वृक्ष का नाम काव्यतरु है।'[3]

---

१. 'भाषा चंद्रिका', सन् १६०० पृ० १५।

२. वही, पृ० १०।

३. 'छत्तीसगढ़ मित्र', जनवरी १६०२ ई०, पृ० ११।

सुदर्शन (१९०० ई० से १९१९ तक)

पं० माधवप्रसाद मिश्र तथा बाबू देवकीनंदन खत्री के संपादकत्व में काशी से निकला। आधुनिक हिंदी आलोचना के सूत्रपात में इसका अमूल्य योगदान रहा।

समालोचक (१९०१ ई०)

यह मासिक पत्र पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के संपादकत्व में जयपुर से निकला। १९०३ के दीपावली अंक के मुख पृष्ठ पर भामिनी विलास' की ये पंक्तियाँ पत्रिका के उद्देश्य को स्पष्ट करने में पूर्ण सहायक हैं--

'नीर क्षीर विवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वास्मिन्नधुनाऽन्द कुलव्रते पालयिष्यति कः।'

गुलेरी जी के द्वारा संपादित 'समालोचक' अत्यंत महत्वपूर्ण पत्र था। इसके द्वारा गुलेरी जी एक अनूठी शैली लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। यह पत्र अल्पायु हुआ, किंतु उतने ही समय में हिंदीजगत् पर अपनी छाप छोड़ गया। मूलतः यह साहित्यिक पत्र था। इसमें कविता, लेख, सामयिक समाचार आदि सभी विषय रहते थे। पर समालोचना पर अधिक लिखा जाता था। इसमें सामयिक पत्रिकाओं की उनमें लिखे विचारों पर, भाषा पर तथा उपन्यास, कहानी, आदि पर भी समालोचना रहती थी। यथा--

'सुदर्शन' की सुदृष्टि अब उपन्यासों पर हुई। उसकी तीन संख्याओं में उपन्यासों की प्रतिष्ठा पर लेखक की आस्था की अवस्था अच्छी तरह दिखाई गई है। यह तो कोई बात नहीं कि पं० माधवप्रसाद ने किसी बात की हिमायत कर दी तो फिर उसकी न्याय्यता में संदेह भी न करना---

ए अभिमानी मुरलिया, करी सुहागन श्याम।
अरी चलाय सबन पै भले चाम के दाम॥'

'आषाढ़' के 'सुदर्शन' में ऐयारी की पुष्टि के लिये 'मुद्राराक्षस नाटक' का भी नाम लिया गया है और चंद्रकांता छपती बेर रामायण के सीताहरण को भी ऐयारी कहा गया था....एक और मजे की बात देखिए। कादंबरी, मैकबेथ, मेरी प्राइस, फास्ट वा मुद्राराक्षस पढ़ने पर क्या स्मरण रहता है? नाटक पात्रों की सजीवता, उनकी चेष्टाएँ, उनका चरित्रांकन उनका व्यवहार, कथा का परिणाम, प्रभृति। विचित्र घटनाओं का टाँका अपना काम कर चुका और सारी पोशाक में टाँकों की तरह वह अब दिखाई नहीं देता। चंद्रकांता के प्रेमियों को उसी की शपथ है, उसका पारायण किए बाद क्या याद रहता है? कथा भाड़ में गई,

१. समालोचक, अक्टूबर-नवंबर, १९०३, पृ० ७०।

चरित्रांकन की बात ही नहीं, चरित्रों में सजीवता की बात कहाँ, भाषा की भी नहीं, केवल ऐयारी देवी और तिलिस्म जी महाराज । और साथ ही गुण्डे शोधे ऐयार विलेन प्राव द प्ले ।'[1]

इस तरह पत्रों में दिए विचारों पर कटु कटाक्षपूर्ण समालोचना के अतिरिक्त पुस्तकों की भी समालोचना का एक स्तंभ रहता था । इसी अंक में बाबू देवकीनंदन खत्री के 'काजर की कोठरी' की समालोचना निकली है । यथा—

'यह पुस्तक उपन्यास के लक्षणों से काले कोसों दूर है । उपन्यासों में रहस्यमयी घटनाएँ उलझेड़े के साथ बहुधा हुआ करती हैं । परंतु अंत में क्रमशः सारी बातें दर्पण सी खुल जाती हैं । कोई बात ग्रंथकार के पेट पिटारे में छिपी नहीं रहती हैं' ।[2]

'सहयोगी साहित्य' स्तंभ में तत्कालीन पत्रों पर संक्षिप्त पर आलोचक दृष्टि से विचार किया जाता था । यथा—

'आजकल समाचार पत्रों में रूस जापान या तिब्बत की लड़ाई के अतिरिक्त प्रायः गंभीर लेख बहुत कम होते हैं । भारतमित्र में उर्दू मासिक पत्रों पर अच्छा लेख लिखा गया है । इसके लेख तथा भाषा से सब मनुष्य प्रसन्न हैं । 'हितवार्ता' के लेख अच्छे राजनैतिक होने पर भी सरल भाषा में न होने के कारण सर्वोपयोगी नहीं हैं । 'हिंदी बंगवासी' में अब गंभीर लेखों का प्रायः अभाव रहता है' ।[3]

हितवार्ता (१९०३ ई०)

पं० कालीप्रसन्न काव्यविशारद के संपादकत्व में निकली । उनके उपरांत बाबूराव विष्णु पराड़कर इसके संपादक हुए । 'हितवार्ता' के माध्यम से ही देउसकर जी ने विभक्ति का आंदोलन छेड़ा था । इस आंदोलन में उस काल के सभी नामी पत्रों ने भाग लिया । पं० गोविंदनारायण मिश्र के इसपर विद्वत्तापूर्ण लेख 'हितवार्ता' में निकले । उन्होंने 'विभक्ति विचार' और 'प्राकृत विचार' शीर्षक लेखमालाएँ 'हितवार्ता' में दीं । इन्हीं लेखमालाओं के द्वारा वे हिंदी जगत् में प्रसिद्ध हुए । पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के भी २० लेखों की माला इसमें निकली । इसके अतिरिक्त यशोदानंदन विद्यार्थी, मुंशी देवीप्रसाद, उमापतिदत्त शर्मा और विशुद्धानंद जी के भी लेख इसमें निकलते थे ।

---

१. समालोचक, अक्टूबर-नवंबर, १९०३, पृ० ७२ ।
२. वही, पृ० ८९ ।
३. वही, भाग १, संख्या २५, पृ० ६ ।

लक्ष्मी (१९०३ ई०)

श्री गोरेलाल मंजु के संपादकत्व में यह मासिक पत्रिका गया से निकली। तदुपरांत बनारस के लाला भगवानदीन द्वारा संपादित होने लगी।

यह साहित्यिक पत्रिका थी। इसमें अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोविंददास, बंगमहिला, अंबिकाप्रसाद त्रिपाठी, 'सनेही' आदि तत्कालीन अनेक साहित्यकारों की रचनाएँ छपती थीं। कहानी, कविता, लेख आदि विभिन्न विषयों द्वारा इस पत्रिका का भी साहित्य के विकास में योगदान रहा।

अबला हितकारक (१९०३ ई०)

श्री मित्र जगदीदत्त के संपादकत्व में यह एक स्त्रियोपयोगी सामाजिक पत्रिका निकलती थी। इसका उद्देश्य समाज सुधार था। इसमें आदि से अंत तक उपदेश-प्रधान रचनाएँ ही निकलती थीं। इसमें लेख, कहानी, कविता आदि सभी विषय होते थे पर सबकी ध्वनि उपदेशात्मक ही थी।

स्त्रीदर्पण (१९०३ ई०)

श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के संपादकत्व में तथा स्त्रियों के ही प्रबंध से प्रयाग से यह सचित्र मासिक पत्र निकलता था। उस काल के लगभग सभी प्रमुख लेखक लेखिकाएँ इस पत्रिका में लिखती थीं। पर भाषा की दृष्टि से इस पत्रिका का संपादन शिथिल था। लेखकों द्वारा भेजे गए लेख बिना संशोधन के ही छाप दिये जाते थे। यथा—

'पर समाज स्त्रियों के सुधार को रोक नहीं सकती। समाज उन्नति की धारा पर कदापि बांद बांध नहीं सकती।'[1]

(समाज सुधार, रुद्रदत्त)

नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता, निबंध आदि विविध विषय समन्वित इस पत्रिका में 'सामयिक साहित्य चर्चा' शीर्षक भी एक स्तंभ रहता था, जिसमें तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं की रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती थी। परोक्ष रूप से इस स्तंभ ने समालोचना साहित्य के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'चतुर्वेदी' पत्र के 'ब्रह्मविचार' शीर्षक लेख की कटु आलोचना का निदर्शन निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

किससे कहते हो ? और क्या कहते हो ? 'ब्रह्म विचार' शीर्षक लेख को पढ़कर उत्पन्न होते हैं। यह लेख असाढ़ के अंक से निकल रहा है। विषय तो यह

---

१. स्त्रीदर्पण, नवंबर, १९१५ ई०, पृ० ३२९।

योगियों द्वारा ही प्रतिपादित हो सकता है, और इसलिये हमें अधिकार नहीं कि इसपर हम कुछ निज संमति प्रकाशित करें। परंतु हमें दुख इस बात का है आज संसार में लेखों को नहीं वरन् लेखक देखकर लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं और वह भी एक ऐसे पत्र में जो कि जातीय पत्र होने का दावा रखता है। क्या संपादक महोदय स्वयं ही अपने हृदय पर हाथ रखकर बतलावेंगे कि चतुर्वेदी समाज जिसके लिए यह 'चतुर्वेदी' पत्र निकाला गया है इसको कुछ भी आवश्यक समझता है।[1]

इस पत्रिका के अंकों में गिरिजाकुमार घोष की 'लक्ष्मी', 'रूपतृष्णा', 'अरबी की यक्ष कथा' आदि अनेक कहानियाँ निकली हैं।

इस युग में स्त्रियोपयोगी, बालोपयोगी अनेक पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें प्राय: स्त्रियाँ ही लेखिका तथा संचालिका और संपादिका होती थी। उनमें लेख भी अधिकतर स्त्रियोपयोगी या स्त्रियों की समस्याओं को लेकर ही लिखे जाते थे। इन पत्रिकाओं में मुख्यत: 'कुमारी धर्म', 'नारी धर्म', 'आर्य वनिता', 'बाल प्रभाकर', 'बालमनोरंजन' आदि रचनाएँ थीं।

वैश्योपकारक (१९०४ ई०)

शिवचंद्र जी भरतिया के संपादकत्व में कलकत्ते के राम प्रेस की ओर से मासिक के रूप में यह पत्रिका प्रकाशित हुई। इस पत्र के प्रथम अंक में प्रकाशित 'आत्मपरिचय' शीर्षक लेख के अनुसार 'इस पत्रिका का उद्देश्य वैश्यों के कर्तव्य का प्रकाशन कर उनकी भलाई करना तथा उनकी जाति को उचित महत्व दिलाना था। अपने वैश्य बंधुओं का सहायक और उन्नायक होने के साथ ही साथ यह पत्र समाज सुधार के लिये सचेष्ट था। सुधारवादी सामाजिक पत्र होने पर भी इसका साहित्यिक अवदान कुछ कम न था।

समय समय पर इसमें कविता, नाटक, कहानी, निबंध आदि भी निकलते थे। पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग इसके प्रारंभिक अंकों में ही दिखलाई पड़ता है—

'ओ नार छोड़ो सुख की, रईसी।
गीतान्त की बाट न वीर! जो हो,
चाहे घना झाग सुरा दिखावे
प्रकाश में सुंदरी नाचती हो।
प्रसाद छोड़ो, सब छोड़ दौड़ो
स्वदेश शत्रु अवश्य मारो।'[2]

---

१. स्त्रीदर्पण, नवंबर, सन् १९१५, पृ० ३७१।

२. 'वैश्योपकारक', आश्विन सं० १९६२, पृ० १७८।

उपर्युक्त पद्य में एक तरफ खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप दिखलाई पड़ता है, दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना भी परिलक्षित होती है। साहित्यिक अवदान की दृष्टि से देखें तो आलोच्य युग के कवियों की मानवता का स्वर इस पत्रिका में भी गूँज रहा है—

'राह चलत हंटर हनिबो कोउ समझत सहज ठठोली है।
कोऊ बूट प्रहार करत कोउ निधरक मारत गोली है।
जबरदस्ती बीसों बिसुवा कोऊ सकत न बोली है।
हा बिजयिन ! तव प्रजा मात्र में चहुँ दिस लागी होली है।'[1]

भाषा संबंधी अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए प्रथम अंक में ही संपादक कहते हैं—

'इसकी भाषा सरल हिंदी रहेगी परंतु कुछ पन्ने मारवाड़ी भाषा के भी दिए जावेंगे कारण अभी मारवाड़ी समाज बिल्कुल विद्या विमुख है, और विशुद्ध भाषा की पुस्तकें बाँचने सुनने में निरुत्साह है, अतः उसके लिये इसकी आवश्यकता समझी गई है'।[2]

अपनी इस नीति के प्रतिपादन हेतु 'कनक और सुंदर'[3] शीर्षक मारवाड़ी भाषा मिश्रित एक कहानी निकाली गई है। 'शैकधू' शीर्षक एक व्यंग्यात्मक निबंध भी उल्लेख योग्य है।

बाद में प० माधवप्रसाद मिश्र के संपादकत्व में यह पत्रिका निकलने लगी। मिश्र जी की सशक्त लेखनी की प्रशंसा करते हुए बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—

'कड़ी आलोचना लिखने में वह बड़े कुशलहस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी के लेख लिखकर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिंदी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखने वाला नहीं दिखाई देता।'[4]

महावीरप्रसाद द्विवेदी तक की आलोचना करनेवाले गुप्त जी द्वारा मिश्र जी की प्रशंसा से इतना तो स्पष्ट है ही कि उनके संपादकत्व में जातीय पत्र होने पर भी 'वैश्योपकारक' किस प्रकार साहित्यिक स्पर्श लिए हुए था।

भारतेंदु (१९०५ ई०)

यह मासिक पत्र एक संपादक समिति द्वारा चौखंभा, काशी से निकलता था।

---

१. वैश्योपकारक, फाल्गुन सं० १९६२, पृ० २०८।
२. वही, सन् १९०४।
३. वही, मार्गशीर्ष, सं० १९६२, पृ० २६७।
४. माधव मिश्र निबंधमाला, प्रथम खंड, पृ० ४।

इसकी संपादक समिति में बाबू व्रजचंद, श्री शिवप्रसाद जी गुप्त, बाबू राजाराम, मुन्नीलाल वर्मा, गोकुलदास जी तथा लक्ष्मणदास जी थे। यह मूलतः साहित्यिक पत्रिका थी, जैसा कि इसके नियम में स्पष्ट लिखा है—'इस पत्र में धर्म संबंधी तथा राजनैतिक लेख जिनका कि वर्तमान काल से संबंध होगा न लिए जाएँगे'।

पत्रिका में निबंध, नाटक, कहानी, समालोचना आदि सभी विधाओं का समावेश था। आलोच्य युग के कवियों की मानवता इस पत्रिका के पृष्ठों पर भी दिखाई देती है, जबकि तत्कालीन राजनीति से असंपृक्त होने की इसने घोषणा कर रखी थी। यथा—

'हैं प्लेग गज इस देश पै मुँह फैलाये।
लाखों ही प्राणी इसमें जाय समाये॥
होवे अकाल चहुँ ओर न कछु कहि जाई।
खाने को नहिं कछु मिलै अतिहि दुखदाई॥
पत्तों को खाकर अपनी भूख बुझावें।
कितने ही नर हा! तरस तरस मर जावें'॥[1]

—'हमारी पूर्वी आशा' व्रजचंद्र।

'काशी की नाटक मंडली की उपयोगिता पर एक वार्तालाप' सभ्य लोगों की बातचीत करके दिया हुआ है, जिसमें नाटकों में समय के सदुपयोग की चर्चा है। इसके अतिरिक्त 'समाचारपत्रों का इतिहास', व्यंग्य लेख, मनोरंजक लेख आदि कई उपयोगी लेख भी निकले। पुस्तक समालोचना के माध्यम से नई प्रकाशित पुस्तकों से पाठक को अवगत कराती हुई उसकी संक्षिप्त पर उपयोगी समालोचना निकलती थी—

'सिद्ध मनोरंजन पुस्तक का विषय अच्छा है। आपने एक कथानक रूप में यह दिखलाया है कि मनुष्यों का मन कुवासनाओं के फेर में पड़कर किस तरह सत्य पथ से विचलित होता है और पुनः भगवद् कृपा से सुबुद्धि को प्राप्त करता है और धर्म पथ पर आरूढ़ हो जाता है। कविता साधारण दोहा चोपाई में है। कहीं कहीं बिल्कुल अनर्थक शब्द गढ़ लिए गए हैं जैसे—'पुंटी', 'भाजत' इत्यादि'।[2]

भाषा सुधार के कार्य में यह पत्रिका भी संलग्न थी, जब कि भाषा सुधार का संपूर्ण श्रेय द्विवेदी जी को ही मिला। देखिए, अपनी पत्रिका की रचनाओं का संशोधन किया गया ही है, दूसरी पत्रिकाओं की रचनाओं की त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाने का प्रयास किया गया है—

---

१. भारतेंदु, अगस्त, सन् १९०५, पृ० ३।
२. वही, अप्रैल, सन् १९०६, पृ० १३८।

"'हरिश्चंद्र' पुस्तक की भाषा कहीं कहीं ग्राम्य तथा भदेश हो गई है, जैसे पेज २४ की ८वीं लाइन 'दिवाली होती थी'। यहाँ इसके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। हमारे समय में जूआ कोई प्रशंसा की बात नहीं है। और जूवा स्त्रीलिंग भी नहीं है। उसी के ४ लाइन बाद 'अमुक अमुक अंतर'''लिखी हुई है' यहाँ 'अंतर' स्त्रीलिंग नहीं है, इसलिए 'मिली हुई है' विचारणीय है। पेज ३८ की ५वीं लाइन में 'लोगों को बड़ी अचंभा हुई' यहाँ 'हुई' का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि 'अचंभा' पुल्लिग माना गया है। 'अचंभा हुआ' होना चाहिए। उसी पेज में 'जनेऊ कराई' के स्थान पर 'जनेऊ कराया' अच्छा होगा। पेज २०की १७वीं लाइन में 'श्वसुर बाड़ी आया है' यह शायद बँगला का शब्द है। इसी प्रकार कहीं कहीं त्रुटियाँ रह गई हैं, यद्यपि ये त्रुटियाँ अणु मात्र भी पुस्तक के गौरव को न्यून नहीं करतीं'''।"[1]

ऐसी विस्तृत समालोचना की ऐसे समय अत्यंत आवश्यकता थी। पत्रिका ने अपने दायित्व को वहन कर पाठकों को सीधे संपर्क द्वारा भाषा सुधार का जो मार्ग दिखाया वह एक स्तुत्य प्रयास था।

बाल प्रभाकर (१९०६ ई०)

पं० किशोरीलाल गोस्वामी के संपादकत्व में बनारस से निकली। बालकों के लिये यह एक उपयोगी पत्रिका थी। बंग महिला, कुँवर कन्हैया जू, किशोरीलाल गोस्वामी, हरिदास माणिक, मुंशी देवीप्रसाद, लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि इसमें बाल साहित्य लिखते थे। कहानी, कविता, जीवनचरित्र, इतिहास, शिक्षा संबंधी आदि सभी विषयों पर इसमें लिखा जाता था। पर 'विविध' शीर्षक स्तंभ के अंतर्गत बालकों के स्तर को भुलाकर देश की राजनीति, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी आदि पर टिप्पणी निकली है—

'इस बार की सूरत कांग्रेस का अंत ही हो गया। कुछ लोगों का कहना है कि इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। कुछ राजनीतिक लोगों का कहना है कि इसका परिणाम देश के लिये बहुत भला है।'[2]

हिंदी ग्रंथमाला

हिंदी ग्रंथ प्रकाशक मंडली, नागपुर द्वारा मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित होती थी। हिंदी भाषा पढ़नेवालों में देशोन्नति के नूतन विचारों की जागृति करना ही इसका उद्देश्य था। विभिन्न विषय समन्वित इस पत्रिका की भाषा शुद्ध और

---

१. भारतेंदु, फरवरी, सन् १९०६, पृ० १२५।
२. बालप्रभाकर, चैत्र सं० १९६५, पृ० ३०।

परिमार्जित है। भारत का इतिहास, अन्य देशों का इतिहास, देशी और विदेशी प्रसिद्ध स्त्री पुरुषों के जीवनचरित, ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, विज्ञान, समालोचना तथा भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीतिक गतिविधि पर बड़े विचारपूर्ण तथा समालोचनात्मक लेख इसमें होते थे।

आर्यवनिता (१६०६ ई०)

श्रीमती सुमित्रादेवी के संपादकत्व में सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर से मासिक रूप में निकलती थी। इसका उद्देश्य भजन और व्याख्यानादि द्वारा स्त्रीजाति का उपकार था। इसमें अधिकतर भजन इस प्रकार निकलते थे—

सम्हल सम्हल पग मोरि बहना ॥टेक॥
देश बिगाने जाना होगा ॥
सास बिगानी ननद बिगानी।
ससुरा कंत बिगाना होगा।
ना बाबुल ना बीर लाड़ला
किसको रोय सुनाना होगा।

इसी समय लाहोर से स्त्रियोपयोगी 'भारत भागिनी', जालंधर से 'पांचाल पंडिता' और अलीगढ़ से 'वनिता हितैषी' पत्रिकाएँ निकलती थीं।

हिंदी केसरी (१६०७-१६०८ ई०)

पं० माधवराव सप्रे के संपादकत्व में यह पत्रिका निकली। सन् १६०६ में अपनी राजनैतिक गतिविधि के कारण बंद हो गई। लोकमान्य तिलक के प्रसिद्ध 'केसरी' पत्र के लेखों का इसमें अनुवाद होता था। सन् १६१५ में यह दुबारा पाक्षिक के रूप में निकली। दुबारा इसके निकलने पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए 'नवनीत' ने इसका अभिनंदन इन शब्दों में किया—

'अत्यंत हर्ष का विषय है कि जिस 'हिंदी केसरी' ने मध्य प्रदेश से गर्जना करके एक बार हिंदी भाषा भाषियों में राजनीतिक जीवन का संचार किया था उसका पुनर्जन्म हुआ है। अबके यह पाक्षिक रूप से निकला है और इसके संपादक कई पत्रों के भूतपूर्व संपादक गंगाप्रसाद गुप्त है। वार्षिक मूल्य २ रुपया रखा गया है। 'हिंदी केसरी' का पाक्षिक निकलना हमें पसंद नहीं है। इसको साप्ताहिक रूप से ही निकलना चाहिए था। तथापि 'अकरणान्मंदकरणं श्रेय' के न्याय से हिंदी केसरी के वर्तमान स्वरूप का ही अभिनंदन करते हैं।'[1]

इसकी भाषा की आलोचना करते हुए इस प्रकार कहा—

---

१. नवनीत, ज्येष्ठ, सं० १६७२, पृ० ६२।

'हिंदी केसरी के संपादक हिंदी जानते हैं और उन्होंने अब यह भी प्रमाणित कर दिया है कि हम उर्दू भी जानते हैं, यही नहीं बल्कि हम हिंदी का शब्दशः अनुवाद भी उर्दू में कर सकते हैं। उदाहरणार्थ पहले ही अंक में पहले लेख के दूसरे कालम की अंतिम पंक्तियों में एक स्थान पर 'कर्तव्यपालन के लिए' ये शब्द आए हैं। हम नहीं समझते कि हिंदी पाठकों को इन शब्दों का भी अर्थ बतलाने की आवश्यकता पड़ सकती है। परंतु आपने इसका भी अर्थ समझाया है, यथा 'कर्तव्यपालन करने के लिये—फर्ज अदा करने के लिये।'[1]

इस पत्र में स्वयं तिलक भी लिखते थे। वे एक तेजस्वी पत्रकार थे। यद्यपि उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी का प्रयोग राजनैतिक जागृति के लिये ही किया पर उसकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। हिंदी के लिये यह परोक्ष वरदान हुआ, उससे हिंदी के अनेक लेखकों ने दृढ़ता से सशक्त शैली में अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक तथा निर्भीकता से व्यक्त करना सीखा।

नृसिंह (१६०७ ई०)

अंबिकाप्रसाद बाजपेयी के संपादकत्व में कलकत्ते से यह पत्र निकलता था। यह एक राजनीतिक पत्र था। पत्र का मुख्य उद्देश्य हिंदी पत्रों को विचलित, विशृंखल राजनीतिक आलोचनाओं की यथाविधि सांगोपांग समालोचना करना और धीर गंभीर भाव से आलोचित विषयों की गूढ़ गवेषणापूर्वक मीमांसा करना था। इसका नाम ही औचित्य विधायिनी शक्ति के प्रतीक के रूप में रखा गया था।

मुख्य रूप से राजनीतिक पत्र होते हुए भी हिंदी साहित्य को इसका अवदान कुछ कम न था। देश दशा का चित्रण करते हुए 'स्वराज्य की आवश्यकता' शीर्षक निबंध में व्यक्तिप्रधान, भावात्मक तथा चित्रात्मक शैली का नमूना देखिए—

'...स्वराज्य के अभाव से ही प्रतिवर्ष ४५ करोड़ रुपये इस दरिद्र देश से इंग्लैंड चले जाते हैं, और इसके बदले भारत में एक कानी कौड़ी तक नहीं आती। जहाँ पाँच करोड़ मनुष्यों को साल भर में एक समय भी पेट भर कर भोजन नहीं मिलता, जिसके पास जाड़े में रात को ओढ़ने के लिये कंबल तक नहीं है, जहाँ के करोड़ों किसान अरहर, उड़द, चना और मूंग बोते हैं पर उसके स्वाद से नितांत अनभिज्ञ रहते हैं, जिन्हें टैक्स देने के लिये बाध्य होकर अन्न बेचना पड़ता है...।'[2]

अंग्रेजों की भेदनीति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते समय शैली ऐसी कटाक्षपूर्ण की जाति थी कि एक बार पाठक भारतेंदु युग में पहुँच जाता है—

---

१. वही।

२. नृसिंह, अंक ४, सन् १६०७।

'प्रारब्ध से ससुराल भी अच्छी मिलती है। आजकल संध्या के पंडित ब्रह्मबांधव उपाध्याय की प्रारब्ध अच्छी नहीं जान पड़ती। क्योंकि उनकी ससुराल से सिविल मिलिटरी गजट के मि० स्टर्लिंग की ससुराल में बड़ा अंतर है। ससुराल में उपाध्याय जी के 'हाथ में खुरपा बगल में खारा' होगा, पर स्टर्लिंग की ससुराल तो निःसंदेह 'सुख की सार' ही होगी। पुलिस कोर्ट के 'वेटिंग रूम' में उपाध्याय को न बैठने देना तथा काले लड़के के खून का अपराध लगने पर भी स्टर्लिंग का फिटन पर चढ़कर जेल जाना इसका पक्का प्रमाण है।'[1]

राजनैतिक पत्र होने के कारण इसमें अधिकांश ऐसी ही रचनाएँ छपती थीं, जिनका युगीन चेतना की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान हो। इस प्रकार की रचनाओं में तत्कालीन अन्य पत्रों में व्यक्त मानवीयता मुखर हो जाती है—

'हा ! हा ! इन्होंने सब खो दिया है।
तो भी न आती इनको दया है।
भिक्षाटनों से निज तृप्त धार।
'दे दान दाता' कहते पुकार।'[2]

'नृसिंह' द्वारा देश के लिये एक राष्ट्रभाषा के प्रश्न को भी महत्व दिया गया। देखिए —

'यदि आज समस्त भारत के लिये सार्वजनिक अथवा राष्ट्रभाषा होती तो विदेशी व्यापार में लिप्त मारवाड़ी भी देश की दुर्दशा का समस्त वर्णन अपने कानों सुनकर परिणाम में सत्यानाशी विदेशी वाणिज्य को तिलांजलि दे देते। इसके सिवाय समस्त देश में एकता उत्पन्न करने के लिये जिन तीन बातों की आवश्यकता होती है, उनमें सार्वजनिक भाषा ही प्रधान है।'[3] (राष्ट्रभाषा)

अभ्युदय (१९०७ से १९१८ ई०)

पं० मदनमोहन मालवीय के संपादकत्व में साप्ताहिक रूप में निकला। पर बाद में उन्हें राजनीति से अवकाश न मिलने के कारण इसका दायित्व पुरुषोत्तमदास टंडन को सौंप दिया गया। बाद में उन्हें भी समय का अभाव हो गया और पं० कृष्णकांत मालवीय 'अभ्युदय' का संपादन करने लगे। 'अभ्युदय' का महत्व राजनीतिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से है। उत्तर प्रदेश की राजनीतिक जागृति में इसका पूर्ण योग रहा। इसी भाँति हिंदी भाषा और साहित्य का भी कार्य इसने किया है।

---

१. नृसिंह, अंक १, सन् १९०७।
२. वही, अंक ३, सन् १९०७।
३. वही, अंक १, सन् १९०७।

कमला (१९०८ ई०)

जीवानंद शर्मा काव्यतीर्थ के संपादकत्व में कलकत्ते से प्रकाशित होती थी। सन् १९१९ में यह 'श्रीकमला' नाम से भागलपुर से प्रकाशित होने लगी। विषय वैविध्य की दृष्टि से 'कमला' का भी साहित्यजगत् में महत्वपूर्ण स्थान रहा। कहानी, नाटक, जीवनचरित्र, समालोचना, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, पुराण आदि सभी विषयों पर इसमें लिखा जाता जाता था। व्यंग्य चित्रों की दृष्टि से तो यह 'सरस्वती' की अनुवर्ती दिखाई देती है। तत्कालीन रईसों पर एक कटाक्षपूर्ण उक्ति निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

'कुरसी से गिर पड़े तो क्या अमीर ही तो हैं,
बट्टा ये अमीरी में लगाना नहीं अच्छा।
कोई तो सखी होवेगा उठलाय ही देगा,
फिर याँ को हला जी को सताना नहीं अच्छा।
गर आप उठ गए तो फिर इज्जत ही रही क्या,
छोड़ो जी पड़े रहने दो जी उठना नहीं अच्छा।'[1]

साहित्यिक योगदान की दृष्टि से 'कमला' के सामयिक समाचार में भी साहित्यिक तत्व निहित है जो उस काल के संपादकों और लेखकों की शैली ही बन गई है। बालमुकुंद गुप्त की मृत्यु पर शोक समाचार देते हुए इसकी शैली द्रष्टव्य है—

'अरी अभागिनी हिंदी! तुम्हारी कैसी ग्रहदशा आ पड़ी है। तुम्हारे ऊपर न जाने किस शनि की दृष्टि पड़ गई है कि दिन दिन तू अपने प्यारे सेवकों को खोती ही चली जा रही है।... इसी शिकार में हमारे 'भारतमित्र' के संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त भी पड़ गये। मानो इस सितंबर की १८ तारीख को उस बिचारे के लिये काल ने पहले से ही ठीक कर रखा था। दुष्ट काल ने बेचारे को घर पर भी नहीं पहुँचने दिया वह दिल्ली में ही चटकर गया। हाय! हिंदी मुकुट का एक रत्न क्या हो गया? ओः समझा! धर्मराज ने चोरा लिया। इस दुराचारी काल को क्या ये ही प्यारे थे या इन्हीं का खून मीठा था?... सामाजिक लेख आज बेहोश पड़ा है। जा री! हिंदी! जा! तू बड़ी अभागिन है! आज तेरे भाग्य की परीक्षा हो गई।'[2]

देवनागर (१९०७ ई०)

श्री यशोदानंद अखौरी के संपादकत्व में तथा 'एक लिपि विस्तार

---

१. 'कमला', भाद्रपद, सं० १९६४, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १२६।

परिषद्' के तत्वावधान में मासिक रूप में निकला। इसके मुख पृष्ठ पर इसकी विशेषता का परिचय देते हुए यह वाक्य लिखा था—

'भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं के लेखों से विभूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक पत्र'।

इस पत्र का उद्देश्य निम्न पंक्तियों में लिखा हुआ है—

'इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है।...

देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रांत के निवासी का अपनी लिपि का भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हाँ यह अवश्य है कि अपने परिचित मंडल को बढ़ाना होगा।'[1]

'इस पत्र में साहित्य विषयक रोचक लेख तथा विज्ञान आदि विषय के भी उत्तम लेख प्रकाशित किये जायेंगें। कालांतर में उनका भाषांतर भी कर दिया जायगा। प्रत्येक अंक में किसी न किसी प्रांतिक भाषा के व्याकरण संबंधी लेख अवश्य रहेंगे और कुछ शब्द कोश भी, जिनसे अन्य भाषाओं को समझने में सरलता हो और इस पत्र के पढ़ने में पाठकों का चित्त लगे। पहले इस पत्र को पढ़ने में पाठकों को बड़ी सरसता जान पड़ेगी किंतु इसकी दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनंत भविष्यत् के गर्भ में पड़े हुए पचास वर्ष के अनंतर उत्पन्न होने के शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अंगीकार करेंगे।'[2]

'देवनागर' ने विभिन्न भाषाओं के लेखों को एक लिपि का आवरण दिया ही, साथ ही व्याकरण और भाषा विज्ञान संबंधी कुछ अच्छे निबंध प्रकाशित किए। इसका देवनागरी वर्णमाला फलक पर्याप्त वैज्ञानिक और आकर्षक ढंग से प्रकाशित होता था। हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के संबंध में संपादकीय टिप्पणी सहित सूचनाएँ समय समय पर प्रकाशित होती रहती थीं।

कविता, कहानी की अपेक्षा इसमें विचारात्मक निबंधों को अधिक महत्व दिया जाता था। यद्यपि इसके लेखकों की संख्या कम थी, तथापि इसमें लिखनेवाले विशिष्ट कोटि के लोग थे। भारत के विश्रुत शास्त्रज्ञ महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, गणितज्ञ डा० गणेशप्रसाद, पंडितशिरोमणि अनंतवामन शास्त्री जोशी, संस्कृतज्ञ पं० अक्षयवट मिश्र, श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न, तथा द्विवेदी युग के विशिष्ट कवि पांडेय लोचनप्रसाद शर्मा प्रभृति का सहयोग इसे प्राप्त था।

---

१. देवनागर, वत्सर १, अंक १, सं० १९६४।

२. वही।

इंदु (१९०९ ई०)

पं० अंबिकाप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में काशी से प्रकाशित हुई। जयशंकर प्रसाद जी ने 'इंदु' का प्रकाशन 'सरस्वती' के संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति आक्रोश व्यक्त करने के लिये किया जिससे 'सरस्वती' और 'इंदु' की प्रवृत्ति भिन्न दिशाओं की ओर जाती है। आचार्य द्विवेदी ने विचार और भावना दोनों ही क्षेत्रों में सामाजिकता, आदर्शवादिता और सांस्कृतिक पक्ष का आग्रह किया है। वे कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशपरक मानते हैं। उन्होंने साधारण श्रृंगारवर्णन को प्रतिभा का दुरुपयोग कहा। यही कारण था कि निराला ने जब 'जुही की कली' शीर्षक श्रृंगारिक कविता सरस्वती में छपने के लिये भेजी तो उन्होंने उसे छापने से अस्वीकार कर दिया।

साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराओं से अनुप्राणित होती हैं। एक है वैयक्तिकता को महत्व देनेवाली और दूसरी सामाजिकता को प्रमुख समझने वाली। जब साहित्य मे वैयक्तिकता का उत्थान होता है, तो आत्मानुभूति, भावात्मकता, सौंदर्याकर्षण, प्रणयोन्माद, नवीन प्रयोगों, स्वतंत्र शैलियों और मुक्तक रूप का विकास होता है। जब सामाजिकता का उत्थान होता है तो बाह्य विषयों का चित्रण, इतिवृत्तात्मकता, नैतिकता एवं मर्यादा का प्रतिपादन, प्राचीन नियमों का प्रयोग और प्रबंध शैली का प्रचलन होता है। 'इंदु' द्वारा प्रसाद ने पहली प्रवृत्ति को अपनाया और 'सरस्वती' द्वारा द्विवेदी जी ने दूसरी प्रवृत्ति का पोषण किया और ये ही दो विरोधी धाराएँ इस युग की प्रमुख दोनों पत्रिकाओं द्वारा अपनाई गईं।

'इंदु' के प्रथम अंक की प्रस्तावना में ही 'प्रसाद' ने साहित्य के संबंध में अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखा--

'साहित्य स्वतंत्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी की परतंत्रता को सहन नहीं कर सकता। संसार में जो कुछ सत्य और सुंदर है वही साहित्य का विषय है।'[1]

इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास कर हिंदी साहित्य जगत को 'प्रसाद' जैसी अमूल्य प्रतिभा से परिचित कराने का श्रेय 'इंदु' को ही है। प्रतिभा के धनी 'प्रसाद' ने द्विवेदी द्वारा ठुकराए जाने पर 'इंदु' की एक एक किरण द्वारा ऐसा प्रकाश विकीर्ण किया कि संपूर्ण हिंदी जगत् आलोकित हो उठा। 'इंदु' के ही माध्यम से प्रसाद ने अपने काव्य के द्वारा आधुनिक काव्य के विकास में योगदान दिया। कविता को श्रृंगार की अपेक्षा सुंदर भाव, कल्पना तथा भाषागत माधुर्य द्वारा

---

१. इंदु, कला, १, किरण १ सन् १९०९ ई०।

सर्वप्रथम इन्होंने रसमयता प्रदान की। 'इंदु' के पृष्ठों पर ही छायावादी काव्य को एक प्रशस्त भूमि मिल सकी है जिसका आधार लेकर 'प्रसाद' ने आगे चलकर 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की रचना की। यही नहीं, रहस्यवाद का आरंभ भी 'इंदु' के ही पृष्ठों पर मिलता है। यथा--

'इंद्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं।
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राग प्राणाधार है।'[१]

--'मिलन', प्रसाद।

'इंदु' (सन् १९०७ से १९१६ तक) में प्रसाद की लगभग ११८ कविताएँ हैं जिनमें बंगला के पमार, उर्दू की गजल और अंग्रेजी के सानेट छंदों को लेकर 'प्रसाद' ने हिंदी के क्षेत्र में नए प्रयोग किए हैं। ये कविताएँ कुछ तो अतुकांत और कुछ मुक्त छंद में भी हैं। इनकी भाषा ब्रज और खड़ी बोली दोनों हैं। प्रसाद की छह कहानियाँ 'चंदा'[२], 'पंचायत'[3], 'ब्रह्मर्षि'[४], 'गुलाम'[५], 'चित्तौर का उद्धार'[६] तथा 'ग्राम'[७] भी इस काल में 'इंदु' में निकलीं जो कहानी के विकास की एक कड़ी थी। इन कहानियों से 'प्रसाद' के प्रारंभिक भावपूर्ण जीवन की एक झलक हमारे सामने आती है। इस काल में 'प्रसाद' के चार नाटक 'सज्जन',[८] प्रायश्चित्त,[९] राज्यश्री',[१०] और 'करुणालय'[११] इंदु में प्रकाशित हुए। 'प्रसाद' के इन प्रारंभिक रूपकों से उनकी रचना पद्धति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। इन रूपकों में नांदीपाठ और भरतवाक्य की योजना हुई है। यद्यपि प्रसाद की ये प्रारंभिक रचनाएँ ही हैं पर इन्ही रचनाओं पर 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' का सौध निर्मित हुआ। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह द्विवेदी युग था जब साहित्य को अन्यान्य विधाओं का विकास अवरुद्ध था। भारतेंदु के उपरांत वह कड़ी टूटती सी दिखाई पड़ती है। प्रसाद ही वह व्यक्तित्व है जिसने इस कड़ी को मात्र

---

१. वही, वैशाख सं० १९७१, पृ० ४१३।
२. वही, सितंबर १९१० ई०, पृ० ८२।
३. वही, जुलाई १९१० ई०, पृ० १२।
४. वही, मार्च १९१० ई०, पृ० १४।
५. वही, जुलाई १९१४ ई० पृ० ४।
६. वही, अगस्त, १९१४ ई० पृ० १६७।
७. वही।
८. वही, १९१०-११, पृ० ३३९।
९. वही, १९१४ ई०, पृ० ३९।
१०. वही, १९१४ ई०, पृ० ७७।
११. वही, १९१५ ई०, पृ० १२०।

जोड़ा ही नहीं अपितु भविष्य में नाटक के क्षेत्र में युग के साथ अपना नाम जोड़कर उसे अमर कर दिया।

यह तो हुई 'इंदु' द्वारा 'प्रसाद' के व्यक्तित्व के विकास की कहानी। पर इस पत्रिका का मात्र इतना ही साहित्यिक अवदान नहीं रहा। 'प्रसाद' के साथ ही साथ राय कृष्णदास, जो प्रसाद के घनिष्ठतम मित्रों में थे, रामचंद्र शुक्ल, रुद्रदत्त भट्ट, पारसनाथ त्रिपाठी, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, विश्वंभरनाथ जिज्जा, मैथिलीशरण गुप्त, रामदहिन मिश्र, लोचनप्रसाद पांडेय, अखौरी कृष्णप्रसाद सिंह आदि को भी प्रोत्साहित किया।

समय समय पर 'इंदु' में कविता के अतिरिक्त संस्मरण, रेखाचित्र शतशः आख्यायिकाएँ, नाटक, समालोचना तथा इतिहास, विज्ञान, समाजशास्त्र संबंधी अनेक लेख निकले। पत्रिका होने के नाते समाचार तत्व का भी अभाव नहीं था। साथ ही पुस्तक परिचय और विविध विषय संबंधी स्तंभ भी थे। इनके द्वारा तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं तथा पुस्तकों पर अपने विचार भी व्यक्त किए जाते थे। कभी कभी इनमें बड़ी कटु आलोचना भी दिखाई देती थी। पुस्तक परिचय स्तंभ में 'हिंदी सर्वस्व' का परिचय देते हुए उसमें छपे एक लेख की आलोचना करते हुए लिखा है—

'चैत्र का अंक मेरे सामने है। स्थान स्थान पर कई एक छोटी मोटी भूलें रह गई हैं। नहीं जानता, वे भूलें लेखकों की हैं या छापने वालों की। कहीं 'निवेदन' स्त्रीलिंग हो गया है तो कहीं 'स्त्रियें कानों पर डाला' इत्यादि। ऐसे ही और भी कई एक भूलें हैं जिन्हें दिखाना मैं व्यर्थ समझता हूँ।···इन सभों को छोड़कर अब मैं आप लोगों को 'बस आज से अशुद्ध लिखना छोड़ दो' शीर्षक लेख की ओर ले चलता हूँ··· इस लेख में लिखा है—"संस्कृत सी भाषा और देवनागरी लिपि आज सारे ब्रह्मांड भर में ढूंढ़ने पर भी न निकलेगी। इसकी प्रतिष्ठा इसी कारण हुई कि जैसा लिखा जाता है वैसा पढ़ा जाता है। लेखक महोदय, 'लिखा जाता है' और 'पढ़ा जाता है' क्रियाएँ किसके अनुसार हुईं[1] ?'

भाषा पर कटु आलोचना कर परोक्ष रूप से भाषा परिष्करण में भी 'इंदु' का योगदान रहा।

गृहलक्ष्मी (१९०९ ई०)

पं० सुदर्शनाचार तथा श्रीमती यशोदादेवी के संपादकत्व में मासिक रूप से निकलती थी। यह मुख्यतः स्त्रियोपयोगी पत्रिका थी, जिसमें स्त्रियों के जीवनचरित, गृहप्रबंध, पाकशास्त्र, स्वास्थ्य रक्षा, शिशुपालन, सीना पिरोना, संगीत, कला, देश विदेश की बातें, विज्ञान की कहानी, मनोरंजक पहेली आदि अनेक उपयोगी

---

१. वही, १९१५ ई०।

स्तंभ थे। स्त्री क्षेत्र में इस पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन पत्रिकाओं में अपनी रुचि के विषय मिलने के कारण स्त्रियों ने भी पत्रिकाओं में रुचि लेनी प्रारंभ की। घर की चहारदीवारी के घेरे में रहनेवाली अधिकतर स्त्रियाँ शनैः शनैः पढ़ने और लिखने दोनों की ओर प्रोत्साहित हुईं। इस तरह साहित्यिक जगत् का घेरा पुरुषों से स्त्रियों की ओर बढ़ा। यही नहीं, वे पत्रिकाओं का संपादन भी करने लगीं। 'अबलाहितकारक' ने निम्नलिखित पंक्तियों में उन्हें प्रोत्साहित करते हुए कहा—

'हिंदी भाषा में स्त्री-शिक्षा विषयक सर्वांग सुंदरी उच्च श्रेणी की सबसे सस्ती सचित्र मासिक पत्रिका है[1]'

चाँद (१६०६ ई०)

लाला चरणदास के संपादकत्व में लाहौर से मासिक रूप में निकली। विविध विषय समन्वित इस पत्रिका में अधिकतर कहानी पर जोर दिया जाता था। कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, गद्यगीत, कविता आदि से सज्जित इस पत्रिका ने प्रेमचंद की 'बड़े घर की बेटी[2]' शीर्षक कहानी छापने का सौभाग्य प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त हेमंतकुमारी चौधरानी, ज्वालाप्रसाद, बालप्रसाद, शिवनारायण द्विवेदी आदि भी इसमें कहानी लिखते थे।

प्रताप (१६१० ई०)

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में कानपुर से साप्ताहिक रूप में निकला। मुख्यतः यह राजनैतिक पत्र था। इसका उद्देश्य देश के स्वाभिमान तथा उसकी स्वाधीनता के लिये सर्वस्व निछावर करनेवाले कार्यकर्ता पैदा करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये तत्कालीन राष्ट्रीय भावनावाले कवियों की रचनाएँ भी देता था। इन कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी प्रमुख हैं। प्रेमचंद की कहानियाँ भी इसमें निकलती थीं। सन १६२० में यह दैनिक हो गया।

साधु (१६१० ई०)

श्री आत्माराम जी के संपादकत्व में बड़ोदा से वैष्णव धर्म का यह मासिक निकलता था। इसमें धार्मिक, शिक्षाप्रद, नीति, विज्ञान, विद्योन्नति, उपदेश, प्रश्नोत्तरी आदि विषय रहते थे। साहित्यिक अवदान की दृष्टि से

---

१. अबलाहितकारक, मई १६१२ ई०।

२. चाँद, मई सन् १६११, पृ० २५।

समालोचना के क्षेत्र में परोक्ष रूप से इसने महत्वपूर्ण कार्य किया। उपलब्ध अंक में 'ब्राह्मण सर्वस्व' की आलोचना की गई है। स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग द्रष्टव्य है--

'इस समय क्या आपको वृद्धायकाल अधिक प्राप्त होने से 'साठीबुद्धि नाठी' का कलंक लगाया जाय, या आपका कुछ गूढ़ रहस्य है या आप इस बात को टटोलना चाहते हैं कि आज दिन भारतवर्ष में धार्मिक उत्तेजना पर कौन कौन बद्ध परिकर हैं।'

'आजकल जो चित्र प्रायः प्रचलित हैं उनमें पूने के छपे रविवर्मा के और विदेश के छपे होते हैं। परंतु वर्तमान चित्रों में भाव की बहुत कमी रहती है। चित्रकारों में से रविवर्मा के चित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। उनमें भी अधिकांश स्त्रियों के हैं। अधिकांश चित्र ऐसे हैं कि जिनमें भाव की गंध भी नहीं है।[१]'

मर्यादा (१९११ ई०)

प्रारंभ में पं० कृष्णकांत मालवीय के संपादकत्व में अभ्युदय प्रेस, प्रयाग से यह मासिक पत्रिका निकली। बाद में काशी का ज्ञानमंडल प्रेस इसे प्रकाशित करने लगा। यद्यपि यह पत्रिका 'सरस्वती' के उपरांत हिंदी जगत् में आई, पर शीघ्र ही इसने भी 'सरस्वती' के समान ही अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। यह भी विविध विषय समन्वित पत्रिका थी। उस युग के लगभग सभी प्रमुख लेखक इसमें अपनी रचनाएँ देते थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण, मिश्रबंधु, बालकृष्ण भट्ट, गिरिजाकुमार घोष, बंगमहिला आदि तो लिखती ही थीं, इनके अतिरिक्त मोहनदास करमचंद गांधी, लाला लाजपत राय, सरोजिनी नायडू, रामेश्वरी नेहरू, प्रोफेसर यदुनाथ सरकार, मिसेज एनि बेसेंट, पुरुषोत्तमदास टंडन आदि उद्भट राजनीतिज्ञ भी लिखते थे।

इस युग तक आते आते विकास शृंखला में हिंदी पत्रकारिता कुछ आगे बढ़ी। उसकी विकास की दिशाएँ अधिक स्पष्ट हुईं। धीरे धीरे परिस्थिति बदली और हिंदी पत्रकारिता भी साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में समान रूप से नेतृत्व करने लगी। भारतेंदु जी द्वारा चलाया हुआ स्वदेशी भाषा का आंदोलन इस पत्रिका द्वारा विकसित हुआ। पुरुषोत्तमदास टंडन ने 'भाषा का सवाल'[२] पर एक सशक्त लेख लिखा। देश की परिस्थिति के अनुकूल शिक्षा दी जाने पर जोर देते हुए गांधी जी ने लिखा--

---

१. साधु, सं० १९६८, पृ० २४९।

२. वही, पृ० २१५।

३. मर्यादा, दिसंबर १९१९ ई०, पृ० २६३।

'स्वराज्य का मार्ग शिक्षा में होकर है। चाहे राजनैतिक नेता मि० मांटेग्यू की सेवा में उपस्थित होते रहें पर वास्तविक शिक्षा प्रचार के बिना कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।'.........

'.....वर्तमान शिक्षा पद्धति में हमारी कुटुंब प्रथा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। शायद संचालक स्वभावतः ही हमारी आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान नहीं देते। मेकाले हमारे साहित्य को घृणा की दृष्टि से देखता था और यहाँ के निवासियों को धर्मान्ध समझता था.....[1]।'

गांधी जी तथा उनके सहयोगियों के विचारों की स्वतंत्रता का यह महायज्ञ निरन्तर चलता रहा। इस सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता का प्रभाव इस समय के साहित्य पर भी पड़ा। इसी हलचल में इस समय का संपूर्ण साहित्य पनपा। 'मर्यादा' के अंकों में अधिकतर इसी प्रकार का साहित्य आया।

भास्कर (१९११ ई०)

भास्कर प्रेस, मेरठ से निकलता था। इसके प्रकाशक रघुवीरशरण दुबलिस थे। पत्रिका के मुखपृष्ठ पर अक्षरों में 'हिंदी का सर्वोपयोगी-मासिक पत्र' लिखा रहता था। धर्म, विज्ञान, शिक्षा और सुधार संबंधी लेख ही इसमें अधिकतर रहते थे। उपलब्ध अंक के लगभग सभी लेख संपादक द्वारा ही लिखे गए हैं। कुछ लेख 'चित्रमय जगत्' और 'हिंदू' से लिए गए हैं।

चित्रमय जगत् (१९११ ई०)

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी के सम्पादकत्व में चित्रशाला प्रेस, पूना से मासिक रूप में प्रकाशित होता था। यह विविध विषय समन्वित पत्रिका थी। पत्रिका का स्तर अच्छा था। कविता, कहानी, गद्यगीत, रेखाचित्र, संस्मरण आदि सभी विषय इसमें निकलते थे। 'आर्त अपील' शीर्षक निम्नांकित कविता में तत्कालीन मानवीयता द्रष्टव्य है—

'नहीं रो रहा 'अन्न' 'अन्न' कहता लघु बालक,
नहीं पास कुछ रहा, करें क्या उनके पालक।
नहीं पेट में अन्न दूध क्यों स्तन में होवे,
मृत बालक ले गये, प्राण जननी ना खोवे।'[2]

(जगन्नाथ शर्मा)

---

१. वही, अक्टूबर, १९१९, पृ० १४५।
२. चित्रमय जगत्, अप्रैल-मई १९२० ई०, पृ० १०८।

बाल गंगाधर तिलक के देहावसान पर निकली निम्न कविता भी पत्र के स्तर पर पूर्ण प्रकाश डालती है—

हा ! हन्त ! !
क्यों काँप उठी वसुधा दिगन्त ?
क्यों शिथिल पड़ा सागर अनल्प ?
क्यों प्रभाहीन दीपक ज्वलन्त ?
क्यों विलप रही जनता अनन्त ?
क्यों भारत माँ हत ज्ञान व्यस्त ?
क्या कहा ! 'बाल' रवि हुआ अस्त !

जिस समय 'मर्यादा', 'सरस्वती' और 'इंदु' जैसी पत्रिकाओं द्वारा हिंदी साहित्य द्रुत गति से विकास के पथ पर बढ़ा जा रहा था, उपर्युक्त ढंग की कविताओं, अनेक आख्यायिकाओं तथा लेखों के द्वारा 'चित्रमय जगत्' का भी योगदान महत्वपूर्ण रहा।

मनोरंजन (१९१२ ई०)

ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने शाहाबाद से मासिक रूप में निकाला। यह शुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी। अपने समय में बड़ी लोकप्रिय भी थी। इसके दो विशेषांक भी निकले। तीन वर्ष निकलर यह बंद हो गई।

प्रभा (१९१३ ई०)

श्रीयुत कालूराम जी गंगराठे के संपादकत्व में खंडवा से मासिक रूप में निकलती थी। सन् १९१७ से इसका प्रकाशन श्री गणेशशंकर विद्यार्थी तथा देवदत्त शर्मा के संपादकत्व में 'प्रताप' प्रेस से होने लगा। यह भी विविध विषय समन्वित पत्रिका थी। इस काल के प्रायः समस्त प्रमुख लेखक इसमें लिखते थे। सन् १९२० में निराला तथा इलाचंद्र जोशी से भी इसके अंकों के माध्यम मे हिंदी जगत् परिचित हुआ।

नवनीत (१९१३ ई०)

लक्ष्मण नारायण गर्दे के संपादकत्व में ग्रंथ प्रकाशन समिति, काशी से मासिक रूप में निकली। द्विवेदी युग के साहित्य का विवेचन करनेवाले अधिकांश लोगों ने इस युग की मुख्य पत्रिका के रूप में 'सरस्वती', 'इंदु', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि को लिया। साहित्य के विकास में योगदान की दृष्टि से 'नवनीत' का भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। 'प्रासंगिक विचार' तथा 'साहित्य स्वागत' शीर्षक पत्रिका के दो स्तंभ बड़े उपयोगी थे। प्रासंगिक

विचार में तत्कालीन राजनीति तथा सामाजिक दशा पर स्वतंत्र दृष्टि से विचार प्रस्तुत करने का 'नवनीत' का अनूठा ढंग था। यथा—

'वेतन की उपयुक्तता पर विचार करने के लिये ही सम्राट ने कमिशन नियुक्त किया था। पर सिविलियनों का वेतन बढ़ाने में इसका मत जानना ही आवश्यक हो गया। कमिशन केवल गरीब भारत संतानों के लिये है। इस प्रदेश में प्राथमिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा का प्रचार कुछ भी नहीं हुआ है। यहाँ तक कि जंगली सीमांत प्रदेश भी स्त्रीशिक्षा के संबंध में युक्त प्रदेश से आगे बढ़ा हुआ है। पर शिक्षा प्रचार के लिये सरकार के पास रुपये नहीं हैं और सिविलियनों की विलासिता बढ़ाने के लिये हमारी सरकार प्रतिवर्ष ७०।८० हजार रुपये अधिक खर्च करने के लिये तैयार है। यदि अपने मन की ही करनी थी तो सम्राट से कमीशन नियुक्त कराने की क्या आवश्यकता थी।'[1]

प्रासंगिक स्तंभ के अतिरिक्त इसमें राजनीतिक लेख भी निकलते थे जिनमें निर्भीकतापूर्वक लेखक अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये स्वतंत्र थे। इन लेखकों में बाबूराव विष्णु पराड़कर, संपूर्णानंद, गांधी जी आदि थे।

पुस्तक समीक्षा स्तंभ के माध्यम से हिंदी जगत् को बढ़ाकर तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से अवगत कराने का इस पत्रिका ने महत्वपूर्ण कार्य किया। इस स्तंभ के अंतर्गत पत्र पत्रिकाओं या पुस्तकों के गुण दोषों का विवेचन इस प्रकार किया गया कि पाठक गुणों से परिचित होकर उसे पढ़ने के लिये उत्सुक हों और अपने दोषों से अवगत हो संपादक या लेखक उनके परिहार का प्रयास करें। यथा—

'शिक्षादान। इसका दूसरा नाम है 'जैसा काम वैसा परिणाम', लेखक स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट।

'भट्ट जी के विचार', उनकी भाषा और उनके कार्य से जिन्हें परिचय नहीं, ऐसा मनुष्य हिंदी सुशिक्षित समाज में नहीं है। उन्हीं भट्ट जी की पुस्तक की प्रशंसा हम क्या करें, सभी लोग कर रहे हैं। हम इतना अवश्य कहेंगे कि जिन्हें हिंदी की प्रकृति का परिचय पाना हो वे भट्ट जी की पुस्तक अवश्य पढ़ें।'[2]

इस काल के साहित्यिकों को साहित्य का एक प्रकार का नशा छाया हुआ था; यह नशा भी साहित्य के भविष्य के लिये बड़ा मंगलदायक हुआ। शोक संवेदनाएँ तक लोग साहित्यिक भाषा में ही व्यक्त करते थे। यथा—

'इस काल का कोई भरोसा नहीं है। आज हम आपसे बात कर रहे हैं, आगे के मनसूबे बाँध रहे हैं, कल क्या हो जायगा, किसको खबर है? हाय री निर्दयी

---

१. नवनीत, वैशाख सं० १९७१, पृ० ५५५।

२. वही, पृ० ८२०।

आशा ! तेरे भरोसे आदमी क्या क्या उद्योग करता है, पर तेरे अंदर इतनी निठुराई भरी हुई है कि आज जिस हृदय में तू फल फूलकर आनंद उद्यान लगा देती है उसी को एक क्षण में आग लगाकर स्मशानभूमि बना डालती है। कल जिसके नाम पर सारे हिंदुस्तान को फ़ख्र था आज वह कहाँ है कहाँ है वह चिराग जो कल बोल रहा था और जिसकी रोशनी में एक दल का दल अपना बीहड़ रास्ता तै कर रहा था ? क्या वह चिराग गुल हो गया ? हाँ ! जिसपर हमारे देश का दिमाग था वह यहाँ से चल दिया ? वह मातृभूमि का सच्चा सेवक हम सबको रुलाकर सदा के लिये चला गया। वह सुहावनी सूरत नैनों की ओट हो गयी। वह चमकता हुआ सितारा अस्त हो गया[1]।'

भाषा संबंधी 'नवनीत' का दृष्टिकोण निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

'अपनी मातृभाषा पर प्रेम करना और उसके विषय में अभिमान करना सीखिए। 'यंग मेंस इंडियन असोसिएशन' ने देशी भाषा में एकाध समाचार पत्र निकाले। भाषा सरल हिंदी होनी चाहिए। जहाँ तक हो सके संस्कृत और फारसी शब्दों का प्रयोग करना छोड़ दीजिए। कठिन भाषा लिखने का मोह मत कीजिए। आपके हृदय में जो भाव जैसे उत्पन्न हों उन्हें वैसे ही स्वाभाविक रीति से लिखिए—बनावट की जरूरत नहीं। किसी का भी अनुकरण मत कीजिए। कालेज के विद्यार्थियों से उनकी मातृभाषा (हिंदी) में छोटे छोटे लेख लिखवाइए। आपकी पाठ्य पुस्तकों में जो कोई चित्ताकर्षक कल्पना और गंभीर विचार आपको दृष्टिगोचर हों उन्हे अपनी मातृभाषा में व्यक्त करने की कभी कभी चेष्टा कीजिये।'[2]

ज्ञानशक्ति (१९१४ ई०)

श्री शिवकुमार शास्त्री के संपादकत्व में गोरखपुर से मासिक रूप से निकलती थी। इसमें वेदांत, योग, विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, मेस्मेरिजम आदि पर लेख निकलते थे। इसके अतिरिक्त एक 'गल्प' तथा स्त्रीशिक्षा पर एक लेख होता था। स्वतंत्र विचारों वाली इस पत्रिका में तत्कालीन राजनीतिक गतिविधि पर निर्भीकतापूर्वक अपने विचार व्यक्त किए जाते थे। गांधी जी द्वारा चलाए जानेवाले असहयोग आंदोलन की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास निम्न पंक्तियों में देखिए—

'असहयोग के सिद्धांत में यह बहुत बड़ा दोष है कि पहले ही अपने को निर्बल मानना पड़ता है। प्रकृति निर्बलों की रत्ती भर भी सहायता नहीं करती। लोग कहते

---

१. वही, फाल्गुन सं० १९७१, पृ० ६५।

२. वही, माघ सं० १९७१, पृ० २१।

हैं कि हमलोग एकता के बिना निर्बल हैं। पर बिना एकता के असहयोग भी नहीं होगा। पर विचार यह कहता है कि एकता और असहयोग में ३६ का संबंध है'[1]।'

विश्वमित्र (१९१६ ई०)

बाबू मूलचंद्र अग्रवाल ने कलकत्ता से दैनिक रूप में निकाला। युग के साथ साहित्य की प्रगति बनाए रखने में इस पत्र ने प्रशंसनीय कार्य किया।

ललिता (१९१८ ई०)

श्री मुरालीलाल मांगलिक के संपादकत्व में मेरठ से मासिक रूप में निकली। इसका उद्देश्य मुख पृष्ठ पर ही लिखा है---

ललिता का है यह उद्देश्य।
हिंदी का प्रेमी हो देश॥

विषय वैविध्य की दृष्टि से इस पत्रिका का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। 'सिंहावलोकन' स्तंभ में हिंदी की तत्कालीन दशा पर विचार करते हुए भाषा और प्रवृत्ति को लेकर अच्छा कटाक्ष किया गया है---

"....कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है तो कोई कोष का कायाकल्प करता है। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है तो कोई काव्य कलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्णविन्यास का विपर्यय करता है तो कोई शैली का सत्यनाश करता है। उल्था करने में भी उलट पलट का चर्खा चलता है। बंगाली की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी का होशहवास गुम है। अंग्रेजी के अंधड़ ने तो और भी आफत ढाई है। मुहावरों का मुंह इस तरह मूड़ा जाता है कि उन्हें मुंह दिखाने का मौका ही नहीं मिलता। नाटक का फाटक बंद है पर उपन्यास का उपद्रव बढ़ रहा है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली करता है और कोई ब्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है और कोई ठेठ हिंदी का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सब ही अपनी अपनी धुन में लगे है। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में सब ही ठाकुर हो रहे हैं'।[2]

(जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

ब्रजभाषा के कवियों की शब्दाडंबर प्रियता की आलोचना करते हुए खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन निम्न पंक्तियों में देखिए---

---

१. ज्ञानशक्ति, नवंबर १९२० ई०, पृ० २७९।
२. ललिता, अक्टूबर १९१८ ई०, पृ० २३४।

'यह ब्रजभाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की कविता है। इनका समझना सहज नहीं है। पूर्वजन्म के पुण्य उदय हों तो यह समझ में आ सकती है, अन्यथा नहीं :

तुपक्कं तड़क्कं धड़क्कं महा है। प्रलैचिल्लिकासी
खड़क्कं खरीबैरि छाती भड़क्कं। सड़क्कं गये सिंधु मज्जं गड़क्कं।

भला इसमें बाह्याडंबर, घटाटोप, कृत्रिमता के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है और इसके विरोधियों की संख्या घट रही है। जो लोग खड़ी बोली की कविता को योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोली वाले चाहे पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किए जाने का आग्रह करते हैं वे सच पूछिए तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं'।[1]

आज (१९२० ई०)

बाबू श्रीप्रकाश जी के संपादकत्व में ज्ञानमंडल प्रेस, काशी से यह पत्र दैनिक रूप में श्री शिवप्रसाद गुप्त जी ने निकाला। आलोच्य काल की बदलती और अग्रसर होती पत्रकारिता में इसने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस वर्ष अनेक दैनिक पत्रों का आविर्भाव हुआ, जिनमें 'स्वतंत्र', वर्तमान', 'दैनिक प्रताप', कर्मवीर', 'देश' (साप्ताहिक), 'भविष्य', 'स्वार्थ', 'स्वराज्य' (अर्द्ध साप्ताहिक), 'साम्यवादी', 'लोकमत' प्रमुख हैं।

१९०० से १९२० तक की प्रमुख पत्र पत्रिकाओं का यहाँ संक्षिप्त क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया गया है। आलोच्य काल की बदलती और अग्रसर होती पत्रकारिता की महत्ता इस दृष्टि से है कि इसने अपनी शक्ति और संपन्नता के कारण हमारे विचार और साहित्य में अभिनव क्रांति का सृजन किया है।

उपलब्धियाँ

उपलब्धियों की दृष्टि से सन् १९०० से १९२० तक का काल हिंदी साहित्य के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस युग में कविता, कहानी, निबंध, रेखाचित्र, समालोचना, उपन्यास, नाटक सभी साहित्य विधाओं का विकास हुआ। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने इन विधाओं के विकास के लिये ठोस पृष्ठभूमि का कार्य किया। अब तक यह मान्यता थी कि इस काल में साहित्य की सभी विधाओं का विकास आचार्य

---

१. वही, पृ० २३५।

महावीरप्रसाद द्विवेदी संपादित 'सरस्वती' के द्वारा हुआ है। यह स्वीकृत तथ्य है कि 'सरस्वती' इस काल की प्रमुख पत्रिका थी, लेकिन 'नवनीत', 'इंदु', 'प्रभा', 'मर्यादा', 'चाँद', 'स्त्रीदर्पण', 'हिंदीप्रदीप, 'भारतमित्र' आदि अन्य पत्रिकाओं के साहित्यिक योगदान की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इनमें से कई 'सरस्वती' के समान ही विविध विषय समन्वित पत्रिकाएँ थीं। दूसरा वर्ग विशिष्टीकरण वाली पत्रिकाओं का था। 'उपन्यास' (१९०१), 'हिंदी नाविल' (१९०१), 'उपन्यास लहरी' (१९०२), 'उपन्यास और उपन्यास प्रचार' (१९१२) आदि विशिष्टीकरण की प्रवृत्तिवाली पत्रिकाएँ केवल एक ही साहित्य विधा के लिये पाठक तैयार कर रही थीं। 'नागरीप्रचारणी पत्रिका' मुख्यत: अन्वेषण प्रधान पत्रिका थी। विशिष्टीकरण की प्रवृत्तिवाली इन पत्रिकाओं को अपने क्षेत्र में मुक्त होकर कार्य करने का अवसर मिला। दूसरी ओर विशिष्ट सिद्धांत को लेकर चलनेवाली पत्रिकाएँ थीं; इनमें 'इंदु' और 'भारतमित्र' का उल्लेखनीय स्थान है। द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' पूर्ण रूप से नैतिकतावादी पत्रिका बन चुकी थी। एक तरह से यह पत्रिका साहित्य प्रकाशन और साहित्यिक अनुशासन दोनों दायित्वों को निभा रही थी। भाषा की दृष्टि से भी इसके बंधन बड़े बड़े थे। 'इंदु' ने द्विवेदी जी की नैतिकता के विपरीत मुक्त रचनात्मकता को महत्व दिया। दरअसल इस पत्रिका ने छायावाद विरोधियों के खिलाफ एक तरह की साहित्यिक मोर्चेबंदी की। व्यक्तिवादी साहित्य के प्रचार प्रसार में 'इंदु' की भूमिका प्रशंसनीय है।

'सरस्वती' के द्वारा खड़ी बोली काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। प्रारंभ में यह भाषा अव्यवस्थित और भावों को वहन करने में अक्षम थी, पर धीरे धीरे द्विवेदी जी के प्रयत्नों से इसका परिष्कार हुआ। पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से जब खड़ी बोली का विस्तार हुआ तो काव्य के साथ साथ गद्य की भी निबंध, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना जैसी विधाएँ साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने लगीं। वास्तव में 'सरस्वती' खड़ी बोली को काव्यभाषा की महत्ता दिलाने के साथ ही गद्य विधाओं के उन्नयन का भी कार्य कर रही थी।

इस प्रकार खड़ी बोली का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। ब्रजभाषा के पुराने पड़ने और साहित्यिक क्षेत्र से हटने के लक्षण द्विवेदी युग में स्पष्ट हो गए थे।

इस काल में काव्य के क्षेत्र में मानवतावादी दृष्टि और नवीन जीवन मूल्यों के प्रति जिज्ञासा बढ़ी। दलित और उपेक्षित वर्ग के प्रति नई संवेदना के उद्भव के कारण साहित्यिक दृष्टि में परिवर्तन आया। आकस्मिक नहीं था कि निरंतर शोषण के बीच जीवनयापन करनेवाले अशिक्षित किसानों और श्रमिकों के जीवन, हिंदी कवियों के वर्णन विषय बन गए। कवियों का ध्यान समाज की समस्याओं की

ओर भी गया। समाज में प्रचलित वर्गभेद तथा नारी पर हो रहे अत्याचार का कवियों ने खुलकर विरोध किया। उर्मिला और कर्ण जैसे पुरामिथकों के चरित्रों को नई संवेदना के परिप्रेक्ष्य में चित्रित करना परिवर्तमान अंतर्दृष्टि का ही परिणाम था।

इस युग में कवियों की सीमित हृदयपरिधि का विस्तार भी हुआ। इन्होंने स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठने के प्रयत्न में प्रेम और सौंदर्य की वृत्तियों का परिष्कार किया। आदिकाल से उद्दीपन के रूप मे प्रयुक्त प्रकृति को भी आलंबन के रूप में चित्रित किया गया। श्रीधर पाठक, हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, गुप्त जी, प्रसाद आदि अनेक कवियों ने प्रकृतिप्रेम के आकर्षण से अभिभूत होकर उससे रागात्मक संबंध स्थापित किया। ऐसे स्थान पर मानव हृदय का अनुराग प्रकृति को आत्मीय बनाने में संलग्न हो जाता है। प्रकृति के साथ साहचर्य की यही भावना आगे चलकर छायावाद युग के कवियों की मूल भावना बन गई। छायावाद युग की सारी संभावनाएँ इस युग की उत्पत्ति हैं।

गद्य क्षेत्र में गुलेरी, प्रेमचंद तथा प्रसाद की कहानियों के प्रादुर्भाव के पूर्व कहानी किस प्रकार की रचना प्रक्रिया से गुजरी यह एक रोचक विषय है। इसका अनुशीलन आलोच्य काल की पत्रिकाओं को देखने से आसानी से होता है। हिंदी कहानी शिल्प का पहला लक्ष्य करने योग्य रूप हमें सन् १९०० ई० की 'सरस्वती' में निकली किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' में मिलता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि कथानक या किस्से को कहानी कला के रूप में विकसित करने का कार्य इसी काल की देन है। प्रारंभ में लेखक इतिवृत्तात्मक ढंग से कहानी लिखता था, जिसमें चरित्र का कोई स्थान नहीं था। कथानक ही प्रमुख था। वास्तव में शिल्प की दृष्टि से अभी तक कहानी में प्रयोग ही हो रहे थे पर इन प्रयोगों ने आगे आनेवाली कहानियों के लिये दिशा दी। रचनात्मकता के विकास की दृष्टि से देखें तो 'नववीत' में रामचंद्र रघुनाथ सर्वटे कृत 'केवल कर्तव्य के लिये' में व्यवहृत चित्रण प्रसाद की कहानियों की रचनाशैली का मार्गदर्शन करता हुआ जान पड़ता है। प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' का वस्तुचित्रण बहुत कुछ इसी कहानी की अनुकृति है। इसी प्रकार 'मित्र' में छपी 'झाँसी की रानी' तथा 'मर्यादा' में बद्रीनाथ भट्ट कृत 'शाहजहाँ का अंतिम काल' के कथनोपकथन क्रमशः वृंदावनलाल वर्मा तथा गुलेरी द्वारा कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों अपना लिए गए हैं। वास्तव में निर्माणाधीन कला के सारे लक्षण इस काल की पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। पत्रिकाओं की साक्षी से यह समझ लेना आसान है कि भाषा और साहित्यविधाओं में परिवर्तन के सारे संधिकालीन स्तर इसी युग की उपलब्धियाँ हैं।

निबंध के क्षेत्र में द्विवेदी युग के प्रारंभिक चरण में हम भारतेंदु युग की

अनेक विशेषताओं को सक्रिय पाते हैं। भारतेंदु युग में उद्भूत निबंध साहित्य को इस काल में परिपक्वता मिली। वस्तुतः निबंध पत्रकारिता के बहुत निकट है। व्यक्तित्व और निजीपन दोनों आवश्यक तत्व निबंध को साहित्यिक स्तर देते हैं। इस युग की निबंध रचना के प्रसंग में यह बात विशेष रूप से दिखाई देती है कि उसमें क्रमशः समाचार तत्व की कमी होने लगी थी। जहाँ भारतेंदु युग की विचारधारा का प्रमुख विषय सामाजिक था वहाँ इस काल के निबंधकारों का विषय साहित्यिक होता जा रहा था। इस प्रसंग में चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुंदर दास, मिश्रबंधु, शिवपूजन सहाय और हरिऔध आदि की निबंध रचना का उल्लेख किया जा सकता है।

पत्रिकाओं द्वारा बहुमुखी विकास प्रक्रिया में अनेक विधाओं का जन्म ही हुआ, जिनमें रेखाचित्र भी एक है; यह निबंध की सीमारेखा को छूता हुआ एक नया साहित्यिक रूप है। इतिहासकारों ने 'मर्यादा' (सन् १९१८ ई०) में प्रकाशित बनारसीदास चतुर्वेदी के 'औरंगजेब' शीर्षक रेखाचित्र को हिंदी का प्रथम रेखाचित्र माना है। पर किसी भी विधा का विकास समय की जटिल प्रक्रिया के भीतर से होता है। वास्तव में रेखाचित्र का लक्षण 'भारतमित्र' में प्रकाशित बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु का चिठ्ठा' में ही स्पष्ट होने लगा था।

इन पत्रिकाओं के माध्यम से सर्वप्रथम पारंपरिक विषयों, रूढ़ियों और अंधविश्वासों का उच्छेदन कर जीवन के साथ समीक्षा का अविच्छेद्य संबंध स्थापित हुआ। भारतेंदु युग में तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता के साथ सीधे संबोधित करने की प्रवृत्ति थी। आलोच्य काल में समीक्षा का रूप परिवर्तित हुआ और सैद्धांतिक आलोचना के साथ ही व्यावहारिक आलोचना का भी पूर्ण विकास हुआ। भारतेंदु युग के ठीक बाद जिन प्रतिभाओं ने हिंदी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास किया उनमें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० गोविंद नारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त, बाबू श्यामसुंदरदास, मिश्रबंधु आदि प्रमुख हैं। ये विद्वान् भारतेंदु युग के संस्कारों में पले थे और क्रमशः अपने युग के अनुरूप भारतेंदु युग की विरासत का विकास कर रहे थे। परिवर्तन कालीन साहित्य में समीक्षा का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। वह साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करती हुई तत्कालीन स्थिति के अनुरूप उसका रूप निर्धारित करती है। इस युग में साहित्यालोचन को सामान्य लोगों तक पहुँचाने के लिये तथा जनता की अभिरुचि जगाने के लिये सिद्धांत की अपेक्षा विश्लेषण को अधिक प्रमुखता दी गई। समीक्षा का उद्देश्य साहित्य की उन्नति, उपयोगिता तथा दिशा निर्देशन हो गया। सामाजिकता की इस स्वीकृति के कारण रस को कसौटी मान लिया गया। साहित्य के लिये रस अनिवार्य बन गया, जिससे काव्य सामान्य जनता के स्तर पर आया।

आलोच्य काल में विशिष्टीकरण की प्रकृतिवाली पत्रिकाओं का भी प्रकाशन होता था। 'उपन्यास' ऐसी ही पत्रिका थी। इसके अतिरिक्त विविध विषय समन्वित पत्रिकाओं में भी यदाकदा उपन्यास निकलते थे पर वे अपने आकार के कारण पत्रिकाओं के लिये उपयुक्त नहीं थे। लेकिन पाठकों में उपन्यास के प्रति आकर्षण था। यह पाठक वर्ग 'कथा' की दुर्दमनीय प्यास लेकर सामने आ रहा था। इसके मानस में एक ओर 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'किस्सा तोता मैना', 'सारंगा सदावृज', 'तिलस्म-ए-होशरुबा' आदि आख्यान तरंगें लेते थे तो दूसरी ओर सामाजिक पत्रों की बाढ़ के कारण समाचार चेतना भी उद्वेलनशील हो उठी थी। इस वर्ग में किसी और बात से अधिक घटनाओं की आनुक्रमिकता के प्रति उत्सुकता थी। 'फिर क्या हुआ' के सामने वह 'क्यों' और 'कैसे' पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहता था। निरंतर वर्धमान पाठक की इस मनोरंजन की प्यास को बुझाने के लिये पर्याप्त साहित्य का निर्माण होना ही था। इसीलिये इस युग में मनोरंजन साहित्य के रूप में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की एक बड़ी संख्या सामने आ गई। सामाजिक प्रश्नों को लेकर लिखे गए उपन्यासों का प्राधान्य बाद में हुआ। सामाजिक उपन्यासों में प्रामाणिकता और उपयोगिता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी परंतु वे उतने रोचक और कुतूहलवर्धक नहीं थे। तत्कालीन सुधार भावना के कारण आचार और नैतिकता जैसे समकालीन मूल्य तत्कालीन मनोरंजक उपन्यासों में भी मिलते हैं। देवकीनंदन खत्री सब पात्रों से यथासमय संध्या तर्पण कराते हैं और अवसर पड़ने पर पूजा प्रचार भी। उनके ऐयारों की अपनी आचार संहिता है जिसका वे सावधानी से पालन करते हैं। कई ऐयार किसी अकेले ऐयार पर आक्रमण नहीं करते, पकड़े जाने पर जान से नहीं मारते। खत्री जी विशेष रूप से वासनापूर्ण चित्रणों स बचते हैं। कहा जा सकता है कि जहाँ उस युग के सामाजिक उपन्यास तत्कालीन सामाजिक सोद्देश्यता को प्रतिबिंबित करते हैं वहीं तिलस्मी उपन्यासों में तत्कालीन समाज की रुचियाँ प्रतिबिंबित हैं।

नाटक रचना के क्षेत्र में द्विवेदी युग में मौलिक रचनाओं का अनुपात अपेक्षया कम था। अंग्रेजी और बँगला से अनुवाद करने की प्रवृत्ति अधिक थी। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण देन यह थी कि पारसी रंगमंच के लिये नाटक लिखनेवालों में अचानक एक ऐसे वर्ग का उदय हो गया जो मनोरंजन के साथ सामाजिक उद्देश्य को भी मान्यता देता था। नाटककारों की दृष्टि से नाटकों का प्रणयन किया गया। संस्कृतकालीन कठोर नियंत्रण शिथिल हुए और नए ढंग के नाटकों का आविर्भाव हुआ। शालाओं में अभिनय योग्य नाटक, एकांकी, संवादों, प्रहसनों और दृश्यों का विशेष रूप से प्रणयन हुआ।

अन्य विधाओं के समान ही नाटकों के विकास के लक्षण पत्रिकाओं में मिलते हैं। इन पत्रिकाओं में प्राप्त हुए नाटकों में अखौरी कृष्णप्रकाश सिंह का 'पन्ना'[1] नाटक विशेष उल्लेख योग्य है। इस नाटक का 'प्रसाद' के ऊपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। 'प्रसाद' के इस समय तक कई नाटक 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', 'कल्याणी परिणय', 'राजश्री' आदि 'इंदु' के ही पृष्ठों पर आ चुके थे। 'करुणालय' तथा 'कल्याणी परिणय' में कहीं कहीं मानसिक संघर्ष दिखाया भी गया पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में बाह्य और आंतरिक द्वंद्व का जैसा सुंदर चित्रण 'पन्ना' में हुआ उसका 'प्रसाद' की नाट्य शैली के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है पात्रों की मन:स्थिति पर प्रकाश डालनेवाले 'पन्ना' के गीत भी आगे विकसित होनेवाली 'प्रसाद' की कला के आधार बने।

नाटक की दृष्टि से इस युग का सबसे बड़ा योगदान भारतेंदु के प्रभाव की समाप्ति तथा प्रसाद के आविर्भाव में है। प्रसाद के प्रथम नाटक में ही प्रसाद की उदीयमान प्रतिभा के बीज दिखलाई देने लगे थे। शैली की दृष्टि से प्रसाद ने अनेक नए प्रयोग किए। नाटक की कथावस्तु में अंक–विभाजन का कार्य प्रसाद ने ही प्रारंभ किया। नाटकों में प्रथमत: अंतर्द्वंद्व का समावेश, परिष्कृत हास्य तथा पाश्चात्य एवं प्राचीन भारतीय नाट्य कल्प का समन्वय स्थापित करने का कार्य भी प्रसाद ने 'सज्जन' से ही प्रारंभ कर दिया था। इसके उपरांत इनके 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', 'कल्याणी परिणय', 'राजश्री' तथा कृष्णप्रसाद अखौरी कृत 'पन्ना' आदि सभी में इसी प्रकार का समन्वय मिलने लगा। इस प्रकार इस काल की पत्र–पत्रिकाओं में प्रयोग के विभिन्न सोपानों को पार करते हुए 'प्रसाद' ने जिस मौलिक मार्ग का अन्वेषण किया उसका उत्कृष्ट रूप हमें उनके बाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' आदि में मिला।

---

१. 'इंदु', मई सन् १९१५, पृ० ४६२।

अध्याय ११

द्विवेदी युगीन, नई धारा : सामान्य परिचय

द्विवेदी युग के पूर्व भारतेंदु युग में ही हिंदी कविता की दो धाराएँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं। एक रीतिकालीन परंपरा से चली आती हुई ब्रजभाषा की पुरानी काव्यधारा थी जिसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय थे शृंगार और भक्ति। दूसरी नई धारा थी जिसमें तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के प्रति जागरूक कवियों ने युगजीवन के विविध चित्र अंकित किए। भाषा की दृष्टि से नई धारा के भी दो रूप थे। एक धारा अंशतः नवीन थी; उसमें विषयों और छंदों की नवीनता तो थी किंतु उसकी भाषा परिपाटी के अनुसार ब्रजी ही रही। दूसरी धारा पूर्णतः नई थी; उसके विषय नए थे, उसकी भाषा खड़ी बोली थी उसके छंद भी परंपरागत गीतों और कवित्त सवैयों की पद्धति से भिन्न थे। इस नई धारा का वास्तविक विकास द्विवेदी युग में हुआ।

स्थूल रूप से, बीसवी शताब्दी ई० का प्रथम चरण आधुनिक हिंदी साहित्य का द्विवेदी युग है। विकासक्रम की शृंखला में द्विवेदी युग अपने पूर्ववर्ती युग की ही एक कड़ी है। उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का समय था। तत्कालीन औद्योगिक क्रांति ने रूढ़िबद्ध आर्थिक ढाँचे को हिला दिया। अनेक प्रकार के धार्मिक, सामाजिक आंदोलनों ने जन समुदाय को युगधर्मानुसार नए सिरे से सोचने विचारने के लिये प्रेरित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में स्थापित ब्रह्म समाज का भारतेंदु युग में विशेष प्रसार हुआ। ईसाई धर्मप्रचारकों का प्रभाव बढ़ रहा था। समाजकल्याण की भावना से प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थियॉसाफिकल सोसायटी आदि संस्थाओं की स्थापना हुई। युगचेता समाज सुधारकों ने समाज में प्रचलित घातक रूढ़ियों, अवांछनीय प्रथाओं, अंधविश्वासों आदि का प्रत्याख्यान करके समाज के सर्वतोमुख पुनरुत्थान का, उसके सांस्कृतिक नवनिर्माण का प्रयास किया। राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, देवेंद्रनाथ ठाकुर आदि ने नवजागरण का संदेश दिया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने जातीयता की भावना उद्बुद्ध करके वैदिक विचारधारा के अनुसार आर्य संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा की। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि ने संप्रदायमुक्त धर्मदर्शन का मानवतावादी व्याख्यान

किया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार से देश विदेश का संपर्क बढ़ा, लोगों की दृष्टि अधिक व्यापक हुई। जगह जगह प्रेस खुले, पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इससे विचारों के प्रचार और जनजागरण में अभूतपूर्व तीव्रता आई। आधुनिक शिक्षा, विदेशी संपर्क, ब्रिटिश दुश्शासन और पराधीन देश की दयनीयता के फलस्वरूप भारतीयों में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ, उनके मन में स्वराज्य की भावना जागृत हुई। दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक आदि, और आगे चलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रवाद की जो लहर फैली उसने सारे देश को आंदोलित कर दिया। इन परिस्थितियों के संकलित प्रभाव से भारतेंदु युग की काव्यधारा आधुनिकता की ओर मुड़ चली। उसका प्रतिफलन कविता के प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन शैली, रूपविधान, छंदयोजना और भाषा के माध्यम से हुआ। उस संक्रांतिकाल के कवि कल्पना और आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख हुए; रूढ़िमुक्त शृंगार एवं भक्ति से आगे बढ़कर सामान्य मानव, व्यापक प्रेम तथा स्वतंत्र प्रकृति को भी उन्होंने काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया; राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से अब तक उपेक्षित विषयों पर काव्यरचना की; राष्ट्रीय गौरव, आर्थिक दुरवस्था और दीन हीन समाज का भावपूर्ण चित्रांकन किया।

परंतु उस युग की अपनी सीमाएँ थीं। प्रगतिशीलता के बावजूद उस काल की अधिकांश उत्कृष्ट कविताएँ परंपरागत पुरानी परिपाटी पर लिखी गईं। उस युग में रीति-शृंगार-धारा की प्रवृत्ति बलवती रही। राष्ट्रीयता की दृष्टि से, देशभक्ति की तुलना में राजभक्ति का स्वर अधिक मुखर रहा। कवि भारतेंदु का गौरव उनकी शृंगारिक तथा भक्तिपरक रचनाओं पर आश्रित है। भारतेंदु एवं उनके समसामयिक कवियों द्वारा नए छंदों के प्रयोग किए गए, किंतु काव्य का लालित्य उनकी गीतबद्ध और कवित्त-सवैया-पद्धति पर रचित कविताओं में ही अधिक पाया जाता है। खड़ी बोली में काफी पद्यरचना हुई लेकिन उसमें अपेक्षित रमणीयता और सरसता नहीं आ सकी। इन आकांक्षाओं की अभीष्ट पूर्ति द्विवेदी युग में हुई।

वर्ण्य विषय

युगनिर्माता का आसन ग्रहण करने के पूर्व महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कवियों का ध्यान विषयपरिवर्तन की ओर आकृष्ट किया; उनको नायक-नायिका-वर्णन, आलंकारिक चमत्कारप्रदर्शन, समस्यापूर्ति आदि के मोह से मुक्त होकर समाज, प्रकृति आदि से संबंधित स्वतंत्र विषयों पर फुटकर कविताएं, और आदर्श चरित्रों को लेकर प्रबंध काव्य लिखने की प्रेरणा दी। उस युग के सामंजस्यवादी कवियों ने परंपराप्रथित ईश्वर, मानव, प्रकृति, प्रेम आदि आदि विषयों को नवीन दृष्टि से देखा, और उपेक्षित

समाज तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं के प्रति जागरूकता का परिचय दिया। उनकी धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना युग के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त हुई।

धार्मिक कविता के क्षेत्र में कवियों की मनोदृष्टि की नवीनता अनेक रूपों में प्रतिफलित हुई। मध्यकालीन अवतारवादियों ने राम और कृष्ण को ईश्वर के रूप में अंकित किया था। बीसवीं शती के बुद्धिवादी विज्ञानयुग में उनका मानवीकरण किया गया। यह प्रक्रिया स्वाभाविक थी। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को, और मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी' तथा 'साकेत' में राम को ईश्वर का अवतार मानते हुए भी उन्हें आदर्श महामानव के रूप में चित्रित किया। प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित गोवर्धनधारण की अलौकिक लीला 'प्रियप्रवास' में कृष्ण के बुद्धिसंगत मानवीय कार्य के रूप में प्रस्तुत की गई :

भ्रमण ही करते सबने उन्हें
सकल काल लखा सप्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही
सविधि रक्षण में ब्रज लोक के।
लख अपार प्रसार गिरींद्र में
ब्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का;
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने।[1]

'साकेत' के राम ने जनवादी और क्रांतिकारी समाज सुधारक की भाँति नर के ऐश्वर्य का संदेश सुनाया :

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किंतु शासन को।
मैं आर्यों का आदर्श बनाने आया,
जन संमुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शांति-हेतु मैं क्रांति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[2]

---

१. प्रियप्रवास, द्वादश सर्ग, ६६-६७।
२. साकेत, पृ० १६६-६७।

विश्वबंधुत्व का प्रचार करनेवाले सांस्कृतिक आंदोलनों से प्रभावित उस युग के कवियों ने लोककल्याण और जनसेवा को ईश्वर का आदेश और उसकी प्राप्ति का साधन माना। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् का साक्षात्कार वैभवविलास की आनंदभूमि में नहीं किया जा सकता, वह तो दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति और उनके क्लेश निवारण से ही मिल सकता है :

मैं ढूंढ़ता तुझे था जब कुंज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के सदन में॥
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में॥
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥[1]

मानवतावादी कवियों की ईश्वरभावना अवतार या देवालय की संकुचित परिधि में परिसीमित नहीं रही। उन्होंने भगवान् के सर्वग्राह्य विराट् रूप का दर्शन किया :

जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है।
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है।
जिसका है आराम प्रकृति कानन ही सारा।
जिस मंदिर के दीप इंदु, दिनकर औ तारा।
उस मंदिर के नाथ को निरुपम निर्मम स्वस्थ को।
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्वगृहस्थ को॥[2]

जनजागरण के परिणामस्वरूप समाज के प्रति जागरूक कवियों ने देवता एवं असाधारण मानवता से आगे बढ़कर सामान्य मानव को अपनी रचनाओं का वर्ण्य विषय बनाया। उन्होंने संतप्त वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखलाई, समाज को कुरीतियों से बचने और सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया, पतनोन्मुख समाज की भर्त्सना एवं उसकी कुरीतियों का व्यंग्यात्मक उपहास करके उसे सुधारने का प्रयास किया। सहानुभूति के प्रमुख पात्र अछूत, किसान, मजदूर, विधवाएँ, भिक्षुक आदि थे :

(१) खपाया किये जान मजदूर, पेट भरना पर उनका दूर।
उड़ाते माल धनिक भरपूर, मलाई लड्डू मोतीचूर।
सुधरने में है जग के देर, अभी है बहुत बड़ा अंधेर।
अन्नदाता हैं धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं शान।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, माधुरी, भाग १, खंड १, संख्या १, पृ० ३१।

२. जयशंकर प्रसाद, इंदु, कला ४, खंड २, पृ० १।

डराते उन्हें तमाचा तान, तुम्हें क्या सूझी है भगवान् !
आँवले खट्टे, मीठे बेर, किया है क्यों ऐसा अंधेर ?[1]

(२) वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर कालतांडव की स्मृतिरेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।[2]

(३) वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट, पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता[3]—

किसान-मजदूर-वर्ग की दयनीय दशा का निरूपण मैथिलीशरण गुप्त के 'किसान' (१९१५ ई०), गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के 'कृषकक्रंदन' (१९१६ ई०) और सियारामशरण गुप्त के 'अनाथ' (१९१७ ई०) में अवेक्षणीय है।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान, धर्मप्रचार और समाज सुधार के वातावरण में कवियों की उपदेशप्रवृत्ति भी उन्मिषित हुई। उस युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारतभारती' में स्वधर्म विमुख ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को अपनी हीन दशा से ऊपर उठकर श्रेयस्कर मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। आदर्श काव्य-रचना के सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने कवियों को उनके युगसापेक्ष कर्तव्य का भान कराया :

करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो,
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो ! अब तो न जीते जी मरो।...
अब तो विषय की ओर से मन की सुरति को फेर दो।
जिस ओर गति हो समय की उस ओर मति को फेर दो।
गाया बहुत कुछ राग तुमने योग और वियोग का,
संचार कर दो अब यहाँ उत्साह का, उद्योग का।

---

१. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', मर्यादा, भाग १५, संख्या २, पृ० ४९।
२. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' परिमल, पृ० १२६।
३. वही, पृ० १३३।

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।[1]

हास्यव्यंग्य के आलंबन एक ओर तो नई सभ्यता, संस्कृति तथा नए आचार-विचारों से अभिभूत नवशिक्षित बाबू लोग थे, और दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा के विरोधी, रूढ़िग्रस्त एवं कट्टरपंथी धार्मिक लोग। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने विदेशी सभ्यता के रंग में रँगे जेंटिलमैनों और रूढ़िवादी पुराणपंथियों पर समान रूप से व्यंग्य-प्रहार किया :

(१) ईश गिरिजा को छोड़ ईशु गिरजा में जाय,
अब 'शंकर' सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून कोट कम्फटर टोपी डाट,
जाकेट की पाकेट में वाच लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पीवेंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार सी उड़ाय अँगरेजी पढ़,
मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे ॥[2]

(२) सुनो स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से, करो मुक्ति की कामना भोग से।
नयी ज्योति की ओर जाना नहीं, पुराने दिये को बुझाना नहीं।[3]

समाजवंचक पाखंडी टीकाधारियों पर 'हरिऔध' का तीव्र आक्षेप है :

लोग उतना ही बढ़ाते है तुम्हे, रग जितने ही बुरे हों चढ़ गए।
पर तिलक! इस बात को सोचो तुम्हीं, इस तरह तुम घट गए या बढ़ गए।
इस तरह के हैं कई टीके बने, जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मन के रोग का टीका बना, तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा।[4]

उन कवियों का उद्देश्य समाज सुधार था। वे चाहते थे कि भारतीय समाज अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा मातृभाषा का संमान करे और साथ ही नवीन ज्ञान विज्ञान से लाभ उठाकर विश्व के उन्नतिशील देशों एवं जातियों की भाँति महान् बने।

देश की परतंत्रता, नई पद्धति पर दी गई शिक्षा, देशवासियों के विदेश-गमन, विदेशियों के भारतागमन, विदेशी शासकों द्वारा किए गए शोषण, स्वतंत्रता

---

१. भारत भारती, पृ० १७१।
२. देखिए : हिंदी कविता में युगांतर, पृ० १४७।
३. सरस्वती, भाग ८, संख्या १।
४. सरस्वती, भाग १६, संख्या २।

आंदोलन आदि ने कवियों को तुलनात्मक दृष्टि से आत्मसमीक्षा के लिये प्रेरित किया। उन्होंने मातृभूमि की विपन्नावस्था और नौकरशाही के अत्याचारों पर क्षोभ प्रकट किया :

(१) अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है।
पापी पामर प्लेग पसारे पाँव अड़ा है।
दिन दिन नई विपत्ति मर्म सब काट रही है।
उदरानल की लपट कलेजा चाट रही है ॥[१]

(२) नौकरों की शाही सभ्यता का गला काटती है,
गांधी के सँघाती अँखियों में खटकत हैं।
भारत को लूट कूटनीति की उजाड़ रही,
न्याय के भिखारी ठौर ठौर भटकत हैं।
जेलों में स्वदेशभक्त हिंसाहीन सज्जनो को,
पेटपाल पातकी पिशाच पटकत हैं।
कौन को पुकारें अब 'शंकर' बचा लो हमें,
गोरे और गोरों के गुलाम अटकत हैं ॥[२]

अधोगति में भी निश्चिंत पड़े हुए देशवासियों को मोहनिद्रा से जगाने के लिये उनकी भर्त्सना की गई :

ज्ञान से, मान से, शक्ति से हीन हो,
दान से, ध्यान से, भक्ति से हीन हो।
आलसी भी महामूढ़ प्राचीन हो,
सोच देखो सभी से तुम्हीं दीन हो।
अंग को आँसुओं से भिगोते रहो,
क्यों जगोगे अभी देश सोते रहो ॥[3]

अंधकारमय वर्तमान से उद्विग्न द्विवेदी युग के कवियों ने क्षुब्ध मन की तुष्टि और राष्ट्रभावना की पुष्टि के लिये भारत के ऐश्वर्यशाली अतीत का गौरवगान किया, देवी देवता के रूप में उसकी परिकल्पना की, उसके प्राकृतिक मनोहर दृश्यों के भव्य चित्र अंकित किए, और मातृभूमि के प्रति अतिशय प्रेम की व्यंजना की।[४]

---

१. सरस्वती, भाग १४, संख्या १२।

२. मर्यादा, भाग २, संख्या ३।

३. रामचरित उपाध्याय, सरस्वती, मार्च १९१६ ई०, पृ० ११०।

४. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, भारत गीत; रामनरेश त्रिपाठी, जन्मभूमि भारत, सरस्वती, भाग १५, संख्या १।

दु:खमय वर्तमान और सुखमय अतीत का वर्णन भविष्य को मंगलमय बनाने के लिये पर्याप्त नहीं था। राष्ट्रवादी नेताओं की भाँति साहित्यकारों ने भी विचार करके देखा कि पराधीन रहकर आत्मसंमान की रक्षा और समृद्धि की उपलब्धि संभव नहीं है। उन्होंने भविष्य निर्माण का भी संदेश सुनाया। उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई। उन्होंने मेलजोल का गीत गाया, मानवता को ललकारा, अपना दु:ख दर्द सुनाकर फरियाद लगाई, और शक्ति से क्रांति कर देने का संकेत किया :

(१) बौद्ध, जैन, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई भाई ॥[1]

(२) सत्याग्रह से अनुशासन की, असहयोग से दु:शासन की।
साम्यवाद से सिंहासन की, स्वतंत्रता से आश्वासन की।
छिड़ी हुई है, कर्मक्षेत्र में शुचि संग्राम मचाने आवें।
यदि मानव होवें भूतल पर मानवता दिखलाने आवें ॥[2]

(३) फरियाद लगाते जाएँगे, दुख दर्द सुनाते जाएँगे।
हम अपना धर्म निभाएँगे, तुम अपना काम करो न करो ॥[3]

(४) भारतलक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।
× × ×
सजे अभी साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका।[4]

अंतिम उद्धरण में प्रयुक्त 'भारतलक्ष्मी', 'राक्षसों', 'सिंधु पार' और 'किसी रावण की लंका' से स्पष्ट है कि कवि ने व्यंजना द्वारा भारतशोषक विदेशी शासकों के साम्राज्य को बलपूर्वक नष्ट कर देने के लिये देशवासियों का आह्वान किया है।

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारतभारती' में भारत के महिमामय अतीत, दीनहीन वर्तमान, आशामय भविष्य का सफल निरूपण हुआ। अपनी राष्ट्रभावना के कारण वह अपने समय की अत्यंत लोकप्रिय रचना हुई। पूर्ववर्ती युग की तुलना में द्विवेदी युग की राजनीतिक या राष्ट्रीय कविता अतीत से वर्तमान, कल्पना से

---

१. रूपनारायण पांडेय, सरस्वती, भाग १४, संख्या ६।
२. एक भारतीय आत्मा, प्रभा, वर्ष २, खंड १।
३. संपूर्णानंद, प्रभा, भाग १, संख्या १।
४. साकेत, पृ० २९७।

यथार्थ, उपदेश से कर्म, परप्रार्थना से स्वावलंबन, निराशा और अविश्वास से आशा और विश्वास, और दैन्यपूर्ण निवेदन से क्रांतिपूर्ण उद्गार की ओर अग्रसर होती गई। आगे चलकर ज्यों ज्यों स्वदेशी आंदोलन जोर पकड़ता गया त्यों त्यों राष्ट्रवादी कवियों—माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि—के क्रांतिकारी स्वर में तीव्रता आती गई।

नई धारा की कविता में प्रकृति का व्यापक दृष्टि से विविध शैलियों में चित्रण किया गया। द्विवेदी युग के पूर्वार्ध में कवियों ने परंपरा से सबंधविच्छेद न करते हुए भी प्रकृति का मानवीय भावों एवं कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में यथार्थ और विशद वर्णन किया। 'प्रियप्रवास', 'मिलन', 'प्रेमपथिक' आदि प्रबंधों में यह शैली स्वच्छंदता से अपनाई गई; उदाहरणार्थ :

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा[1]॥

उद्दीपन के रूप में प्रकृतिचित्रण की परिपाटी पहले से चली आ रही थी। द्विवेदी युग के कवियों ने उस परंपरा का भी अनुसरण किया। उदाहरण के लिये, 'पंचवटी' में कवि को शूर्पणखा के रतिभाव की व्यंजना, और लक्ष्मण के इंद्रियनिग्रह की महत्ता सिद्ध करने के लिये मादक वातावरण का निर्माण करना था; अतः उसने प्रकृति के उद्दीपक दृश्य का विधान किया :

चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जलथल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोकों से।[2]

आलंबन अथवा प्रस्तुत विषय के रूप में प्रकृतिवर्णन नई धारा की महत्वपूर्ण विशेषता है। पुरानी पीढ़ी के कवियों द्वारा किया गया वर्णन प्रायः इतिवृत्तात्मक है।[3] परंतु, नई पीढ़ी के सुमित्रानंदन पंत आदि ने वैचित्र्यशालिनी प्रकृति के नाना रूपों का सूक्ष्म दृष्टि से चित्ताकर्षक चित्रविधान किया :

---

१. प्रियप्रवास, प्रथम छंद।

२. पंचवटी, पृ० ५।

३. कहीं झील किनारे बड़े बड़े ग्राम, गृहस्थ निवास बने हुए थे।
खपरैलों में कद्दू करेलों की बेल के खूब तनाव तने हुए थे।
जल शीतल अन्न जहाँ पर पाकर पक्षी घरों में घने हुए थे।
सब ओर स्वदेश, स्वजाति, समाज भलाई के ठान ठने हुए थे।
—रूपनारायण पांडेय, प्रभा, भाग १, पृ० ३३७।

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार !
आह ! पावसनद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल,
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल ।[1]

नई धारा के अंतर्गत छायावादी कविताओं में अचेतन प्रकृति का चेतनीकरण तथा मानवीकरण किया गया और उसके माध्यम से मानवभावों की चित्तस्पर्शी व्यंजना की गई । 'किरण' (प्रसाद), 'जुही की कली' (निराला), 'बादल' (पंत) आदि में मानवीकृत प्रकृति का उत्तम निदर्शन मिलता है। प्रकृति के मधुर और सुकुमार सौंदर्य ने कवियों को प्रायः आकृष्ट किया । कोमल भावों के अनुरूप प्रकृति के रमणीय चित्र बहुधा अंकित किए गए, जैसे :

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग ।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ?[2]

कहीं कहीं दीप्तिप्रधान मनोवेगों के प्रसंग में उसके उग्र भयानक रूप का भी चित्रण किया गया :

आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन ![3]

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरों के प्रति कभी मित्रभाव रखता है, कभी शत्रुभाव और कभी तटस्थ भाव । अतएव जब प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोप किया गया तब वह भी मानव पात्रों के प्रति कहीं सहानुभूति रखती हुई,

---

१. सुमित्रानंदन पंत, आधुनिक कवि, पृ० ३३ ।

२. जयशंकर प्रसाद, झरना, पृ० २६ ।

३. सुमित्रानंदन पंत, पल्लविनी, पृ० ७६ ।

कहीं प्रतिकूल आचरण करती हुई, और कहीं उदासीन रूप में अंकित की गई। निम्नांकित उद्धरणों में उसके तीनों रूप क्रमशः द्रष्टव्य हैं :

(१) नीचे विपुला धरणी है दुख भार वहन सी करती,
अपने खारे आँसू से करुणा सागर को भरती।
(२) अवकाश असीम सुखों से आकाश तरंग बनाता,
हँसता सा छायापथ में नक्षत्र समाज दिखाता।
(३) मधुमालतियाँ सोती हैं कोमल उपधान सहारे,
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अंबर के तारे।[1]

परंपरागत पुरानी धारा के कवियों की भाँति ही नई धारा के छायावादी कवियों ने भी सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना में प्रकृति का प्रचुर उपयोग किया। उन्होंने प्रकृति संबंधी बिंबविधान में अपेक्षाकृत अधिक रुचि ली, और स्वच्छंद कल्पना, चित्रात्मकता, रूपकातिशयोक्ति या साध्यवसाना लक्षणा, मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना, रहस्यदर्शन आदि को विशेष महत्व दिया। अलंकारयोजना के क्रम में कहीं पर प्रकृति की निबंधना उपमेय अथवा प्रस्तुत विषय के रूप में की गई, जैसे पंत की 'छाया' में :

कहो कौन हो दमयंती सी तुम द्रुम के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?[2]

और, कहीं पर उसका चित्रण उपमान अथवा अप्रस्तुत विषय के रूप में किया गया, जैसे प्रसाद के 'आँसू' में :

देखा बौने जलनिधि का शशि छूने को ललचाना,
वह हाहाकार मचाना फिर उठ उठकर गिर जाना।[3]

ईश्वरवादी दार्शनिकों ने प्राकृतिक जगत् को ईश्वरीय शक्ति का विलास, ईश्वररूप और ईश्वर से व्याप्त माना है। यह संकल्पना छायावादी कवियों की रहस्यभावना के रूप में अभिव्यक्त हुई। उन्होंने प्रकृति के कण कण में अव्यक्त चेतन सत्ता के रहस्य का, उसके विश्वव्यापी सौंदर्य का, दर्शन किया :

(१) उस सुंदरतम की सुंदरता विश्वमात्र में छाई है—
ऊपर देखो, नील गगनमंडल में चमकीले तारे
नीचे हिम के बिंदु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते।[4]

---

१. जयशंकर प्रसाद, आँसू, क्रमशः पृ० ४८, ४८, ३६।

२. पल्लविनी, पृ० २१।

३. आँसू, पृ० ७७।

४. जयशंकरप्रसाद, प्रेम पथिक, पृ० ३०।

(२) सघन मेघों का भीमाकाश गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास, प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, तमक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ![1]

मानवमन की अत्यंत बलवती प्रवृत्ति होने के कारण प्रेम कविता का अन्यतम वर्ण्य विषय रहा है। द्विवेदी युगीन नई धारा के कवियों ने उसे व्यापक जीवन-तत्व के रूप में देखा। उसके विविध रूप उदात्तता के साथ अंकित किए गए—व्यक्तिप्रेम, जातिप्रेम, देशप्रेम, विश्वप्रम; प्रकृतिप्रेम, ईश्वरप्रेम आदि। उस युग में मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए---'प्रेमपथिक' (जयशंकर 'प्रसाद', १९१४ ई०), 'मिलन' (रामनरेश त्रिपाठी, १९१७ ई०), 'पथिक' (रामनरेश त्रिपाठी, १९२० ई०), 'ग्रंथि' (सुमित्रानंदन पंत, १९२० ई०) आदि। निबंधकाव्य 'आँसू' और महाप्रबंध 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' में भी प्रेम की विशद व्यंजना की गई। सुधारवादी युग के अनुरूप उन कवियों ने काम-वासना-प्रधान नख-शिख-वर्णन, नायक-नायिका भेद आदि से भिन्न मार्ग का अनुसरण किया। उनकी प्रेमप्रधान कविताओं में घोर शृंगारिकता के स्थान पर शिष्टता, संयम, व्यापकता, लोकपावनत्व आदि का समावेश हुआ। उन्होंने प्रेमवृत्ति को कामजनित आकर्षण से ऊपर उठाकर उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया। 'प्रियप्रवास' की राधा या 'साकेत' की उर्मिला का प्रेम स्वार्थ की भावना से कलुषित नहीं है, वे जनकल्याण की भावना से अनुप्राणित भी हैं। 'प्रसाद' ने प्रेम की पवित्रता और दिव्यता का संदेश सुनाते हुए उसे भूमा के सुख का अमोघ साधन माना :

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांतभवन में टिक रहना
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनंदभूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।[2]

काव्यरूप

काव्यरूपों के साधारणतया तीन वर्ग हैं---१. प्रबंधकाव्य, २. निबंधकाव्य या एकार्थकाव्य, और ३. मुक्तककाव्य। इन वर्गों के बाहर न होते हुए भी गीतिकाव्य

१. सुमित्रानंदन पंत; पल्लविनी, पृ० १३।
२. प्रेमपथिक, पृ० २२-२३।

और गद्यकाव्य को उनकी निजी रूपगत विशेषता के आधार पर दो भिन्न वर्गों के अंतर्गत रखा जा सकता है। द्विवेदी युग की खड़ी बोली की कविता में इन सभी काव्यरूपों का विकास हुआ।

द्विवेदी युग के आरंभिक वर्षों में, जब खड़ी बोली अशक्त और अपरिपक्व थी, पद्यनिबंधों की प्रचुर रचना हुई। ऋतुओं, प्राकृतिक वस्तुओं, ऐतिहासिक पात्रों, रविवर्मा के चित्रों आदि पर इतिवृत्तात्मक पद्यनिबंध लिखकर कवियों ने काव्य-रचना का अभ्यास किया। इस प्रकार की बहुसंख्यक रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। अनेक पद्यनिबंध 'कविताकलाप' में संकलित हुए। आगे चलकर खड़ी बोली के मँज जाने और उसकी अभिव्यंजना शक्ति के विकसित हो जाने पर मैथिलीशरण ने 'भारत भारती' और 'प्रसाद' ने 'आँसू' जैसे प्रकृष्ट एकार्थकाव्य का प्रणयन किया।

चमत्कारपूर्ण उक्तियों, समस्यापूर्तियों, उपदेशात्मक पद्यों, सूक्तियों और अन्योक्तियों के रूप में बहुविध मुक्तकों का निर्माण हुआ। मुक्तककाव्य के क्षेत्र में नाथूराम शर्मा 'शंकर', गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और कौशलेंद्र के कवित्त सवैयों तथा लाला भगवानदीन एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के चौपदों का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है। मलिक मुहम्मद जायसी के भाव का अनुहरण करते हुए 'शंकर' ने सुंदरी की माँग का चमत्कारपूर्ण चित्रांकन किया :

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है
कि श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है
कि राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है
कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है
कि ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है॥

'हरिऔध' के परस्पर निरपेक्ष चौपदे मुक्तक रचना के सुंदर उदाहरण हैं, यथा—

आँख का आँसू ढलकता देखकर
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर
या हुआ पैदा रतन कोई नया ?

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग के कवियों ने प्रबंधकाव्य की रचना में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उन्होंने आख्यानक गीतियों, खंडकाव्यों और महाकाव्य कल्प प्रबंधों से खड़ी बोली की कविता को संपन्न किया। लाला भगवानदीन

'दीन' के 'वीर पंचरत्न' और मैथिलीशरण लिखित 'रंग में भंग' आदि आख्यानक-गीतियों में साहित्यिक सौष्ठव की कमी होने पर भी भाषा की धारावाहिकता और ओजगुण की विशेषता है। उस युग में इतिहास, पुराण और कल्पना का आश्रय लेकर खड़ी बोली के कई श्रेष्ठ खंडकाव्य लिखे गए। विषयनिष्ठ रचनाओं में मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध', 'किसान' और 'पंचवटी' रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक', जयशंकर 'प्रसाद' का 'प्रेमपथिक' एवं सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय' उल्लेखनीय हैं। उनमें सुगठित वस्तुविन्यास, प्रभावशाली चरित्र-चित्रण, सरस भावव्यंजना, आकर्षक प्रकृतिवर्णन, नाटकोचित रमणीयता, कथनोपकथन की कलात्मकता और भाषा की स्वच्छता का वैशिष्ट्य पाए जाते हैं। सुमित्रानंदन पंत की अत्यल्प कथानक पर आश्रित और स्वच्छंद शैली में रचित 'ग्रंथि' ने विषयनिष्ठ कविता का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया जिसमें गीतिमत्ता, चित्रात्मकता, सहज हृदयोद्रेक तथा माधुर्यगुण का लालित्य एक साथ देखने को मिला।

द्विवेदी युग की नई काव्यधारा के अंतर्गत कृष्णकथा और रामचरित को उपजीव्य बनाकर कई महाप्रबंध लिखे गए। खड़ी बोली का प्रथम 'महाकाव्य' कहा जानेवाला 'हरिऔध' रचित 'प्रियप्रवास' (रचनाकाल १९०९–१९१३ ई०) सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। सीमित कथावस्तु और बोझिल वर्णनों के कारण उसे महाकाव्य भले ही न माना जाए, किंतु उसका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। उसने नई धारा को एक नया काव्यरूप दिया, तत्सम पदावली और संस्कृत वर्णवृत्तों के माध्यम से रची जानेवाली खड़ी बोली की कविता का मार्ग प्रशस्त किया। रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिंतामणि' उस प्रकार का दूसरा प्रयास था। उसके 'अंगद-रावण-संवाद' आदि अनेक प्रसंग बहुत सुंदर बन पड़े हैं जिनमें भाषा की सफाई के साथ ही उक्तिवैचित्र्य की अभिरामता है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' का अधिकांश और 'हरिऔध' के 'वैदेहीवनवास' का कुछ भाग द्विवेदी युग में लिखा गया। पहले में राम के राज्याभिषेक तक की और दूसरे में उत्तररामचरित की कथावस्तु ग्रथित हुई। 'साकेत' में उपेक्षिता उर्मिला और कैकेयी का चरित्र उदात्त रूप में चित्रित किया गया, खड़ी बोली की प्रांजलता और इतिवृत्तात्मक वर्णन शैली तथा छायावादी गीतिकला का समन्वय हुआ। प्रबंधकाव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ न होते हुए भी इन प्रबंधों में नई धारा के काव्यविकास का उत्कृष्ट रूप पाया जाता है।

नई धारा के कवियों ने गीति-काव्य-रचना को भी पर्याप्त महत्व दिया। उसकी तीन मुख्य शैलियाँ थीं—पद शैली, लोकगीत शैली और प्रगीत शैली। श्रीधर पाठक, लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट' जयशंकर 'प्रसाद' आदि ने प्राचीन पदपरंपरा की पद्धति पर टेकसहित गीतों का प्रचुर

भाषा में निर्माण किया। 'प्रसाद' के 'झरना' और मैथिलीशरण गुप्त के 'स्वदेश संगीत', 'झंकार' तथा 'साकेत' के नवम सर्ग में इस प्रकार के सुंदर गीत द्रष्टव्य हैं। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शर्मा 'शंकर', मैथिलीशरण गुप्त, लाला भगवानदीन आदि ने लोकगीतों के अनुकरण पर लावनी, कव्वाली, कजली, बिरहा, गजल, दादरा आदि की लय में बहुत से गीत लिखे। 'शंकर' लिखित 'पंचपुकार'[१], मैथिलीशरण का 'पंचपुकार का उपसंहार'[२] और लाला भगवानदीन का 'वीर पंचरत्न' इस शैली के सटीक उदाहरण हैं। बुंदेलखंड के एक लोकगीत (खूब लड़ी मर्दानी अरे झाँसीवाली रानी) के आधार पर सुभद्राकुमारी चौहान ने 'झाँसी की रानी' गीत लिखा जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ। द्विवेदी युग के उत्तरार्ध में नई शैली के कलात्मक प्रगीतों की रचना हुई। उन्होंने खड़ी बोली कविता को उच्चतर सोपान पर प्रतिष्ठित किया। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'झंकार' के प्रगीतों, निराला की 'जुही की कली', 'अधिवास', 'विधवा' आदि, पंत की 'प्रथम रश्मि', 'छाया', 'परिवर्तन' आदि और प्रसाद के 'आँसू' आदि में प्रगीतकाव्य की अभीष्ट विशेषताओं--जीवन की आंशिक अभिव्यक्ति, संगीतात्मकता, रागात्मक अनुभूति की इकाई, आत्मनिष्ठता, रमणीय भावव्यंजना तथा प्रभावान्विति--का समुचित संनिवेश हुआ।

प्रासंगिक रूप से गद्यकाव्य के विषय में दो शब्द कह देना भी अपेक्षित है। पुरानी परंपरा में पद्य ही कविता का माध्यम था। गद्यकाव्य के आरंभ और विकास के कारण भी द्विवेदी युग का हिंदी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। तत्कालीन 'इंदु', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं में विभिन्न लेखकों की कितनी ही गद्यबद्ध कविताएँ प्रकाशित हुईं। उनमें कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी सरलता, लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता और प्रतीकात्मकता का हृदयग्राही समन्वय है। द्विकलात्मकता उनका मोहक गुण है। उनमें गद्यभाषा की छंदहीनता, वाक्यविन्यास और व्याकरण संगति है, परंतु साथ ही पद्य की सी लय और कवित्वमयी अभिव्यंजना है। दो उदाहरण हैं--

१. हे मेरे नाविक, यह कैसी बात है? जब मेरी नाव मझधार में थी तब तो तुम्हें हटाकर मैंने डाँड़ ले लिए थे और तुम्हारे आसन पर आसीन होकर बड़ा भारी खेवैया बन बैठा था। पर जब वह धार से पार होकर गंभीर जल में पहुँची तब मैं हारकर उसे तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ।[३]

२. जब मैं रोता हूँ तब तुम घोर अट्टहास कर मेरे रोने का उपहास करते हो; जब हँसता हूँ, तुम्हारी आँखों में आँसू छलछला आते हैं--यह वैपरीत्य क्यों?[४]

---

१. सरस्वती, मई, १९०८ ई०।
२. सरस्वती, जून, १९०८ ई०।
३. राय कृष्णदास, साधना, पृ० ३१।
४. शांतिप्रिय द्विवेदी, क्षमा याचना, प्रभा, जनवरी, १९२५ ई०, पृ० ७३।

उस युग में गद्य-काव्य-सर्जन का मुख्य श्रेय राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि को है। क्रमशः 'साधना', 'अंतस्तल' और 'अंतर्नाद' में संकलित उनके गद्यगीत संवेदनशील हृदय से निःसृत भावों के मनोहर शब्दचित्र हैं।

छंदविधान

नई धारा की कविता में पुरानी रीति के छंदविधान का भी अनुसरण किया गया और रीतिमुक्त छंदों में भी स्वच्छंदतापूर्वक पर्याप्त काव्यरचना की गई। इस क्रम में सामान्यतया तीन प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई गईं—हिंदी के मँजे मँजाए छंदों की निबंधना; संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी तथा बँगला के वृत्तों की योजना; और मुक्तछंदों का प्रयोग। तुकांत और अतुकांत, वर्णिक और मात्रिक, सम और विषम, शुद्ध और मिश्रित–सभी प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए। कुशल कवियों ने विषय और भाव के अनुकूल छंदों का उपयुक्त चुनाव किया। हिंदी के बहुविध छंदों में से तीन विशेष उल्लेखयोग्य हैं : मैथिलीशरण गुप्त ने अपने सधे हुए छंद हरिगीतिका में 'जयद्रथवध' एवं 'भारतभारती' की रचना की। नाथूराम शर्मा 'शंकर', गोपालशरण सिंह और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने घनाक्षरी और सवैया छंदों का साधिकार व्यवहार करके खड़ी बोली में ब्रजभाषा के से लालित्यविधान की सफल निदर्शना की। 'हरिऔध' ने संस्कृत के द्रुतविलंबित, मालिनी, मंदाक्रांता आदि अतुकांत वर्णिक वृत्तों में 'प्रियप्रवास' सरीखे विशाल प्रबंध की रचना करके खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के छंदों के नियोजन की सफलता सिद्ध की। लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने भी संस्कृत वृत्तों को यथेष्ट गौरव दिया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी कवियों का ध्यान उर्दू छंदों की उपयोगिता की ओर भी आकृष्ट किया।[1] 'दीन', 'सनेही', 'हरिऔध' आदि ने उर्दू बह्रों के प्रयोग में भी सिद्धहस्तता दिखलाई। लाला भगवानदीन के 'वीरपचरत्न' में उर्दू-छंद-शैली की धारावाहिकता अवेक्षणीय है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपने मुहावरेदार चौपदों में उर्दू बह्रों की लय अथवा तर्ज को बड़ी निपुणता से ढाला, यथा—

है उसी एक की झलक सबमें।
हम किसे कान कर खड़ा देखें।
तो गड़ेगा न आँख मे कोई।
हम अगर दीठ को गड़ा देखें।

---

१. आजकल की बोलचाल की हिंदी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छंदों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छंद प्रयुक्त होना चाहिए।—रसज्ञ रंजन, पृ० ३।

नाथूराम शर्मा 'शंकर', मैथिलीशरण गुप्त आदि ने भिन्न छंदों के मेल से अभिनव मिश्रछंदों की कलात्मक योजना की। उदाहरण के लिये 'शंकर' द्वारा त्रोटक एवं मिलिंदपाद के संयोग से निर्मित निम्नांकित पद्य में लय का निर्बाध प्रवाह और अंत्यानुप्रास का चारुत्व अवलोकनीय है :

मतभेद भयानक पाप रहा। बिन प्रेम न मेल मिलाप रहा ॥
अभिमान अधोमुख ठेल रहा। अधमाधम ढोंग ढकेल रहा ॥
सुखजीवन का मग तंग हुआ।
बस भारत का रस भंग हुआ ॥[1]

द्विवेदी युग के उत्तरार्ध में छायावादी कवियों ने छंदविधान के क्षेत्र में क्रांति उपस्थित की। उनमें सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत के नाम अग्रगण्य हैं। उन्होंने परंपरानुयायियों के तीव्र विरोध के बावजूद रूढ़िक्रमागत छंदनियमों की स्वच्छंदतया उपेक्षा करके मुक्त छंदों का प्रचलन किया जिनमें लय की अजस्र धारा तो थी किंतु नियमों का तिरस्कार किया गया। छंद के प्रवाह और नियम के राहित्य के कारण उन्हें 'मुक्तछंद' की संज्ञा प्रदान की गई। इस नई पद्धति का पक्षपोषण करते हुए निराला ने 'परिमल' की भूमिका में अपनी मान्यता प्रतिपादित की—"मुक्ति का अर्थ ही है बंधनों से छुटकारा पाना। दृढ़ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्तछंद नहीं हो सकती। मुक्तछंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है।"[2]

मुक्तछंदों के विधान में वर्णिक और मात्रिक छंदों के वजन पर दोनों प्रकार की लयों का निर्वाह किया गया। छंद की अभिनवीनता के कारण संपादकों द्वारा तिरस्कृत 'जुही की कली' में वर्णिकलय की प्रधानता है—

विजन-वन-वल्लरी पर (१०वर्ण)
सोती थी सुहागभरी (८वर्ण)
स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी (१७वर्ण)
जुही की कली[3] (५वर्ण)

"यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरों का एक छंद आप ही आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्तछंद की तरह है"।[4]

मात्रिक-लय-प्रधान मुक्तछंदों का भी बहुशः प्रयोग किया गया; यथा :

---

१. पिंगलप्रकाश, पृ० २७५।
२. परिमल, भूमिका, पृ० १६।
३. परिमल, पृ० १६१।
४. परिमल, भूमिका, पृ० २०।

दिवसावसान का समय (१३ मात्राएँ)
मेघमय आसमान से उतर रही है (२१ मात्राएँ)
वह संध्या-सुंदरी परी सी (१६ मात्राएँ)
धीरे-धीरे-धीरे[1] (१२ मात्राएँ)

उन कवियों ने छंदबंधन को स्वतःस्फूर्त भावों की सहज अभिव्यक्ति में नितांत बाधक माना। उन्होंने स्वाभाविक भावलय के अनुरूप शब्दविन्यास पर बल दिया। कविता में भावावेग की अकृत्रिम अभिव्यक्ति की जानी चाहिए, यदि शास्त्रीय छंद की रचना नहीं होती तो न हो। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि स्वच्छंदतावादी कवियों ने वर्णमात्रा संबंधी नियमों की शृंखला को तोड़कर रचनाओं के विभिन्न चरणों की छंदलय और आयाम को भावलय के साँचे में ढाला :

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—रुकती है गति जहाँ ?[2]

पंत, प्रसाद, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो, रामनाथ 'सुमन' आदि कवियों ने भी मुक्तछंदों का सफल प्रयोग किया। इस नूतन छंदशैली के विकास से नई काव्यधारा के कलापक्ष में व्यापकता और प्रौढ़ता आई।

भाषाशैली

समर्थ काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा द्विवेदी युगीन नई कविता की महती उपलब्धि है। यद्यपि खड़ी बोली के छिटफुट पद्य मध्ययुग में भी लिखे गए थे तथापि उसे कविता का माध्यम बनाने का प्रश्न भारतेंदु युग में उठा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में गद्यविकास के साथ ही कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा। भारतेंदु ने खड़ी बोली में पद्यरचना के कुछ प्रयोग किए, किंतु उसे अनुपयुक्त समझकर छोड़ दिया। उनके समसामयिक लक्ष्मीप्रसाद ने १८७६ ई० में 'हरमिट' का खड़ी बोली में रूपांतर किया। श्रीधर पाठक ने बोलचाल की खड़ी बोली में 'एकांतवासी योगी' (१८८६ ई०) लिखा। उन्हीं दिनों ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को अपनाने के लिये आंदोलन चलाया गया। अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक भी छपाई। १८८६ ई० में उन्होंने 'खड़ी बोली

१. परिमल, पृ० १३५।
२. वही, पृ० १२४।

का पद्य' नामक एक संग्रह भी निकाला। बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि ने पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के व्यवहार को आगे बढ़ाया। परंतु उस युग में कोई भी कवि 'खड़ी बोली का कवि' नहीं हो सका। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो गई और इस नवीन काव्यभाषा में अपेक्षित व्यंजनक्षमता, माधुरी, प्रांजलता और प्रौढ़ता नहीं आ सकी।

द्विवेदी युग में यह धारणा जोर पकड़ने लगी कि गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बल देकर कहा—'गद्य और पद्य की भाषा पृथक् पृथक् नहीं होनी चाहिए। ····यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिये कवियों को चाहिए कि वे क्रम क्रम से गद्य की भाषा में कविता करना आरंभ करें।'[1] वस्तुतः पद्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली इस प्रकार दो दो भाषाओं का व्यवहार अस्वाभाविक था। द्विवेदी युग के कवियों ने इस बेतुकी अस्वाभाविकता को दूर किया।

नई काव्यधारा के भाषाविकास की दृष्टि से उस युग के तीन अवस्थान परिलक्षित होते हैं। १९०८–९ ई० तक के प्रथम अवस्थान में खड़ी बोली के समर्थकों को कठिन संघर्ष करना पड़ा। ब्रजभाषा के हिमायती यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि खड़ी बोली में भी कविता हो सकती है। 'सरस्वती' संपादक द्विवेदी ने इस चुनौती को स्वीकार किया। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियों और द्विवेदी द्वारा संशोधित होकर प्रकाशित उन रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि खड़ी बोली को सुधारने सँवारने में उन्होंने बहुत अथक परिश्रम किया। बहुत कुछ उनकी सतर्कता और सदुद्योग से ही खड़ी बोली को व्यवस्थित एवं परिमार्जित रूप प्राप्त हुआ। १९०९ ई० में 'कविताकलाप' का प्रकाशन हुआ जिसमें महावीरप्रसाद द्विवेदी, देवीप्रसाद 'पूर्ण', कामताप्रसाद गुरु, नाथूराम शर्मा 'शंकर' और मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ संकलित थीं। अधिकांश कविताएँ खड़ी बोली की थीं। उनमें शब्दों की तोड़मरोड़ बहुत कम थी, और खड़ी बोली का सुथरा हुआ, व्याकरणसंमत तथा धारावाहिक रूप प्रस्तुत हुआ, परंतु काव्यगुणों की कमी रही।

१९०९ से १९१६–१७ ई० तक के समय को द्वितीय अवस्थान माना जा सकता है। उस अवस्थान में 'जयद्रथवध' (१९१० ई०), 'भारतभारती' (१९१२ ई०), 'प्रेमपथिक' (१९१३ ई०), 'प्रियप्रवास' (१९१४ ई०) आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ

१. रसज्ञ रंजन, पृ० ७, ८।

प्रकाशित हुईं। उनमें भाषा की साधुता, प्रसन्नता, शक्तिमत्ता एवं धारावाहिकता के साथ ही अपेक्षित माधुर्य, ओज और प्रसाद से युक्त खड़ी बोली का परिनिष्ठित रूप उपस्थित हुआ। द्विवेदीमंडल के मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह आदि एवं द्विवेदीमंडल के बाहर के नाथूराम शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि कवियों ने यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में भी लालित्यपूर्ण काव्य-रचना हो सकती है। मधुरता की दृष्टि से गोपालशरण सिंह, 'हरिऔध' और सुमित्रानंदन पंत का योगदान विशेष स्मरणीय है।

उक्त प्रथम दो अवस्थानों में लिखित अधिकांश कविताओं में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता थी। भाषानिर्माण के उस काल में कवियों से बहुत अधिक उक्ति-वैचित्र्य की आशा नहीं की जानी चाहिए। लाक्षणिक भंगिमा, ध्वन्यात्मकता, चित्रकल्पना, मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना आदि के लालित्य की अभीष्ट पूर्ति १९१६ ई० के बाद तृतीय अवस्थान में हुई। उन्हीं दिनों 'निराला' ने 'जुही की कली' लिखी जो आगे चलकर नई धारा की परमोत्कृष्ट कविताओं में परिगणित हुई। सन् १९१७ से मैथिलीशरण गुप्त के महाप्रबंध 'साकेत' के अंश 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे। उसी समय के आसपास से जयशंकर 'प्रसाद' और सुमित्रानंदन पंत की कविताएँ भी लोगों का ध्यान कुछ कुछ आकृष्ट करने लगीं। छायावाद की इस महत्त्रयी (प्रसाद, निराला, पंत) और मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की ध्वनिप्रधान रचनाओं में खड़ी बोली की प्रौढ़ अभिव्यंजना शक्ति का ठोस परिचय मिला। निम्नांकित उद्धरणों में उपरिनिर्दिष्ट लाक्षणिकता आदि विशेषताओं की सफल निबंधना देखी जा सकती है—

१—तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान;
तुम मदन पंच-शर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान!
तुम अंबर में दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घनपटल श्याम, मैं तड़ित तूलिका रचना।[1]

२—झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥[2]

द्विवेदी युग की नई कविता में सभी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ। कहीं प्रांजल खड़ी बोली के निरलंकार सहज सौंदर्य की अभिव्यक्ति हुई—

कहते हुए यह यों न उनका भूल सकता वेष है—
हे पार्थ! प्रण पालन करो, देखो अभी दिन शेष है।[3]

---

१. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', तुम और मैं, परिमल, पृ० ८६।
२. जयशंकर 'प्रसाद', आंसू, पृ० १५।
३. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथवध।

और कहीं कल्पनामंडित अलंकृत शैली के चमत्कार का निदर्शन हुआ—

बालरजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।[1]

नाथूराम शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपालशरण सिंह आदि की रचनाओं में प्रसन्न वाक्यविन्यास का अजस्र प्रवाह दिखाई पड़ा—

कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
दनुज ! तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण में गिरिए रघुनाथ के,
निबल के बल केवल राम हैं।[2]

और 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' आदि की छायावादी कविताओं में गूढ़ व्यंजना की रमणीयता भी प्रेक्षणीय थी—

छायानट छवि परदे में संमोहन वेणु बजाता।
संध्या कुहुकिनि अंचल में कौतुक अपना कर जाता ॥[3]

एक ओर लोकोक्तिरहित और संस्कृतगर्भित समस्त पदावली का बंधान बाँधा गया—

रूपोद्यान - प्रफुल्लप्राय - कलिका राकेंदु - बिंबानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा - कला - पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य-मणि-सी लावण्य-लीला-मयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थीं ॥[4]

दूसरी ओर बोलचाल के शब्दों में मुहावरों की झड़ी सी लगा दी गई :

पास तक भी फटक नहीं पाते।
सैकड़ों ताड़ झाड़ सहते हैं।
आपमें कुछ कमाल है ऐसा।
फिर भी सिर पर सवार रहते हैं ॥[5]

---

१. सुमित्रानंदन पंत, ग्रंथि, पृ० ५; प्रस्तुत उद्धरण में 'रेखांकित' शब्द अँग्रेजी के 'अंडरलाइंड' का हिंदी रूपांतर है।

२. रामचरित उपाध्याय, रामचरितचिंतामणि।

३. जयशंकर 'प्रसाद', आँसू, पृ० ३३।

४. 'हरिऔध', प्रियप्रवास, ४।४।

५. 'हरिऔध', बोलचाल।

सुकुमार भावों के संदर्भ में माधुर्यगुणयुक्त कोमल पदावली की योजना की गई—

तज कर तरल तरंगों को,
इंद्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा लूँ निज मृग सा मन ?
भूल अभी से इस जग को ?[1]

क्षोभपूर्ण मनोवेगों के प्रसंग में चित्त-दीप्ति-कारक ओजस्वी शब्दसंघटन किया गया—

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर ![2]

इस प्रकार नई धारा के कवियों ने खड़ी बोली को भली भाँति निखारकर उसे संप्रेषण की समर्थता और कलात्मक रूप की विविधता प्रदान की।

---

१. सुमित्रानंदन पंत, पल्लविनी, पृ० ३४।
२. वही, पृ० ७६–७७।

बारहवाँ अध्याय

द्विवेदी युगीन प्रबंध काव्य

प्रस्तुत आलोच्य काल सं० १९५० से १९७५ अर्थात् सन् १८९४ से १९१९ तक की प्रबंध रचनाओं के वैशिष्ट्य को उस युग की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य एवं संदर्भ में ही समुचित आँका जा सकता है अतः इन परिस्थितियों की जानकारी यहाँ अत्यंत अनिवार्य है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के आत्मविश्वास का युग था। सन् १८८६ में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी किंतु राष्ट्रसेवकों का यह विश्वास कि अंग्रेज इस देश को सुव्यवस्थित और खुशहाल बनाएँगे, धीरे धीरे समाप्त होता जा रहा था। भारतेंदु युग का कवि राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के बीच सीमारेखा नहीं खींच पाता था। पुराने सामंती विश्वास उसे यह समझने को बाध्य करते थे कि अंग्रेज ही इस देश को व्यापार आदि से समृद्ध बना देंगे। यद्यपि भारतेंदु आदि कतिपय विद्वान् अंग्रेजों की अर्थशोषण नीति के प्रपंच को खूब अच्छी तरह समझने लगे थे, फिर भी वे उन्हीं शासकों से प्रार्थना करके स्थिति के सुधार में परिवर्तन की अपेक्षा करते थे। 'मानसोपायन' के आरंभ में ब्रिटिश राजकुमार के नाम लिखा गया भारतेंदु का पत्र इसी स्थिति का सूचक है। 'सर्वदेवमयो नृपः' का विश्वास भारतेंदु को भी ब्रिटिश राजकुमार के समक्ष घिघियाने को बाध्य कर रहा था।

सन् १८७७ ई० में दक्षिण में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लार्ड लिटन (१८७६ से ८० ई०) अकाल पीड़ितों की उचित सहायता का प्रबंध न कर सके। लार्ड एलगिन (१८६४–९९ ई०) के समय में पश्चिमोत्तर प्रांत, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में अकाल पड़ा और सन् १९०० में गुजरात दुर्भिक्षग्रस्त हुआ। लाखों व्यक्ति इन अकालों में मारे गए, महामारी टैक्स और बेकारी ने जनता के हृदय को निराश कर दिया था। सन् १८८६ में 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना के साथ भारतीयों में एक नया आत्मविश्वास जागा। अंग्रेजों की शासन-नीति की व्यापारी दृष्टि को भारतीय अब भली प्रकार समझने लगे थे। उन्हें

अपना धर्मनृप समझना महाभूल है, यह ज्ञान भी उनको हो गया था। भारतेंदु युग के धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों का स्थान अब ठोस राजनीतिक आंदोलन लेने लगा।

१९वीं शताब्दी के अंत तक कांग्रेस की प्रमुख माँग अंग्रेजी शासन में भारतीयों के सहयोग और प्रतिनिधित्व तक सीमित थी। सन् १९०१ की २२ जनवरी को महारानी विक्टोरिया का निधन हो गया और उनकी मृत्यु के साथ भारतीय जनता में से ब्रिटिश सद्भावना और प्रेम का विश्वास समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में होनेवाली कुछ अन्य राजनीतिक घटनाओं ने भी भारतीयों के हृदय से ब्रिटिश साम्राज्य के आतंक को झकझोर दिया। सन् १८९६ में अबीसीनिया निवासियों ने इटली को परास्त कर दिया और सन् १९०५ में जापान ने रूस को हरा दिया। इन दोनों घटनाओं से भारतीयों के मन में भी नया विश्वास जागा। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ होते होते राष्ट्रीय कांग्रेस में उग्रदलीय नेताओं का प्रभाव बढ़ने लगा था। तिलक के साथ लाला लाजपत राय और विपिनचंद्र पाल भी उग्र दल के प्रभावशाली व्यक्तियों में से थे। महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजों के प्रति भारतीयों का क्षोभ बढ़ने लगा। बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को देखकर अंग्रेजों ने हिंदू मुस्लिम के बीच फूट की नीति की चाल आरंभ की। सन् १९०५ में होनेवाला बंगाल विभाजन का फैसला उसी का परिणाम था। उस समय के बंगाल में उड़ीसा और बिहार भी संमिलित थे। बँटवारे का फैसला तो होना ही था परंतु वह जिस रूप में किया गया वह उचित न था। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने शासन के भारतीय-करण का विरोध करते हुए सिविल पद अंग्रेजों को देने का कारण उनकी दैनिक-चरित्रबल-श्रेष्ठता भारतीयों के ऊपर घोषित की। सन् १९०० के पश्चात् अंग्रेजों की दमन नीति निरंतर बढ़ने लगी। उधर दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ जो व्यवहार अंग्रेज कर रहे थे उनसे उनकी भारतविरोधी नीति की ही पुष्टि होती थी। सन् १९०७ में गांधी जी ने वहाँ सत्याग्रह किया। भारतीय जनता का अंग्रेजों पर से विश्वास उठता गया। सन् १९०५ में बंग-भंग-आंदोलन हुआ। समस्त बंगाल में ७ अगस्त को विराट् सभाएँ हुई। स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और विदेशी माल का बहिष्कार इस राष्ट्रीय आंदोलन के मूल आधारस्तंभ थे। सन् १९०७ में लाला लाजपत राय को बंदी बनाकर मांडले भेज दिया गया। भारत के अंदर और भारत से बाहर भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को जीवित रखने के लिये अनेक संस्थाएँ स्थापित हुई। अंग्रेजों की शासन नीति के विरुद्ध इंग्लैंड में मदनलाल ढींगरा और दामोदर सावरकर ने विशेष प्रचार किया। सावरकर को कालेपानी की और ढींगरा को गोली चलाने के अपराध में फाँसी की सजा हुई। सन् १९०९ में मिंटो

मार्ले रिफार्म के द्वारा कुछ शासन सुधार हुए। वाइसराय की प्रबंध कौंसिल और प्रांतीय प्रबंध कौंसिल में एक एक भारतीय को लिया गया किंतु निर्वाचन नीति में सांप्रदायिकता के विषैले बीजों का आरोपण भी साथ ही हुआ। सन् १९१२ में लार्ड हार्डिंज पर बम का गिराया जाना एक महत्वपूर्ण घटना थी। क्रांतिकारी आंदोलनों की चर्चा करते हुए मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है--"जिस समय 'वंदेमातरम्' कहने पर लोग मारे जाते थे, जन आंदोलन जब स्वप्न था, उस जमाने में इन लोगों ने जो हिम्मत की, कोई अंधा मूर्ख कायर भले ही उसे छोटा बताए, हमारी जाति के मन पर उसका जो असर पड़ा वह बहुत महत्वपूर्ण है[1]।" सन् १९१५ में गोखले का देहावसान हो गया और उग्र दल का प्रभाव और बढ़ने लगा। श्री बाल गंगाधर तिलक ने श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के साथ मिलकर 'होम रूल लीग' की स्थापना की और जनता में एक नई स्फूर्ति की लहर फिर दौड़ गई। अंग्रेज नृशंसता से भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने लगे। इनकी कुत्सित नृशंस नीति भी भारत के वीरों की देशभक्ति के उत्साह को कम न कर सकी। महान् बलिदान के लिये समुद्र की लहरों के उद्दाम प्रवाह की तरह भारतीय बढ़ते गए। स्वतंत्रता के आह्वान में मृत्यु का स्वागत मुक्ति द्वार था। क्रूर शासक अंग्रेज भी एक बार भारतीयों के अदम्य साहस और राष्ट्रप्रेम के समक्ष थरथरा उठे। सन् १९११ में दिल्ली दरबार में बंगाल के विभाजन का प्रस्ताव गिर गया। भारतीयों ने इसे अपनी विजय का चिह्न समझा।

सन् १९१४ में योरपीय महायुद्ध छिड़ गया। गांधी जी इस समय तक भारत लौट चुके थे। गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार की इस युद्ध में सहायता याचना की माँग का समर्थन किया और भारतीय जनता से अंग्रेजों को युद्ध में सहायता देने की अपील की। १९१५ में जब गांधी जी भारत लौटे तो पहले तो उन्होंने कुछ दिन कांग्रेस से बाहर रहकर काम किया किन्तु बाद में उसमें संमिलित हो गए। 'गिरमिट' प्रथा का बंद कराना गांधी जी का उस समय का एक महत्वपूर्ण कार्य था। उधर सन् १९०७ में हीं 'मुस्लिम लीग' की स्थापना हो चुकी थी। तुर्कों के विरुद्ध अंग्रेजों के युद्ध ने भारत के मुसलमानों को नाराज कर दिया। मौलाना शौकत अली और मौलाना मुहम्मद अली आदि मुस्लिम नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। लखनऊ में १९१६ में लीग का एक महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ जिसमें भारत के हिंदू मुसलमानों की एकता पर बल दिया गया। गांधी जी ने नील की खेती से 'तीन कठिया' प्रथा को समाप्त करवाने का बीड़ा उठाया और सफल हुए। सन् १९१८ में खेड़ा और अहमदाबाद के पीड़ित कृषकों और मजदूरों को भारी कष्ट से मुक्ति दिलाई। गांधी जी की सफलताओं से भारतीय जनता उनकी ओर आकृष्ट होने लगी।

---

१. भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, १९६०, पृ० ५१।

गांधी जी का विश्वास था कि युद्ध में सहायता करने के फलस्वरूप अंग्रेज भारत को आजाद कर देंगे किंतु यह आशा निराधार सिद्ध हुई। सन् १९१९ में युद्ध समाप्त हुआ। उस समय भारतीय स्वराज्य का स्वप्न ले रहे थे और उपहार में मिला 'रोलेट ऐक्ट' जिसके अनुसार सरकार किसी को भी मुकदमा चलाए बिना गिरफ्तार कर सकती थी। गांधी जी ने इन कानूनों को वापस लेने की सरकार से प्रार्थना की किंतु असफल रहे। तब उन्होंने सत्याग्रह की घोषणा की और ६ अप्रैल, १९१९ ई० को देशव्यापी सत्याग्रह आरंभ हो गया। जितना ही सत्याग्रह जोर पकड़ता था उतनी ही सरकार की दमन नीति बढ़ती जाती थी। जलियाँवाला का विकराल हत्याकांड इसी समय हुआ जिसमें एक निहत्थे जनसमूह पर (लगभग २० हजार लोगों पर) फायर किया गया। बाहर निकलने का केवल एक मार्ग था और उसपर भी पुलिस अधिकार किए हुए थी।

अमृतसर कांड की जाँच करने के लिये हन्टर-कमेटी बैठाई गई परंतु कांग्रेस को उसकी जाँच से संतोष न हुआ और उसने अपनी एक अलग कमेटी बैठाई। सन् १९२० में खिलाफत के प्रश्न पर गांधी जी ने पुनः सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ किया। गांधी जी और अली भाइयों (शौकत अली तथा मोहम्मद अली) के नेतृत्व में यह आंदोलन चला। असहयोग आंदोलन की घोषणा १ अगस्त, १९२० को की गई और सितंबर के कांग्रेस अधिवेशन में बहुमत से उसे स्वीकार कर लिया गया। इसके अंतर्गत सरकारी उपाधियाँ लौटाना, विदेशी माल का बहिष्कार आदि बातें थीं। गांधी जी का विचार था कि ३१ दिसंबर, १९२१ तक स्वराज्य अवश्य मिल जाएगा।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि भारत सचिव लार्ड मांटेग्यू ने पार्लियामेन्ट में घोषणा की थी कि भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति भारतीयों को क्रमशः उत्तरदायित्व देकर और उन्हें आत्मनिर्भर बनाकर स्वशासन देने की है और इसके लिये महत्वपूर्ण कदम उठाए जाएँगे। सन् १९१६ में जो होम रूल लीग तिलक ने महाराष्ट्र में और ऐनी बेसेन्ट ने मद्रास में बनाई थी उसके अनुसार 'होम रूल' का अर्थ इंग्लैंड और भारत का एकदम संबंधविच्छेद नहीं था बल्कि यह था कि भारत माता अपने घर की पूरी स्वामिनी हो जाए। भाषा के आधार पर प्रांतों का विभाजन भी 'होम रूल लीग' ने स्वीकार कर लिया था। १९१७ की रूसी क्रांति का भी जाने अनजाने भारतीय राजनीतिक आंदोलन पर प्रभाव पड़ रहा था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में एक ओर गांधी जी थे और दूसरी ओर क्रांतिकारी, जो दोनों ही अपने अपने ढंग से भारत माता की बेड़ियाँ काटने के स्वप्न देख रहे थे। सन् १९२२ ई० की जनवरी में कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच समझौते के सब प्रयत्न असफल हो गए। ५ फरवरी, १९२२ को चौरीचौरा (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) का भीषण हत्या-

कांड हुआ और आंदोलन कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया गया। यही राजनीतिक उलटफेर और भारतीय जनता के अदम्य देशप्रेम और साहस का वह युग है जिसे हिंदी में प्राय: 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है क्योंकि हिंदी के साहित्याकाश पर द्विवेदी जी का एकछत्र अधिकार उसी समय था और उनकी पत्रिका 'सरस्वती' द्वारा नवोदित हिंदी कवियों को वाणी मिल रही थी।

आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति

उत्तर मुगल काल की ऐश्वर्यमय अतिरंजना का नैसर्गिक परिणाम ब्रिटिश राज्य की स्थापना के युग में देखा जा सकता था। सामंतों की विलासतृप्ति की हवस से आर्थिक सुव्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। भारतीय जनमानस को अंधविश्वास और जातिभेद पूर्णत: जर्जर कर रहा था। भारतेंदु ने अपने समय की आर्थिक दुर्व्यवस्था की ओर पुन: पुन: ध्यान केंद्रित कराया है।

विदेशी सरकार ने अपनी सुरक्षा के लिये जमींदारी प्रथा को जन्म दिया। रयतवाड़ी व्यवस्था के द्वारा भी कृषक एवं सरकार के बीच एक विशाल मध्यस्थ उपजीवी समाज का प्रादुर्भाव इस युग में हुआ। जमीन शिकमी काश्त और महाजनों के हाथ में चली गई, भूमिहीन काश्तकारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। शिकमी जोतनेवालों की संख्या सन् १९०१ से सन १९२१ के बीच के समय में १५१ प्रति हजार से बढ़कर २२५ प्रति हजार तक पहुँच गई। संयुक्त प्रदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में खेती से लगान प्राप्त करनेवालों की संख्या में ४६ प्रतिशत की वृद्धि हुई और पंजाब में १९११ से १९२१ तक के बीच यह संख्या सवा छह हजार से बढ़कर ११ हजार के लगभग हो गई।[1] साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह आश्चर्य प्रकट किया है कि कहीं कहीं तो जमीदार और भूश्रमिकों के बीच पचास से भी अधिक उपजीवी मध्यस्थ हैं जो किसान के परिश्रम से मौज उड़ाते हैं। भारतीय किसान इन्हीं कारणों से गरीब होता गया और निरंतर ऋण के बोझ से दबता गया। सर एडवर्ड मैक्लेगन ने केवल मद्रास प्रांत में १९११ में इस ग्राम्य ऋण का अनुमान ३ अरब रुपए किया था और १९२३-१९२४ में एम० एल० डार्लिंग ने इसको ६ अरब अनुमानित किया था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और खंबाता के अनुसार सन् १९२४ में भारतीय औसत आय में तीन व्यक्तियों में से केवल दो को रोटी मिल सकती थी।[2] जी० एमर्सन ने अपनी 'मूक भारत' नामक पुस्तक में लिखा है कि "तीन करोड़ से चार करोड़ व्यक्ति दिन में एक ही बार भोजन करते हैं और भुखमरी के शिकार रहते हैं। ... अगर उन्हें हैजे के कपड़े जलाने के लिये कहा जाए तो उनका उत्तर होता है

---

१. इंडिया टु डे, रजनी पामदत्त।

२. द वेल्थ ऐंड टैक्सेबुल कपैसिटी आव इंडिया, १९२४, पृ० २५३।

कि इसको जला देने पर क्या पहनेंगे ।'[1] यह धारणा भ्रांत है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण यह विषमता थी क्योंकि यह वृद्धि यूरोपीय देशों की तुलना में भारत में बहुत कम हुई थी; यह केवल १८.६ प्रतिशत थी । इस दरिद्रता का कारण आर्थिक शोषण एवं विदेश को अन्न का निर्यात था ।

इसी काल में भारत के ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था में भी विषमता उपस्थित हुई । ग्रामों के लघु उद्योग धंधे धीरे धीरे समाप्त होने लगे । सन् १६०१ और सन् १६११ के बीच इसमें ६ प्रतिशत की कमी हो गई ।

ब्रिटिश पूंजी की जड़ें भारत में पूरी तरह जम चुकी थीं । १६१४ के लगभग अनुमानत: ४५ करोड़ पौंड की ब्रिटिश पूंजी रेल, बीमा, बैंक और चाय के व्यापार में लगी हुई थी जिसका ब्याज सीधा इंग्लैंड को जाता था । सन् १८६४ से ही विदेश से आनेवाले माल पर जब आयात कर लगाया गया तभी भारतीय मिलों के कपड़ों पर भी साढ़े तीन प्रतिशत चुंगी लगाई गई और यह स्थिति १६२५ तक चलती रही । दूसरे शब्दों में, भारतीय उद्योग पर कर वसूला जाता था और इस प्रकार उसको हतोत्साहित किया जा रहा था ।

सन् १६०५ में स्वदेशी आंदोलन प्रारंभ हुआ । यह आंदोलन एक ओर उसे यदि राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है तो दूसरी ओर भारतीय पूंजीपतियों की बढ़ती हुई शक्ति का सूचक भी है । यह पूंजीवादी वर्ग अब ब्रिटिश शासन से असन्तुष्ट होने लगा था । सन् १६१६ में 'भारतीय औद्योगिक कमीशन' की नियुक्ति हुई जिसके सभापति सर टामस हालैंड थे । इसकी रिपोर्ट सन् १६१८ में प्रकाशित हुई । सरकार भारतीयों को पराधीन बनाए रखने के लिये पूंजीपतियों का सहयोग प्राप्त करना चाहती थी, इसलिये उसने भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन देने का फैसला किया ।

सन् १६२० में कांग्रेस के ३६वें अधिवेशन में असहयोग नीति के समर्थन का विधान प्रस्तुत किया गया ।

समाज इस युग में अपनी दुर्बलताओं के प्रति सचेत हो गया था । अस्पृश्यता निवारक 'हरिजन आंदोलन' की नींव पड़ चुकी थी । अंग्रेजो की कूटनीति से यद्यपि भारत के विभिन्न धर्मावलंबी आपसी वैमनस्य का शिकार हो रहे थे तथापि सांप्रदायिक सद्भावना पैदा करने के भरसक प्रयत्न किए जा रहे थे । भारत के प्राचीन गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा वर्तमान में आत्मसंमान की रक्षा के प्रयत्न भी इसी युग में हुए । राम और कृष्ण भगवान् के उच्च सिंहासन पर बैठकर कृपा करने के स्थान पर

---

१. एमर्सन, वायसलेस इंडिया, पृ० १६३१ ।

जनसाधारण के मध्य विचरण करते हुए स्वस्थ शुद्ध बुद्ध मानव का आदर्श रूप बने। मैथिलीशरण और हरिऔध के काव्य में राम और कृष्ण का यही रूप प्राप्त होता है।

शिक्षा के प्रसार से जिस आत्मगौरव का एहसास पढ़े लिखे भारतीय को इस युग में हुआ था उसकी तुलना मध्य युग में योरप में होनेवाले पुनर्जागरण के युग से कुछ अर्थों में की जा सकती है। शिक्षित भारतीय अपने अतीत की खोज करके अपनी वर्तमान पराधीनताजन्य कुंठा का उपचार करना चाहता था। वह अपने विगत के उन आदर्शों का अन्वेषक बना जो उसमें से आत्महीनता की भावना को मिटाकर एक भव्य आभिजात्य के अहं का निर्माण कर सके।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता' के शास्त्रीय वाक्य को उस युग से पूर्व लोग प्रायः भूल चुके थे। 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना तथा गांधी जी के प्रभाव से राष्ट्रनिर्माण में स्त्री की महत्ता की पुनर्प्रतिष्ठापना हुई। पौराणिक चरित्रों के संदर्भ से जुड़ी हुई देवियों का भी पुनराख्यान इस युग में प्रस्तुत हुआ। वे सब कर्मरत पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रनिर्माण और भव्य समाज के निर्माण में दीक्षित दिखाई पड़ीं। सीता, राधा, उर्मिला, मांडवी सभी इस महान् अनुष्ठान में प्रयत्नशील प्रतीत होती हैं। द्विवेदी युगीन कवियों की ईश्वरोपासनालोक कल्याण एवं लोकसेवा का पर्याय बन गई। समाज में व्याप्त कूपमंडूकता, दैन्य, पारस्परिक सांप्रदायिक कलह, जातिप्रथा आदि सभी विकृतियों के विरुद्ध इस युग के कवि ने आवाज़ उठाई तथा मर्यादावादी होते हुए भी पुरातन पंथियों और अंध विश्वासियों पर कटु व्यंग किए।

द्विवेदी युग की नई काव्यधारा अपने समय की उपर्युक्त परिस्थितियों से उपजी हुई होकर भी उसके उपचार और प्रतिकार के लिये प्रयत्नशील है। अपने युग का क्षोभ उसमें अतीत के आधार मे नए युग का निर्माण करने की आस्था और विश्वास जगा रहा है। दलित, शोषित और प्रताड़ित के प्रति सहानुभूति रखता हुआ कवि सामंत और पूंजीपति एवं सुविधाप्राप्त आभिजात्य के प्रति क्षुब्ध है। त्रेता युग के आदर्श और द्वापर युग की दुविधा दोनों उसको झकझोर रही हैं और इनमें से वह अपने युग की विषमता के विष को दूर करने की औषधि खोजने का प्रयत्न कर रहा है।

प्रबंध काव्यों की रचना के विषय में डा० कृष्णलाल ने अपनी 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में लिखा है—"प्रबंध काव्य प्रायः परिवर्तन काल में ही मिलते हैं—जब प्राचीन साहित्यिक आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब जनता की रुचि प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं से हट जाती है और नए आदर्शों, नई रूढ़ियों और नई परंपराओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं रहता। ऐसे परिवर्तन

काल में लोग सरल और साधारण प्रबंध काव्यों की शरण लेते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ठीक ऐसा ही हुआ।

डा० कृष्णलाल का उपर्युक्त मत सर्वथा त्रुटिपूर्ण एवं निराधार है। सांस्कृतिक जागरण के प्रस्तुत आलोच्य युग में विद्वान् चिंतक कवि भारतीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक युग के उन स्थलों और पात्रों की खोज कर रहे थे जिनका संबंध भारतीयता के गौरव और स्वाभिमान से अविच्छिन्न था। एक ओर इन मनीषी कवियों का लक्ष्य सांस्कृतिक जागरण का संदेश देकर जनता के सुप्त आत्माभिमान को जगाना था जिससे वह स्वतंत्रता के मूल्य को समझ सके; दूसरी ओर कारागार की बेड़ियों से बचे रहकर स्वतंत्रता की आवाज को जीवित रखना था। (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था)।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ के दो दशकों में लिखे जानेवाले छोटे बड़े प्रबंध काव्यों को सरल साधारण कहना भयानक भूल है। ये प्रबंध काव्य पुरातन और नवीन चिंतन के मध्य उस केंद्रबिंदु की खोज हैं, उस धुरी की प्रतिष्ठापना हैं जो अनेक विकासोन्मुखी प्रगति के चक्र को चला रही है। सन् १८९५ से लेकर सन् १९२० तक नए युग का चिंतन विभिन्न छोटे बड़े प्रबंध काव्यों के रूप में अभिव्यक्त हुआ जिनमें कुछ खंड काव्य हैं, कुछ महाकाव्य और कुछ आख्यानक गीतियाँ हैं। इन सभी का लक्ष्य अपने समय की समस्याओं को वाणी देकर भारतीय गौरव की प्रतिष्ठा और कर्म के महत्व का प्रतिपादन करके राष्ट्रनिर्माण का पथ प्रशस्त करना है। पौराणिक ऐतिहासिक संदर्भों से संयुक्त प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त कुछ काल्पनिक प्रबंध भी लिखे गए, जैसे रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'स्वप्न' अथवा कुछ अनूदित प्रबंध भी समक्ष आए जैसे श्रीधर पाठक का 'एकांतवासी योगी'। किंतु सभी का संवेद्य युगानुकूल राष्ट्र एवं जाति की सुरक्षा के लिये प्रतिबद्धता और युग एवं समाज की छोटी बड़ी समस्याओं को वाणी देना और समाज में व्याप्त विभीषिका का उपचार प्रस्तुत करना रहा है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों की यह कविता स्वयं में अनुपमेय है और उसका योगदान अपरिमित। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह 'हरिऔध', जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, और सियारामशरण गुप्त का नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेख्य है। नए युग की काव्यधारा को वाणी देनेवाले इन सभी कवियों के प्रबंध काव्यों का परिचय और उसकी विशेषताओं की खोज एवं उनके योगदान का अंकन यहाँ अभीप्सित है। इन सभी प्रबंध काव्यों में मूलतः जन्मभूमि का प्रेम, प्रकृति प्रेम, स्वर्णिम अतीत का भव्य चित्रण, जातीय उद्बोधन एवं उद्गार, सामाजिक

विषमताओं में सम की स्थापना व सुधार, पीड़ित जनता व प्रजा का चित्रण और उनकी रक्षा का प्रयत्न, सामाजिक सुधार तथा भविष्य का निर्माण इन प्रबंध काव्यों के प्रमुख स्वर एवं संवेद्य हैं।

समाज के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिबद्धता होते हुए भी इन प्रबंध काव्यों के रचयिता कुछ सीमा तक स्वच्छंदतावादी भी हैं, स्वच्छंदतावादी वे इस अर्थ में हैं कि उन्होंने शास्त्रीय कठघरों में स्वयं को बाँधना समुचित नहीं समझा है। इसके अतिरिक्त भी उनके पात्रों एवं नायक नायिकाओं के राग द्वेष, प्रेम विषाद न तो किसी भगवान् के हैं और न ही केवल किसी राजा रानी के, इस अर्थ से वे सब पात्र लगी बँधी सामंती युग की लकीर के पात्र न होकर मनुष्य के अधिक समीप हैं, मनुष्य अधिक हैं। यही इस नई काव्यधारा का वैशिष्ट्य भी है। वस्तुतः इस प्रकार के काव्य की नीव स्वयं भारतेंदु युग में पहले ही पड़ चुकी थी। उस युग के ठाकुर जगमोहन सिंह जैसे कवि (सन् १८६१ से १८९६) इस निर्व्याज मनुष्य के जीवन के प्रबंध काव्यों की पूर्वपीठिका 'देवयानी और ययात्युपाख्यान' लिखकर प्रस्तुत कर चुके थे। उनके परवर्ती युग में श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी ने देश-प्रेम-संयुक्त, मनुष्य के सुख दुःख की गाथा के प्रबंध का सूत्रपात द्विवेदी युग में किया। ठाकुर जगमोहन सिंह ने संस्कृत और अंग्रेजी के काव्य ग्रंथो का हिंदी अनुवाद एक देशप्रेम की लहर को समुद्भूत और प्रोत्साहित करने के लिये ही किया था। एक ओर उन्होंने मेघदूत और कुमार संभव जैसे प्रणय काव्यों का अनुवाद किया, दूसरी ओर अंग्रेजी कवि बायरन के 'प्रिजनर आव शिलन' का 'शिलान का बंदी' नाम से अनुवाद किया। शिलान का बंदी अपने पिता के धर्म के प्रति उदार होने के कारण ही बंदी बनाया गया था और उसके पिता का अपराध केवल इतना था कि उसे धार्मिक अंधविश्वास पसंद न था। वह स्वयं तो फाँसी पर चढ़ाया गया ही, साथ ही, उसके सातों पुत्र बंदीगृह की दारुण यातनाओं का शिकार बने। उनमें ६ तो काल के ग्रास हुए केवल एक उनकी कथा कहने को शेष रह गया। कहने का तात्पर्य यह है कि अंधविश्वास के विरोध में स्वतंत्र स्वस्थ चिंतन के भाव का आग्रह ठाकुर जगमोहन सिंह इस काव्य में कर रहे थे। रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के प्रबंध काव्यों में विचार स्वातंत्र्य के लिये बलिदान हो जाने का स्वर आलोच्य युग में पूर्णतः परिपुष्ट हुआ है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

काव्यशिल्प की दृष्टि से स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविताओं की पाँच विधाएँ प्राप्त हैं--प्रबंध, मुक्तक, प्रबंधमुक्तक और गद्य काव्य। उन्होंने

खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप में कोई काव्यरचना नहीं की। उनकी प्रबंध कविताएँ दो प्रकार की हैं--कथात्मक और वस्तु वर्णनात्मक। कथात्मक प्रबंधों मे किसी कल्पित कथानक के आश्रय से लघु कहानी की भाँति ही किसी लघु तथ्य का उद्घाटन किया गया है। 'भूतपंचाशिका', 'द्रौपदी-वचन-बाणावली', 'जंबुकी न्याय', 'टेसू की टाँग' पद्य खंडकाव्यों के लघु संस्करण कहे जा सकते हैं। वस्तु वर्णनात्मक प्रबंधों में कथानक का निर्वाह न होकर वस्तु अथवा विचार का प्रवाह उपलब्ध है। ऐसे प्रबंध 'भारत दुर्भिक्ष', 'समाचारपत्र संपादकस्तव', 'गर्दभ काव्य' और 'कुमुद सुंदरी' आदि हैं। द्विवेदी जी की अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की हैं। द्विवेदी जी का लिखा हुआ 'बालविधवा विलाप' अत्यंत मार्मिक रचना है। आत्म संभाषण शैली में विधवा की करुण स्थिति का वर्णन स्वयं उसके अपने मुख से हुआ है--

उच्छिष्ट, रूक्ष और नीरस अन्न खैहों,
चंडालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहों।
गालि प्रदान निशिवासर नित्य पैहों,
हा हंत! दुःखमय जीवन यों बितैहो।
रंडे! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई,
ह्वैहै रहै जब मदीय मताधिकाई,
पृथ्वी फटे त्वरित जाउँ तहाँ समाई॥

(द्विवेदी काव्यमाला, २६२)

विधवा की प्रत्यक्ष अनुभूति का इतना सुंदर मार्मिक वर्णन हिंदी साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध है। निराला की 'विधवा' कविता को इसी शृंखला की कड़ी मानना चाहिए। द्विवेदी जी की कविता में एक ओर दुर्भिक्षपीड़ित देश की त्रस्त प्रजा का करुण वर्णन है और दूसरी ओर समाज में धर्म का आडंबर सजानेवाले ब्राह्मण वर्ग के ऊपर कटु व्यंग इन प्रबंधों में उपलब्ध है।

दुर्भिक्ष पीड़ित व्यक्तियों का मार्मिक चित्र खींचते हुए द्विवेदी जी कहते हैं--

लोचन चले गए भीतर कहैं, कंटक सम कच छाए,
कर में खप्पर लिए अनेक जीरण पट लपटाए।
मांस विहीन हाड़ की ढेरी, भीषण भेष बनाए,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए।
शक्ति नहीं जिनके बोलन की, तकि तकि मुँह फैलाएँ,
सींक समान पैर लीन्हें बहु, रोवत गोबर खायें।

गुठली खान हेत बेरन की, ढूँढ़त सोउ न पावैं,
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर भारत नाद सुनावैं।

(द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ १७५)

'कान्यकुब्ज लीलामृतम्' में पाखंडी कान्यकुब्ज ब्राह्मण का व्यंगपूर्ण चित्रण अनायास तुलसीदास की खलस्तुति का स्मरण करा देता है—

सदैव शुक्लारुण पीतवर्ण पाटीर पंकावृत सर्वभाल।
आभूत लार्कबिंदु कूल धारिन, हे कान्यकुब्ज द्विज ते नमोस्तु ॥

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० १८१)

'काक कूजित' में दुष्टों के हृदय में स्थित ईर्ष्या और निंदाभावों की व्यंजना अनुपम है—

त्वं पंचमेन विरुतं विजहीहि नूनं
वक्तुं बसंत समयेऽपि न तेधिकारः
सम्प्रत्यहं दशसु दिक्षु सदा सहर्ष
तार स्वरेण मधुरेण रवं करिष्ये।

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २८६)

इस काव्य उद्धरणों के परिचय से यह सिद्ध है कि द्विवेदी जी के काव्य को मर्मस्पर्शिता से रहित केवल इतिवृत्तात्मक कहना उनके साथ अन्याय करना है। उनको केवल व्याकरण सुधारक हिंदी का आचार्य मानना भी एक भूल है।

मौलिक प्रबंध काव्य रचनाओं के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने संस्कृत ग्रंथों के, विशेषतः कालिदास के ग्रंथों के, अनुवाद भी किए। इनमें कुमारसंभव का अंशानुवाद उल्लेखनीय है। संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद प्रायः उन्होंने संस्कृत छंदों में ही किए हैं।

द्विवेदी जी के काव्य के प्रतिपाद्य में सामाजिक भावना विशेष उपलब्ध है। उन्होंने पीड़ितों और दलितों के साथ सहानुभूति दिखाकर समाज सुधार का आग्रह किया। इसके साथ ही धार्मिक ठेकेदारों और साहित्य वंचकों पर व्यंगपूर्ण उपहास किए। 'स्वदेशी' का स्वर उनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है—

हे देश सप्रण विदेशन वस्तु छोड़ो,
संबंध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
मोड़ो तुरंत उनसे मुँह आज से ही,
कल्याण जान अपना इस बात में ही।

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४२३)

उन्होंने एक ओर देश का गौरव गान किया तो दूसरी ओर राजभक्ति प्रकट की; भारत के अतीत वैभव का महिमागान भी किया और देवभूमि तुल्य देश के नदी नालों की प्रशंसा के गीत भी गाए। भारत का प्रत्येक वासी, चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो, अपने देश के लिये उनके काव्य में प्राण न्योछावर करता प्रतीत होता है—

हिंदू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई भाई,
सब के सब तेरे शैदाई फूलो फलो स्वदेश।

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४५३)

स्वतंत्रता देवी उसी देश में प्रतिष्ठित रहती है जहाँ के वीर मातृभूमि के लिये प्राण दे सकते हैं। "कवि—हे स्वतंत्रते! जन्म तुम्हारा कहाँ? बता यह प्रश्न हमारा स्वतंत्रता शूर देशहित तजते प्राण जन्म मेरा है वहाँ।"

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४२०)

महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य की दिशा ही उनके युग के काव्य की मूल दिशा बनी, यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन के साथ राजभक्ति का स्वर क्षीण होते होते लगभग लुप्त हो गया। सामाजिक कुत्सा को दूर करके भव्य समाज के निर्माण का स्वप्न २०वीं शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों के सभी कवियों का था। अतीत के समक्ष वर्तमान की तुलना और स्थिति के सुधार से भविष्य को सुधारने का इन सबका आग्रह था। द्विवेदी जी के लघु प्रबंध में जहाँ भारत की तत्कालीन स्थिति का सीधा चित्रण है वहाँ उस युग के अन्य कवियों ने कथानक के माध्यम से, चाहे वे काल्पनिक हों अथवा पौराणिक, ऐतिहासिक आख्यानकों के आधार पर अपनी बात कही। ऊँच नीच के भेद भाव को दूर करके एक भव्य भारत का निर्माण करना और आलस्य त्याग कर विदेशी का निष्कासन इन सभी प्रबंध काव्यों का लक्ष्य एवं संवेद्य था।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक का जन्म ११ जनवरी, १८५८ ई० और निधन १३ सितंबर १९२८ ई० को हुआ। पाठक जी द्विवेदी युग की महान् विभूति हैं जिन्होंने सुधारात्मक दृष्टिकोण से अनुप्राणित कथात्मक काव्य से हटकर काव्यसर्जना की। श्रीधर पाठक की वंशपरंपरा के संबंध में डा० श्यामसुंदरदास ने 'हिंदी कोविद रत्नमाला' भाग १ एवं श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' भाग २ में केवल संकेत मात्र किया है। डा० श्यामसुंदरदास का कथन है—

'पं० श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण हैं। उनके पूर्व पुरुष कोई ग्यारह सौ वर्ष हुए पंजाब से आगरा के फिरोजाबाद परगने के जोंधरी ग्राम में आकर

बस गए थे। पाठक जी कवि थे और पितामह पं० धरणीधर शास्त्री नैयायिक थे। पिता लीलाधर जी यद्यपि साधारण पंडित थे परंतु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति एवं पवित्रता में अद्वितीय थे।'

अपने वंश के संबंध में पाठक जी ने स्वयं 'स्वजीवनी' (१६२५ ई०) में लिखा है--"विप्रवर वंश एक नृ-कुल-अवतंस अघ-संघ-विध्वंस-कर भूमिपति था, सकल अंश में सुकुल-आचार-परिपूत, सुविचार-संभूत-गुण आढ्य. शुचि भावना-भरित, शुभ चरित परिवार परिपूर्ण, मतिमान मूर्धन्य अज्ञान-तम-शून्य, विद्वान्-जन-मान्य, राजन्य-गण-पूज्य, बहु-देश, विख्यात, अवदान-यश-राशि, कृतविद्य-अति-हृदय, प्रतिपत्तिसंपन्न अति भद्र, अविषम, सुमनस्क, सवयस्क, शुचवृत्त, सात्विक बली देश पंजाब था आद्य उसका सुभग, ज्ञाति षट कुल विदित सुघर सारस्वत प्रवर पाठक सुविख्यात विप्राग्रणी।"

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पाठक जी को अपने जातिकुल गौरव पर अभिमान था।

पाठक जी की काव्यपुस्तकों में निम्नलिखित काव्यकृतियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है--

१--मनोविनोद, २--बाल भूगोल, ३--एकांतवासी योगी, ४--जगत्सचाई सार, ५--ऊजड़ ग्राम, ६--श्रांत पथिक, ७--काश्मीर सुषमा, ८--आराध्य शोकांजलि, ९--जार्जवंदना, १०--भक्ति विभा, ११--श्री गोखले प्रशस्ति, १२--(क) श्री गोखले गुणाष्टक. (ख) गोखले प्रशस्ति, १३--देहरादून, १४--श्री गोपिका गीत, १५--भारत गीत। इनमें एकांतवासी योगी, ऊजड़ ग्राम एवं श्रांत पथिक अनूदित प्रबंध कृतियाँ हैं। 'गोपिका गीत' भी भागवत के दशम स्कंध के ३१वें अध्याय का समश्लोकी अनुवाद है। पाठक जी की अनूदित प्रबंध रचनाएँ भी मौलिकता से आपूरित हैं। उनका काव्य सौष्ठव हिंदी की अमूल्य निधि बना अतः उनके अनूदित काव्यों को मौलिक काव्यों की भाँति ही समादृत किया जाता है।

एकांतवासी योगी का प्रकाशन काल यद्यपि प्रस्तुत आलोच्य काल की सीमारेखा के बाहर (१८८६ ई० सन्) है तथापि हिंदी जगत् में उसे द्विवेदी युग की कृति के रूप में ही स्मरण किया जाता है अतः यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है।

'एकांतवासी योगी' अंग्रेजी के कवि गाल्डस्मिथ के रोमांटिक प्रेमकाव्य 'हरमिट' का हिंदी अनुवाद है। मूल काव्य चार छंदों में है किंतु पाठक जी ने उसका ५९ पदों में अनुवाद किया है। सिद्ध है कि अपनी ओर से भी कुछ भाव संमिलित किए हैं। इसमें एडविन और ऐंजेलिना की प्रेमकथा का वर्णन है। लावनी छंद का अनुपम प्रयोग है। ऐंजेलिना अपने पिता की सुशिक्षिता और

सुशीला पुत्री है किंतु एडविन के विवाह प्रस्ताव पर वह उससे उदासीन रहती है। एडविन के मर्म को आघात लगता है। वह उसे छोड़कर वन में चला जाता है। ऐंजेलिना को अपनी भूल पर पश्चात्ताप होता है। पुरुष वेश में ऐंजेलिना उसे खोजने निकलती है और सौभाग्य से पथ में एडविन की ही अतिथि बनती है। वहीं दोनों का संयोग हो जाता है।

एकांतवासी योगी की मौलिकता निम्नलिखित उद्धरणों में दृष्टव्य है। गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के २६वें पद में ऐंजेलिना के पिता का वर्णन इस प्रकार है—

> माई फादर लिव्ड बिसाइड द टाइन
> ए वेल्दी लार्ड वाज ही
> ऐंड आल हिज वेल्थ वाज मार्क्ड ऐज माइन
> ही हैड बट ओन्ली मी।

पाठक जी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

टाइन नदी के रम्य तीर पर, भूमि मनोहर हरियाली लटक रही, झुक रही द्रुमलता, छुएँ जल से डाली चिपटा हुआ उसी के तट से उज्ज्वल उच्च विशाल शोभित है एक महल बाग में आगे है एक ताल।

(पद संख्या ३१)

उस समग्र वन भवन, बाग का मेरा बाप ही स्वामी था, धर्मशील, सत्कर्मनिष्ठ वह जमींदार एक नामी था बड़ा धनाढ्य, उदार महाशय दीन दरिद्र सहाय कृषिकार का प्रेम पात्र, सब विधि सद्गुण समुदाय।

(वही)

स्पष्ट है कि गोल्डस्मिथ ने जहाँ केवल ऐंजेलिना के पिता और उसके आवास का कथन मात्र किया था वहाँ पाठक जी ने दोनों के वैशिष्ट्य का दिग्दर्शन कराया है और उसके द्वारा उनके जीवंत रूप को प्रस्तुत किया है।

ऐसे ही एक अन्य स्थल पर उन्होंने ऐंजेलिना और एडविन की प्रेमानुभूति के मर्म का भारतीयकरण करने का प्रयास भी किया है—

> ऐंड व्हेन बिसाइड मी इन द डेल
> ही कॅरोल्ड लेज आव लव
> हिज ब्रेथ लेंट फ्रैग्रेंस टु द गेल
> ऐंड म्यूजिक टु द ग्रोव।

"जब वह मेरे साथ टहलने शैलतटी में जाता था, अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेमसुधा बरसाता था, उसके स्वर से हो जाता था वनस्थली का प्रांत सौरभमिलित सुरस-रव-पूरित सुरकानन सुरधाम।" गोल्ड स्मिथ के 'ग्रोव' को पाठक जी ने 'सुरकानन' की भव्यता प्रदान की है। लंदन के २२ मई १८८८ ई० के 'होमवर्ड मेल' का कथन है—

"गोल्डस्मिथ के हरमिट के इस अनुवाद (एकांतवासी योगी) से हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय अभिवृद्धि हुई है क्योंकि भारतीय विद्वानों के शास्त्रीय चित्र कल्पना से अलग मानवीय सहानुभूति और अनुराग में तल्लीन करेगा। श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी के इस प्रसिद्ध काव्य के साथ पूर्ण न्याय किया है। उनका अनुवाद भारतीयों को पाश्चात्य सौंदर्य का यथोचित विचार प्रदान करेगा।"

अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजेट, ६ जुलाई, १८८६ का कथन है, "अनुवाद दुर्लभ गुणों से युक्त है और यह अनुवादक की प्रवृत्ति और विवेक के लिये प्रशंसनीय है।

ऊजड़ ग्राम का रचनाकाल १८८६ ई० सन् है। यह भी गोल्डस्मिथ की करुण काव्यकृति 'डेजर्टेड विलेज' का हिंदी अनुवाद है। विचारकों का मत है कि आयरलैंड के आवर्न नामक ग्राम का चित्रण ही यहाँ हुआ है किंतु वास्तविकता तो यह है कि वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक काव्य है जो विश्व के किसी स्थल के लिये भी उतना ही सत्य है जितना आयरलैंड के लिये। श्रीधर पाठक आधुनिक युग में संक्रांति युग के कवि हैं। उन्होंने जीवन के यथार्थ का स्वागत किया और तद्विषयक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने के लिये गोल्डस्मिथ के काव्य को आधार बनाया और उसमें समाविष्ट विश्वभावना का प्रस्तुतीकरण ही अपने काव्य के माध्यम से किया।

ऊजड़ ग्राम में ५१४ पंक्तियाँ है जबकि उसके मूल डेजर्टेट विलेज में ४३०। यह काव्य रोला छंद में ब्रजभाषा में लिखा गया है। अनुवाद की सफलता निम्न-लिखित पद्यों में द्रष्टव्य है—

स्वीट आबर्न लव्लियेस्ट विलेज आव द प्लेन
ह्वेयर हेल्थ ऐंड प्लेंटी चियर्ड द लेबरिंग स्वेन
ह्वेयर स्माइलिंग स्प्रिंग इट्स अर्लियेस्ट विजिट
ऐंड पार्टिंग समर्स लिंगरिंग ब्लूम्स डीलेड[1]।

हे प्यारे आबर्न सकल गामन सौं रूरे।
जहाँ श्रमी कृषिकार बसे सुख संपति पूरे।

---

१. द डेजर्टेड विलेज, १८१–१८८।

जहाँ रसीली ऋतु बसंत पहले ही आवत।
जान समय बिलमाय फूल फल देर लगावत।[1]

प्रिंसेज एंड लार्ड्स मे फ्लरिश आर मे फेड
ए ब्रेथ कैन मेक देम ऐज़ द ब्रेथ हैज मेड
बट ए बोल्ड पीजेंट्री, देयर कंट्रीज प्राइड
ह्वेन वन्स डेस्ट्राएड कैन नेवर बी सप्लाइड।[2]

कुमर और उमराय बने बिगरे कछु नाहीं,
फूंक माँहि में बनत फूंक ही सों मिटि जाहीं।
पै दृढ़ कृषक-समाज देस को साँचो गौरव,
नाम भए एक बार फेरि उपजन नहि सम्भव॥[3]

ऊजड़ ग्राम के वे स्थल भी देखने योग्य हैं जहाँ गाँव के पुजारी और अध्यापक दो महत्वपूर्ण विभूतियों के रूप में प्रस्तुत हैं। अधिक शिक्षित न होते हुए भी वे ग्रामीणों के हितचिंतन में लगे रहते हैं। पुजारी को इस रूप में प्रस्तुत करके पाठक जी ने भारतीय समाज के लिये एक आदर्श भी प्रस्तुत किया था।

•

श्रांत पथिक का रचनाकाल सन् १९०२ ई० है। यह ग्रंथ गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवेलर' का हिंदी अनुवाद है। इस काव्य को उतनी ख्याति प्राप्त नहीं हुई जितनी एकांतवासी योगी अथवा ऊजड़ ग्राम को मिली थी। इसका कारण कुछ और नहीं, केवल इसमें दर्शन का प्राधान्य है।

काव्य की प्रथम २२ पंक्तियों में कवि अपने अग्रज के प्रति अपनी स्नेहाभिव्यक्ति करता है। तत्पश्चात् पर्यटन से श्रांत पथिक सा वह आल्प्स के किसी उच्च शिखर पर बैठा उस स्थान की खोज के विचार में निमग्न होता है जहाँ उसकी आत्मा को सुख मिल सके। वह सोचता है कि प्रत्येक स्वाभिमानी देश अपने को श्रेष्ठ मानता है। वह कहाँ जाय? इटली, स्विटजरलैंड, फ्रांस, हालैंड और इंग्लैंड के निवासियों की दशा की आलोचना करता है और अंत में इस निर्णय पर पहुँचता है कि सच्चा सुख किसी स्थल पर नहीं, स्वयं मानव के हृदय मे है। "दूर देश, बिन मित्र, मलिन मन, मंद निरंतर पथचारी, चाहे शिथिल शैल तट चाहे कुटिल प्रांत पो अनुसारी" अथवा "आगे और जहाँ शठ कैरिंथी कृषिकार गँवार, परदेशी को देख बंद कर लेता अपने घर के

---

१. ऊजड़ ग्राम, पक्तियाँ, २५५–२६२।
२. द डेजर्टेड विलेज, ५३–५६।
३. ऊजड़ ग्राम, पंक्तियाँ ७३–७५।

द्वार" अथवा "जहाँ कैम्पियाना का सूना पटपर भ्रमकारी निरा नीरस ऊसर बिस्तारित, फैला है नभ लौं भारी चाहे जहाँ मैं फिरूं चाहे जो देश देखने को धाऊँ, हृदय मेरा बिन फिरा उसे तेरी ही ओर फिरना पाऊँ"।

फिर फिर आता ओर हृदय यह दुखित निरंतर जाता है।
पद पद प्यारे से अंतर अधिक अधिक अधिकाता है,
मेरा भाग्य ही मुझे अकेला देश विदेश घुमाता है।
जग भर में कोई भी अपना ठौर दृष्टि नहीं आता है।[1]
माइ फारचून लीड्स टु ट्रैवर्स रिअल एलोन
ऐण्ड फाइन्ड नो स्पाट आव आल द वर्ल्ड माई ओन।[2]

'ट्रैवेलर' की उपर्युक्त पंक्तियाँ पाठक जी की पंक्तियों से अधिक सशक्त हैं। 'वर्ल्ड माइ ओन' का भाव 'अपने ठौर' में समाहित नहीं हो सका है। मूल काव्य की ध्वनि का यहाँ अभाव ही है। काव्य की अंतिम पंक्तियाँ भी गोल्डस्मिथ के भाव को ध्वनित करने में पूर्ण समर्थ हुई हैं, इसमें संदेह है। उद्धरण प्रस्तुत है—

वेन, वेरी वेन, माइ वियरी सर्च टु फाइंड
दैट ब्लिस ह्विच ओनली सेंटर्स इन द माइंड
व्हाइ हैव आइ स्टेड फ्राम प्लेजर ऐण्ड रिपोज
टु सीक ए गुड ईच गवर्नमेंट बेस्ट ओन
इन एव्री गवर्नमेंट दो टेरर्स रेन
दो टायरंट किंग्स ऑर टायरंट लाज रेस्ट्रेन
हाउ स्माल आव आल दैट ह्यूमन हार्ट एन्ड्योर
द पार्ट ह्विच लाज ऑर किंग्ज कैन काज ऑर क्योर।[3]

क्यों मैं इतना भ्रमा त्याग सुख शांति भरा सारा, किस काज अनुहित की आशा से प्राप्त जो रहे देश देशों के राज प्रति शासन के मध्य यद्यपि दारुण विभीषिकाओं का प्रभाव यद्यपि क्रूर है नृपति, क्रूर नियमों का क्रूरतर हैं वर्ताव उसका कितना अल्प, जिसे निस दिन मनुष्य मन सहता है होय किंतु वह अंश, नियम व नृप अधीन जो रहता है।"

पाठक जी या तो अंतिम पंक्ति 'द पार्ट ह्विच लाज आर किंग्ज कैन काज ऑर क्योर' को पकड़ नहीं पाए हैं या जान बूझ कर ब्रिटिश शासन को नाराज न करने के कारण छिपा गए हैं। अन्यथा 'एकांतवासी योगी' के समर्थ अनुवादक से, जिसका हिंदी

१. ट्रैवेलर का अनुवाद, १–१०।
२. वही, २६–३०।
३. वही, ४२३–३०।

और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है, यह भूल नहीं हो सकती थी। गोल्डस्मिथ स्वतंत्र देश के कलाकार हैं जिनका सत्ताधारियों के प्रति इस काव्य (श्रांत पथिक) में कटु व्यंग्य है और पाठक जी केवल ('संतोष धन') की बात करके रह गए हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि पाठक जी का योगदान भारतेंदु और द्विवेदी युग की संक्रांति काल में यह है कि द्विवेदी युग की चितना की पूर्वपीठिका उन्होंने तैयार की। जो सामाजिक समस्याएँ और प्रश्न भारतेंदु युग में एक सुधारवादी उपदेशात्मक काव्य के रूप में ही प्रस्तुत हो सके थे वे द्विवेदी युग में प्रबंधों का अविभाज्य अंग बनकर आए थे। इस प्रवृत्ति का प्रतिष्ठापन संभवतः पाठक जी के एवं रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों के द्वारा ही प्रस्तुत हो सका था और इस दृष्टि से पाठक जी का स्थान आधुनिक हिंदी साहित्य के संदर्भ में अक्षुण्ण है। उन्होंने ही जीवन और उसकी समस्याओं का संपूर्ण संगुंफन सर्वप्रथम अपने अनूदित उपर्युक्त काव्यों के कथानकों द्वारा हिंदी में अवतरित किया था। यूरोप में रूसो की लिबर्टी, इक्वैलिटी और फ्रैटर्निटी के सिद्धांत फ्रांसीसी क्रांति का पृष्ठाधार बने थे। इन्हीं के कारण यूरोप ने रूढ़ियों का परित्याग करके एक आधुनिक युग में प्रवेश किया था। वे ही भावनाएँ अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ से प्रेरणा प्राप्त करके पाठक जी के काव्य के माध्यम से हिंदी को प्राप्त हो सकीं। राष्ट्रीयता की भावना को इनसे जो संबल प्राप्त हुआ था वह स्वयंसिद्ध ही है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सं० १९४६ (सन् १८८९) में फाल्गुन त्रयोदशी को कोइरीपुर ग्राम, जिला सुलतानपुर (उस समय जौनपुर) (अवध) में एक कुलीन सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता पं० रामदत्त त्रिपाठी संस्कृत के पंडित और धार्मिक ग्रंथों के अध्येता थे। विष्णुसहस्रनाम एवं रामचरित-मानस का पाठ उनकी दैनिक चर्या थी।

त्रिपाठी जी की शिक्षा का आरंभ उर्दू से हुआ और ग्राम की पाठशाला में कक्षा आठ तक उन्होंने शिक्षा पाई। कक्षा आठ के बाद पढ़ाई के लिये जौनपुर भेजे गए परंतु घर में गरीबी के प्रकोप के कारण शिक्षा आगे तक न हो सकी। नवीं कक्षा से ही शिक्षा समाप्त हो गई। स्वाध्याय के बल पर उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, बंगला, संस्कृत और गुजराती भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। उनको कविता करने का शौक तेरह वर्ष की आयु से था। शिक्षा के अपूर्ण रहने पर कलकत्ता में अपने चाचा रामस्वरूप जी के यहाँ गए जहाँ कवित्व की प्रतिभा के कारण अत्यंत लोकप्रिय हो गए और कलकत्ता के संपन्न परिवारों से उनकी

घनिष्ठता भी बढ़ी। वहीं नगर के दूषित वातावरण और उचित भोजन की व्यवस्था के अभाव में संग्रहणी के शिकार हुए और तब एक मित्र की संमति से मारवाड़ प्रदेश में इलाज के लिये आए। मारवाड़ में उनके इस रोग की मुक्ति तो हुई ही साथ ही नेवटिया परिवार में बच्चों के अध्यापक के रूप में नियुक्ति भी हुई। वहाँ के ब्राह्मण वर्ग से उनका विरोध हुआ परंतु उन्होंने हार न मानी। अत्यंत रूढ़िवादी उस वातावरण में निर्भीक भाव से वह आगे बढ़ते गए और सरस्वती पुस्तकालय की स्थापना की। वहीं सर्वप्रथम उन्होंने हिंदी महाभारत प्रार्थना, मारवाड़ी मनोरंजन एवं कविता विनोद लिखा।

सन् १९२५ में पिता का देहांत होने के पश्चात् वे उत्तर प्रदेश लौट आए और प्रयाग में राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और कठोर कारावास भोगा। जेल से बाहर आने पर 'हिंदी मंदिर' की स्थापना की। अब तक वे 'मिलन' एवं 'पथिक' दो खंड काव्यों की रचना करके प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। प्रयाग में राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी पंडित मदनमोहन मालवीय, पुरुषोत्तमदास टंडन, डा० काटजू, जवाहरलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू, सी० वाई० चिंतामणि और किदवई प्रभृति विद्वानों से उनकी मित्रता हुई। कहते हैं कि गांधी जी और जवाहरलाल नेहरू को रामायण पढ़ाने का कार्य भी उन्होंने ही किया था।

त्रिपाठी जी के जीवन पर गांधी जी का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा था। 'मिलन' और 'पथिक' तथा 'स्वप्न' को भी गांधी दर्शन की साहित्यिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। त्रिपाठी जी का साहित्यिक कार्यकलाप १९६२ तक चलता रहा। उनका अवसान १६ जनवरी, १९६२ को हुआ किंतु यहाँ १९२० तक उनके द्वारा लिखे गए दो प्रख्यात प्रबंध काव्यों का परिचय एवं विवेचन ही समीचीन होगा।

पथिक : ब्रिटिश साम्राज्य में राजा की कूटनीति और अत्याचार तथा प्रजा और राजा के बीच की खाई का संकेत त्रिपाठी जी ने अपने खंडकाव्य 'पथिक' में किया है और उसका निदान भी असहयोग आंदोलन में ढूंढा है।

दक्षिण समुद्रतट पर पथिक अपनी प्रिय पत्नी से बहुत दिन के पश्चात् मिलता है। पत्नी उसको पहचानकर घर लौट चलने की प्रार्थना करती है। वह अपने छोटे बच्चे से अपनी बाहों को मुक्त करके पति को ढूंढने निकली थी। पत्नी की अनुनय विनय का पथिक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह संसार के दुःखों से घृणा करता है। उसके अनुसार वनश्री का सौंदर्य संसार से कहीं अधिक सुखद है। निराश स्त्री लौट जाती है। सांसारिक संघर्ष से पलायन करके प्रकृति के चित्रित आँचल में शरण लेने की पथिक की प्रवृत्ति में कवि ने समसामयिक दुर्बल युवा मन की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन ही कराया है।

इस निराश भावुक युवक को एक साधु ने प्रवृत्ति का मार्ग दिखाया। उसने कहा कि पौरुष, साहस, न्याय, श्रद्धा और करुणा के गुण ईश्वर ने मनुष्य को धरोहर के रूप में दिए हैं। इन गुणों का यथासंभव उपयोग करना मनुष्य का धर्म है और इनसे पलायन ईश्वर के साथ विश्वासघात। तुम मानव समाज में जाओ और यथाशक्ति इन गुणों का उपयोग करो। साधु के उपदेश से पथिक की आँखें खुल जाती हैं। देश का भ्रमण करके वह अपने देशवासियों के जीवन को निकट से देखता है और अनुभव करता है कि प्रजा अत्यंत दुखी है और राजा उनपर मनमाना अत्याचार कर रहा है। राजा के अत्याचार का उपचार करने का एकमात्र ढंग वह प्रजा को असहयोग आंदोलन में बताता है। राजा क्रुद्ध होकर पथिक को मृत्युदंड देता है। उसकी मृत्यु से पहले उसकी पत्नी और पुत्र भी आत्मबलि दे देते हैं और प्रजा में जयजयकार गूंज उठती है।

पथिक के बलिदान से प्रजा का संगठन हो जाता है और वह विद्रोह करके राजा को देशनिकाला दे देती है। इसके बाद प्रजा सुखी हो जाती है और देश में सुख एवं समृद्धि का राज्य हो जाता है। इस तरह वह सच्चा प्रेमी आत्मशक्ति के बल पर देश को अत्याचार के बंधन से मुक्त कराता है।

देशभक्ति के भाव से प्रेरित 'पथिक' काव्य का लक्ष्य यद्यपि राष्ट्र संगठन है तथापि कवि ने उसके मुख्य पात्र 'पथिक' के जीवन के पारिवारिक पक्ष की ओर भी पूरा ध्यान रखा है। 'पथिक' की पत्नी की विरहव्यथा का दिग्दर्शन हमें इस काव्य में मिलता है। इसके विरहभाव को 'कार्यवश' प्रवास की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसके आदर्श की पूर्ति उसके परिवार के बलिदान में होती है।

सबसे प्रथम 'पथिक' काव्य में इस बात की ओर ध्यान जाता है कि द्विवेदी युग के कठोर नैतिक अनुशासन के कारण कवि की सौंदर्य दृष्टि नायिका के स्थूल अंगवर्णन से हटकर सूक्ष्म और अतींद्रिय बन रही है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरण सी बामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय सी अभिरामा॥

(पथिक, प्रथम सर्ग, पद ४)

सौंदर्य का यह विस्मय रूप ही आगे चलकर छायावाद में स्पष्ट हुआ। यह उपमान द्विवेदी युग के लिये त्रिपाठी जी से पूर्व अनौचित्य था।

पथिक की पत्नी को प्रियदर्शन से जो सुख मिला वह भी अपूर्व है—

अंधे को दृग, महा रंक को विश्व संपदा सारी !
जेठ दुपहरी में मरुथल के तृषित पथिक को वारी।
मिलने से जो सुख होता है आत्मरहस्य यती को।
उससे बढ़ सुख मिला अचानक विरह विदग्ध सती को।

प्रियमिलन के सुख की उपमा यती के आत्मरहस्य की प्राप्ति से अनुपम है। आत्मरहस्य की प्राप्ति में जो आत्मविसर्जन का भाव है वह अत्यंत सशक्त है। मिलन को कवि प्रेम की सुषुप्ति और विरह को जागृत गति मानता है—

विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है।

(वही पद १२)

'पथिक' में कवि ने इतिवृत्तात्मक शैली से अधिक कथोपकथन शैली को अपनाया है। पथिक की स्त्री परंपरित भारतीय नारी है। 'पथिक' ने अपने सुख के लिये पत्नी का त्याग किया था, यह उसका अपमान था, किंतु आत्मसंमान से आहत होने पर भी पत्नी को पीड़ा नहीं होती। दुधमुँहे बच्चे के मोह को छोड़कर वह पति की खोज करती है और अंत में पति की मृत्यु से पूर्व आत्मबलिदान भी करती है।

'पथिक' के नायक ने तो गांधी दर्शन के अहिंसक सिद्धांतों और असहयोग आंदोलन का प्रचार ही गली गली, घर घर, गाँव गाँव घूम घूमकर किया। वह तमाम क्रूर शक्तियों पर प्रहार करना चाहता है। वे सच्चे अर्थ में मानववाद के पोषक कवि थे। त्रिपाठी जी स्वयं भी कट्टर वैष्णवपंथी नहीं थे, वैष्णव धर्म को मानव धर्म के अर्थ में ही उन्होंने समझा था।

'पथिक' की भावप्रवणता को उनके समकालीन आलोचकों और परवर्ती कवियों, 'बच्चन', उदयनारायण तिवारी, श्रीपाल सिंह क्षेम' प्रभृति सभी ने सराहा है। 'पथिक' का प्रथम छंद ही उनकी भावप्रवणता का सुंदर उदाहरण है—

राग रथी रवि-राग-पथी अविराग - विनोद बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुंदर सरस सवेरा॥
एक दिवस अति मुदित उदधि के वीचि विचुंबित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे धीरे॥

खड़ी बोली का ऐसा सुंदर तत्सम अनुप्रास त्रिपाठी जी के काव्य-सौष्ठव का दिग्दर्शन कराता है।

मिलन : (रचनाकाल सन् १९१७ ई०) कालक्रम की दृष्टि से देखें तो 'मिलन' त्रिपाठी जी का पहला खंड काव्य है, यद्यपि 'पथिक' को इससे अधिक

प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इस खंड काव्य का कथानक राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित है। युवक आनंदकुमार और युवती विजया दोनों ही देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत हैं। देश को शत्रुओं से मुक्त करने का उद्देश्य युवक आनंदकुमार को सामाजिक जीवन में प्रविष्ट कराता है। अपना मंतव्य अपनी प्रेमिका के समक्ष वह इन शब्दों में रखता है—

रक्षित रखने को भूतल पर
मनुष्यता का नाम !
उठने वाले हैं ईश्वर के
कर असंख्य अविराम !
अस्थि चर्ममय कंकालों में,
जो कुछ बल है शेष।
संचय कर रिपु रहित करूँगा,
अपना प्यारा देश। (सर्ग १-१२)

इसी भावना से प्रेरित होकर उसने प्रियतमा से विदा माँगी—

प्रिये विदा प्रियतमे विदा दो
सुमुखि सहर्ष सहास।
मैं पतंग हूँ प्रेम डोर का,
फिर आऊँगा पास। (सर्ग १-१२)

युवक की मधुर वाणी और उदात्त आशय से विजया के हृदय में भी परिवर्तन हुआ। डा० रामचंद्र मिश्र के शब्दों में "दमयंती, सीता एवं द्रौपदी के देश में पल्लविता विजया भी अपने प्रियतम की सहगामिनी बनने को आकुल हो उठती है।" नारी वेश को परिवर्तित करके वह पुरुष वेश धारण करती है। दोनों नौका यात्रा आरंभ करते है किंतु तीव्र पवन से नौका टूट जाती है और दोनों का बिछोह हो जाता है। दैव संयोग से युवक के पिता के, जो अब एक मुनि हो गए थे, प्रयत्न से विजया को नया जीवन मिलता है। वह सचेत होने पर कहती है—

प्रियतम बिना न जी सकती हूँ।
बच न सकेंगे प्राण।
अश्रु गिराकर व्याकुलता का
दृग ने दिया प्रमाण॥
(सर्ग ६-७, पृ० २७)

अथवा

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है,
प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है,
प्रेम हृदय आलोक।
(वही, पृ० २६)

विजया तो उदात्त प्रेम की भावनाओं से परिपूर्ण थी ही, युवक आनंदकुमार भी अचेत अवस्था के प्रलाप में भी देश के प्रेम और निजी जीवन के प्रेम को तौलने का प्रयत्न कर रहा था—

विजय प्रेम रूपिणी विजया
प्राणवल्लभे वाम।
तूने यह पूछा है मुझसे
प्रश्न बड़ा अभिराम!
× × ×
मुझपर और देश दोनों पर
रखते हो अनुराग।
किसके लिये किसे, तुम प्रियतम
कर सकते हो त्याग। (सर्ग ३–१२)

मुनि ने युवक के रूप को इस प्रकार देखा था—

सिकुड़न रहित ललाट, ललित अति, उन्नत कला विधान।
पौरुषपूर्ण विशद वक्षस्थल, वृषभ कंध बलवान॥

मुनि युवक को देशप्रेम और देशसेवा का उपदेश देते हैं और ये दोनों (विजया और आनंदकुमार) देशभ्रमण के द्वारा देशवासियों और देश की समस्याओं से परिचय प्राप्त करने के लिये निकल पड़ते हैं। युवक, युवती और मुनि के प्रोत्साहन से जनता में एक नवीन आत्मविश्वास प्रबुद्ध होता है। राजशक्ति जब आदेश देती है—

धर विजया को, पकड़ युवक को, मुनि को डालो मार।
गाँव गाँव रिपुओं ने घेरा करते हुए पुकार॥
(मिलन, पृष्ठ ६८)

तब प्रजा अपने हितैषियों पर संकट के उमड़ते बादल देखकर विद्रोह करती है। युवक की संरक्षा के लिये मुनि प्रस्तुत हो जाते हैं और उसपर किए गए प्रहार को अपने सीने पर झेलते हैं। मृत्यु से पूर्व युवक के पिता होने के रहस्य का

भी वह उद्घाटन करते हैं । युवक विजयी होता है और प्रियतमा से उसका मिलन हो जाता है ।

'मिलन' काव्य प्रेम के विश्वबंधुत्व में उदात्तीकरण का काव्य है । कृष्णदत्त पालीवाल ने उसका संबंध प्रेमाख्यान काव्यधारा से जोड़ा है जो ठीक नहीं है । प्रेमाख्यानक कवियों में रहस्यवादिता रहती थी और आत्मा परमात्मा के प्रणय का सायुज्य भाव। वहाँ की नायिका ईश्वर का रूप थी और प्रेमी का प्रयत्न उसकी प्राप्ति। यहाँ वैसा कुछ भी नहीं है। प्रेमी सर्वहित के हेतु दीक्षित है और उसकी प्रेमिका भी उसी पथ पर चलकर उसके प्रणय की पात्री बन सकती है अन्यथा नहीं। 'मिलन' प्रेमाख्यानक काव्य की तरह किसी विराट् पथिक का संदेश देने के हेतु निर्मित नहीं हुआ है प्रत्युत लोककल्याण का स्वर गुंजरित करने के लिये हुआ है। विजया एवं युवक के प्रेम में वासना नहीं है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना है ।

डा० श्रीकृष्णलाल ने इसको सभी जगह वासना जनित आकर्षण से ऊपर उठा हुआ बताया है[1]।

'मिलन' में देशभक्त की व्याख्या कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

देशभक्त का हृदय, बड़ा ही होता है बलवान ।
शैय्या काँटों की लगती है उसको फूल समान ।।

(मिलन, पृष्ठ ५६)

'मिलन' काव्य का नायक देशभक्ति में दीक्षित वीर ही है—

आहत युवक थक गया तन से
निकल रहा था रक्त ।
था तथापि शत्रु मंथन मे
पूर्ण रूप आसक्त ।।

(वही, पृष्ठ ७०)

त्रिपाठी जी की भाषा भावानुकूल है । एक ओर 'प्रवालप्रताड़ित', 'मुक्तिवर्यं' जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है, दूसरी ओर 'विम' जैसे देशज शब्द भी उनके काव्य में प्राप्त हैं । कल्पनात्मक कथानक में देशभक्ति के भाव का गुंफन उन्होने कुशलता से किया, कोरा उपदेश मात्र नहीं दिया, यही उनके काव्य की महत्ता है ।

'पथिक' और 'मिलन' के अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने एक प्रबंध ग्रंथ और लिखा 'स्वप्न', किंतु वह १९२९ के बाद की काव्यकृति है अतः उसका विशद वर्णन एवं अध्ययन यहाँ अपेक्षित नहीं; केवल इतना उल्लेख आवश्यक है कि

---

१. आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृष्ठ ६४ ।

स्वयं त्रिपाठी जी के अपने शब्दों में—"इसमें मैंने आजकल के नवयुवकों के दुविधामय हृदय को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। आजकल एक ओर तो देश का दुःख दैन्य करुण रस उत्पन्न कर रहा है दूसरी ओर सौंदर्य, शृंगार और सुख के लिये प्रकृति का प्रोत्साहन है। नवयुवकों का मार्ग शृंगार और करुण के बीच का है। शुद्ध हृदय के लिये दोनों ओर प्रबल आकर्षण है। किधर जाना चाहिए इसके लिये ही मैंने यह स्वप्न तैयार किया है"। स्वप्न का नायक वसंत सोचता है कि मुझे शिक्षा न मिली होती तो देश, समाज और मनुष्य जाति के कष्टों का मुझे अनुभव ही न होता। अतः वह इस दुख को ज्ञान का दंड मानने लगा और निश्चय न कर सका कि उसे क्या करना चाहिए। उसकी पत्नी सुमना ने ही कर्तव्यपरायण होकर उसे उस द्विविधा की स्थिति से उबारा। अतः 'स्वप्न' काव्य गांधी युग की इस मान्यता को परिपुष्ट करता है कि नारी पुरुष की प्रेरक शक्ति है, सहचरी है और उसकी समस्त समस्याओं का उत्तर है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि रामनरेश त्रिपाठी के स्फुट काव्य, लोकोक्ति काव्य और 'कविता कौमुदी' का महत्व तो अक्षुण्ण है ही, उनके संकलित लोकगीतों को भी कोई नहीं भुला सकता, किंतु उनकी प्रबंध काव्य कृतियाँ भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इतिहास और पुराण के ठोस आधार का ग्रहण उन्होंने नहीं किया बल्कि कल्पनात्मक कथानकों के आश्रय से देश की समस्याओं को प्रस्तुत किया और लोकनेताओं के प्रयत्न से सामूहिक संघटन कराके अत्याचारी शासकों के दमन की बात की। यह कार्य कोई साधारण सरल कार्य नहीं था। पौराणिक कथानकों के संस्कार जनमानस में पहले से बैठे रहते हैं। उनको ग्रहण करना जनता के लिये सरल होता है। कल्पनात्मक कथानक के लिये संस्कार बनाना काफी कठिन कार्य है क्योंकि उसके कोई पूर्वसंस्कार पाठक के हृदय में पहले से नहीं होते, लेखक शनैः शनैः उनको निर्मित करके अपना संवेद्य कहता है। त्रिपाठी जी ने अपने प्रबंध काव्यों में इस कष्टसाध्य कार्य को सफलतापूर्वक किया है। उनके काल्पनिक पात्र भी भारतीयों के लिये वास्तविक सत्ता के रूप में आदर्श का कार्य सिद्ध करते हैं और यही त्रिपाठी जी के काव्य की सफलता है। उनका कल्पनात्मक काव्य अपने युग के लिये जीवित संदेश बन गया था।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया, सं० १९२२ अर्थात् २५ अप्रैल, १८६५ ई० को हुआ था। इनका वंश यद्यपि अगस्त्य गोत्रीय शुक्ल यजुर्वेदी ब्राह्मण कुल से संबद्ध था तथापि दिल्ली से निजामाबाद आने पर उसने सिक्ख धर्म स्वीकार कर लिया था। हरिऔध जी भी जीवन पर्यंत अपनी कुलपरंपरा का पालन करते रहे। इनके पिता का नाम पं० भोलानाथ उपाध्याय था जो अधिक

पढ़े लिखे न थे मतः बालक अयोध्यासिंह की पढ़ाई लिखाई की देख भाल उनके पितृव्य पं० ब्रह्मासिंह ने की। सन् १८७६ ई० में निजामाबाद के तहसीली स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल स्कूल पास करने के उपरांत अंग्रेजी पढ़ने के लिये काशी चले गए, परंतु अस्वस्थता के कारण छह मास बाद ही घर लौट आए। इसके पश्चात् घर में ही संस्कृत, फारसी, बँगला और हिंदी का नियमित अध्ययन किया। उसी समय निजामाबाद की एक सांध्य गोष्ठी में विद्वान् कवि सुमेरसिंह से इनका परिचय हुआ जो अपना उपनाम 'हर सुमेर' लिखते थे। उन्हीं के अनुकरण पर पं० अयोध्यासिंह ने अपना उपनाम 'हरिऔध' रखा।

शिक्षा की दृष्टि से 'हरिऔध' जी ने अंग्रेजी की कोई ऊँची परीक्षा पास नहीं की थी, केवल साधारण हिंदी उर्दू की परीक्षाएँ ही उत्तीर्ण की थीं, परंतु स्वाध्याय के बल पर ही, पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से, 'कानूनगो' जैसे असाहित्यिक कर्म के क्षेत्र के बाद लगभग २० वर्ष तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य किया।

साहित्य के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त संमान प्राप्त हुआ। साहित्यरत्न, साहित्य-वाचस्पति और कविसम्राट् जैसी उपाधियों से वे विभूषित किए गए। हिंदी साहित्य संमेलन के अध्यक्ष भी रहे और 'प्रियप्रवास' की रचना पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त किया।

हरिऔध जी प्राचीन रूढ़ियों के प्रति आस्थावान् होते हुए भी अंधविश्वासी नहीं थे। धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था, सभी धार्मिक पुस्तकों का संमान करते थे। भजन पूजन में उनका कोई विश्वास नही था। देवी देवताओं को आदर्श अथवा असाधारण मानव मात्र मानना उनका इष्ट था। वे उनके लिये भगवान् नहीं थे। यही दृष्टिकोण उनके प्रसिद्ध प्रबंध काव्य 'प्रियप्रवास' में देखा जा सकता है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से ७५ वर्ष की आयु में उन्होंने अवकाश प्राप्त किया और ६ मार्च, १९४७ ई० को उनका देहावसान हुआ।

रचनाएँ

परिमाण एवं विधा दोनों दृष्टियों से ही हरिऔध जी ने पर्याप्त लिखा जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. उपन्यास : १ ठेठ हिंदी का ठाट
२ अधखिला फूल

२. नाटक : १ रुक्मिणी परिणय
२ प्रद्युम्न बिजय

३. अनुवाद (१) वेनिस का बाँका, (२) रिप वान विंकिल, (३) नीति निबंध, (४) उपदेश कुसुम, (५) विनोद वाटिका, (७) स्फुट काव्य संग्रह

४. स्फुट काव्य संग्रह : (१) चोखे चौपदे, (२) चुभते चौपदे, (३) बोलचाल, (४) पद्म प्रसून, (५) पारिजात, (६) जातमुकुर, (७) काव्योपवन, (८) प्रेम पुष्पोपहार, (९) प्रेम प्रपंच, (१०) प्रेमांबु प्रस्रावण, (११) प्रेमांबु प्रवाह, (१२) प्रेमांबु वारिधि (१३) रस कलश

५. आलोचना : १ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, (२) कबीर वचनावली की आलोचना।

६. प्रबंध काव्य : (१) प्रिय प्रवास (२) वैदेही वनवास

आलोच्य काल के इनके प्रबंध काव्यों में 'प्रिय प्रवास' ही समाहित है। 'वैदेही वनवास' की रचना परवर्ती काल में सन् १९४१ में हुई अतः केवल 'प्रियप्रवास' का साहित्यिक आकलन ही यहाँ अपेक्षित है।

हरिऔध जी का समस्त काव्य छंद के बंधन में आबद्ध है। उनका विश्वास था कि 'अंत्यानुप्रास बड़े ही श्रवणसुखद होते हैं और कथन को भी मधुरतर बना देते हैं।' (प्रिय प्रवास, पृ० ४-५)। इतना होते हुए भी उन्होने इस प्रसिद्ध काव्य की रचना अंत्यानुप्रास से पृथक् भिन्न तुकांत वृत्तों में की है। उनके सिद्धांत और व्यवहार पक्ष के इस विरोध का स्रोत उनकी सामयिक परिस्थितियों में खोजा जा सकता है। वस्तुतः उस समय के कवि द्विवेदी जी की प्रेरणा से संस्कृत के वर्णवृत्तों की ओर उन्मुख हो रहे थे अतः हरिऔध जी ने अपनी मुक्तक रचनाओं का आधार जहाँ मात्रिक रखा है वहाँ प्रियप्रवास का आधार वर्णिक वृत्त है।

प्रियप्रवास को खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य कहा जाता है। इसमें कृष्ण के मथुरागमन और उनके विरह में दुःखी ब्रजवासियों और मुख्यतः राधा का वर्णन है। कृष्ण के वियोग में विह्वल ब्रजभूमि का अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने भी वर्णन किया है किंतु राधा मौन रही है। यहाँ उसकी पीड़ा मुखर हो गई है।

इस ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि प्रिय का प्रवास इसका वर्ण्य विषय है अर्थात् प्रिय कृष्ण के मथुरा गमन से वियोगतप्त ब्रजवासियों की दशा का विवरण। इस अवसर पर हरिऔध जी ने एक मौलिक परिवर्तन किया है। कृष्ण के मथुरागमन के समय राधा अकेली नहीं है, ललिता भी उसके पास है। प्रिय के विदेश जाने का समाचार सुनकर राधा की दशा को विभिन्न अनुभावों के माध्यम से कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

विकसिता कलिका हिमपात से।
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है॥
सुन प्रसंग मुकुंद प्रवास का।
मलिन त्यों वृषभानु सुता हुई॥

(प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग, पद २९, पृष्ठ ४०)

'विवर्ण' अनुभाव के वर्णन से वियोगिनी राधा की व्यथा की काफी मार्मिक व्यंजना हो सकी है किंतु इसके पश्चात् ही रुदन के प्रलाप का इतना विशद वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है, युग युग की मौन राधा इतनी मुखर हो उठी है कि उसका मर्म छिछला लगने लगता है और पारसी थिएटरों के लंबे चौड़े गानों की याद दिलाने लगता है। अच्छा होता कि हरिऔध जी इतना लंबा विवरण प्रस्तुत न करके अनुभावों के वर्णन से ही व्यंजना कराते। 'प्रियप्रवास' की राधा अपने मन की बात कहने में काफी मुँहफट है। वह ललिता से स्पष्ट कहती है कि कृष्ण को उसने हृदय से वरण किया है और विधिवत् वरण करने की लालसा भी उसके मन में थी जो अब पूरी होती नहीं दिखाई देती—

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि वरण की थी कामना और मेरी॥
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाग्य में जो लिखा है॥

(प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग)

इस प्रकार की मुखर अभिव्यक्ति नायिका के मुख से करवाना भारतीय कुलीन कन्याओं के आचरण से विरुद्ध अत्यंत आधुनिका का आचरण जान पड़ता है। राधा के विरह में उसको धैर्य बँधाती हुई ललिता का विरह अधिक मार्मिक है।

'प्रियप्रवास' की राधा के विरह का उन्नयन कवि की युगानुकूल परिस्थितियों के प्रभाव से लोकसेविका के रूप में हुआ है यद्यपि लोकसेवा करते हुए भी उसने स्पष्ट स्वीकारा है कि—

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यतः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते॥
वैसी वांछा जगत हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा॥

(प्रियप्रवास, षोडश सर्ग, पद ५६)

इस प्रकार प्रियप्रवास को नवीन रूप देने का प्रयास यद्यपि कवि ने किया है तथापि उसका मुख्य पात्र राधा अत्यंत दुर्बल और दीन चरित है। इसके समक्ष सूर की राधा कहीं अधिक महान् थी। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण लोकरंजक से अधिक लोक-नायक हैं, ब्रजवासी उन्हें इसी रूप में स्मरण अधिक करते हैं। कृष्ण ने राधा के हेतु जो संदेश भेजा था उससे भी यही ध्वनि निकलती है—

प्यारी आशा प्रिय मिलन की नित्य है दूर होती॥
कैसे ऐसे कठिन पथ का पांथ मैं हो रहा हूँ।

तथा

है प्यारी और मधुर सुख औ भोग की लालसाएँ।
कांते लिप्सा जगत हित की और भी है मनोज्ञा ॥
इच्छा आत्मा परम हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उसमे आत्म उत्सर्ग की है ॥
जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी ॥
जी से प्यारा जगत हित और लोकसेवा जिसे है।
प्यारा सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है ॥

(प्रियप्रवास, षोडश सर्ग, पद ४, ४२)

इस सन्देश को सुन कर राधा प्रतिज्ञा करती है—

जो इच्छा है परम प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी ॥
यों भी मेरे परम व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्तचित्ता उसी में ॥

(प्रियप्रवास षोडश सर्ग, पद १२६)

इस तरह अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति और कृष्ण के संदेश से प्रियप्रवास की राधा अपने प्रेम का उन्नयन लोकसेवा में करती है। लोकसेवा की वृत्ति हरिऔध जी के समय की माँग है और राधा के प्रणय में उसका समावेश कुशलता से कवि ने किया है। व्यस्त जीवन में रोने धोने से काम कहाँ चलता है, इस मर्म को कवि ने समझा है। इसमें 'प्रियप्रवास' का आधुनिक युग को प्रबोध है। यहाँ आधुनिक काव्य मध्यकालीन काव्य से संबंध विच्छेद करता दृष्टिगोचर होता है। यही इस काव्य की सार्थकता है।

वर्ण्य विषय और शैली दोनों की दृष्टि से परंपरा का आधार लेकर भी प्रियप्रवास मौलिक ग्रंथ है। कथा कृष्ण के जीवन की है और उसका संवेद्य आधुनिक। संदेश शैली के पवन दूती प्रसंग मेघदूत की परंपरा को सुरक्षित रखे हुए हैं। केवल राधा ही नहीं नंद, यशोदा, गोप गोपिकाएं, अन्य सभी ब्रजवासी अपने अपने संबंधों से संपृक्त कृष्ण के लोकनायकत्व के पुजारी हैं। वर्णवृत्त छंदों और प्रकृति के छायावादी वर्णनों से संबद्ध इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व आज भी अक्षुण्ण है।

प्रियप्रवास में कुछ दोष भी है। भावों की आवृत्ति वर्णन में मुख्य दोष है। भाषा के संबंध में भी हरिऔध जी ने द्विवेदी युग की सुगठित शैली के स्थान पर मनमानी बरती है, मनमाने शब्द गढ़े हैं।

जब दिशा सितता युत हो चली।

(प्रियप्रवास, पृष्ठ ४७)

क्रिया के प्रयोग में तो अराजकता पर्याप्त है ही, भाषा में लाघव लाने के लिये कवि ने अनेक स्थलों पर मूल क्रिया की पूरक क्रिया का ही लोप कर दिया है और कहीं संस्कृत की क्रियाओं को ज्यों का त्यों रख दिया है—

अयि सखि ! अवलोके खिन्नता तू कहेगी।

(प्रियप्रवास, पृ० ४७)

कल अलाप समापित हो गया।

'प्रियप्रवास' में अभिधा शक्ति का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। इसके कारण जहाँ एक ओर नीरस एकरसता इस काव्य में प्राप्त होती है वहाँ कहीं कहीं यह अभिधा ही सशक्त समर्थ प्रकृतिचित्रों को प्रस्तुत कर सकी है—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखर पर थी अब राजती।
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।

(प्रियप्रवास, पृ० १)

इसका यह अर्थ नहीं है कि इस काव्य में व्यंजना का सौंदर्य नहीं है। है, परंतु बहुत विरल है। निम्नलिखित पद दृष्टव्य है—

ऊधो आवो तिमिर मय था भाग्य आकाश मेरा।
धीरे धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कांतिशाली।
ज्योतिर्माला वलित उसमें चंद्रमा एक न्यारा।
राकाश्री ले समुदित हुआ चित्त उत्फुल्लकारी।

(प्रियप्रवास, पृ० १२६)

अलंकारों का प्रियप्रवास आगार है। मालोपमा, रूपक, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, उदाहरण अपह्नुति, परिकर, पारिकरांकुर, स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य आदि न जाने कितने अलंकार उसमें बिखरे पड़े हैं। कुछ एक उदाहरण यहाँ उद्धृत हैं :—

मालोपमा—

हरीतिमा का सुविशाल सिंधु सा।
मनोज्ञयता की रमणीय भूमि सा।

विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा।
प्रशांत वृंदावन दर्शनीय था।
(प्रियप्रवास, पृ० २०६)

यथासंख्य—

निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने।
प्रदान की अति कांत भाव से।
वसुंधरा को, पिक को, मिलिंद को।
मनोज्ञता, मादकता, मदांधता।
(प्रियप्रवास, पृ० २३७)

इस काव्य के अलंकार समर्थ बिंबों को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। निम्नलिखित छंद में ग्रीष्म का वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

विदग्ध हो के कण धूलि राशि का।
हुए तपे लौह कण समान था।
प्रतप्त बालु इव दग्ध भाड़ की।
भयंकरी महि–रेणु हो गई।
(प्रियप्रवास, पृ० १६)

इस तरह 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य प्रबंध के रूप में अपना सानी नहीं रखता। संस्कृत के वर्णवृत्तों का हिंदी में इतना सफल प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है। युग चेतना के अनुरूप समष्टि के लिये व्यष्टि के स्वार्थों की बलि इसका आदर्श संवेद्य है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और उनके प्रबंध काव्य

व्रजभाषा के सुकवि बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म भाद्रपद शुक्ल पंचमी, संवत् १९२३ विक्रमी (सन् १८६६) को काशी के एक वैश्य परिवार में हुआ। इनके पूर्वज पंजाब के पानीपत जिले के रहनेवाले थे। मुगल शासन के समृद्धि काल में पानीपत छोड़कर दिल्ली आ बसे थे और शाही दरबार में उच्च पदों पर आसीन रहकर पर्याप्त मान एवं संपत्ति प्राप्त की थी। मुगल शासन के वैभव विलास के क्षीण होने के साथ ये लोग भी दिल्ली छोड़कर काशी में आ बसे थे। राजदरबारों से संबंध होने के कारण लखनऊ के दरबारों से भी उनका घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया। बाबू जगन्नाथदास के परदादा सेठ तुलाराम जहाँदारशाह के दरबार में काम करते थे और महाजनी का व्यवसाय भी करते थे। उनकी गिनती लखनऊ के रईसों में थी। जहाँदारशाह के साथ यही सेठ

तुलाराम किसी कार्यवश एक बार काशी गए और उसकी शोभा पर मुग्ध होकर वहीं बस गए।

सेठ तुलाराम के पुत्र सेठ संगमलाल थे और उनके दो पुत्र पुरुषोत्तमदास और हरिराम थे। रत्नाकर जी इन्हीं सेठ पुरुषोत्तम दास के पुत्र थे। पुरुषोत्तम-दास जी को बहुश कहा जाता है। वे फारसी के मर्मज्ञ थे और कहते हैं कि कुरान इनको पूरा याद था। उनका हिंदी काव्य के प्रति भी अनन्य अनुराग था और आयु में अंतर होने पर भी भारतेंदु जी से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी।

साहित्यिक वातावरण रत्नाकर जी को पैतृक विरासत के रूप में प्राप्त हुआ। प्रारंभ में उर्दू फारसी की शिक्षा रत्नाकर जी को घर में ही दिलाई गई और १२ वर्ष की आयु में अंग्रेजी पढ़ने के लिये टी० पी० स्कूल में भेजा गया। स्कूली शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् स्थानीय क्वींस कालेज में नाम लिखाया गया और सन् १८६१ ई० में इन्होंने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। रत्नाकर जी की सभी धर्मों के प्रति निष्ठा थी। प्रारंभ में 'जकी' उपनाम से फारसी में कविता करते थे। 'भारतेंदु' ने उनके विषय में भविष्यवाणी की थी कि 'यह बालक आगे चलकर हिंदी का श्रेष्ठ कवि होगा।'

कुछ लोगों ने सरदार कवि को उनका काव्यगुरु माना है जो संभवत: रत्नाकर जी के स्वयं के कथन पर आधारित है—"सरदार कवि को हमने स्वयं अपनी बाल्यावस्था में देखा था। काशी के भदैनी मुहल्ले में हमारे घर से थोड़ी दूर वे रहते थे और हमारे पूज्य पिता के पास आया जाया करते थे। हम कभी कभी उनसे पढ़ भी लिया करते थे।"

कुछ अन्य विद्वान् श्री नवनीत चतुर्वेदी को इनका गुरु मानते हैं, किंतु रत्नाकर जी ने 'सुजान सागर' की भूमिका में उन्हें अपना मित्र कहा है। यदि नवनीत जी उनके गुरु होते तो रत्नाकर जी कभी उनका मित्र के रूप में उल्लेख न करते। सन् १८६३ ई० में काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, बाबू इंद्रनारायण सिंह, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू देवकीनंदन खत्री और बाबू गदाधर सिंह के साथ जगन्नाथदास रत्नाकर भी उसमें संमिलित हुए और बाद में नागरीप्रचारिणी पत्रिका की परीक्षक समिति के सदस्य भी रहे। काव्यसर्जना के अतिरिक्त उनका काव्यशास्त्र का अध्ययन भी गहरा था। सन् १८६४ ई० में 'साहित्य सुधानिधि' पत्र का काव्यनिरूपण खण्ड ३ प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने संस्कृत आचार्यों के काव्यनिरूपण संबंधी मतों की समीक्षा की। १८६७ में 'घना-क्षरी नियम रत्नाकर' प्रकाशित हुआ।

सन् १६०२ में अयोध्या नरेश महाराजा सर प्रतापनारायण सिंह के० सी० आई० ने उनको अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। उसके पश्चात् रत्नाकर जी

महारानी जगदंबा देवी के विशेष कृपापात्र रहे और उन्हीं की प्रेरणा से १९२१ में 'गंगावतरण' की रचना से पुनः साहित्यसेवा आरंभ की। रत्नाकर जी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

१. हिंडोला, २. समालोचनादर्श, ३. हरिश्चंद्र, ४. कलकाशी, ५. गंगालहरी, ६. श्री विष्णु लहरी, ७. शृंगार लहरी एवं प्रकीर्ण पद्यावली, ८. रत्नाष्टक तथा वीराष्टक, ९. गंगावतरण, १०. उद्धव शतक।

गंगावतरण एवं उद्धव शतक दो प्रबंध काव्यों की रचना उन्होंने की है जिनमें उद्धव शतक प्रबंध मुक्तक है।

गंगावतरण रत्नाकर जी का प्रसिद्ध प्रबंध काव्य है जिसकी रचना उन्होंने अयोध्या की महारानी जगदंबादेवी की प्रेरणा से की। गंगावतरण का कथानक 'वाल्मीकि रामायण' एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण से प्राप्त किया गया है किंतु कवि की मौलिकता अक्षुण्ण है। न तो उसे भावानुवाद कह सकते हैं, न शब्दानुवाद। गंगावतरण एक मौलिक रचना है जिसकी कथा का विस्तार १३ सर्गों में है। सर्गानुसार छंदरचना इस प्रकार है।

मंगलाचरण	३	छप्पय
प्रथम सर्ग	३७	रोला, अंत में २ उल्लाला
द्वितीय सर्ग	३९	– – –
तृतीय सर्ग	३४	– – – –
चतुर्थ सर्ग	५१	– – –
पंचम स।	५१	– – –
षष्ठ सर्ग	४०	– – –
सप्तम सर्ग	४१	– – –
अष्टम सर्ग	४७	– – –
नवम सर्ग	३९	– – –
दशम सर्ग	४२	रोला, अंत में २ उल्लाला
एकादश सर्ग	४७	– – –
द्वादश सर्ग	४०	– – –
त्रयोदश सर्ग	४४	– – –

गंगावतरण की कथा का प्रारंभ राजा सगर की पत्नियों सहित (भृगु ऋषि के आश्रम में) तपस्या से होता है। बड़ी रानी केशिनी के असमंजस नामक पुत्र और दूसरी रानी सुमति के ६०,००० पुत्र होते हैं। असमंजस दुष्टात्मा और

अनाचारी था अतः राजा ने उसके पुत्र अंशुमान को युवराज घोषित किया और स्वयं अश्वमेध यज्ञ करने लगे। यज्ञ के घोड़े को चुराकर इंद्र ने पातालपुरी में कपिल मुनि के आश्रम में बांध दिया। सगर के साठ हजार पुत्र उसको खोज खोजकर थक गए परंतु पृथ्वी पर उसे प्राप्त न कर सके।

द्वितीय सर्ग में सगर की आज्ञा से पृथ्वी को खोदते हुए सगर के पुत्रों के पातालपुरी पहुँचने का वर्णन है। कपिल के आश्रम में घोड़े को बँधा देखकर वे उन्हें ही चोर समझ बैठे और भला बुरा कहा। ऋषि ने क्रुद्ध होकर शाप से सबको भस्म कर डाला।

तृतीय सर्ग में सगर ने अंशुमान को पितृव्यों की खोज करने का आदेश दिया। गरुड़ ने अंशुमान को कपिल द्वारा उसके पितृव्यों के भस्म हो जाने का वृत्तांत सुनाया। जब अंशुमान ने उनके उद्धार का उपाय पूछा तो गरुड़ ने पतितपावनी गंगा की महिमा वर्णित की और बताया कि उन्हीं की कृपा द्वारा यह उद्धार संभव है।

चतुर्थ सर्ग में गंगा के उद्भव की कथा राधा कृष्ण के गुणगान से उत्पन्न द्रव के रूप में की गई है।

पंचम सर्ग में अंशुमान घोड़े के साथ लौटते हैं, यज्ञ पूरा होता है। समस्त वृत्तांत सुनकर राजा सगर स्वयं यज्ञ के हेतु उद्यत होते हैं और तपस्या करते हैं। इसके पश्चात् अंशुमान और फिर उनके पुत्र दिलीप गंगा प्राप्ति के हेतु तपस्या करते हैं। तत्पश्चात् दिलीप के पुत्र भगीरथ ने गंगा की प्राप्ति के हेतु तपस्या प्रारंभ की।

छठे सर्ग में भगीरथ का गोकरणधाम पहुँचना, भीषण तपस्या के द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न करके वरदान प्राप्त करना वर्णित है। ब्रह्मा के आदेश से शिव की प्रसन्नता हेतु तपस्या का प्रारंभ भगीरथ ने किया।

सप्तम सर्ग में गंगा का पृथ्वी पर अवतरण किंतु मार्ग में ही शंकर द्वारा अपनी जटाओं पर धारण कर लेने का विशद वर्णन है। गंगा शंकर की जटाओं में विलुप्त हो गईं और भगीरथ पुनः चिंतित हो उठे।

अष्टम सर्ग में भगीरथ ने शंकर से पृथ्वी के दुःख को दूर करने के लिये गंगा के विमोचन की प्रार्थना की और शिव ने प्रसन्न होकर उसको स्वीकारा; मार्ग में फिर राजर्षि जह्नु ने गंगा को अंजलि में भरकर पान कर लिया। भगीरथ के अनुनय करने पर उन्होंने गंगा का विमोचन किया।

नवम एवं दशम सर्गों में गंगा के पार्श्ववर्ती प्राकृतिक सौंदर्य एवं उसकी प्रगति का प्रयाग तक पहुँचने का वर्णन है।

ग्यारहवें सर्ग में गंगा-यमुना-संगम, चुनार और काशी तीर्थों में गंगा की अद्भुत शोभा, सोन और कोसी नदियों का उसमें संगम, विस्तृत प्रवाह रूप बनकर सुंदरवन में प्रवेश तथा गंगासागर स्थल पर सागर संगम का वर्णन है।

बारहवें सर्ग में सगर के पुत्रों के क्षार को गंगा के द्वारा बहाया जाना और इस प्रकार उनकी मुक्ति का वर्णन है। अंत में भरत वाक्य में भगीरथ के पितरों की कल्याण कामना का निरूपण है।

तेरहवें सर्ग में गंगा में स्नान करके भगीरथ गंगा से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं और सिंहासन ग्रहण करते हैं।

'गंगावतरण' की कथा का आधार वाल्मीकि रामायण और ब्रह्मवैवर्त पुराण से कवि ने प्राप्त किया है किंतु प्रसंगों के वर्णन में उनकी मौलिक दृष्टि एवं कवित्व द्रष्टव्य है। वाल्मीकि रामायण के ३८ से ४४ वें सर्ग तक सगर की कथा वर्णित है जो विश्वामित्र जी ने रामचंद्र जी को सुनाई थी। चौथे सर्ग का आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण है। रत्नाकर जी ने विश्वामित्र द्वारा कथावर्णन न कराके स्वयं कवि के मुख से उसका वर्णन कराया है। कुछ स्थल यहाँ द्रष्टव्य हैं—

सगर के विषय में वाल्मीकि ने केवल इतना इंगित किया—

अयोध्याधिपति वीर पूर्वमासीन्नराधिप:।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकाम: स चा प्रजा ॥

(वाल्मीकि रामायण, सर्ग ३८)

रत्नाकर जी ने धर्मात्मा शब्द की व्याख्या और विवरण प्रस्तुत किया है :—

भयो भूप तिहिं नगर सगर इक परम प्रतापी।
दिग छोरनि लौ उमँगि जासु कल कीरति व्यापी ॥
रिपु दल खल बल दलन प्रजा परिजन दुख भंजन।
गुनि जन जीवनि-मूल सुकृति-सज्जन-मन-रंजन ॥ ६ ॥
गो ब्राह्मन प्रतिपाल ईस गुरु भक्त अदूषित।
बल विक्रम बुधि रूप धाम सुभ गुन गन भूषित ॥
नीति पाल जिहिं सचित बाल की खाल खिचैया।
सेनप स्वामि प्रसेद - पात - थल रक्त सिचैया ॥ ७ ॥

(गंगावतरण, पृ० २१६)

सगर की रानियों के वर्णन में भी इसी प्रकार कवि की मौलिकता प्राप्त है—

वैदर्भ दुहिता राम केशिनी नाम नामत:।
ज्येष्ठा सगर पत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥
अरिष्ट नेमे दुहिता सुपर्ण भगिनि सुता।
द्वितीया सगरस्यासीत्पत्नी सुमति संज्ञिता ॥ ४ ॥

(वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग ३८)

भामिनि भूषन भई जुगल ताकी पटरानी।
ज्ञान सुसंगिनि जथा भक्ति श्रद्धा सुख सानी ॥

जोबन रूप अनूप, भूप-सुचि-रुचि अनुगामिनि।
जिनकी प्रभा निहारि हारि सकुचति सुरस्वामिनि ॥ ८ ॥
इक केसिनी विदर्भ राज वर की कुल कन्या।
दूजी सुमति सुपर्न भव्य भगनी भुवि धन्या ॥
दोउ पुनीत पति प्रीति पात्र दोऊ पति अनुरागिनी।
दोउ कुल कमला-गिरा-रूप दोऊ अति बड़भागिनी ॥ ९ ॥

गंगावतरण, पृ० सं० १९६

सगर की दोनों पत्नियों को कमला एवं गिरा रूप कहना कवि की अपनी मौलिकता है।

गंगावतरण के चतुर्थ सर्ग की कथा का आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण है किंतु यहाँ भी कवि की अभिव्यक्ति की मौलिकता अपनी है। गंगा के अवतरण की पौराणिक कथा को हिंदी के पाठकों के लिये कवि ने सुलभ बनाया, यह स्वयं में ही एक महान् कार्य था।

गंगावतरण का अभिव्यंजना शिल्प भी शोभनीय है। गोकर्ण आश्रम में उतरती हुई गंगा का विराट् मनोरम चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। सुरसरि गंगा के स्वागत में मानो ऋतुराज ने समस्त वनश्री को सजा दिया था—

नाचत मंजुल मोर, भौंर साजत सारंगी।
करति कोकिला गान तान तानति बहुरंगी ॥
स्यामा सीटी देति चटक चुटकी चुटकावत।
घूनि झूमि झुकि कल कपोत तबला गुटकावत ॥

यहाँ प्रकृति का आलंबन रूप विशेष दृष्टव्य है। गंगावतरण में उपमा और उत्प्रेक्षा की कला दर्शनीय है। श्याम मेघों में गंगा की शुभ्र धारा चाँदनी जैसी लग रही है। जब उस बादल में बिजली चमकती है तो जैसे गंगा की धारा में दीपकों की माला शोभित होने लगती है—

छहरावति छवि कबहुँ कोउ सित सघन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोन्ह छटा हिमप्रचुर अटा पर ॥
तिहिं घन लहरति लुरति चपल चपला जब चमकै।
जल प्रतिबिंबित दीप - दाम दीपति सी दमकै ॥

चतुर्थ सर्ग के ३८ वें पद में बालिका गंगा की तुलना रमा अथवा आनंद की प्रभा से करके एक मनोवैज्ञानिक उपमा प्रस्तुत की गई है। सातवे सर्ग के १२वें छंद में गंगा के स्वागत को संनद्ध शिव का वर्णन उत्प्रेक्षा में अनुपम है। इसी प्रकार २०वें, २१वें छंद में गंगा की छवि उत्प्रेक्षा के माध्यम से कवि ने बहुत सुंदरता से

वर्णित की है। चतुर्थ सर्ग में युगलबिहारी की शोभा का वर्णन भी उत्प्रेक्षाओं का अपूर्व भंडार है—

इक इक बाँहि उमाहि किए गलबाँहि बिराजैं।
इक इक कर बड़भाग बनज बंसी कल भ्राजैं॥
मनु तमाल पर सोनजुही की लसे माल वर।
स्याम तामरस दाम प्रफुल्लित सोनजुही पर॥
नील पीत अभिराम बसन धुनि दाम धराए।
मनई एक को रंग एक निज अंग अँगाए॥
विपुल पुलक दुहुँ गात पसरपर सरस परस के।
पीत नीलमनि माँहि मनों अंकुर सुचिरस के॥
सुधि करि विविध विनास फुरति अँग अंग फुरहरी।
मनु सुखमा के सिंधु उठति आनँद की लहरी।

रत्नाकर जी का अधिकार सुष्ठु शुद्ध ब्रजभाषा और संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त पदावली दोनों पर था। गंगावतरण में—

अखिल कोटि ब्रह्मांड परम प्रभुता ध्रुवधारी।
कृस्न चंद आनंद कंद स्वच्छंद विहारी॥
नित नव लीला ललित कलित गोलोक अजिर में।
रमत राधिका संग राग रस रंग रुचिर में॥

(४–७)

इस तरह गंगावतरण आधुनिक प्रबंध-काव्य-परंपरा का बहुमूल्य रत्न है जिसके माध्यम से गंगा के उद्गम की पौराणिक कथा हिंदी के सहृदयों के हेतु सुलभ बन सकी है।

'हरिश्चंद्र' रत्नाकर जी द्वारा रचित खंड काव्य है। इसकी रचना उन्होंने भारतेंदु के हरिश्चंद्र नाटक के आधार पर की है। राजा हरिश्चंद्र का आख्यान वैदिक और पौराणिक साहित्य में अलग अलग रूप में पाया जाता है। वैदिक आख्यान के अनुसार हरिश्चंद्र इक्ष्वाकुवंशी राजा वेधस के पुत्र थे। पुत्र की कामना से पक्षियों का मार्ग जाननेवाले देवता वरुण को उन्होंने प्रसन्न किया और पुत्र-प्राप्ति का वरदान प्राप्त किया। वरुण की शर्त वरदान के संबंध में यह थी कि राजा अपने पुत्र को प्राप्त करने के उपरांत बलि चढ़ा देगा। पुत्र को प्राप्त करके उसके ममत्व में राजा वचन को बराबर टालते गए और अंत में ऐसा करने से मना कर दिया। वरुण ने क्रुद्ध होकर जलोदर रोग का शाप दे डाला। किसी प्रकार एक मध्यम मार्ग निकला और सौ गायों के बदले अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को प्राप्त करके वरुण

को बलि देने का साज सजाया गया। वरुण शुनःशेप की प्रार्थना से प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को क्षमा कर दिया।

राजा हरिश्चंद्र का सत्यवादी रूप, जो चंद्रमा और सूर्य की तरह अटल है, पुराणों की देन है, वैदिक साहित्य की नहीं। पौराणिक आख्यान के अनुसार विश्वामित्र के क्रोध से पीड़ित राजा स्त्री पुत्रादि सब कुछ बेच देते हैं और राजपाट छोड़कर चांडाल का दास बनना स्वीकार करते हैं। अंत में सर्पदंश से मृत अपने पुत्र रोहित के मृतक संस्कार के निमित आई हुई रानी शैव्या से अर्ध चीर को प्राप्त करके भी अपने सेवक धर्म का परिचय देते हैं। परीक्षा की कसौटी पर वे खरे उतरते हैं, उनकी जयजयकार होती है।

हरिश्चंद्र खंडकाव्य चार सर्गों में विभाजित है। हरिश्चंद्र खंडकाव्य के कथानक का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

राजा हरिश्चंद्र के दृढ़ सत्य से भयभीत इंद्र के सिखाने पर विश्वामित्र हरिश्चंद्र की परीक्षा लेने को प्रस्तुत होते हैं। वे हरिश्चंद्र से उसकी सकल मही दान ले लेते हैं और दक्षिणा में एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा माँगते हैं। विवश राजा को स्त्री पुत्र दोनों बेचने पड़ते हैं। परंतु सकल मही तो विश्वामित्र की थी फिर इनको कौन खरीदे ? शंकर के त्रिशूल पर स्थित काशी एक ऐसा स्थान रह जाता है जहाँ हरिश्चंद्र जाएँ और बिकें बेचें। प्रथम दो सर्गों में उपर्युक्त विवरण के पश्चात् तृतीय सर्ग में रानी शैव्या और पुत्र रोहित को हरिश्चंद्र एक उपाध्याय के हाथ बेचते हैं और तब भी ऋण पूर्ति नहीं हो पाती तो स्वयं को एक चांडाल के हाथ बेच देते हैं। चतुर्थ सर्ग में मृत पुत्र को श्मशान में अंतिम संस्कार के हेतु शैव्या का ले जाना और हरिश्चंद्र का उसकी आधी साड़ी को कफन के रूप में स्वीकार करना वर्णित है। हरिश्चंद्र की सत्य-पालन की प्रतिज्ञा से विश्वामित्र प्रसन्न होते हैं और उनसे क्षमा याचना करते हैं। इंद्र अपनी दुष्ट मनोवृत्ति पर लज्जित होता है। हरिश्चंद प्रजा के लिये वैकुंठ और भारत के लिये महिमा प्राप्त करके पुत्र रोहित को राज्य देकर सपत्नीक स्वर्ग को जाते हैं।

हरिश्चंद्र काव्य में भी रत्नाकर की अभिव्यंजना मौलिक और मर्मस्पर्शी है। श्मशान के भयसंकुल चिरंतन रूप का वर्णन यहाँ अद्वितीय है—

कहूँ सुलगत कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहूँ चरबी सों चटचटाति कहूँ दहदह दहकति॥

कहुँ फूंकन हित धरयौ मृतक तुरतहि तँह आयो।
परयो अंग अध जरयो कहूँ कोऊ कर खायो॥
कहूँ स्वान इक अस्थि खंड लै चारि चिचोरत।
कहुँ कारी महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत॥

इस भयानक जुगुप्सामय वातावरण में हरहराते पीपल को भी कवि नहीं भुला सका है :—

हरहरात इक दिसि पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥
वरषा ऋतु के काज और हूँ लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक।

काँपता हुआ पीपल का वृक्ष अनायास संबंधियों की मृत्यु का निरंतर साक्षात्कार करते हुए किसी वृद्ध का प्रतीक बन गया है।

उद्धव शतक की भूमिका में रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—"उद्धव शतक वह चित्रोपम सत्काव्य है जिसमें प्रबंधात्मक मुक्तक का प्राधान्य है और जिसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का अच्छा उत्कर्ष मिलता है। सुरसता (रसात्मकता), अर्थगौरव और ललित तथा मृदुल पदावली की मधुरता तो कूट कूटकर भरी हुई है।"

अपनी शैली का यह अनूठा काव्य है। जिस प्रकार हिंदी साहित्य में दोहा छंद में शतक या सतसई लिखने की पद्धति हिंदी काव्य के माध्यमिक काल में प्रचलित थी, उसी प्रकार यह काव्य भी केवल घनाक्षरी शब्दों में सतसई के समान लिखा गया है

उद्धव शतक ११६ घनाक्षरी मुक्तकों में लिखा गया प्रबंध मुक्तक है, जिसका प्रत्येक पद स्वयं में स्वतंत्र होते हुए भी उसी प्रबंध की कड़ी है। इस प्रबंध की कथावस्तु का आधार भागवत का गोपी-उद्धव-प्रसंग है। ज्ञान योग से सन्नद्ध उद्धव गोकुल पहुँचते हैं किंतु गोपियों के प्रगाढ़ प्रेमसंकुल भाव से अभिभूत होकर अपना ज्ञान का बखान भूल जाते हैं और कृष्णभक्ति के रंग में रँग जाते हैं। योगीश्वर कृष्ण को मोह में पड़ा देखकर उद्धव को अपने ज्ञान का बखान करने का सुअवसर मिला और उन्होंने कृष्ण से कहा—

पाँचो तत्व माँहि एक सत्व ही की सत्ता सत्य।
याही तत्व ज्ञान को महत्व श्रुति गायो है।
तुम तो विवेक रतनाकर कहौं क्यों पुनि।
भेद पंच भौतिक के रूप में रचायो है।

(उद्धवशतक, पृ० १५)

तथा

> आपु ही सौ आपु को मिलाप औ बिछोह कहा,
> मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायो है।

(वही)

उन्होंने यह भी कहा—

> असत असार या पसार में हमारी जान,
> जग भरमाय सदा ऐसे रहिबौ करैं।
> जागत औ पागत अनेक परपंचनि में,
> जैसे सपने में अपने को लहिबौ करैं।

(वही, पृ० १६)

स्पष्ट है कि उद्धव ने मुख्य रूप से कृष्ण से अद्वैत ब्रह्म के विश्व में अनेक रूपों में प्रसारित होने की बात कही थी। इस अद्वैत में विभेद मोह के कारण होता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे सपने में मनुष्य स्वयं अपने आपको पकड़ता हुआ दिखाई पड़ सकता है। उद्धव के अनुसार यही भ्रम है।

कृष्ण ने उद्धव को संमति दी—

> आवो एक बार धरि गोकुल गली की धूरि।
> तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम॥

(वही, पृ० १८)

कृष्ण जानते थे कि प्रेमियों की तन्मयता के संमुख यह कोरा ज्ञानोपदेश पानी में नमक की भाँति गल जाएगा और वही हुआ भी। ब्रज भूमि में पहुँचते पहुँचते उद्धव का ज्ञान वैभव विस्मृत होने लगा। स्वयं रत्नाकर के शब्दों में—

> ज्ञान गठरी की गाँठ छरकि न जान्यो कब।
> हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं।
> डार में तमालनि की कछु बिरमानी अरु।
> कछु अरुझानी करीरनी कों भार में॥

(वही, पृ० २२)

तथा

> गोकुल के गाँव की गली में पग पारत ही।
> भूमि कै प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे॥

(वही, पृ० २३)

गोपियों को देखने पर—

> देखि देखि आतुरी बिकल ब्रजबारिनी की।
> उद्धव की चातुरी सकल बहि जात है।

(वही, पृ० २७)

और उद्धव—

भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।

(वही, पृ० २८)

फिर भी साहस जुटाकर उन्होंने गोपियों के समक्ष अपनी ज्ञान मंजूषा का एक एक रत्न निकालना आरंभ किया। उन्होंने उनसे अंतर्ज्योति जगाकर कृष्ण की प्राप्ति की बात की—

चाहत जो स्वबस संजोग श्यामसुंदर को,
जोग को प्रयोग में हियो तो बिलस्यो रहै।
कहै रत्नाकर सुअंतर-मुखी ह्वै ध्यान,
मंजु हिय-कंज-जगी ज्योति में धस्यो रहै,
ऐसे करो लीन आतमा को परमातमा में,
जामें जड़-चेतन-विलास बिकस्यो रहै,
मोह बस जोहत बिछोह जिय जाको छोहि,
सो तो सब-अंतर निरंतर बस्यो रहै॥

(वही, पृ० ३०)

भेदाभेद के गूढ़ सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए उद्धव ने कहा कि आत्मतत्व और भौतिक तत्व की दृष्टि भूत मात्र में अभेद है। अनेकता का आभास माया रूपी काँच फलक के कारण है। इस भ्रम के निवारण के उपरांत सब में कृष्ण ही प्रोद्भासित होंगे।

उद्धव की वाक्यावली का प्रयोग करके ही गोपियों ने उनके तर्क का खंडन किया—

मान्यो हम कान्ह ब्रह्म एक ही कहत्यो जो तुम,
तौ हूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

(वही, पृ० ३१–३२)

उन्होने उद्धव से कहा कि तुम्हारे जोग रत्नाकर में डूबने की हमें क्या पड़ी है—"जो रत्नाकर में साँस घूटि बूड़ै कौन।" (पृष्ठ ४२)।

उद्धव की अलक्ष ब्रह्म की बात गोपियों को रुचिकर नहीं है। कृष्ण को तो वे प्रत्यक्ष देख सकती हैं, अनुभव कर सकती हैं, इसीलिये वे उद्धव से कहती हैं—

हम परतच्छ मैं प्रमान अनुमानैं नाहिं,
तुम भ्रम भौंर मैं भलैं हीं बहिबौ करो।
देखति सो मानति हैं सूधो न्याव जानति हैं,
ऊधो तुम देखिहूँ अदेख रहिबौ करो॥

(वही, पृ० ४४)

उन्होंने कहा कि यदि ब्रह्म अंग रहित है तब तो और भी उसकी साधना नहीं करना चाहती। एक ही अनंग (काम) की आराधना में दुर्दशा हो गई है तो दूसरे अनंग की साधना में न जाने क्या दशा हो जाए—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा॥

(वही, पृ० ४५)

विरहानल में दग्ध गोपियों को किसी और ज्योति की क्या आवश्यकता है? उद्धव को जग सपना लगता है इसी से वे स्वप्न की अटपटी बड़बड़ाहट करते दिखाई पड़ते हैं—

जग सपनो सो सब परत लखाई तुम्हें,
ताते तुम ऊधो हमें सोवत लखात हो।
कहै रतनाकर सुने को बात सोवत की,
जो मुँह आवै सोई बिबस बयात हो।

जो व्यक्तित्व उनके नित्य प्रति के जीवन में किसी काम का नहीं है उससे गोपियाँ कुछ सरोकार रखना नहीं चाहतीं। उद्धव ने गोपियों को बताया कि ब्रह्म के हाथ पाँव नहीं, मुँह नहीं, कान नहीं, तो ऐसे अरूप की साधना से भोले भाले ग्रामीणों को क्या मिलेगा? कर्म से पृथक् किसी कल्पना के लोक में वह जीना नहीं चाहतीं—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन बिनु कैसे चाखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन चराइहै॥
देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिनाहीं हाय,
भोरे ब्रज बासिनि की बिपति बराइहै।
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधो कहो कौन धौं हमारे काम आइहै॥

(वही, पृ० ४६)

जीवन का प्रत्यक्ष संबंध कर्म से है। कर्म का उल्लास साधारण मनुष्य की निधि है, इस तथ्य को यहाँ बड़ी चातुरी से रत्नाकर जी ने अभिव्यंजित किया है।

उन्होंने उद्धव के ब्रह्म की भेंट को स्पष्ट यह कहकर नकार दिया :—

ब्रह्म मिलिबे ते कहा मिलिहै बतावो हमें।
ताको फल जब लौं मिलै न नंदलाला हूँ।।

(वही, पृ० ६२)

'उद्धव शतक' काव्य का सौंदर्य इस बात में है कि ज्ञान और भक्ति के संबंध के चिर परिचित उपमान होने पर भी उनके वर्णन में शुष्कता नहीं है। गोपियाँ उद्धव की प्रत्येक ज्ञानमयी धारणा का वाक्पटुतापूर्ण तर्कसंगत उत्तर देती हैं और कहीं भी अपनी सरल विवशता का परित्याग करती हुई दिखाई नहीं पड़तीं। कवि ने रागात्मक अनन्यता से बुद्धि को परास्त किया। ज्ञान, ब्रह्म और योग के सामर्थ्य पर आक्षेप नहीं किया प्रत्युत उनकी पूर्ण समर्थ स्थिति में उनकी निरर्थकता को सिद्ध किया है। योग के प्रयोग का उद्धव ने गलत स्थल ढूंढा था जहाँ वे पूरी तरह हतप्रभ हो गए थे। उनकी स्थिति का वर्णन स्वयं रत्नाकर के शब्दों में इस प्रकार है—

भूले जोग छेम, प्रेम नेमहि निहारि ऊधो,
संकुचि समाने उर अंतर हरास लौं।
कहै रत्नाकर प्रभाव सब ऊने भए,
सूने भए नैन बैन अरथ उदास लौं।।

(वही, पृ० १०३)

उद्धव शतक का अभिव्यंजना सौष्ठव भी कम महत्वपूर्ण नहीं। इसमें छेकवृत्ति, यमक और वीप्सा आदि शब्दालंकारों का बड़ा सुंदर प्रयोग हुआ है। पदावृत्तिमूलक वीप्सा (जिसमें एक वाक्य की आवृत्ति की जाती है) का सुंदर उपयोग छंद सं० २६, ५०, ६८ में है।

हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा ?

अथवा

वो तो हमारे हैं हमारे हैं हमारे ही हैं।

श्लेष का प्रयोग बड़ा सुंदर है—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा।

कहीं कहीं तो रत्नाकर जी ने अपने नाम को भी श्लिष्ट रूप में रखा है। छंद सं० १५, ३८, ४२, और ६२ में भाव का सौंदर्य पूर्णतः सुरक्षित है। द्रष्टव्य है—

तुम तो विवेक रत्नाकर कहौ क्यों पुनि,
भेद पंच भौतिक के रूप में रचायो है।।

रत्नाकर जी के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग उनके कवित्तों को तो सौंदर्य प्रदान करता ही है लोकोक्तियों के सौंदर्य में भी वृद्धि करता है--

दिपत दिवाकर को दीपक दिखावै कहौ।

(छंद सं० १६।)

रूपक, विरोधाभास एवं उपमा अलंकारों का सटीक प्रयोग है। कहीं कहीं तो एक ही छंद में कई अलंकारों के दर्शन एक साथ हो जाते हैं। छंद सं० ८९ में सांगरूपक, श्लेष और विरोधाभास तीनों एक साथ आए हैं—

रहति सदाई हरियाई हिय घायनि में,
ऊरध उसास सो भकोर पुरवा की है।
पीव पीव गोपी पीर पूरित पुकारति हैं,
सोई रत्नाकर पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै,
चित में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रजमंडल में,
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है।

(वही, पृ० ८९)

अस्तु, निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रजभाषा में लिखा हुआ यह काव्य ग्रंथ हिंदी की शतक और सतसई परंपरा का पोषक प्रौढ़ ग्रंथ है। भ्रमरगीत प्रसंग के संदर्भ मे बुद्धि संपन्न युग की प्रबुद्ध गोपियाँ तर्क से ज्ञान मार्ग का खंडन करती हैं।

मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म बुंदेलखंड के गहोई वैश्य परिवार में चिरगाँव (झाँसी) में १८८६ ई० में हुआ था। गहोई वैश्यों के गोत्रादि अग्रवालों की भाँति होते हैं अतः ये लोग भी मूलतः अग्रवाल रहे हों इसमें आश्चर्य नहीं। बुंदेलखंड की प्राचीन पंचाय नाम की पुरी इनका आदि स्थान मानी गई है। वहीं से भांडेर मे बसे और फिर इनके पूर्वज राघव कनकने चिरगाँव आए। गुप्त जी के पिता का नाम सेठ रामचरण था जो कवि के अपने शब्दों में :—

"मध्यवित्त गृहस्थ थे किंतु उनकी प्रकृति उदार और राजसी थी। उनका अधिकांश समय भजन पूजन में व्यतीत होता था। दस बारह गाँवों की जमीदारी थी, घर में सोना चाँदी भी यथेष्ट था। जब तक मेरे छोटे काका छोटे थे तब तक पिता जी घर का कुछ कामकाज भी करते थे। ··· लेन देन का काम ही पिता जी का

कहा जा सकता है। मकान और दुकान भी बहुत से यहाँ और झाँसी में थे। छोटे काका जब काम करने योग्य हुए तब पिता जी ने सब काम छोड़ दिया। वे उन्हें संमति दिया करते थे, वह संमति अनुमोदन के रूप में ही हुआ करती थी। वे स्वजनों की रुचि का विशेष ध्यान किया करते थे।"

(अपने विषय में कवि लिखित, साहित्यकार, मई, १९५५ पृ० ४८-४९)

मुंशी अजमेरी जी ने उनके पिता के विषय में लिखा है—"वे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेंबर थे। ओरछा और दतिया के महाराजाओं से उनका मेल था। वे बड़े उदार और रईसी मिजाज के आदमी थे।"

(गुप्त जी और मेरा संबंध, 'प्रताप' कानपुर, जुलाई, १९३६ के चार अंकों में धारावाहिक प्रकाशित)

गुप्त जी ने स्वाभिमान के साथ शील और नम्रता तथा संयुक्त परिवार के बड़े सदस्य मुखिया के उत्तरदायित्व की विरासत संभवतः अपने पिता जी से ही प्राप्त की थी। बालकृष्ण नवीन ने गुप्त जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए एक संस्मरण में लिखा है कि वे सनातन के पोषक और नवीन के अविरोधी थे।' नवीन जी के गुप्त जी संबंधी मत की पुष्टि का प्रमाण स्वयं इस निबंध की लेखिका के पास भी है। यह घटना संभवतः १९५७ की है जब दिल्ली विश्वविद्यालय की एक साहित्यिक गोष्ठी के बाद जलपान के अवसर पर मेरे पति डा० सिंह का मैथिलीशरण गुप्त से परिचय कराते हुए किसी ने कहा 'ये हमारे डिपार्टमेंट के दामाद हैं' और कुछ ही क्षण बीतते बीतते आश्चर्य गद्‌गद मैंने देखा कि उस संगोष्ठी के प्रमुख अतिथि राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त स्वयं एक तश्तरी में इनके लिये जलपान की सामग्री लगाकर ला रहे हैं। भारतीय संयुक्त परिवार की सनातन परंपरा के पोषक गुप्त जी का यह उदार आत्मीय भाव मेरे जीवन की एक अविस्मरणीय घटना है।

गुप्त जी के साहित्यिक जीवन की अवधि अर्ध शताब्दी से भी अधिक रही है अतः उनका संबंध कुछ ऐसे मुख्य साहित्यकारों से हुआ जिनका उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। इनमें सर्वप्रथम तो महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वयं हैं जिनके विषय मे स्वयं कवि ने कहा है—"आचार्य पूज्य द्विवेदी जी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानो उनकी कृपा का मूल्य निर्धारित करने की ढिठाई करना है। वे मुझे न अपनाते तो मैं आज इस प्रकार आप लोगों के समक्ष खड़े होने में समर्थ होता या नहीं, कौन कह सकता है।"

(अपने विषय में मैथिलीशरण गुप्त हस्तलिखित निबंध)

महावीरप्रसाद द्विवेदी के पश्चात् गुप्त जी के परम साहित्यिक मित्र मुंशी अजमेरी थे। मुंशी अजमेरी के संबंध में सियारामशरण गुप्त ने लिखा है—"मुंशी जी का विचार कुछ ऐसा था कि संशोधन योग्य स्थल पर कलम न चलाना

काहिली है" (झूठ सच, पृष्ठ ८३)। गुप्त जी के लिये वे मूर्तिमंत साहित्यिक वातावरण थे और वे उनके लिपिक, मित्र, परामर्शदाता, संशोधक, हितैषी तथा अग्रज तुल्य थे। गुप्त जी के अपने शब्दों मे 'अक्षर पहले ऐसे ही लिखता था कि अपना लिखा आप ही पढ़ूं। अब उसमें इतनी उन्नति हो गई है कि अपना लिखा कुछ दिन पीछे आप ही पढ़ूं तो गौरव करूँ।' (अपने विषय में, मैथिलीशरण गुप्त, हस्तलिखित निबंध)।

राय कृष्णदास जी से गुप्त जी का संबंध सन् १९११ में हुआ। रुबाइयात उमर खय्याम का अनुवाद करने में उन्होंने कवि की सहायता की। उन्होंने कवि का सपर्क रवींद्रनाथ तथा प्रसाद जी से कराया। 'झंकार' की रचना उन्हीं की प्रेरणा से हुई। कवि ने 'शकुंतला' राय साहब को समर्पित की और उनके गद्यकाव्य 'साधना' की भूमिका लिखी तथा उसके कुछ गद्य गीतों का गीतिबद्ध रूपांतरण भी किया।

जयशंकर प्रसाद कवि के मित्र थे किंतु वे उन्हें कवि से अधिक पद्यकार मानते थे। 'आँसू' का प्रथम संस्करण गुप्त जी ने प्रकाशित किया था किंतु कृष्णानंद गुप्त के 'प्रसाद के दो नाटक' के लेखन के पश्चात् दोनों कवियों मे मनमुटाव हो गया था। प्रसाद के मन में यह बात पैठ गई थी कि यह पुस्तक गुप्त जी की प्रेरणा से लिखी गई है और उसका निराकरण संभव न हो सका। गुप्त जी का प्रसाद के प्रति निरंतर आदर भाव रहा। सन् १९३६ में लखनऊ की प्रदर्शनी और कवि संमेलन में मैथिलीशरण अध्यक्ष होते हुए भी इसलिये संमिलित नहीं हुए कि आयोजकों ने जय-शंकर प्रसाद को निमंत्रित नहीं किया था। प्रसाद की मृत्यु पर गुप्त जी ने उन्हें अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में अर्पित की थी :—

जय शंकर कहते कहते अब भी काशी जावेंगे।
किंतु प्रसाद न विश्वनाथ का मूर्तिमंत पावेंगे॥
तात, भस्म भी तेरे तनु की, हिंदी की विभूति होगी,
पर हम जो हँसते जाते थे, रोते रोते आवेंगे॥

(प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसादांक, पृ० १८)

प्रसाद ने कवि को अपना कहानी संग्रह 'इंद्रजाल' समर्पित किया था।

स्व० लाला छोटेलाल सरकारी इंजीनियर थे किंतु मर्मज्ञ साहित्यिक भी थे। सरस्वती में 'बार्हस्पत्य' के नाम से लिखते थे। 'जयद्रथ वध' की रचना को पढ़कर वे बड़े प्रसन्न हुए थे और उन्होंने १ जनवरी, सन् १९११ को कवि को पत्र लिखा जिसमें 'उर्मिला विरह' खंड काव्य लिखने का आग्रह किया। साकेत की रचना में बार्हस्पत्य की प्रेरणा अवश्य थी।

इनके अतिरिक्त राजा रामपाल सिंह ने सन् १६११ में 'भारत भारती' का गुजराती में अनुवाद किया। वृंदावनलाल वर्मा परम मित्र थे। माखनलाल चतुर्वेदी उन्हें अपना गुरु मानते थे। महादेवी वर्मा को गुप्त जी साहित्य की श्री और शारदा का संयुक्त रूप कहते थे:—

"बता बहन, साहित्य शारदा वा काव्य श्री कहूँ तुझे।"

(हस्तलिखित पत्र)

डा० श्यामसुंदर दास, केशवप्रसाद मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, नवीन, बनारसीदास चतुर्वेदी, अज्ञेय आदि सब उनके निकट संपर्क में रहे। गुप्त जी के निजी जीवन में अनेक उलट फेर हुए। दो पत्नियाँ और ११ संतानें कालग्रस्त हुईं। उनकी तृतीय पत्नी श्रीमती सरयूदेवी, जिन्हें सब आदर और स्नेह से 'जिया' कहते हैं 'द्वापर' की देवकी का मूर्तिमान् रूप हैं। महादेवी वर्मा के शब्दों में—"यदि अपनी नौ नौ संतानों को अपने हाथ मिट्टी को लौटा देना पिता का दुःख है तो गुप्त जी दुःख के इस समुद्र को तैर आए हैं।"

(राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, नई धारा, अप्रैल-मई, सन् १९५१, पृ० १६६)

अपनी एकमात्र संतान उर्मिलाचरण जी के लिये उन्होंने महादेवी वर्मा को लिखा था—"यहाँ भी एक घीसा है। यदि आप उसका भार ले सकें तो भेजने का प्रबंध किया जावे।" (वही, पृ० १५८)

सन् १९३६ में एक ही मास में उनके दो पुत्र सुदर्शन और सुमंत्र दिवगंत हुए थे, सुदर्शन पाँच वर्ष का और सुमंत्र दो वर्ष का था। पुत्रशोक से अभिभूत होकर उन्होंने 'सांत्वना', 'शोकगीति' और 'द्वापर' की रचना की थी।

जीवन में अनेक उतार चढ़ावों के होते हुए भी मैथिलीशरण गुप्त मंद्र गंभीर, संतुलित व्यक्तित्व के स्वामी थे। मुस्कुराहट उनके होठों पर खेलती रहती थी। जीवन की असीम पीड़ा और दुःख मुस्कुराहट की तह से ढक देना अपना स्वभाव बना लिया था। उनका अवसान सन् १९६५ में झाँसी में हुआ। गुप्त जी की साहित्य सर्जना की अवधि अर्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक व्याप्त है। ई० सन् १९०० में १९२० के कालखंड के अंतर्गत रचित उनकी रचनाएँ अपने निर्माण काल में भी काव्योत्पादन तथा अध्ययन अध्यवसाय की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं और उनका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

१. प्रबंध काव्य

(अ) प्रकाशित खंड काव्य

(१) पौराणिक खंड काव्य—जयद्रथ वध, शकुंतला, पंचवटी।

(२) ऐतिहासिक खंड काव्य:—रंग में भंग।

(३) सामाजिक खड काव्य:—किसान।

महाकाव्य : साकेत, आंशिक रूप से १९१७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित।

(आ) (१) पौराणिक खंड काव्य—नल दमयंती (अनुपलब्ध)

(२) खंड काव्य जो इस काल में रचित हुए किंतु प्रकाशित उत्कर्ष काल में हुए—त्रिपथगा, बकसंहार, वनवैभव तथा सैरंध्री।

(इ) आख्यानक कविताएँ

(१) ऐतिहासिक : विकट भट, दस्ताने आदि।

(२) पौराणिक : मुनि का मोह, सुलोचना, चितारोहण, प्रह्लाद आदि।

(३) सम-सामयिक : पंजरबद्ध कीर, टाइटानिक की सिंधु समाधि, चांडाल आदि।

(ई) पद्य नाट्य प्रबंध

इन आख्यानक एवम् प्रबंध कविताओं के अतिरिक्त गुप्त जी ने अपने निर्माण काल में अनेक निराख्यानक और गीतिकाव्यों की रचना की जिनका विवरण प्रस्तुत संदर्भ में अनपेक्षित है। उन्होंने 'तिलोत्तमा' और 'चंद्रहास' जैसे कुछ नाटक और मुक्तक काव्य भी लिखे।

गुप्त जी के प्रबंध एवं आख्यानक काव्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है.

प्रकाशित खंड काव्य : पौराणिक

जयद्रथ वध

'जयद्रथ वध' के उत्तरा से अभिमन्यु की विदा का वृत्तांत जनवरी, सन् १९०८ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ, और अन्य विषय १९१० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। उसके अगले वर्ष उसको पुस्तकाकार रूप प्राप्त हुआ।

डा० श्री कृष्णलाल ने अपने इतिहास में इसका विवरण इस प्रकार दिया है—"उन्होंने रामचरितमानस में प्राप्त हरिगीतिका छंद को सरल साहित्यिक और ओजपूर्ण खड़ी बोली में ढाल दिया। कथानक के लिये महाभारत का एक बहुत ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रसंग लिया। फिर युद्धभूमि का विस्तृत चित्रण, करुण रस का अबाध प्रवाह और भक्ति भावना की सुंदर व्यंजना ने पाठकों का हृदय मोह लिया और १५ वर्ष के भीतर उसके १४ संस्करण प्रकाशित हुए। इसका सबसे महत्वपूर्ण अंग इसकी भाषा थी जो साहित्यिक होती हुई भी भी अद्भुत गतिपूर्ण और लय-संयुक्त थी।"

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु का नियोजन अर्जुन के प्रतिज्ञा पालन के महाभारतीय आख्यान को प्रस्तुत करने के लिये हुआ है। कथावस्तु सात सर्गों में विभाजित है। प्रथम सर्ग में अभिमन्यु की उत्तरा से विदा, दुर्भेद्य चक्रव्यूह से उसके जूझने तथा उसके वध का वर्णन है। उत्तरा पति के अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो गई किंतु उसके क्षात्र-धर्म-पालन में उसने कोई अवरोध नहीं लगाया—

अत्राणियों के अर्थ ही सबसे बड़ा गौरव यही,
सज्जित करे पति पुत्र को रण के लिये जो आपही।
अपशकुन आज परंतु मुझको हो रहे सच जानिए,
मत जाइए संप्रति समर में प्रार्थना यह मानिए॥

उसकी करुण चीत्कार थी—

"हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही।"

इस सर्ग में शृंगार और वीर रसों का सुंदर परिपाक हुआ है।

द्वितीय सर्ग में पांडवों के शोक की व्यंजना तथा शोकग्रस्त विरत पांडवों को कृष्ण द्वारा युद्ध का उद्बोधन कराया गया है। कृष्ण के द्वारा प्रकृतिस्थ किए गए अर्जुन ने प्रतिज्ञा की "मारूँ जयद्रथ को न कल मैं तो अनल में जल मरूँ।" इस सर्ग में उत्तरा का विलाप, सुभद्रा एवं द्रौपदी का प्रलाप, युधिष्ठिर की आत्मग्लानि का भाव सुंदरतापूर्वक वर्णित है।

तृतीय सर्ग में पांडवों को सांत्वना और अर्जुन को प्रबोधन दिया गया है। उत्तरा गर्भवती थी अतः अभिमन्यु के साथ सती न हो सकी। सर्ग का अंत इस नीतिकथन से हुआ है—"अच्छा बुरा बस नाम ही रहता सदा इस लोक में।" इस सर्ग में भी करुण रस की प्रमुखता है।

चतुर्थ सर्ग में अर्जुन की शिव से पाशुपतास्त्र की प्राप्ति का वर्णन है। यह कार्य कृष्ण की योगमाया के द्वारा संपन्न हुआ। यहाँ कवि ने महाभारत की इस अति प्राकृतिक शक्ति को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

पंचम सर्ग में कौरव पांडवों के युद्ध की भीषणता का विवरण है। अर्जुन की प्रतिज्ञा को असफल करने के लिये जयद्रथ स्वयं को सूर्यास्त तक छिपाने का प्रयास करता है। भीम के युद्धोन्माद तथा अर्जुन के भीषण युद्ध का वर्णन है। दुर्योधन जयद्रथ की संरक्षा के हेतु चिंता करता है।

षष्ठ सर्ग में अर्जुन तथा कौरवों के युद्ध का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है:—

टंकार ही निर्घोष था, शरवृष्टि ही जलवृष्टि थी।
जलती हुई रोषाग्नि ही उद्दीप्त विद्युत् दृष्टि थी॥

गांडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था ।
उस काल अर्जुन वीर वर अद्‌भुत जलद गंभीर था ॥
(जयद्रथ वध, षष्ठ सर्ग, पृ० ८०)

सूर्यास्त के दृश्य के समुपस्थित होने पर अर्जुन ने चिताप्रवेश के उपक्रम के पूर्व कृष्ण से शोकसंतप्त वचन कहे ही थे कि एक ओर जयद्रथ मारा गया और उसका सिर कटकर उसके तपस्यारत पिता क्षत्र की गोद में जा गिरा ।

सप्तम सर्ग समस्त कथास्तु का उपसंहार कहा जा सकता है । कृष्ण की परब्रह्म के रूप में स्वीकृति इसका लक्ष्य है । जयद्रथ वध काव्य का उद्देश्य असत् पक्षीय कौरवों की नृशंसता का वर्णन तथा अभिमन्यु के वीरत्व का वर्णन है । कृष्ण न्याय के समर्थक हैं अथच पांडवों के सहायक हैं । इस काव्य में शृंगार, वीर, करुण और शांत रसों की व्यंजना हुई है । हरिगीतिका छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है ।

शकुंतला

'शकुंतला' काव्य की रचना का प्रारंभ सन् १६०८ में पद्य निबंधों के रूप में हुआ । शकुंतला-पत्र-लेखन, शकुंतला को दुर्वासा का शाप, शकुंतला को कण्व का आशीर्वाद आदि विषय 'सरस्वती' में प्रकाशित चित्रों के आख्यान के रूप में छपे । सन् १९१४ में यह कृति प्रकाशित हुई । इसका विषयविभाजन प्रसंगों के आश्रय से हुआ । शकुंतला के पूर्वराग का वर्णन कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

विवश आया बिछुड़ने का समय दोनों ओर,
बिछुड़कर भी वे परस्पर बन गए चिर चोर ।
मार्ग में, जिससे ठिठकती, ठहरती सौ बार,
गई व्यग्र शकुंतला नृप को निहार निहार ॥
(शकुंतला दर्शन, पृ० ११)

अनुप्रास और पुनरुक्ति के प्रयोग से कवि ने शकुंतला की शालीन उद्विग्नता का जीवंत वर्णन प्रस्तुत किया है । "पत्र" शीर्षक के अंतर्गत शकुंतला का पूर्वराग; "अवधि" के अंतर्गत संयोग शृंगार, "अभिशाप" के प्रसंग में दुर्वासा के शाप और शकुंतला की विप्रलंभजन्य व्यथा का वर्णन है । "विदा" प्रसंग में प्रस्थानोद्यत पुत्री शकुंतला के आश्रमत्याग का करुण आलेख और पिता कण्व के वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है । शकुंतला को पिता कण्व के द्वारा आदर्श पत्नीत्व का उपदेश भी मिला । "त्याग" प्रसंग में शकुंतला का परित्याग, "स्मृति" में अभिज्ञान प्राप्त दुष्यंत को प्रियतमा की सुधि और उसकी विरहविह्वलता,

"कर्तव्य" शीर्षक प्रसंग में निःसंतान पिता की मृत्यु पर उसके परिवार के साथ न्याय और दुखी दुष्यंत के शोक का वर्णन है। यहीं दुष्यंत कालनेमि से युद्ध करते हुए इंद्र की सहायता को प्रस्तुत हुए और उद्यत भी। फिर मिलन में हेमकूट पर्वत पर कश्यप एवं अदिति के आश्रम में सर्वदमन की सिंह शावक के क्रीड़ा तथा दुष्यंत एवं शकुंतला का मिलन वर्णित है। प्रेम की चरम परणति ही यहाँ प्राप्त है। अपराधी प्रिय ने प्रिया के पैरों पर पड़कर क्षमा याचना की—

पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुंतला ने कहा क्षमा का रूप धर—
उठो नाथ, वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था।

(शकुंतला, मिलन, पृ० ४१)

शकुंतला की क्षमाशीलता के महत्व को स्वयं कालिदास ने इन शब्दों में व्यक्त किया था—

'राजा. (शकुंतलायाः पादयो प्रणिपथ)

'शकुंतला' उठ्ठेदु अज्जउतो। णूणं में सुअरि अप्पडिबंधअं पुराकिदं तेषु दिग्रहेषु परिणाम मुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउतोमइ विरसो संवतो।'

संस्कृत रूपांतर (उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं में सुचरित-प्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशो अपि आर्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः)

(अभिज्ञान शाकुंतलम्, सप्तम् अंक, श्लोक २४)

'शकुंतला' काव्य का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें कवि ने मर्यादित गार्हस्थिक प्रेम एवं कर्तव्यनिष्ठा की प्रतिष्ठापना की है। वियोग शृंगार की संयमित व्यंजना भी है।

पंचवटी

गुप्त जी का 'पंचवटी' काव्य रामचरितमानस के शूर्पणखा प्रसंग पर आश्रित है परंतु कवि ने इस विषय को अधिक मनोवैज्ञानिक और मर्मस्पर्शी बनाने के हेतु उसमें पर्याप्त मौलिक संयोजनाएँ की हैं। 'पंचवटी' के लक्ष्मण रामचरितमानस के लक्ष्मण की तरह राम के अनन्य सेवक होते हुए भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। वे केवल कर्तव्यनिष्ठ यंत्र मात्र नहीं हैं, उनके अपने निजी सुख दुःख, कोमल कठोर आदि भाव हैं जो एकांत में उनके मानस को झकझोरते हैं। प्रकृति के रमणीय दृश्य की मूक पीड़ा को झेलते हुए 'पंचवटी' के लक्ष्मण प्रियतमा की स्मृति में डूब जाते हैं—

बेचारी उर्मिला हमारे लिये व्यर्थ रोती होगी।

(पंचवटी, पृ० २६)

विचारनिमग्न लक्ष्मण की तंद्रा को शूर्पणखा की स्थिति का अहसास तोड़ता है और मानवीय मनोविज्ञान के पारखी लक्ष्मण उससे प्रश्न करते हैं—

कहूँ मानवीय यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य कि लोच कहाँ ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोली-भाली
तुम्हीं बताओ तो कि तुम कौन हो हे रंजित रहस्यवाली।

(वही, पृष्ठ २७)

रामचरितमानस की शूर्पणखा ने विवाह प्रस्ताव पहले राम से किया था तत्पश्चात् लक्ष्मण से, किंतु यहाँ कवि ने उसके क्रम में परिवर्तन कर दिया है और उसके कारण उस असुर कन्या की स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। राम उसका तिरस्कार अनुजवधू कहकर कर देते हैं और लक्ष्मण पूज्य आर्य का वरण करने की कामना व्यक्त कर देने के कारण उसे निराश कर देते हैं सीता 'प्रथम देवरानी फिर सौत' कहकर उसका उपहास करती है।

'पंचवटी' काव्य के अंत में शूर्पणखा का रूप परिवर्तन पौराणिक रूढ़िबद्ध ही हुआ है। अच्छा होता यदि उसकी विकरालता को कवि आकृतिपरक मनोवैज्ञानिकता के स्तर पर चित्रित कर पाता। तब वह आधुनिक युगबोध के अधिक अनुकूल और युक्तिसंगत होता। 'पंचवटी' की निराश शूर्पणखा के प्रणय प्रस्ताव का प्रारंभ बहुत मनोवैज्ञानिक रीति से हुआ है—'तुम कह सकते हो कि चंद्र का कौन दोष जो ठगा चकोर।' अथवा

पक्षपातमय सानुरोध है जितना अटल प्रेम का बोध।
उससे भी बलवत्तर समझो कामिनियों का वैर-विरोध।

(पंचवटी, पृ० ५६)

किंतु उसकी परिणति अति मानवीय स्तर पर करके गुप्त जी इस पात्र के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं।

'पंचवटी' काव्य की वर्णनशैली अत्यंत मोहक है; नीतिवादी, उपदेशात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक नहीं है। एक ओर चरित्रों का उत्कर्ष कवि के ध्यान का केंद्र रहा है तो दूसरी ओर प्रकृति वर्णन में छायावादी वैशिष्ट्य भी यहाँ उपलब्ध है—

'है बिखेर देती वसुंधरा मोती सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उसको सदा सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप दिखलाता है।

(पंचवटी, पृ० ८)

इस तरह पंचवटी एक समृद्ध काव्य रचना है। सात्विक भावना का उत्कर्ष और अपवित्र कलुशता का पराभव उसका लक्ष्य है। कहीं कहीं सामाजिक विभीषिकाओं की ओर भी बड़ी कुशलता से कवि ने लक्ष्य किया है। दशरथ के तीन विवाहों से उत्पन्न पारिवारिक वैषम्य से लक्ष्मण खूब अवगत थे—

बहु विवाह विभ्राट कहूँ क्या ? बाले मुझको क्षमा करो।

गुप्त जी के काव्य विकास में प्रकृति प्रेम की नई प्रवृत्ति 'पंचवटी' के साथ चरितार्थ होती है।

ऐतिहासिक खंड काव्य

रंग में भंग

यह एक ऐतिहासिक खंड काव्य है। रवींद्रनाथ की 'नवलगढ़' नामक कविता पर एक चित्र बनाया गया था जो 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा गया था। जोधपुर के मुंशी देवीप्रसाद ने इस चित्र के संबंध में संशय अभिव्यक्त किया था। आचार्य द्विवेदी ने उसकी सूचना कवि को दी। कवि ने टाड के राजस्थान का इतिहास (ऐनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज आव् राजस्थान) से अपनी पुस्तक के लिये ऐतिहासिक सामग्री ग्रहण की। प्रथम एक लंबी कविता के रूप में और बाद को लघु खंड काव्य के रूप में उन्होंने हाड़ा राजपूतों का वर्णन किया।

इसके प्रथम संस्करण की भूमिका में द्विवेदी जी ने लिखा था "जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गई है वह एक ऐतिहासिक घटना है, कोरी कल्पना नहीं। वह जितनी ही कारुणिक है उतनी ही उपदेशपूर्ण भी है। इसी से उसका महत्व भी अधिक है।" द्विवेदी जी ने इसे खंड काव्य की संज्ञा नहीं दी और यह ठीक भी है; इसको केवल एक खंडकाव्यात्मक प्रयोग मानना चाहिए।

इस रचना में दो घटना व्यापार वर्णित हैं—

(१) चित्तौड़ के राणा का बूंदी में विवाह संस्कार, तथा

(२) बूंदी का नकली दुर्ग चित्तौड़ में बनाया जाना और उसकी रक्षा करते हुए हाड़ा वंशी कुंभ का वीर गति प्राप्त करना।

यह वीर भाव से परिपूर्ण आख्यान काव्य है। मातृभूमि के प्रेम के हेतु आत्म-बलिदान इसका प्रतिपाद्य है। मान की रक्षा के लिये मर मिटनेवाले वीरों का चित्रण इसमें है।

किसान

सामाजिक खंड काव्य किसान का रचना काल सन् १९१५ है सन् १९१५ की बंबई कांग्रेस अधिवेशन के दशवें प्रस्ताव में दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा पर दुःख प्रकट किया गया था इसी वर्ष फीजी की गिरमिट प्रथा बंद हुई थी। दरिद्र कृषक

की दु:खमय जीवनगाथा को गुप्त जी ने करुणासिक्त भाव भंगिमा से इस काव्य में प्रस्तुत किया। इसी वर्ष गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का कृषक क्रंदन और सियारामशरण गुप्त का अनाथ भी प्रकाशित हुआ। इन तीनों काव्यों में कृषक की दारुण वेदना का ही चित्रण है।

किसान दिन रात के कठोर परिश्रम के पश्चात् भी दो समय की भोजन-व्यवस्था अपने परिवार के लिये नहीं कर पाता। पुलिस, महाजन और जमींदार सभी उसे त्रस्त करते हैं। आरकटियों के जाल में फँसकर वह कुली बनाकर फीजी भेज दिया जाता है। वहाँ ओवरसियर की नृशंसता से उसकी पत्नी की मृत्यु हो जाती है। महायुद्ध छिड़ जाने पर वह भारतीय सेना में भर्ती होता है और टिगरिस के तट पर युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त होता है। किसानों की दुर्दशा, फीजी की कुली प्रथा और महायुद्ध की विभीषिका का मार्मिक वर्णन इस काव्य में उपलब्ध है। भारतीय वीर के शौर्य का वर्णन करना भी इसका लक्ष्य है।

'किसान' काव्य में कल्लू और कुलवती की जीवनकथा उनके शील एवं उनकी दुर्दशा का वर्णन है। किसान का बाल्य जीवन सुखपूर्ण था। पुलिस, जमींदार, अनावृष्टि और महामारी ने मिलकर उसके स्वस्थ बलिष्ठ व्यक्तित्व को चकनाचूर किया। कुली बनकर फीजी गया, गर्भिणी कुलवंती को अपने सतीत्व से हाथ धोने पड़े। संयोग से कुली प्रथा के बंद होने पर किसान स्वदेश लौटा। विदेशी शासन के प्रति उसके मन में कृतज्ञता थी, 'जिसने हमें नरक से उबार लिया।' ब्रिटिश सरकार के उपकार का बदला चुकाने को सेना में भर्ती हो गया। टिगरिस के तट पर वीरगति एवं विक्टोरिया क्रॉस प्राप्त किया।

किसान का कथानक तत्कालीन ब्रिटिश राज के भारतीय स्थिति का संकेत बड़ी ईमानदारी से करता है। इस युग में गांधी जी के आदेश से कृषकों के प्रति एक नई मानवीय भावना का प्रसार हुआ था। प्रवासी भारतीयों के प्रति करुणा थी किंतु अपने देश के विदेशी शासन से अब भी यह आशा थी कि संभवतः वह भारतीयों के प्रति कृपाशील हो जाय। इसलिये प्रथम युद्ध में उनकी सहायता की गई थी। भारत का निर्धन वर्ग सेना में धड़ाधड़ भर्ती हो रहा था।

इस खंड काव्य को कवि ने सर्गों में विभाजित करके आत्मकथात्मक शीर्षकों में विभाजित किया है। "प्रार्थना", 'बाल्य और विवाह" "गार्हस्थ" "सर्वस्वांत" और "देशत्याग तथा फीजी" और "अंत' शीर्षकों के माध्यम से किसान के जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

पौराणिक आख्यान काव्य

गुप्त जी ने सन् १९११ और १२ में पौराणिक आख्यानों से युक्त लघु निबंध रचनाएँ कीं जिनके नाम हैं 'प्रह्लाद', 'सुलोचना का चितारोहण', 'विरहिणी

सीता', 'मुनि का मोह', 'वनवास', 'गोवर्धनधारण' आदि । कवि ने रामायण और महाभारत तथा विविध पुराणों से कथा प्रसंग लिया है और उन्हें विविध छंदों में बाँधा है ।

वनवास में चित्रकूट स्थित सीता उर्मिला के लिये चिंतित दृष्टिगोचर होती हैं—

देता क्या सुख है भरा घट लिए आना नदी रेत में,
पाती क्या राम सौख्य में, यह कभी हा शून्य साकेत में ।

तथा—

प्यारे देवर साथ साथ चलते हैं सौख्य देते सभी,
चिंता केवल उर्मिला बहन की जाती नहीं है कभी ।

'मुनि का मोह' कविता में मानस के नारद-मोह-प्रसंग का दोहों में आख्यान किया गया है । 'गोवर्धनधारण' की रचना घनाक्षरी वृत्त में हुई है । दोनों रचनाओं में मध्ययुगीन भक्ति के साथ अतिप्राकृत घटनाओं पर विश्वास प्रकट किया गया है । जैसे—

१–सफल किया मुनि शाप फिर हरि ने हर भू भार ।
२–चरित्र विचित्र हैं तुम्हारे रमानाथ सारे,
जगत पिता हो कभी नंद के दुलारे हो ।

(वही, पृ० २३)

'प्रह्लाद', 'विरहिणी सीता' और 'सुलोचना का चितारोहण' घटनात्मक काव्य होते हुए भी चरित्रप्रधान काव्य हैं ।

गुप्त जी के इस आख्यान काव्य को उनके परवर्ती प्रबंध काव्यों की पूर्व पीठिका मानना चाहिए ।

ऐतिहासिक आख्यानक

रचनाओं में 'विकट भट' और 'दस्ताने' मुख्य हैं । 'विकट भट' का रचनाकाल सन् १९१५ है, यद्यपि इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ । वस्तुतः १४–५–१० के पत्र में द्विवेदी जी ने कवि को बुंदेलखंड और राजपूताने की घटनाओं पर काव्यरचना करने का आदेश दिया था । यह काव्य उसी का परिणाम था ।

'विकट भट' की रचना टाड के एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज आव् राजस्थान की एक लोकप्रसिद्ध कहानी के आधार पर हुई । इसमें कवि ने राजस्थान के जोधपुर राज्य की ठाकुरी आन बान को दिखाने की चेष्टा की है ।

'दस्ताने' काव्य की रचना सन् १९१८ में हुई। यह बुंदेलखंड के दतिया राज से संबंधित है। पात्रों की चारित्रिक दृढ़ता और दायित्व का प्रदर्शन इन ग्रंथों का लक्ष्य है।

अपने निर्माण काल में ही गुप्त जी ने समसामयिक आख्यानक पद्य निबंध भी लिखे। अप्पा शास्त्री की मराठी रचना 'पंजरबद्ध शुक' के आधार पर गुप्त जी ने 'पंजरबद्ध कीर' की रचना की और उसमें देशभक्तों की कारावास यंत्रणा का संकेत किया। 'चांडाल' की रचना गुप्त जी के कृतित्व विकास में निर्माण काल के अंत में हुई। एक काल्पनिक कथा के आश्रय से ब्राह्मण और शूद्र के भेद को गुप्त जी ने यहाँ निराधार सिद्ध किया और मानवता की प्रतिष्ठा की। गांधी जी के हरिजनोद्धार से प्रभावित होकर महल्लार सेवाधर्म देखने के आग्रही हो गए थे। टाइटानिक की सिंधु समाधि में टाइटानिक नामक जहाज की चौदह अप्रैल १९१२ में अंतलांतिक महासमुद्र में बर्फ की चट्टानों से टकराकर डूब जाने की घटना वर्णित है।

"टाइटानिक की सिंधु समाधि" की घटना की द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणी में प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना तेरह वर्ष पूर्व बंगाल की खाड़ी में डूबनेवाले एक पोत से की थी। कवि ने अंग्रेजों की उन्नति का कारण उनके चारित्रिक उन्नति उद्योग में खोजा है और उसकी प्रशंसा की है। इस कृति के पात्र कर्तव्यरत होकर मृत्यु का भी स्वागत करते हैं—

'हम मर जायँ परंतु हमारे अजर अमर हैं सब त्याग।'

इस कहानी से गुप्त जी संभवतः भारतीयों के समक्ष चरित्र का आदर्श रखना चाहते थे। 'साकेत' का समारंभ भी इसी युग में हुआ। उसके आभिक सर्गों की रचना इस कालखंड में हुई और ये सन् १९१६ तथा १९१७ के 'सरस्वती' के अंकों में प्रकाशित हुए। प्रथम सर्ग सन् १९१६ में, द्वितीय जुलाई, १९१६ में, तृतीय सर्ग जनवरी, १९१७ में, चतुर्थ सर्ग मई, १९१७ में और पंचम सर्ग जुलाई, १९१८ में प्रकाशित हुआ। साकेत के नवम सर्ग में प्राप्त कुछ अन्योक्तियाँ 'सरस्वती,' सितंबर, १९१२ एवं दिसंबर, १९१४ में 'अन्योक्ति सप्तक' में छपीं। दृष्टव्य है--

मधूक चिंता न करो दलों की,
जो प्राप्ति है फूल तथा फलों की!
हो लाभ पूरा पर हानि थोड़ी,
हुआ करे तो यह भी निगोड़ी।

('साकेत,' पृ० २२४-२२५, मूल पाठ)

अथवा--

भ्रमरी इस मोहन मानस के बस मादक है रसभाव सभी,
मधु पीकर और मदांध न हो, उड़ जा अब है कुशलत्व तभी।

पड़ जाय न पंकज बंधन में, निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते सविशेष, किसी जन का सुख भोग कभी।

('साकेत,' पृ० २१७, मूल पाठ)

इन अन्योक्तियों की स्वतंत्र रचना हुई और तत्पश्चात इन्हें 'साकेत' में स्थान मिला।

सन् १९१६ में कवि ने बार्हस्पत्य जी को एक पत्र लिखा था जिसमें साकेत के संबंध में कुछ परामर्श माँगा था—

'रामचंद्र जी को वन भेजने के लिये यदि कैकेयी को दोष दिया जाय तो अभिषेक के समय भरत को न बुलाने के लिये महाराज दशरथ पर क्यों न आक्षेप किया जाय? क्या अपने निर्दोष पुत्र के लिये इस बात से कैकेयी को क्षुब्ध न होना चाहिए। राजनीतिक कहकर यह बात उड़ाई नहीं जा सकती। इससे कौटुंबिक जीवन का ऊँचा आदर्श विकृत होता है। मेरी इच्छा है कि 'उर्मिला या साकेत' में बाह्य वैभव के लिये मनोमालिन्य न होना चाहिए। आपकी क्या राय है?'

उपर्युक्त पत्र से यह स्पष्ट है कि 'साकेत' के निर्माण की रूपरेखा गुप्त जी अपने मन में इस काल में बना चुके थे और राज्यप्राप्ति के लिये कैकेयी के कुंठित होने की बात उनको रुचिकर न थी, न ही वह इसका श्रेय अथवा दोष सरस्वती देवी को देना चाहते थे जो देवताओं के कहने से कैकेयी की जिह्वा पर आ बैठी थी (तुलसीदास के मानस में)। यह अति प्राकृत बात उन्हें रुचिकर न थी। उस तथ्य को कि कैकेयी ने राम के राजतिलक का विरोध किया, गुप्त जी ने मनोवैज्ञानिक आधार दिया और कैकेयी के मातृत्व के महत्व को अक्षुण्ण कर दिया। साकेत की पांडुलिपि जिन्होंने देखी है उनका कहना है कि द्विवेदी जी और बार्हस्पत्य जी दोनों ने उसमें संशोधन किए और तत्संबंधी परामर्श गुप्त जी को दिए।

५ अप्रैल, सन् १९३२ को गांधी जी ने यर्वदा सेंट्रल जेल से गुप्त जी के साकेत पर दो आक्षेप लगाए थे। एक तो यह कि उर्मिला का विषाद अति को पहुँच गया है और दूसरा यह कि दशरथ का विलाप अवीरोचित है, 'उसमें वीरता को हानि पहुँचती है इधर भक्ति को भी।' उसके उत्तर में मैथिलीशरण जी ने लिखा था "आप उर्मिला के विषाद का स्थान साकेत में रहने दीजिए और मैं दशरथ के जितने आँसू पोंछ सकूँ, 'साकेत' के अगले संस्करण तक पोंछने का प्रयत्न करूँ।"

निष्कर्ष

गुप्त जी के काव्य के विकासक्रम की प्रारंभिक प्रबंध रचनाओं के संक्षिप्त अवलोकन से यह ज्ञात है कि उनका कवि प्रारंभ से ही अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग था। यदि सामाजिक शोषण के विरुद्ध आवाज 'किसान' में प्राप्त है

तो राष्ट्रीय गौरव से परिपूर्ण देशभक्त पात्र 'रंग में भंग' आदि में; कर्तव्यनिष्ठ लोकनायक लक्ष्मण और राम 'पंचवटी' और 'साकेत' में। भाव और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टियों से गुप्त जी की सन् १६२० तक की प्रबंध रचनाएँ समृद्ध हैं।

जयशंकर प्रसाद

जीवन वृत्त एवं व्यक्तित्व

जयशंकर प्रसाद का व्यक्तित्व हिंदी जगत् के लिये एक अपूर्व श्रद्धा का विषय बन गया है। उनके घनिष्ठ निकट मित्र राय कृष्णदास ने उनके विषय में लिखा है :—

"भगवान ने उनके रूप और स्वभाव दोनों को ही कवित्वमय बनाया था। यह कहते हुए एक कहानी याद आती है जो मैंने प्रसाद और मुगल शैली के अंतिम उस्ताद रामप्रसाद, जो प्रसाद के निकटवर्तियों में थे, को लेकर लिखी थी। 'कवि और कलावंत'—यही उस कहानी का शीर्षक है—का आरंभ यों होता है—

'कवि अत्यधिक सुंदर था, संभवतः अपनी कृतियों से भी अधिक। चित्रकार उसका संगी था। वह प्रायः कहा करता—"निश्चय तुमने किसी उपाय से चंद्रमा का सार निचोड़ लिया है और उसी से अंगराग करते हो।"

कवि हंस देता और अपने मित्रों से कहता—"सुनते हो इनकी बातें !"

निखरी गोराई, सुढार प्रसन्न मुखमंडल, रतनारी रसीली आँखें, घुंघराले बाल, मस्तानी चाल ढाल, भावपूर्ण बोल चाल।"[1]

इस महान् कवि का जन्म बनारस के सराय गोवर्धन मुहल्ले में एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में विक्रमी संवत् १६४६, माघ शुक्ल दशमी को हुआ।

उनके पूर्वज मूलतः कान्यकुब्ज थे और कन्नौज में रहते थे। कई पीढ़ी पूर्व ये लोग गाजीपुर जिले के सैदपुर कस्बे में चले आए थे और वहाँ चीनी का व्यापार करते थे। तत्पश्चात् इनके पूर्वजों की एक शाखा काशी में आकर बस गई और वहाँ इत्र, सुंघनी, तंबाकू आदि का व्यापार करने लगी। काशी में इन लोगों का कारोबार पर्याप्त बढ़ा चढ़ा था; लक्ष्मी की कृपा थी और रजत पात्रों में भोजन किया जाता था।

प्रसाद जी के पितामह का नाम देवीप्रसाद और पिता का नाम शिवरत्न साहू था। उनके पिता शिवरत्न साहू जी की दानशीलता बनारस भर में प्रसिद्ध थी। उनके यहाँ गायकों, कलाकारों और कवियों की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। कला के प्रति सौजन्यपूर्ण संस्कार कवि को शैशव से ही अपने परिवार में प्राप्त हो गए थे।

---

१. एक कलाकार, राय कृष्णदास, युगप्रवर्तक जयशंकर प्रसाद, पृ० १५।

उनके पुत्र रत्नशंकर के शब्दों में :—

"पितामह के देहत्याग के अनंतर परिवार के समस्त उत्तरदायित्व पितृव्य शंभुरत्न के ऊपर आ गए तब पिता जी की अवस्था सात वर्षों की थी। आपसी खींचतान प्रारंभ हो गई, अनुशासन बिगड़ गया और गृहकलह की आंधी में गार्हपत्य की अग्नि बहुशिख होने लगी। अंततोगत्वा घनघोर मुकदमेबाजी के प्लावन में कई लाख रुपए पानी बन बह गए। एकसूत्रता की प्राचीर ढह गई और लोगों का ध्यान व्यवसाय से हटकर न्यायालय की ओर चला गया। सन् १९०३ में मुकदमेबाजी समाप्त हुई। परिवार तीन भागों में विभक्त हो गया और विपुल व्यवसाय पौरुष के अभाव एवं अनवधानता के कारण क्षीण हो चला, किंतु फिर भी लगभग दो सौ श्रमिकों एवं इतने ही आश्रितों को अन्न वस्त्र दे देने की क्षमता उसमें थी। अवश्य ही दान की वह उन्मुक्त परंपरा अनेक नियमों और सीमाओं में आबद्ध हो गई।

"यह पिता जी की किशोरावस्था, अर्थात् सन् १८८५ से १९०५ तक की घटनावली है, जब कि विद्यालय का अध्ययन छोड़कर उन्हें व्यवसाय के कार्यों में अपने बड़े भाई का हाथ बँटाना पड़ता था। ज्ञान के प्रति अभीप्सा एवं विद्या का व्यसन उनमें प्रारंभ से ही जागृत था।' पितामह की इच्छा थी कि उनका बड़ा पुत्र व्यवसाय करे और यह केवल अध्ययन करें। वह स्वयं भी संस्कृत साहित्य एवं स्मृतियों के अच्छे ज्ञाता एवं फारसी के विद्वान् थे। अतः उन्होंने संस्कृत के पंडित और फारसी के मौलवी तथा अंग्रेजी के मास्टरों द्वारा उनकी शिक्षा का क्रम चालू किया। वाराणसी के क्वींस कॉलेज में नाम लिखाया गया और संपूर्ण शक्ति से स्वाध्याय का प्रयत्न होने लगा।

"फलतः सात वर्षों की अवस्था में उन्हें समग्र अमरकोश और पाणिनि के सूत्र कंठाग्र हो गए। मुझे स्मरण है कि दिन के भोजन के अनंतर जब वह विश्राम करते थे तब मुझे अमरकोश का पाठ सुनाना पड़ता था। तंद्रावस्था में मेरी गलती पकड़ी जाती और जहाँ से पाठ में भूल या छूट होती वहीं से दस बीस श्लोक आगे पीछे के वह सुना जाते।"

(पिता जी घर में, रत्नशंकर प्रसाद; युगप्रवर्तक जयशंकर प्रसाद; पृ० ४०–४१)

सात वर्ष की अवस्था में पिता का देहांत प्रसाद के जीवन की आकस्मिक दुःखपूर्ण घटना थी जिसने उनके परिवार की संपूर्ण दशा को परिवर्तित कर दिया। पिता की मृत्यु के बाद चाचा से मुकदमेबाजी और गृहकलह के युद्ध में घर के बर्तन तक बिक गए फिर भी उनके भाई शंभुरत्न जी ने हौसला न छोड़ा। उन्हीं दिनों उनकी माता का स्वर्गवास भी हो गया किंतु भाभी ने देवर का पुत्रवत् पालन पोषण किया। नारी का श्रद्धा रूप प्रसाद को यहीं प्राप्त हुआ।

काशी के साहू परिवार की मर्यादा और नाम अब भी बड़ा था किंतु लक्ष्मी का आधार उसके पास नहीं था। शंभुरत्न जी विगत वैभव को लौटा लाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे किंतु लाखों के ऋण में यह कार्य अत्यंत दुरूह था। संघर्ष के इन कठिन दिनों में भी प्रसाद ने अध्ययन लेखन नहीं छोड़ा। दुकान पर बैठे प्राय: कुछ न कुछ लिखा करते। कागज न मिलने पर बही के कागजों पर ही लिख देते; भाई के पूछने पर कि 'बही के कागज कहाँ गए' बहाना बना देते 'कागज कम था, ग्राहक को पुड़िया बना कर दे दी'। शंभुरत्न जी अनुभवी व्यक्ति थे, हिंदी के कवियों की दुर्दशा उन्होंने देखी थी। वह चाहते थे कि प्रसाद लिखना पढ़ना छोड़कर व्यापार में सहायता करें अत: उन दिनों प्रसाद को लेखन लुक छिपकर करना पड़ता था। सवैया और घनाक्षरी पर कवि का तब तक अच्छा अधिकार हो गया था।

प्रसाद जब सत्रह वर्ष के थे तो उनके एकमात्र आधार शंभुरत्न भी चल बसे। इतने बड़े संसार में लाखों के ऋण के नीचे दबे हुए प्रसाद अकेले रह गए। पाँच छह वर्ष, लघु अवधि में माता, पिता, भ्राता, स्नेह के तीन महानाधारों, से उन्हें वंचित होना पड़ा। मनु अकेले रह गए, स्वर्ग के वैभव का इंद्रजाल अचानक लुप्त हो गया। आत्मीयों का महामृत्युगर्त में पतन उन्होंने एक एक करके अश्रुसिक्त,नेत्रों से देखा किंतु स्वयं में साहस जुटाकर 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' के जयनाद से कर्मक्षेत्र में उतर पड़े; बुद्धिमानी और व्यवहार कुशलता से से धीरे धीरे अपनी प्रतिष्ठा को पुन: प्रतिष्ठापित करने लगे और पच्चीस छब्बीस वर्ष में कठिन परिश्रम से उन्होंने स्वयं को ऋणमुक्त किया। ऋण को वह कुंभीपाक नरक की यातना कहा करते थे। यहाँ नर्मदेश्वर उपाध्याय का प्रसाद विषयक एक संस्मरण द्रष्टव्य है :—

"मैंने स्वयं पूछा कि आप कृपा कर बताएँ कि आपकी अजातशत्रुता का रहस्य क्या है ? उन्होंने कहा कि तीन काम मैं नहीं करता—'**द्रव्यदानं विवादं च परोक्षे दारदर्शनम्**'—रुपए का लेन देन, विवाद और मालिक घर मे न रहे तो परोक्ष में उसके घर जाकर उसकी स्त्री से बातें करना। ये तीन बातें जो नहीं करता उसकी मित्रता किसी से खंडित नही होती। मैंने प्रश्न किया कि इसका पालन करने पर भी कोई हमसे अन्यमनस्क हो जाए तो क्या करना चाहिए ? तो उन्होंने कहा उसका सरल उपाय है 'करुणा, मुदिता, मैत्री और उपेक्षा। इन चारों में से जिस संबंध के योग्य वह हो ठीक वही भाव उसके प्रति धारण करने से न तो अपनी साधना खंडित होगी और न वह हमसे दुखी होगा।"

(जीवन और कृतित्व, नर्मदेश्वर उपाध्याय, युगप्रवर्तक जयशंकर प्रसाद, पृ० २४)

उसकी कर्ममयी साधना के विषय में रत्नशंकर प्रसाद का कहना है—

"उनकी करुणामयी साधना में कर्मवृत्ति का सामान्य और तात्विक प्रवाह था। उस प्रवाह का अवसर और आवश्यकता के अनुसार व्यापार और साहित्य में विनियोग रहा। उन्हें कोई आयास नहीं करना पड़ता था। इसलिये बिना समय और स्थान के बंधन के कहीं भी किसी भी समय व्यवसाय कार्य करते हुए भी छंद के रूप और साहित्य के सिद्धांत स्थिर होते रहते थे।"

(वही।)

नर्मदेश्वर उपाध्याय जी का कहना है कि "साहित्य से संबंध रखनेवाली उनकी कुछ अधूरी आकांक्षाएँ अवश्य रह गई हैं। इंद्र पर एक नाटक और बारह ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत करने की उनकी योजना थी। इन उपन्यासों की कथानक शृंखला शुंगकाल से आरंभ हुई थी, जिसमें उनका अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' पहली और अंतिम रचना बन गई।"

(वही।)

वाचस्पति पाठक जी का कहना है कि प्रसाद को पदों से बड़ी विरक्ति थी। किसी सभा समिति में आना जाना उतना न अखरता था जितना कि उनके किसी पद पर प्रतिष्ठित होकर वहाँ रहना। यही कारण है कि श्यामसुंदर-दास के न डिगनेवाले हठ के कारण किसी प्रकार नागरीप्रचारिणी सभा, काशी का उपसभापतित्व एक बार उन्होंने स्वीकार कर लिया था परंतु सभापति तो कभी बनने को वह तैयार नहीं हुए। पदों के संबंध में उपसभापतित्व का पद ग्रहण करना उनके जीवन में एक अपवाद है। सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखनेवाले व्यक्ति के लिये आज की दुनिया मे अपने को इस तरह अलग रखना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, पर प्रसाद से वह सब सधता नहीं था। वे थे अलमस्त प्राणी। पत्रों की भूमिका लिखना अथवा किसी पत्र पत्रिका के लिये संमति लिख देना भी उन्हें अभीष्ट नही था। इससे उनके मित्रों अथवा साथी लेखकों को कष्ट पहुँच जाता था। उनके इस नियम में भी कविवर निराला के लिये लिखी गई भूमिका अपवाद है।"

(व्यक्तित्व, वाचस्पति पाठक, युगप्रवर्तक प्रसाद, ३७-३८)

प्रसाद जी को अपने विवाह भी स्वयं करने पड़े और वह भी एक के बाद एक तीन बार। कहते हैं, प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् प्रसाद विवाह नहीं करना चाहते थे किंतु भाभी के अनुरोध से उन्हें वैसा करने को बाध्य होना पड़ा। कुछ विद्वानों का कथन है कि प्रसाद के जीवन में प्रणय का आधार कोई अन्य व्यक्ति ऐसा था जिसकी स्मृति को उन्होंने मृत्यु पर्यंत हृदय में सँजोए रखा। यह बात कहाँ तक सत्य है, कहा नहीं जा सकता; वैसा कहने को कोई दृढ़

आधार उपलब्ध नहीं है। यदि लौकिक प्रणय की वेदना थी भी तो भी कवि ने उसका उदात्तीकरण ही किया है।

प्रसाद के व्यक्तित्व के संबंध में उनके समकालीन प्रतिष्ठित छायावाद के महान् स्तंभों के संस्मरण भी यहाँ उल्लेख्य हैं। सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में "चाहे घर में हो या रास्ते में अथवा दुकान में, मैंने सदैव उनको एक ही प्रकृतिस्थ रूप में पाया। वह स्वाभिमानी होने पर भी अत्यंत संस्कृत और शीलवान थे और उनकी विनोदी प्रकृति उनके गंभीर मुख पर खेलती रहती थी।"

(युगप्रवर्तक जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २१)

महादेवी ने लिखा है—"वह हृदय से अत्यंत कोमल, भावुक कवि थे और बुद्धि की प्रखरता से इतिहास के अंधकार में भी उन्होंने जीवन के ऐसे तत्व खोज लिए जो इतिहासकार भी न खोज पाता, जो इतिहासकार के लिये भी स्पर्धा का विषय होता है।

"मुझसे उनकी भेंट एक ही बार हुई। परंतु भेंट ऐसी है कि उसका स्मरण करके आज भी मन प्रसन्न हो जाता है। फिर उसी युग में लौट जाने की इच्छा होती है। चित्र में देखा था उनको। चित्र मे बौद्ध भिक्षु जैसे जान पड़ते थे। जब वह अपने निवास स्थान से बाहर आए, मैने उनको तुरंत पहचान लिया। मैंने कहा, 'आप ही सुंघनी साहू हैं क्या'?"

(वही, पृ० २५।)

बहिस्साक्ष्य के आधार पर प्रसाद का व्यक्तित्व कुछ भी रहा हो किंतु यदि उनके वास्तविक चित्र का अंकन यदि कोई चित्रकार करना चाहेगा तो उसे स्कंदगुप्त के अव्यवस्थित रागविरागसंकुलमन का अंतर्द्वंद्व, मनु का एकांत अहंपूर्ण एकाधिकार, चाणक्य का विवेक और नीति, (ध्रुवस्वामिनी के) चंद्रगुप्त का प्रगतिशील जीवन-दर्शन जो रूढ़ियों के बाँध स्वीकार नहीं करता, श्रद्धा का निःस्वार्थ भाव, सालवती और विजया की उद्दाम जीवन लालसा की उन्मत्त रेखाएँ और विविध रंग सब कुछ उसमें खींचने और भरने होंगे। क्या इस व्यक्तित्व का सही अंकन संभव है?

प्रसाद के जीवन के संबंध में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि वह या तो अध्ययन करते थे या व्यापार की देख भाल अथवा मित्र मंडली से साहित्य चर्चा में मग्न रहते थे। किंतु प्रसाद की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं कि वह अपना पर्याप्त समय समाज से अवहेलित, तिरस्कृत जनसमुदाय के संसर्ग और सहायता तथा निरीक्षण परीक्षण में बिताते थे अन्यथा 'छोटा जादूगर' और 'मधुआ' से उनका परिचय कहाँ हुआ? 'आँधी' की लैला और 'इंद्रजाल' की बेला उनसे कहाँ मिली?

प्रकृति और जीवन के वैभवपूर्ण चित्र, राग रंग, नाच गाना, विलास आदि से इस महान् व्यक्तित्व का जितना परिचय था, अपने अभाव की कटुता और बेबसी में जीनेवालों से भी उससे कम नहीं था। इसी से इन दोनों अतिवादों के बीच वह एक समरसता को खोजने को उतावले रहे। 'अपनी कंथा की सीवन में जीवन के मर्मों को छिपानेवाले' अनेक व्यक्तियों से प्रसाद का साक्षात्कार अवश्य था।

अपने हृदय के अपार स्नेह को प्रसाद दोनों हाथों से उलीचकर विश्व को देने में समर्थ थे। उसका प्रतिदान न तो उन्हें काम्य ही था, न विश्व की सामर्थ्य में था। अतः उन्होंने कहा—

पागल रे वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।

(लहर)

कहते हैं कि उनके यहाँ भाँग बूटी नित्य छनती थी किंतु मित्रों के लिये, अपने लिये नहीं। एक बार एक मित्र के आग्रह पर उन्होंने कहा, "सारी मस्ती इसमें भरी है अधिक लेना व्यर्थ है।"

(संगम, प्रसाद स्मृति अंक, १९५१)

प्रकृति की सुषमा से उनका साक्षात्कार उनके बालापन मे ही उनकी बदरीनाथ और विंध्यादेवी की यात्राओं में हुआ था। कविजीवन के आरंभ में जिन व्यक्तियों से उन्हें प्रेरणा मिली थी उनमें उनके गुरु रसमयसिद्ध जी, उनके पड़ोसी मुंशी कालिंदीप्रसाद और रींवा निवासी रामानंद जी मुख्य हैं। राय कृष्ण दास जी उनके परम मित्र थे। कहते हैं कि प्रसाद ने कितने ही गद्य गीत लिखकर इसलिये फाड़ दिए थे कि उनके मित्र की प्रसिद्धि में बाधक न बन जाएँ।

रत्नशंकर प्रसाद का कहना है—"साधक, विशेषतया शक्ति परंपरा को माननेवाले, क्रिया का योग नहीं छोड़ते। सिद्ध सरहपा भी सिद्धावस्था प्राप्त कर बाण-कर्म के व्याज से क्रियायोग जारी रखते और तत्त्वचिंतन की आंतरिक क्रिया उनकी इस बाहरी क्रिया के आवरण और आधार ले चलती रहती। कुछ इसी भाव से उनकी भी व्यवसाय और काव्य के माध्यम से तत्वचिंतन की साधना चलती थी।

'ज्ञान की प्राप्ति के लिये क्रिया और ज्ञानप्राप्ति के अनंतर चलनेवाली क्रिया में स्तर और दृष्टिपरक भेद होते हैं। तत्वों को यथातथ्य जानकर आत्म-व्याप्तिपूर्वक समग्र व्यापार शिव संकल्पात्मक हो क्रियाशील रहे। इसमें उनकी आस्था उत्तरोत्तर विकसित होती रही।"

(युगप्रवर्तक प्रसाद, पृ० ४२)

ऋणमुक्त होकर सुख के श्वास लेने के जब दिन आए तो वह जीवन से

जूझते जूझते राजयक्ष्मा से पीड़ित हो चुके थे। वाचस्पति पाठक के एक संस्मरण से ज्ञात होता है कि अंतिम वर्षों में वे अत्यंत क्षीण हो गए थे। नर्मदेश्वर उपाध्याय ने लिखा है—

"देहत्याग से प्रायः आध घंटा पूर्व चिकित्सक ने उनसे पूछा—'प्रसाद जी, आपको किसी से कुछ कहना है?' इस संकेत को जानने में उन्हें विलंब नहीं हुआ। अपनी अंतिम हँसी बिखेरकर बोल उठे—'अब तक जो मैंने कहा, क्या वह पर्याप्त नहीं?' फिर उन्होंने जल माँगा। पीकर ध्यानमयी शांति में समाहित हो, बैठे बैठे ही उन्होंने देहत्याग किया।"

(युगप्रवर्तक प्रसाद, पृ० २४-२५)

१५ नवंबर, १९३७ के प्रातःकाल वसुधा के अमूल्य रत्न को स्वर्ग छीनकर ले गया।

प्रसाद का व्यक्तित्व इस शताब्दी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। उसका गौरव रवींद्रनाथ ठाकुर से किसी सीमा में कम नही है। भारत की सांस्कृतिक आत्मा और अपने समय की दुर्दांत समस्याओं को प्रसाद ने एक साथ आत्मसात् कर लिया था। एक ओर अपने समय की आर्थिक, सामाजिक और मानसिक समस्याएँ उन्हें सालती रहीं—"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का..." दूसरी ओर इन अभावों से रहित, हिंदू मुसलमान के जातिभेद से दूर, भारत के मानव से साक्षात्कार की प्रबल लालसा भी उनके मन में थी।

प्रसाद के विषय में यह कहना कि आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा उनका लक्ष्य था, नितांत अनुचित है। भारत के इतिहास में मानवीयता की खोज उनका लक्ष्य था, न कि आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा। इसलिये 'चंद्रगुप्त' में यदि वे ब्राह्मण के सच्चे स्वरूप को देखने के आकांक्षी हैं तो 'स्कंदगुप्त' में सच्चे बौद्ध की चुनौती ब्राह्मणों को सुननी पड़ती है और 'जनमेजय का नागयज्ञ' में तो नाग-संस्कृति की भव्य उदारता के समक्ष आर्य संस्कृति की विकृत घुटने टेकती दिखाई पड़ती है, अपनी कुरूपता में कुत्सित जान पड़ती है।

सौंदर्य, प्रेम और करुणा की गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम से संयुक्त उनका काव्य मानव की प्रतिष्ठा का प्रयागराज एक पवित्र तीर्थ है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर निरंतर आगे बढ़ते रहने को वे प्रतिश्रुत थे—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
शांत भवन में टिक रहना।
किंतु पहुँचना उस सीमा तक,
जिसके आगे राह नहीं॥

स्वार्थ, ग्रहंकार, ग्रनास्था और भेदभाव के विलय से मानवता को प्राप्त करने की जो यात्रा 'प्रेम पथिक' एवं 'प्रेमराज्य' से ारंभ हुई थी उसी का निश्चित गंतव्य 'कामायनी' में वे प्राप्त कर सके थे। वे काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते थे जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। इसीलिये मानव के आत्मिक गुणों की प्रतिष्ठा उनके काव्य का साध्य रहा। वंशपरंपरा से शैव होने पर भी प्रसाद स्वाध्याय के बल पर धीरे धीरे बौद्ध धर्म और दर्शन की ओर झुकते गए। बौद्ध धर्म की करुणा और शैव दर्शन का आनंदवाद उनके काव्य की रीढ़ बने, यद्यपि प्रसाद का आनंदवाद शैव दर्शन के आनंदवाद से भिन्न है, नागार्जुन के विज्ञानवाद के अधिक समीप है।

कृतित्व

प्रसाद की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे उच्च कोटि के निबंधकार, कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार और कवि थे। साहित्य की सभी विधाओं पर उनका समान अधिकार था। उनकी प्रथम ज्ञात कविता जब वे नौ वर्ष के थे तब उन्होंने अपने गुरु रसमयसिद्ध जी को दिखाई थी। साहित्य में उनका उदय ब्रजभाषा से हुआ। प्रथम प्रकाशित कविता 'भारतेंदु' में जुलाई, १९०६ में 'कलाधर' के नाम से आई जो भाव, भाषा और छंद सभी दृष्टियों से समृद्ध है—

सावन आए वियोगिन को तन,
आली अनंग लगे अति तावन।
तावन हीय लगी अबला,
तड़पै जब बिज्जु छटा छबि छावन॥

इन प्रारंभिक कृतियों पर रीतिकालीन प्रभाव लक्षित होता है किंतु यह प्रभाव परंपरागत था, कवि की नैसर्गिक प्रतिभा से उद्भूत न था। 'इंदु' के प्रकाशन के साथ कवि का निजी नैसर्गिक लक्ष्य स्पष्ट होने लगा। 'इंदु' की श्रावण शुक्ला २, १९६७ वि० की दूसरी कला में 'कवि और कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट किया—

"शृंगार रस की मधुरता पान करते करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा अकुला गई हैं। इस कारण आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देनेवाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे धीरे संगीतमयी वृत्तिस्फुरण-कारिणी, आलस्य को भंग करनेवाली, आनंद बरसानेवाली, धीर गंभीर पद-विक्षेप-कारिणी शांतिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए। अब देर नहीं है, सरस्वती अपनी मलिनता त्याग रही है और नवल रूप धारण करके प्रभातिक उषा को लजावेगी। एक बार वीणाधारिणी अपनी वीणा को पंचम स्वर में फिर ललकारेंगी। भारत की भारती फिर भी भारत की ही होगी।"

अप्रैल १९१२, 'इंदु,' कला ३, किरण ५ में उन्होंने लिखा—"जब तक समाज के उपकार के लिये कवि की लेखनी ने कोई कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्दवैचित्र्य तथा अलंकारों पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नहीं बैठा सकते जिसने अपनी लेखनी से समाज की प्रत्येक कृति को स्पंदित करके उनमें जीवन डालने का उद्योग किया है।" प्रसाद का अध्ययन गहरा था। वेद, उपनिषद्, इतिहास, संस्कृत काव्य, सभी का अध्ययन मनन वे बड़े मनोयोग से करते थे। संस्कृत कवियों में विशेषत: कालिदास का पर्याप्त प्रभाव उनपर था। पंडितराज का 'भामिनी-विलास' उन्हें अत्यंत प्रिय था। उसके 'अयि जलधिनंदिनी' छंद को प्राय: वे अपने मित्रों को सुनाया करते थे।

परंपरा से शैव परिवार में जन्म लेने पर भी किसी दार्शनिक मतवाद की संकीर्णता में उन्होंने स्वयं को परिबद्ध और सीमित नहीं किया। कर्मकांड में उनका विश्वास नहीं था, इस संदर्भ में उनके एक पड़ोसी राजेंद्रनारायण शर्मा का व्यक्तिगत अनुभव दृष्टव्य है—

"उनके पूर्वजों का बनाया हुआ जो शिवमंदिर है, उसमें एक पत्थर की चौकी है। उसपर एक आसन बिछा दिया जाता था। वह उसपर स्नान के बाद आधा घंटा साधना के लिये बैठते थे। सन् '३५ में उन्होंने पाठ करना बंद कर दिया। एक दिन मैंने पूछा 'आपने पाठ बंद क्यों किया ?' तो बोले 'मन मस्त हुआ फिर क्या बोले, हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्या डोले ?' उसके बाद ध्यान भी कम हो गया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक कर्म को ध्यान से करना ही तो योग है। 'योग: कर्मसु कौशलम्'। पूजा का कर्म और कर्म की पूजा मेरे लिये दो नहीं रही हैं।"

'प्रेम राज्य' में यदि 'शिव दर्शन' दिखाई पड़ता है तो 'झरना' की किरण वैष्णवों की मुरली माधुरी स्वर्गीय संगीत का सृजन करती है, यही भाव कुछ 'कामायनी' में लक्षित होता है—

प्रार्थना सदृश धरा पर झुकी,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।

(झरना किरन)

आकाश रंध्र है पूरित से,
यह सृष्टि गहन सी होती है।
आलोक सभी मूर्छित सोते,
यह आँख थकी सी रोती है।

(कामायनी, काम सर्ग)

वैष्णवों की नित्य वैकुंठ की कल्पना 'लहर' में प्राप्त है—

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन धन इस जले जगत को वृंदावन बन जाने दो ।।

यदि प्रसाद केवल शैव होते तो जगत् के वृंदावन बनने की कल्पना न करके शिवलोक की कल्पना करते। प्रसाद शक्ति के उपासक थे किंतु उसकी साधना में कर्मकांड के स्थान पर 'कर्मयोग' का अद्‌भुत प्रयोग उन्होंने किया, उसमे बुद्ध की करुणा का आधार और गांधी की अहिंसा का योग भी था।

प्रसाद ने नौ नाटक लिखे जिनकी पार्श्वभूमि अधिकांशतः ऐतिहासिक है। अतीत में वर्तमान युग की समस्याओं का चिंतन ही इनके द्वारा कवि ने संभव किया है।

कहानी के क्षेत्र में उन्होंने लगभग सत्तर कहानियाँ लिखीं जो 'छाया', 'इंद्रजाल', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप' और 'आँधी' संकलनों में प्रकाशित हैं। यहाँ भी अतीत और वर्तमान दोनों के आधार पर सामाजिक वस्तुस्थिति का अंकन लेखक का लक्ष्य था।

'काव्यकला और अन्य निबंध' में साहित्य सर्जना और जीवन के मूलभूत तत्वों पर सुंदर चिंतन विश्लेषण उन्होंने प्रस्तुत किया। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने नए युग की प्रतिष्ठापना अपने प्रारंभिक काव्य से ही प्रस्तुत कर दी। साहित्य के इतिहास में द्विवेदी जी के नाम से जाने गए युग की अर्थात् १९०० से १९२० तक की प्रसाद की रचनाओं में भी भाव एवं अभिव्यंजन दो दृष्टियों से उनका निजी वैशिष्ट्य था, जिसमें सामाजिक वस्तुस्थिति की अक्षुण्णता होते हुए भी व्यक्ति के स्व का महत्व था, उसके सुख दुःख, हर्ष विषाद, अवसाद प्रसाद, चिंता और उपलब्धियों की अहंमन्यता थी।

प्रसाद की क्रमागत काव्य कृतियों का परिचय इस प्रकार है—

१. प्रारंभिक कृतियाँ, जो समय समय पर 'इंदु' में प्रकाशित होती रहीं, कुछ का प्रकाशन 'जागरण' में भी हुआ और जिनमें अधिकांश 'चित्राधार' में संकलित हैं।
२. कानन कुसुम।
३. करुणालय।
४. महाराणा का महत्व।
५. प्रेम पथिक।
६. झरना।
७. आँसू।
८. लहर।
९. कामायनी।

प्रस्तुत संदर्भ में 'चित्राधार' की आख्यानक गीतियाँ, 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम पथिक' काव्यों का अवलोकन ही अपेक्षित है क्योंकि १९२० तक की ये ही प्रबंध रचनाएँ हैं।

प्रसाद की प्रारंभिक कृतियाँ इंदु में प्रकाशित हुईं। 'चित्राधार' में तीन प्रबंध कविताएँ संकलित हैं—

(१) 'अयोध्या का उद्धार' (२) 'वन मिलन' (३) 'प्रेमराज्य'

१. अयोध्या का उद्धार : अयोध्योद्धार में महाराजा राम के ज्येष्ठ पुत्र कुश द्वारा अयोध्या के उद्धार का वर्णन कवि ने किया है। उसकी कथावस्तु का आधार कालिदास के 'रघुवंश' का सोलहवाँ सर्ग है। इस काव्य के प्रारंभ में कवि ने कुशवती नगरी के सौंदर्य और उसकी प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया है—

नव तमाल कल कुंज सों घने,
सरित-तीर अति रम्य हैं बने।
अरध रैनि महँ भीजि भावती,
लसत चारु नगरी 'कुशावती'॥
युग याम व्यतीत यामिनी,
बहुतारा किरणालि मालिनी।
निज शांति सुराज्य थापिके,
शशि की आज बनी जु भामिनी॥

(चित्राधार, पृ० ५२)

तारों एवं किरणों की माला का सौंदर्य कुशावती को नववधू का रूप प्रदान कर रहा था। छायावादी अभिव्यंजना यहाँ द्रष्टव्य है।

एक दिन महाराजा कुश अपनी शैया पर शयन कर रहे थे कि एक युवती ने उनके राजप्रासाद में प्रवेश किया। उसकी मधुर वीणा सी आवाज को सुनकर कुश जाग गए और अधमूँदे दृग से उन्होंने इसे देखा—

पुतरी पुखराज की मनो,
सुचि साँचे महँ ढारि के बनी।
उतरी कोउ देव - कामिनी,
छवि मालिन्य सों सनी॥

(चित्राधार, पृ० ५२)

उपर्युक्त रूपवर्णन में आकृति के साथ उसकी प्रकृति के वैशिष्टय का उल्लेख इस सौंदर्य को जीवंत संपूर्णता प्रदान करता है। 'पुखराज की पुतली' में कंचनवर्णी वह सुंदरी देवकामिनी सी थी, मानवी सी नहीं। उसके मुख पर प्रसन्नता का भाव

न होकर विषाद की रेखाएँ स्पष्ट हो रही थीं। अल्प अभिव्यंजना में ही कवि ने स्थिति का एक जीवित रूप उपस्थित कर दिया है।

युवती ने कहा—"हरिश्चंद्र, दिलीप और रघु के तुम वंशज हो। कवि वाल्मीकि ने तुम्हारे वंश की कीर्ति का गान किया है। राम के राज्य का यश अमर है।" वह उनसे कहती है—

तव वंश सुकीर्ति को सबै
अनुहार्‌यो उदधी बहै अजै।
निज कूलन सौं बढ़ै नहीं
अरु मर्य्यादिहुं को नहीं तजै।
जेहि कीर्ति कलाप गंध सौं
मदमाती मलयानिली फिरै।
हिम शैल अधित्यकान लौं
सबको चित आनँद सों भरै॥
जेहि वंश चरित्र को लिखे
कवि वाल्मीकि अजौ सुख्यात है
तुमही तात निज सामुहे
शुचि गायो वह क्यों भुलात है॥
जेहि राम राज्य को सदा
रहिहै जग माहिं नाम है।
तेहि के तुमहूँ सपूत हौ
चित चेतो बिगर्‌यो न काम है॥
तुम छाइ रहे कुशवती
अरु सोए रघुवंश की ध्वजा।
उठि जागहु सुप्रभात है
जेहि जागे सुख सोवती प्रजा॥

(चित्राधार, पृ० ५५)

यह अयोध्या की राजलक्ष्मी थी जो नगरी के पुनरुद्धार के लिये प्रार्थना कर रही थी। उसकी प्रार्थना से प्रेरणा पाकर कुश ने नागवंशी राजा कुमुद को, जो उस समय अयोध्या पर शासन कर रहा था, परास्त किया और पुनः वहाँ इक्ष्वाकु वंश की ध्वजा को फहराया। कुमुद ने अपनी पुत्री कुमुदवती का विवाह भी कुश के साथ संपन्न कराया।

'अयोध्या का उद्धार' एक उद्‌बोधन काव्य ही मानना चाहिए। भारत के

उद्धार का परोक्ष उद्बोधन यहाँ भारतीयों को दिया गया है। कुश के युद्धकौशल के वर्णन में वीर रस का सुंदर परिपाक हुआ है—

तहँ चले तीर नराच, भल्ल
समल्ल सबही भिरि गये।
तरवारि की बहु मारि बाढ़ी
दुहुँ दल के अरि गये॥
बढ्यो क्रोध करि कुश कुमार
धनु को टंकारत।
प्रबल तेज शरजाल छाँड़ि
चहुँ दिशि हुंकारत॥
अम्बर अवनिहि एक कीन्ह
शर सों सब छायो।
अरिगन भरि भरि नीर नैन
भागे मग पायो॥

(चित्राधार, पृ० ५६)

चित्राधार में 'अयोध्या का उद्धार' द्वितीय संस्करण में जोड़ा गया जो सन् १९२८ में निकला। यद्यपि यह प्रबंध कृति 'इंदु', कला २, किरण १०, वैशाख ६७ (मई १९१०) में प्रकाशित हो चुकी थी।

वनमिलन का प्रकाशन 'इंदु', कला १, किरण ६ में, पौष ६६ (जनवरी, १९१०) को हुआ था। 'चित्राधार' में इसका संकलन उसके द्वितीय संस्करण में हुआ। 'इंदु' में इसको कवि ने 'वनवासिनी बाला' के नाम से प्रकाशित किया था।

इसकी कथा की प्रेरणा का स्रोत निश्चय ही कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुंतल' ग्रंथ है जिसमें हस्तिनापुर के राजा दुष्यंत और कण्व की पालिता कन्या शकुंतला की प्रणयकथा—पूर्वराग, दुर्वासा के शाप से बिछोह, अभिज्ञान प्राप्ति से राजा दुष्यंत की स्मृति का लौट आना, इंद्र की सहायता के लिये युद्ध में गए दुष्यंत का लौटने मे मारीच के आश्रम में शकुंतला से पुनर्मिलन—वर्णित है।

प्रसाद के वनमिलन को देखने से ज्ञात होता है कि कवि ने इस प्रबंध में शकुंतला की कथा के उन प्रसंगों को उठाया है जिनकी ओर कालिदास ने ध्यान नहीं दिया था अथवा उनका अत्यंत संक्षेप मे उल्लेख किया था।

कण्व के आश्रम से शकुंतला के जाने के पश्चात् उसकी सखियों—अनसूया और प्रियंवदा—का क्या हुआ, इसका वर्णन कालिदास ने नहीं किया किंतु वनमिलन में मुख्यत: वे ही दोनों पात्र प्रारंभ से अंत तक दिखाई पड़ते हैं।

काव्य का प्रारंभ हिमालय की सुषमा के वर्णन से होता है—

अरुण विभा-विलसित—हिम-शृंग मुकुटवर छाजत।
मालिनि मंद प्रवाह सुखद सुदुकूल विराजत॥
तरुगन राजि कतहूं मरकत हारावलि लाजै।
साँचहु भूधर नृपति समान हिमालय राजै॥
(चित्राधार, पृ० ६१)

प्रियंवदा और अनसूया मालिनी नदी के तीर पर बैठी हुई हैं। वल्कल-वसन-विभूषित और सुमन-माला-मंडित उनका रूप अत्यंत मनोहर है। दोनों के मुख पर पवित्र निर्मल भाव है—

सुंदर सहज सुभाव वदन पर मुनि मन मोहैं।
सूधी विमल चितौनि मृगन से नैन लजौहैं॥
जेहि पवित्र मुख भाव लखे सब ही सुर नारी।
निज विलोल नव हास विलासहिं करती वारी॥
बैठी मालिनि तीर सुभग वेतसी कुंज में।
विलसत परिमल पूर समीरन केश पुंज में॥
युगल मनोहर बनबाला अति सुंदर सोहैं।
प्रियंवदा अनुसुइया जाके नाम मिठौहैं॥
(चित्राधार, पृ० ६४)

तभी संमुख यौवन समृद्धि से परिपूर्ण चंपा को देखकर प्रियंवदा उपालंभ करती है—"इनमें मधुर मकरंद पराग, सुगंध और सुंदर रूप सभी तो है किंतु शुष्क परिमल पर भ्रमर भी तो नहीं आते। मदांध मधुकर में विवेक नहीं होता"—

पाइ समीपहिं जाही, सो वाही सो पागे।
ये तो परम विलासी, नहिं जानत अनुरागे॥

अनसूया सखी के इस कथन पर खीज उठती है कि "वन में कोई सुनने-वाला नहीं है, किसको सुना रही हो।" दोनों सखियाँ अपनी सखी शकुंतला के विरह में डूब जाती हैं। माधवीलता भी शकुंतला के विरह में आर्द्र हो उठती है।

तभी कश्यप के पुत्र गालव आकर समाचार देते हैं कि दुष्यंत शापमुक्त होकर शीघ्र ही शकुंतला और भरत के सहित आ रहे हैं। तभी सब आ जाते हैं। बाल्यकाल की सखियाँ वनक्षेत्र में मिल जाती हैं।

'वनमिलन' के सीमित कलेवर में यद्यपि किसी पात्र का विस्तृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण संभव नहीं था तथापि कवि ने प्रियंवदा और अनसूया के चपल गंभीर स्वभावों की अल्प में भी सुंदर ध्वनित व्यंजना प्रस्तुत कर दी है।

प्रियंवदा यदि भ्रमर को उपालंभ देती है, आवेशमयी है, तो अनसूया उसे समझाती है, मंद्र गंभीर है। दोनों के स्वभावों की विशेषता कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' की अनुहारी ही है।

शकुंतला से मिलने पर प्रियंवदा बार बार भरत का मुँह चूमती है, दुष्यंत को उपालंभ भी देती है। वह भारतीय परिवारों की चुलबुली छोटी बहिन के समान ही है।

शकुंतला अपनी सखियों से प्रेम करती है और अंत में उन्हें साथ ले जाने की आज्ञा कण्व से माँगती है।—

बोले कण्व—"कहो जो कछु तुमको कहना है।"
शकुंतला ने कह्यो—"सखी सँग मोहि रहनो है।
इन सखियन के बिना अहो हम अति दुख पायो।
कण्व "अस्तु" कहि, सबको अति आनंद बढ़ायो।।

(चित्राधार, ६–६)

'वनमिलन' के पात्रों के लघु किंतु मार्मिक स्वाभाविक संभाषणों में प्रसाद का नाटककार सजग हो उठा है। यह काव्य दृश्यकाव्य का सा आनंद देता है।

मिलन की मंगल बेला में कवि मेनका के आनंद का वर्णन किए बिना न रह सका। स्वर्ग की वह सुंदरी जो पति के द्वारा तिरस्कृत अपनी पुत्री की पीड़ा न देख सकी थी और पक्षी तीर्थ से उसे उठाकर ले गई थी (शाकुंतल) आज पति से उसके पुनर्मिलन के अवसर पर कैसे प्रसन्न नहीं होती? प्रसाद ने उसके आगमन का वर्णन इस प्रकार किया है—

कंचन कंकन किंकिनि को कलनाद सुनावत।
नंदन - कानन - कुसुमदाम सौरभ सों छावत।।
निज अमंद सुचि चंदवदन सोभा दिखरावत।
जगमगात जाहिरहि जवाहिर को चमकावत।।
निज अनूप अति ओपदार आभा दिखरावत।
चंचल चीनांशुक अंचल को चलत उड़ावत।।
केश कदंबन कलित कुसुम कलिका बिखरावत।
मंजु मेनका को देख्यो सब उतरत आवत।।

(चित्राधार, पृ० ७०)

'वनमिलन' का वैशिष्टय यह है कि देव वारांगना मेनका शकुंतला की माँ होने के नाते उसको तो हृदय से लगाती ही है किंतु वह तापसी पवित्र प्रियंवदा और अनसूया को आशीष देने की अधिकारिणी भी है—

यथा उचित अभिनंदन सब ही कियो परस्पर।
शकुंतला माता सों लपटी अतिहि प्रेम भर॥
भरत चंद्रमुख चूमि भई वह हिय सों हरषित।
प्रियंवदा अनुसुइया सिर कीन्हों कर परसित॥

(चित्राधार, पृ० ७०)

मेनका के मातृत्व का गौरववर्णन कवि के अपने नारी संबंधी दृष्टिकोण का परिचायक है जहाँ पतिता नारी भी माँ बनकर पूज्य हो जाती है। प्रसाद के काव्य में सर्वत्र मातृत्व की यही गौरवमहिमा प्राप्त होती है। 'सालवती' कहानी की सालवती भी इसीलिये पूज्य थी। प्रसाद की दृष्टि में मातृत्व सभी स्थितियों में पवित्र है। समाज ने कृत्रिम नियमों में बाँधकर ही उसे पुण्य और पाप की संज्ञा दी है।

'वनमिलन' की संपूर्ण रचना रोला छंद में है। वर्णन रम्य है और संभाषण जीवंत एवं नाटकीय। ब्रजभाषा का माध्यम होते हुए भी कर्णिकार, वीरुध, प्रेरित आदि तत्सम शब्द संस्कृत से ग्रहण किए गए हैं। कालिदास का मृगशावक केवल शकुंतला का आँचल पकड़कर रह जाता है और प्रसाद के 'वनमिलन' में वह शकुंतला के चरणों को चूमता है।

अतः लोकप्रसिद्ध कथानक के छूटे हुए अंशों को वाणी देकर प्रसाद ने न केवल उसे पूर्णता दी है अपितु कालिदास के काव्यकोष को समृद्धि प्रदान कर कवि ने समाज की ओर से उन्हें श्रद्धांजलि भी प्रस्तुत की है।

प्रेमराज्य

'चित्राधार' में संकलित तीसरी कविता 'प्रेमराज्य' है। यह इतिहास के आधार पर लिखी गई है। सन् १५६४ ई० में विजयनगर और अहमदाबाद के बीच तालीकोट का युद्ध हुआ था (कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया, खंड ३, पृ० ४४८)। उसी से कथासूत्र प्राप्त करके प्रसाद ने इस काव्य की रचना की है। संपूर्ण कविता दो भागों में विभक्त है। 'प्रेमराज्य' कविता के प्रारंभ में विजयनगर के राजा सूर्यकेतु अपने पंचवर्षीय बालक को भीलों को सौंपकर स्वयं युद्ध के हेतु प्रयाण करते हैं। अपने एकमात्र पुत्र से राजा कहते हैं—

कह्यो 'प्रिया को विरह, तुमहिं लखि सबहि बिसारी।
किंतु वत्स यह वीर कर्म, कुल प्रथा हमारी॥
सो अब तुमहिं त्राण की आशा हिय महँ धारी।
काहि समर्पहुँ तुमहिं चित्त नहिं कुछ निरधारी॥'

तभी—

> आयो तहँ एक भील, यूथपति दुहुँ कर जोरे।
> चरनन पै सिर नाइ कह्यो अति वचन निहोरे॥
> "महाराज ! यह राजकुँवर हमको दै देहू।
> राखेंगे प्रानन प्यारे को सहित सनेहू॥
>
> (चित्राधार, पृ० ७४)

उपर्युक्त कथन से राजा की पुत्रवत्सलता और प्रजावत्सलता दोनों की ध्वनि प्राप्त होती है। प्रजा राजा के स्नेह से अभिभूत थी इसलिये भील यूथपति ने स्वेच्छा से राजकुमार का संरक्षाभार अपने ऊपर ले लिया था।

तालीकोट के युद्ध में सेनापति के विश्वासघात से राजा की मृत्यु हो जाती है। सेनापति जब घर लौटता है तो उसकी पत्नी उसको वहाँ नहीं मिलती, पति की कायरता और विश्सासघात से दुखी होकर वह घर छोड़कर चली जाती है। सेनापति साधु हो जाता है।

'प्रेमराज्य' के पूर्वार्ध में वृद्ध राजा सूर्यकेतु का शौर्यवर्णन कवि ने किया है। वे देशभक्त थे और उस देशप्रेम के कारण ही उनके हृदय में उत्साह और भुजदंडों में पौरुष था। उन्होंने यवनदल पर इस प्रकार आक्रमण किया जैसे गरुड़ पन्नगसमूह पर धावा बोलता है। भयंकर युद्ध हुआ और स्वर्ग की अप्सराएँ वीरों को प्राप्त करने के लिये आतुर हो गईं—

> तब हर हर कहि कीन्ह्यो धावा शत्रुन ऊपर।
> गरुड़ करत जिमि धावा पन्नग प्रबल चमू पर॥
> भिड़े वीर दुहुँ ओर चली कारी तरवारैं।
> एक वीर सिर हेतु, अप्सरा तन मन वारैं॥
> दाबि लियो क्षत्रीन, यमन के सब सेना को।
> भागन को नहिं राह, घेरि लीन्हों सब नाको॥
>
> (चित्राधार, पृ० ७५)

महाराज सूर्यकेतु ने शत्रुओं का वध करके क्षत्रिय धर्म का पालन किया किंतु सेनापति के विश्वासघात से अंत में सुगति को प्राप्त हुए—

> उन क्षत्रिन सँग महाराज, तिन महँ थिरि गयऊ।
> सेनापति तहँ तिनहिं, छुड़ावन को नहिं अयऊ।
>
> (वही, पृ० २५)

लोभ के वश में व्यक्ति वैसे ही कुकर्म करता है जैसे कोई प्यास को भाप से तृप्त करना चाहे—

राखत कछुक विचार, नहिं यह पाप पुण्य सों।
निज तृष्णा को सींचत,, नर नित भ्रास 'भाप' सों ॥
नित्य करत जो पालन, तासों करत महा छल।
बहु विधि करत उपाय, बढ़ावन को अपनो बल ॥

(वही, पृ० ७६)

इस अवसर पर कवि ने भारत भूमि को सौभाग्यशाली कहा है जहाँ ऐसे महान् वीरों ने जन्म लिया। महाराज इक्ष्वाकु, भीष्म, दुष्यंत और भरत की वीरप्रसू माता भारत भूमि धन्य है--

भारत भूमि धन्य तुम, अनुपम खान।
भये जहाँ बहु रतन, अतुल महान ॥
भये नृपति जहँ इक्ष्वाकु बलवान।
जहाँ प्रियव्रत जनमे विदित जहान ॥
भये नृपति सिरमौर जहाँ दुष्यंत।
जन्म लियो जहँ भरत, सुकीर्ति अनंत ॥
जंबू द्वीपहि बाँध्यो, करि नव खंड।
निज नाम ते बसायो भारत खंड ॥
भये भीष्म रण भीष्म हरण अरि दर्प।
जामदग्नि ते रच्यो समर करि दर्प ॥
जिनकी देव प्रतिज्ञा की सुख्याति।
गाइ गाइ नहिं वाणी, अजहुँ अघाति ॥

(चित्राधार, पृ० ७६-७७)

सेनापति मातृभूमिद्रोही है! सभी उसका उपहास करते हैं। इस प्रकार कवि ने वीरता का आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। क्षुब्ध, अपमानित सेनापति की पत्नी तक उस देशद्रोही को नहीं अपनाती और उसे छोड़कर चली जाती है। 'प्रेमराज्य' में प्राप्त भारतीय नारी का यह आदर्श अनायास भारत की वीरांगनाओं की यशस्वी वीरशृंखला की एक कड़ी प्रस्तुत करता है। सेनापति की पत्नी ने अपने पति को ताड़ना देते हुए पत्र लिखा था--

नहिं अहो अहो तुम पती हमारे।
तुम्हरे संमुख महाराज किमि स्वर्ग सिधारे ॥
तुम आशामय बाला को, लीन्हे हिय पोखो।
तुमहि क्षमा हित स्वर्ग माँहि महराजहि तोखौं ॥

(चित्राधार, पृ० ७८)

'प्रेमराज्य' के उत्तरार्ध में सूर्यकेतु के पुत्र राजकुमार चंद्रकेतु और ललिता का प्रणयवर्णन है। कुमार चंद्रकेतु किशोर होते हुए भी बड़ा समझदार दिखाई पड़ता है। अपढ़ भीलों को वह प्रेम का संदेश देता है। जब ये भील बालक अपने शौर्य के बल पर कहते हैं—

कोउ कहत अब सब हम बन आखेट करेंगे।
अरु नहिं काहू सों, अब कबहूँ डरेंगे॥
कोउ कहत अब पथिकन कहँ निर्भय लूटेंगे।
ऐसो राजा पाय, महोत्सव में जूटेंगे॥

(चित्राधार, पृ० ८२)

तब कुमार चंद्रकेतु ने उन्हें सुसभ्य मानव के आचरण व्यवहार की शिक्षा दी—

चंद्रकेतु सुनि ये बातें बोल्यो अकुलाई।
तुम सब क्यों पाषाण हृदय कैसी कठिनाई॥

(वही)

शिव का रूप ही समस्त सृष्टि में व्याप्त है, यह बात भी वह उन्हें समझाता है—

अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम।
शिवस्वरूप तिन माँहि विराजत लखि सब ही सम॥
यह विराट संसार तासु अव्यक्त रूप है।
यामे अंगन की आभा, राजत अनूप है॥
शांतिमयी दिग्वस्त्र सहित यह मनहर मूरति।
चिता भस्म तममय, पै शुचि हिमगिरि सों पूरति॥
चंद्र सूर्य युग नैन, जबहिं वह अपने पेखत।
तबहीं तममय जगत माँहि नर आँखिन देखत॥
लखहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिन मँह नागमणिन सम तारे लसत समुज्ज्वल॥
गरलकंठ सब जन को दाष रहत धारे ही।
अग्नि नयन तीसरो रहत पलकन आड़े ही॥
पराशक्ति वह प्रकृति अंक में अति छबि छावत।
धर्म वृषभ की असवारी, मन मँह शुचि भावत॥

(वही)

वही शिव समस्त सृष्टि का पोषक व रक्षक है। मनुष्यों का परस्पर विरोध ध्वंसात्मक कार्य है। कुमार चंद्रकेतु ने कहा कि इसकी सहमति वह नहीं दे सकता—

"विश्वंभर नित भरत ग्रौर पोषत निज जन को।
तुम सब व्यर्थ विरोध सहित भारत निज मन को।।
जो यह अनुचित करहु विरोध तबै सुनि लीजै।
निज विरोधमय राज्य ग्रौर काहू को दीजै।।"

(चित्राधार, पृ० ८३)

वृद्ध भीलस्वामी इस 'प्रेमराज्य' के शासक के समक्ष हाथ जोड़कर कहता है—

ग्रहो ग्रहै यह राज्य सबै बिधि तुम्हरे लायक।
ग्रब सों तुमहिं बनोगे हम सबके बर नायक।।

(वही, पृ० ८३)

परस्पर प्रेम की सुदृढ़ भूमि पर ग्राश्रित प्रेमराज्य, वीरत्व ग्रौर देशप्रेम को उदात्त भावभूमि प्रदान करता है।

प्रेमराज्य की रचना के पश्चात् हिंदी-ग्रालोचना-जगत् पर उसकी विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई। 'भारतमित्र' पत्रिका, फाल्गुन, सं० १९६६ (१९१०) ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा "कविता में मधुर शब्दों का समावेश हुग्रा है। छंद शुद्ध बना है, कहीं कहीं लालित्य भी है।" ग्रौर दूसरी ग्रोर 'लक्ष्मी', जनवरी, सन् १९११ ई० में लाला भगवानदीन ने उसकी विगर्हणा की थी—"काव्य बिल्कुल नीरस ग्रौर ग्रनेक दोषों से पूर्ण है। एक भी छंद यतिदोष से रहित नहीं है।" इसका उत्तर स्वयं प्रसाद ने दिया—"छंद की दृष्टि से इसमें रोला छंद है। कविवर भिखारीदास के छंदार्णव पिंगल में उसका लक्षण केवल ग्रनियमित रोला कहकर दिया गया है।"

ग्रत: प्रेमराज्य काव्य प्रसाद के इतिहास विषयक ग्रनुसंधान का परिणाम तो है ही, साथ ही वीरता ग्रौर प्रेम के भावों का उदात्त रूप प्रस्तुत करनेवाला समर्थ काव्य भी है। प्रेम का ग्रर्थ संकुचित नहीं होता, मानव मात्र के प्रति सद्भाव को वह ग्रपनी परिधि में लेता है। एक ग्रोर सेनापति की क्षुब्ध कर्तव्यशीला पत्नी इसीलिये ग्रपने पति के कुकर्म का प्रायश्चित्त करने के लिये प्राणत्याग करती है, दूसरी ग्रोर कुमार चंद्रकेतु भीलों के समूह को उस 'प्रेमराज्य' के विस्तृत प्रांगण का परिचय कराता है जहाँ ऊँच नीच का भेद नहीं होता, प्राणिमात्र उस प्रेम में ग्राबद्ध रहते हैं।

संक्षेप में, 'प्रेमराज्य' ग्रपनी ग्रावश्यकताग्रों को पूर्ण करनेवाली काव्य-रचना है। राष्ट्रीय गौरव, महत्व ग्रौर देशभक्ति के स्वर उसमें भरे पड़े हैं। देश के गौरव के लिये प्राणों का मोह त्याग देनेवाले वीर ग्रौर वीरांगनाग्रों का चरित्र उसमें ग्रंकित है।

प्रेमपथिक

'प्रेमपथिक' केवल ३२ पृष्ठों की एक लघु आकार की प्रबंध रचना है जिसका निर्माण सं०१९६२ अर्थात् सन् १९०६ के लगभग हुआ; प्रथमतः कवि ने इसे ब्रजभाषा में लिखा था किंतु आठ वर्ष पश्चात् सन् १९१४ (सं १९७०) में उसका परिवर्तित और परिवर्धित रूप निकाला। लघु आकार होने पर भी यह प्रसाद जी की एक प्रौढ़ कृति है। उसका कथानक इस प्रकार है—

आनंदनगरी का निवासी 'पथिक' जटिल वन प्रदेश में भटकता भटकता एक कुटी के समीप पहुँचा जहाँ एक तापसी ने उससे आतिथ्य की अभ्यर्थना की। तापसी ने उससे अपनी आत्मकथा सुनाने का अनुरोध भी किया—

सौम्य अतिथि को पाकर फिर यह निशा सहज में बीतेगी।
हाँ प्रभात होते ही अपने पथ पर तुम लग जाओगे।
और दुःखिनी यहीं अकेली ज्यों की त्यों रह जावेगी।

(पथिक, पृ० ११)

पथिक ने अपनी कहानी सुनानी आरंभ की। वह आनंदनगर का वासी था जहाँ कृषक समूह सुख से प्रत्येक संध्या को ग्रामगीत गाया करते थे। तटिनी के तट पर उसके पिता का सुरम्य निवास था और समीपवर्ती घर में उनके एक मित्र थे जिनकी एकमात्र कन्या 'पुतली' थी। पथिक के बाल्यकाल में ही उसके पिता का देहांत हो गया और पिता के मित्र ने उसका पालन पोषण किया। दोनों बालक बाल्यकाल की मित्रता में सहज खेलते खेलते एक दिन एक दूसरे के प्रेमपाश में निबद्ध हो गए। पथिक ने प्रणय का प्रस्ताव भी प्रियतमा के समक्ष रखा था—

पुतली क्या तुम ब्याह करोगी ? ब्याह करोगी मुझसे।
हम दोनों फिर जीवन भर हों एक साथ सुख से काटें।"

(प्रेमपथिक, पृ० १८)

किंतु भाग्य को कुछ और ही स्वीकृत था। पुतली का 'फलदान' हो गया और फिर विवाह भी। पुतली चली गई, पथिक का दिल टूट गया, उसने वह आनंदनगरी छोड़ दी—

छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम पथ पथिक हुआ।
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

(प्रेमपथिक, पृ० २०)

प्रकृति का रूपवैभव अनंत था परंतु पथिक का हृदय शून्य हो गया था। आँसू बहकर विरह की अग्नि को शीतल किया करते थे।

पथिक जब अपनी कथा सुनाता हुआ ध्यानमग्न था तभी तापसी के शब्दों से उसकी तंद्रा टूटी—

क्यों किशोर क्या अब तक तुमको उस मिट्टी की 'पुतली' का।
ध्यान बना है ! क्या अभागिनी की याद तुम्हें अब रहती है।
उस दुखिया का ध्यान लगा रखने से तुम भी दुखी हुए।

(प्रेमपथिक, पृ० २४)

पथिक ने तापसी को पहचान लिया। वह तो उसी की प्रियतमा थी। पुतली ने किशोर से बिछोह के पश्चात् की अपनी दुःखभरी कहानी उसको सुनाई—उसका पति धनमद में डूबा हुआ था। कभी उसे विवाहित प्रेम का दान नहीं मिला और अंत में मिला वैधव्य। पति के मित्र कामलोलुप थे। उनसे त्राण पाने के लिये एक वृद्ध की संमति से उसी की जमींदारी की भूमि पर अकेली रहकर वह जीवनयापन कर रही है।

पथिक तथा तापसी दोनों का प्रेम विरह की आँच में तपकर सात्विक और उदात्त हो चुका था। प्रेम की स्थूल परिणति, शरीर की तृप्ति की अभिलाषा, मिट चुकी थी; वह हृदय की तृप्ति बन गया था—

आओ गले नहीं प्रत्युत हम हृदय हृदय से मिल जायें।

(प्रेमपथिक पृ० ३२)

'प्रेमपथिक' की इस छोटी सी कहानी पर गोल्डस्मिथ के 'एकांतवासी योगी' का प्रभाव लक्षित है। इस काव्य के छोटे से कलेवर में प्रेम के उदात्त रूप की व्यंजना हुई है। कवि के शब्दों में—

आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

(प्रेमपथिक, पृ० ३०)

प्रेम का पथ दुर्लंघ्य है, उसपर चलना सहज नहीं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।
अथवा उस आनंदभूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

(प्रेमपथिक, पृ० २२-२३)

प्रेम के विषय में कवि का कहना है कि करुणा, प्रेम और भक्ति की धाराएँ जिस हृदय में प्राप्त हैं वह तो स्वयं तीर्थ है, त्रिवेणी का संगम है, जहाँ शांति अक्षयवट बनकर दग्ध विश्व के परितप्त हृदयों की पीड़ा को शांत करती है—

और प्रेम करुणा, गंगा यमुना की धारा बही नहीं;
कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में उसमें अंतर है।

करुणा यमना, प्रेम जाह्नवी का संगम है, भक्ति प्रयाग;
जहाँ शांति अक्षयवट बनकर, युग युग तक परिवर्धित हो।
नीलोत्पल के बीच सजाए मोती से आँसू के बूँद।
हृदय सुधानिधि से निकले हों, सब न तुम्हें पहिचान सकें;
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दुःखी के परम उपाय।
यह भव धरा तुम्हीं से सिंचित होकर हरी भरी रहती;
उन हृदयों को शीतल कर दो जो परितापित हैं दुख से।

(प्रेमपथिक, पृ० २७)

इस प्रकार 'प्रेमपथिक' की प्रेमव्यंजना भविष्य में आँसू काव्य की पूर्वपीठिका भी प्रस्तुत करती है।

'प्रेमपथिक' में अनेक सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

(अ) प्रायः लोग कहा करते हैं रात भयानक होती है—
घोर कर्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते हैं।
किंतु नहीं; दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है;
जहाँ सरल के लिये अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं।

(प्रेमपथिक, पृ० ११)

(आ) सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ?—दुखी हृदय की छाया सा।

(वही, पृ० १५)

(इ) 'प्रिय' हो 'प्रियवर' हो सब तुम हो काम पड़े पर परिचित हो;
कहीं तुम्हारा स्वार्थ लगा है कहीं लोभ है मित्र बना;
कहीं 'प्रतिष्ठा' कहीं 'रूप' है—मित्र रूप में रँगा हुआ।

(वही, पृ० १६)

(ई) मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कहीं;
निराधार भवसिंधु बीच वह कर्णधार को पाता है।
प्रेमनाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।

(वही, पृ० १६)

(उ) चिर दरिद्र को भी संतोष सुखी करता कितना :

(वही, पृ० २६)

(ऊ) मत समझो सब दुखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है।
अप्रत्याशित, अप्रकटित कल्याण विश्व का करता है।
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके।

'प्रेमपथिक' काव्य का विशेष महत्व यह है कि यहीं 'कामायनी' काव्य के भावों के बीजांकुर प्राप्त हो सकते हैं। 'कामायनी' की श्रद्धा, कर्म और आनंद की परिकल्पनाएँ 'प्रेमपथिक' में ही प्राप्त हो सकती हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पाओगे।

(प्रेमपथिक, पृ० २२)

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।

(कामायनी, कर्म सर्ग, पृ० १३२)

'कामायनी' में 'चिंता' के पश्चात् 'आशा' का जन्म हुआ जो मनु के हेतु 'कर्म' का प्रेरक बनी। 'प्रेमपथिक' में कवि ने कहा है—

केवल स्मृति दुखदायक है—उसको भूलो सपना समझो,
जीवन के कल्याणमार्ग में प्रति पद को आगे रक्खो।

(प्रेमपथिक, पृ० २६)

जीवन में कल्याणप्राप्ति का यह तत्व कवि को छांदोग्य उपनिषद् से प्राप्त हुआ था—

आशावावस्मरात् भूयसी आशेद्धः वै
स्मरः मन्त्रान् अधीते कर्माणि
कुरुते पुत्रान् च पशून च इच्छते
इमन् च लोकम् अमुम् च
इच्छते आशाम् उपास्स्व इति।"

"हे नारद! आशा स्मृति से श्रेष्ठ है, क्योंकि आशा करके जागा हुआ पुरुष स्मृतियुक्त होता है, फिर मंत्रों का ध्यान करता हुआ कर्मों को करता है। फिर इस लोक और परलोक को पाने की इच्छा करता है अतः आशा की ब्रह्मबुद्धि करके उपासना करो।"

(छादोग्य उपनिषद्, चतुर्दश खंड, सप्तम् अध्याय, एडीशन—नवलकिशोर प्रेस, पृ० सं० ६६१)

'कामायनी' के आनंद सर्ग में आनंद की जो परिकल्पना है वही 'प्रेमपथिक' में भी प्राप्त है—

अथवा उस आनंद भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।
वह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है।
वही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार अनंत अहो।
उसमें इसमें शैल और सरिता का सा कुछ अंतर है।
प्रेम जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के।
मिट्टी वा जलपिंड सभी दिन रात किया करते फेरा।

(प्रेमपथिक. पृ० सं० २३)

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े उसका सुंदर अनुराग लिए।

(कामायनी, काम सर्ग, पृ० ७२)

चिति केंद्रों में जो संघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है—
वे विस्मृत पहचान रहे से एक एक को।
होते सतत समीप मिलाते हैं अनेक को।

(कामायनी, संघर्ष सर्ग, पृ० १९२)

सबकी सेवा न पराई वह अपनी सुख 'संसृति है;
अपना ही अणु अणु कण कण द्वयता तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता सबको ही स्पर्श किये सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की है मादक घूंट पिये सी।

(कामायनी, आनंद सर्ग, पृ० २९६)

प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ?

(प्रेमपथिक. पृ० २३)

चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हंसता सा।
मानस के मधुर मिलन में गहरे—गहरे धँसता-सा?

(कामायनी, आनंद सर्ग, पृ० २८९)

अतः यह सिद्ध है कि 'प्रेमपथिक' को 'कामायनी' की विराट् अनुभूति की पूर्व-पीठिका मानना ही समुचित होगा। 'प्रेमपथिक' प्रसाद की उदात्त, सर्वकालिक, सार्व-भौमिक सर्वात्मवाद के प्रेरक तत्व प्रेम को अभिव्यंजित करनेवाली तुतलाहट है जिसको कवि ने अपने कविजीवन के शैशव में वाणी दी थी और जो उसके भविष्य में महान् कवि दार्शनिक होने की भविष्यवाणी कर रही थी।

'प्रेमपथिक' और कामायनी के प्रकृतिवर्णनों की दृश्य योजनाओं में भी कहीं कहीं अद्भुत साम्य है—

मिटी मलिनता रवि कर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो।
जैसे प्रिय कर का अवलंबन किये प्रेयसी उठती है।

क्योंकि हो रहा था प्रभात सब प्राणी मात्र निरखते थे।
राग रक्त अरुणोदय सहसा हृदय गगन में संग हुआ।
फैल गया उत्साह सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहाँ।
जिसमें प्रेमपथिक अपने आनंदमार्ग पर चल निकला।

(प्रेमपथिक, पृ० २४)

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत;
लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शांत।

(कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३१)

'प्रेमपथिक' प्रसाद की प्रारंभिक रचनाओं में से होने पर भी भाववैभव की दृष्टि से अत्यंत प्रौढ़ कृति है जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। प्रसाद के काव्य में व्याप्त प्रेमतत्व के अर्थ और उससे प्राप्त आनंद के महत्व को समझने के लिये उसका महत्व अक्षुण्ण है।

करुणालय

'करुणालय' का प्रकाशन 'इंदु', कला ४, खंड १, किरण २ (फरवरी १९१३) में हुआ। तत्पश्चात् 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण में १९१८ में प्रकाशित हुआ और स्वतंत्र रूप में १९२८ में अस्तित्व में आया। कुछ लोग इस रचना को गीति नाट्य मान लेते हैं किंतु प्रसाद ने इसे गीति नाट्य के ढंग पर लिखा हुआ नहीं माना है। डा० भोलानाथ तिवारी ने कहा है—"यदि इस साहित्य विधा के लिये कोई नाम देना ही हो तो कथोपकथनात्मक पद्यकथा या नाटकोन्मुख पद्यबद्ध कहानी कह सकते हैं।"[1]

'करुणालय' पाँच दृश्यों में बँधा है। कवि ने रंगसंकेतों का आश्रय भी लिया है अतः इसे गीति नाट्य मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके दृश्य इस प्रकार हैं—

प्रथम दृश्य में राजा हरिश्चंद्र का सहचरों सहित जलविहार, भयानक उत्पात-सूचक गर्जन और हरिश्चंद्र द्वारा नाविकों को नाव किनारे पर ले आने का आदेश। नाविकों के प्रयत्न असफल। "मिथ्याभाषी राजा का सुतबलि देने का निश्चय पूर्ण नहीं हुआ इसी कारण यह आपत्ति है।" (गर्जन शब्द में संकेत) राजा हरिश्चंद्र की क्षमायाचना कि अपत्यप्रेम के कारण वह ऐसा न कर सके थे। राजा का पुत्रबलि देने का पुनर्वचन। नौका का चलना।

द्वितीय दृश्य—एकांत में रोहिताश्व का चिंतन। सोचता है कि पिता की

१. कवि प्रसाद, डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० ६०।

आज्ञा मानना समुचित है अथवा नहीं। किसी के मंद्र स्वर से उसे आश्वासन और अयोध्या का त्याग कर उसका दूर देश के लिये प्रस्थान।

तृतीय दृश्य—अकालपीड़ित अजीगर्त और उसकी पत्नी तारिणी का दुःख। रोहिताश्व का उनके आश्रम में प्रवेश और उनको अपना एक पुत्र बेच देने का सुभाव जिससे उनको सौ गायें मिल सकेंगी। अजीगर्त ज्येष्ठ पुत्र को बेचना नहीं चाहता और उसकी पत्नी कनिष्ठ पुत्र को। शुनःशेप के लिये दोनों के हृदय में वात्सल्य की पीड़ा नहीं अतः वह रोहिताश्व के हाथ बेच दिया जाता है।

चतुर्थ दृश्य—में रोहिताश्व स्वयं के तर्क से और गुरु वशिष्ठ की सहमति से राजा हरिश्चंद्र को पुत्र के स्थान पर एक नरबलि देने के लिये तैयार कर लेते हैं। शुनःशेप को बलिपशु बना दिया जाता है। तब हरिश्चंद्र वशिष्ठ से यज्ञ की व्यवस्था करने को कहते हैं।

पंचम दृश्य—में वशिष्ठ के पुत्र शक्ति ने बलि देने पर स्वयं को असमर्थ पाया। स्वयं अजीगर्त सौ गायों के लोभ से अध्वर्यु बना और शस्त्रप्रहार करने को उद्यत हुआ। शुनःशेप ने करुणालय वरुणालय की प्रार्थना की। आकाश ने गर्जन कर सबको शक्तिहीन एवं भयभीत कर दिया। तभी विश्वामित्र ने प्रवेश करके नरबलि की अनार्य प्रथा को रोकने का आग्रह किया। वशिष्ठ को ताड़ना देते हुए उन्होंने कहा कि क्या आप अपनी संतान की इस प्रकार बलि दे सकते हैं। तभी राजकीय दासी ने अनायास प्रवेश करके न्याय की याचना की। यह दासी वस्तुतः विश्वामित्र की पत्नी और शुनःशेप की माता थी जिसने पति के तपस्या पर चले जाने के बाद परिस्थिति-वश अपने पुत्र को अजीगर्त और उसकी पत्नी को दे दिया और स्वयं दासी बनकर उदर भरने लगी। अजीगर्त और उसकी पत्नी शुनःशेप के वास्तविक पिता माता नहीं थे। सुव्रता की बात सुनकर सब हतप्रभ रह गए। विश्वामित्र पत्नी और पुत्र को पाकर अत्यंत प्रसन्न हुए और बिना नरबलि के ही यज्ञ संपन्न हुआ, वरुणदेव प्रसन्न हुए।

'करुणालय' आर्य संस्कृति को चुनौती देनेवाली एक व्यंग्यपूर्ण कथा है। इस पौराणिक संदर्भ का आश्रय लेकर प्रसाद जी ने वैदिक कर्मकांड की क्रूरता और अंधविश्वास का पर्दाफाश किया है। हरिश्चंद्र अपने पुत्र की बलि में हिचकते हैं, किसी दूसरे के पुत्र की बलि में नहीं। अजीगर्त विपदा से ग्रस्त होकर भी अपनी निजी संतान को नहीं बेचता किंतु किसी दूसरे की संतान को, यद्यपि उसका पोषण उसने स्वयं किया था, देने में आनाकानी नहीं करता। मनुष्य इतना स्वार्थी एवं क्रूर है, इसमें राजा और रंक दोनों में ही भेद नहीं है। मूल वृत्ति में हरिश्चंद्र और अजीगर्त दोनों एक से हैं। शुभ्रज्योति रूप ईश्वर करुणा से प्रसन्न होता है, नरबलि से नहीं। भक्तों और दीन दुखियों की प्रार्थना सर्वशक्तिमान् के मर्म को द्रवित करने में समर्थ है। कवि ने

शुन:शेप संबंधी पौराणिक कथानक को नया अर्थ दिया है। कर्म के महत्व को प्रतिष्ठित करते हुए प्रसाद करुणालय में कहते हैं—

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत कर्म मार्ग विस्तीर्ण है।।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता।
सारी बाधा और आपदा वृंद को।।
× × ×
सारे श्रम उसको फूलों के हार से।
लगते हैं जो पाता ईप्सित वस्तु को।।

वैदिक कर्मकांड में जुड़ी हुई हिंसा धर्म के आडंबर में छिपी हुई स्वार्थवृत्ति ही है। यह आसुरी कर्म है, मनुष्यता नहीं—

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया।
रे मनुष्य तू कितना नीचे गिर गया।
आज प्रलोभन भय तुझसे करवा रहे।
कैसे आसुरी माया में हिंसा जगी।

(करुणालय, पृ० २६)

× × ×
और धर्म की छाप लगाकर मूढ़ तू।
फँसा आसुरी माया में हिंसा जगी।।

(करुणालय, पृ० २७)

रोहित और शुन:शेप की वरुण के प्रति प्रतिक्रियाओं में भेद है। एक बुद्धिसंपन्न मानव की ईश्वर को चुनौती है—

रोहित--

वरुण देव हो या कि दैत्य! वह कौन है?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर?
क्या वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है?
नहीं नहीं 'वह मेरा है' यह स्वत्व है।

(करुणालय, पृ० १२)

और दूसरी साधारण मानव की सर्वशक्तिमान् विराट् में अनन्य आस्था—

शुन:शेप—

हे हे करुणा सिंधु, नियन्ता विश्व के!
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के सर्प के!

हाय प्रभो क्या हम इस तेरी सृष्टि के;
नहीं दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं।
हे ज्योतिपंथ के स्वामी! क्यों इस विश्व की;
रजनी में तारा प्रकाश देते नहीं
इस अनाथ को जो असहाय पुकारता ॥

(करुणालय, पृ० २५)

'करुणालय' लघु आकार का ग्रंथ होते हुए भी महत्वपूर्ण रचना है। वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध करुणा का महत्व यहाँ प्रतिष्ठापित किया गया है जो कवि की बौद्ध दर्शन की ओर रुचि एवं झुकाव का परिचायक है। प्रसाद युग से आगे चलकर जिस सत्य और अहिंसा को गांधी जी ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठापित किया था उसकी पूर्वपीठिका प्रसाद ने सन् १९१३ में ही प्रस्तुत कर दी थी। 'करुणालय' खड़ी बोली में रचित एक प्रौढ़ कृति है। २१ मात्रा के अतुकांत अरिल्ल छंद का प्रयोग है। चरण के अंत में विराम न होकर कहीं कहीं तो मध्य में भी है। इससे ज्ञात होता है कि कवि ने उक्ति की पूर्णता पर यति को महत्व दिया है। 'इंदु' में प्रकाशित एक विज्ञप्ति के अनुसार कवि ने यह प्रयोग बँगला के अमित्राक्षर और अँग्रेजी के ब्लैंक वर्स का अनुहारी होकर किया है।

महाराणा का महत्व

इसका रचनाकाल सन् १९१४ ई० है और यह सर्वप्रथम 'इंदु', कला ५, खंड १, किरण ६ (जून १९१४) में प्रकाशित हुआ। 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण में सन् १९१८ ई० में इसको स्थान मिला और १९२८ में स्वतंत्र रूप में प्रकाशित हुआ।

'महाराणा का महत्व' एक ऐतिहासिक खंड काव्य है। रंग संकेत न होते हुए भी इसके पाँच खंड पाँच दृश्य प्रस्तुत करते हैं जिनको कवि ने × × × के चिह्न से पृथक् किया है। काव्य के परिचय के लिये किसी वर्णन की आवश्यकता कवि ने नहीं समझी प्रत्युत वार्तालाप से ही ग्रंथ का प्रारंभ कर दिया। इन सब कारणों से इसमें दृश्य काव्य की सी रम्यता आ गई है।

'महराणा का महत्व' की कथावस्तु का आधार मध्य युगीन इतिहास की वह प्रसिद्ध घटना है जब कुमार अमरसिंह के द्वारा अब्दुर्रहीम खानखाना की पत्नी के पकड़े जाने पर महाराणा प्रताप ने सादर उन्हें उनके पति के पास लौटा दिया था। अंत में खानखाना ने पत्नी के कहने से प्रत्युपकार की यथोचित रीति को निभाया और अकबर से अपनी फौजों को चित्तोड़ से वापस लौटा देने का आदेश दिलवाया।

'महाराणा का महत्व' का प्रारंभ वनप्रदेश में जलती हुई दुपहरी में, नवाब की बेगम की शिविका के जाने के वर्णन से होता है। बेगम अपने परिचारकों से पूछती हैं—

'क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है?"

बेगम के भोले प्रश्न से अनायास ही तुलसी की सीता की जिज्ञासा याद आ जाती है—

फिर पूछती हैं चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।

कानन के पतझड़ से उस दोपहरी के दग्ध वातावरण का सटीक चित्र पाठक के नेत्रों के समक्ष खिच जाता है। शिविका के साथ के घुड़सवारों के पाँव के तले वनस्पतियाँ वैसी ही कुचली जा रही थीं जैसे- —

बड़े मनुष्यों के पैरों से दीन सम
जो कुचले जाते थे हय पद वज्र से।

(महाराणा का महत्व, पृ० २)

वर्गभेद की सामाजिक विषमता से प्रसाद यहाँ पूर्णतः अवगत दृष्टिगोचर होते हैं।

वनश्री का सर्वस्व प्रकृति ने हर लिया था, फूल क्या पत्ते भी डालों पर दिखाई नहीं पड़ रहे थे, किंतु नव वसंत का आगमन इसके पश्चात् ही तो होगा। प्रसाद का आस्थावान् आशान्वित कवि दार्शनिक यह पुकारकर दलित मानवता को आश्वस्त करता है—

पूर्ण प्रकृति की पूर्ण नीति है क्या भली,
अवनति को जो सहन करे गंभीर हो।
धूल सदृश भी नीच चढ़े सिर तो नहीं,
जो होता उद्विग्न उसे ही समय में।
उस रजकण को शीतल करने का अहो,
मिलता बल है, छाया भी देता वही।

(महाराणा का महत्व, पृ० २-३)

इस तरह हम देखते हैं कि 'महाराणा का महत्व' का प्रकृतिवर्णन द्विवेदी युग की कथात्मक शैली से कुछ हटकर भविष्य के हिंदी के छायावादी युग का संकेत तो कर ही रहा है, कहीं कहीं मानस के अरण्यकांड के प्रकृतिवर्णन से भी प्रभावित दिखाई पड़ रहा है।

नवाब की बेगम ने पुन: प्रश्न किया—'क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है?' सेवक घुड़सवारों ने चेतावनी दी कि महाराणा प्रताप की विचरण भूमि वह वन प्रदेश मुगलों के लिये निरापद नहीं है। नवाब साहब ने वहाँ न ठहरने का विशेष आदेश दिया है।

किंतु बेगम को प्यास लगी थी, निदान शिविका एक निर्झर के समीप रोकी गई किंतु 'लू' के समान राजपूत वहाँ आ गए। दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ और बेगम कैद कर ली गई।

युद्धवर्णन में कवि ने दोनों पक्षों के वीरों को समान गौरव प्रदान किया है। इस वर्णन में संकीर्ण हिंदुत्व अथवा आर्यत्व की भावना नहीं है। जहाँ एक ओर युवराज अमरसिंह की चुनौती ओजमयी थी—

शस्त्र हमें जो दे देगा वह प्राण को,
पावेगा प्रतिफल में, होगा मुक्त भी।

वहाँ बेगम के संरक्षक सैनिक का उत्तर भी वीरोचित ही था—

कहा—मरूँगा करते ही कर्तव्य को—
वीर शस्त्र को देकर भीख न माँगते।

(महाराणा का महत्व, पृ० ५–६)

युद्ध में पावसवर्णन की परंपरा में 'महाराणा का महत्व' का युद्धवर्णन भी एक कड़ी है—

गुंथीं बिजलियाँ दो मानो रण व्योम में,
वर्षा होने लगी रक्त के बिंदु की;
युगल द्वितीया चंद्र उदित अथवा हुए,
धूलि पटल को जलद जाल सा काट के।

महाराणा प्रताप का कृष्णसिंह से वार्तालाप उनकी अदम्य वीरोचित मूर्ति के अनुकूल ही है। जब कृष्णसिंह ने सूचना दी कि नवाब की पत्नी को उन्होंने बंदी बना लिया है, तब प्रताप ने प्रश्न किया—

किया किसने उसे बंदी ?
स्त्री को क्षत्रिय देते दुख नहीं ?

कृष्णसिंह का नम्र किंतु अर्थपूर्ण उत्तर था—

जो रहीम खाँ अकबर का चिर मित्र है,
उसकी ही परिणीता है यह सुंदरी।
इसका बंदी रहना नैतिक दृष्टि से,
ठीक नहीं क्या ? जब तक ये सब शांत हों।
कहा तमककर तब प्रताप ने क्या कहा,

अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है।
इस अबला के बल से होंगे सबल क्या ?
रण से टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी,
तो बचने के लिये शत्रु के सामने।
पीठ करोगे ? (महाराणा का महत्व, पृ० १०-११)

और भी—

छोड़ कूदना तिनके का अवलंब ले,
घोर सिंधु में क्या बुधजन का काम है ?

(वही, पृ० १२)

रहीम राजनीति के कुशल संरक्षक होने के साथ कोमल संवेदनाओं से संवृत्त कवि भी थे। बेगम से उनकी बातचीत, हास परिहास और ललित नायक का रूप प्रस्तुत करता है—

सुंदर मुख का होता है सर्वत्र ही,
विजय, उसे कर सकता कोई भी नहीं।
रमणी के सुकुमार अंग पर केशरी,
सम्हल सम्हल कर करता प्रेम प्रकाश है।
प्रिये तुम्हारे अनुपम इस सौंदर्य से,
वशीभूत होकर वह कानन केशरी।
दाँत लगा न सका. देखा गंधार का,
सुंदर दाख कहा नवाब ने प्रेम से।

(वही, पृ० १३)

इस परिहास की प्रतिक्रिया स्वाभिमानिनी बेगम पर जो हुई उसकी मुद्रा मात्र मे ही कवि ने उसको अभिव्यक्ति दे दी है। प्रसाद का नाटककार यहाँ मुखर हो उठा है—

कँपी सुराही कर की छलकी वारुणी,
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में।
खिसक गई डर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक को।
पुच्छ मर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।

(वही, पृ० १३)

बेगम का उपालंभ जितना युक्तिसंगत था उतना ही रहीम का सुसंस्कृत और सटीक। द्रष्टव्य है—

बोल उठी बीणा—चुप भी रहिये जरा,
जिसकी नारी छोड़ी जाकर शत्रु से।
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला,
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर।

(वही, पृ० १३)

रहीम मानवता के पारखी थे, बेगम के व्यंग्य को समझकर भी प्रताप के प्रति समादर व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—

सज्जन से हो यदि अपमान भी,
अच्छा है दुर्जनकृत बहु संमान से।

(वही, पृ० १४)

रहीम की अकबर को संमति उनके प्रताप के प्रति आदर भाव को तो व्यक्त करती ही है साथ ही उनकी राजनीति विषयक कुशलता की अभिव्यंजक भी है। राणा के शौर्य और धैर्य का वर्णन करने के पश्चात् रहीम ने शाहंशाह अकबर से अभ्यर्थना की—

कहा खानखाना ने—राणा ने 'कभी,
किया नहीं आक्रमण आपके राज्य पर।
अपने छोटे राज्य मात्र से तुष्ट है,
और किसी से भड़क रही हो शत्रुता।
तो वह अपने भुजबल से जो कर सके,
करे, शिथिल होगा। तो भी बल आपका।
बढ़ा रहेगा। ऐसे सज्जन व्यक्ति से,
आप क्यों न अपना महत्त्व दिखलाइये।
सच कहिये क्या ऐसे उन्नत हृदय को,
दुख देना है अच्छा ईश्वर रीति में?
अकबर ने फिर कहा बात यह ठीक है,
अब न लड़ाई राणा से उपयुक्त है।

(वही, पृ० २४)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'महाराणा का महत्व' अत्यंत प्रौढ़ एवं सुसंस्कृत ग्रंथ है। कवि ने अकबर के युग का और उस युग के कुछ प्रमुख व्यक्तियों का बड़ा मनोवैज्ञानिक भव्य चित्रण किया है जिसमें स्वयं अकबर भी संमिलित हैं। कहीं भी जातिभेद की संकीर्णता यहाँ लक्षित नहीं होती।

प्रकृति के वर्णन में कवि ने कहीं अंग्रेजी कवियों की तरह ध्वन्यात्मक वर्ण-योजना का आश्रय लिया है। यथा—

सूखे पत्तों के ही खड़ खड़ शब्द से ।

(वही, पृष्ठ १)

तो कहीं 'मानस' के प्रकृति वर्णन का प्रभाव लक्षित होता है—

विपुल शैलमाला अर्बुदगिरि की घनी—
शांत हो रही थी जीवन के शेष में।
कर्मयोग रत मानव को जैसी सदा,
मिलती है शुभ शांति। भली कैसी छटा।

(वही, पृ० ७)

अथवा

महाप्राण जीवों के कीर्ति सुकेतु से
ऊँचे तरुवर खड़े शैल पर झूमते।

(वही, पृ० ८)

साधारण भाषा में मर्ममयी अभिव्यक्ति प्रसाद काव्य की वह विशेषता है जिसका चरमोत्कर्ष 'कामायनी' में हुआ। 'महाराणा का महत्व' की छोटी सी कृति में भाषा और भाव का वही वैभव देखा जा सकता है। एक ओर 'लथेड़ता' जैसे ग्राम्य प्रयोग हैं तो दूसरी ओर सुसंस्कृत शब्दमाल "प्रत्युत्तर की अनुपस्थिति में हास भी" और तीसरी ओर उर्दू के युगानुकूल शब्द—हरम, हकीम, बेगम, शहंशाह, हिंद आदि की योजना इस काव्य की अभिव्यंजना को अनुपम बनाने में समर्थ हुई है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अर्थांतरन्यास जैसे अलंकार के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

उपमा—युगल द्वितीया चंद्र उदित अथवा हुए,
धूलि पटल को जलद जाल सा काट के।

(वही, पृ० ६)

अथवा—

केवल चुप हो जाना ही आपका—
संधि शांति के मंगल घोष समान ही।

(वही, पृ० २४)

रूपक—सुयश लता का बीज उर्वरा भूमि में,
शांति वारि से सिंचित हो फलवती हो।

(वही, पृ० १९)

उत्प्रेक्षा—तारा हीरक हार पहनकर चंद्रमुख,
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी।

(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुंदरी प्रेमिका,
मंथर गति से उतर रही हो सौध से।

(वही, पृ० १६)

अर्थांतरन्यास—

प्रत्युत्तर की अनुपस्थिति में हास भी,
पाद पूर्ति सा होता है दुष्काव्य में।

(वही, पृ० १४)

उपर्युक्त उत्प्रेक्षा के उदाहरण में ( ) का चिह्न आगामी युग में आनेवाले प्रयोगवादी काव्य की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है।

'महाराणा का महत्व' २१ मात्रा के अरिल्ल छंद में लिखा गया है। इसकी सभी काव्यगत विशेषताओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह एक प्रौढ़ एवं समृद्ध काव्यकृति है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत कह सकते हैं कि प्रसाद, के प्रारंभिक काव्य में प्राप्त प्रबंध कृतियाँ युग के हेतु सचेत हैं। सन् १६०० से १६२० तक के चिंतन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति वह करती है। एक ओर अपने युग के 'उपयोगिता' के आदर्श को उदात्त मनोभूमि पर लाकर वह पूर्ण करती है और दूसरी ओर भारत के इतिहास पुराण को पुनर्जीवित करके उसमें लोकसंरक्षण और देशप्रेम के आदर्शों का अनुसंधान करती है। ये कृतियाँ प्रसाद साहित्य की गंभीर चिंतना का सुदृढ़ आधार हैं जिन्होंने १६२० के बाद के साहित्य एवं काव्य को दिशा दी थी और एक नए युग का प्रवर्तन किया था। हिंदी का आधुनिक युग, जो अपने देश के इतिहास की परंपरा से बल प्राप्त कर परिपुष्ट हुआ किंतु जो अतीत की ओर प्रतिगामी न था, वर्तमान की वस्तुस्थिति के साथ जुड़ा हुआ था और भविष्य की मानवता के आदर्शों के स्वप्न जिसने संजोए थे, वह मानवता जो संकुचित स्वार्थों में नहीं जिएगी प्रत्युत सर्वात्म का साक्षात्कार करके—'सर्वे सुखिन: संतु सर्वे संतु निरामया' के भव्य जीवन को जीने का अदम्य साहस जुटाने का प्रयत्न करेगी।

आधुनिक युग की सन् १६०० से १६२० तक की काव्य कृतियों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के कवि इन कृतियों के माध्यम से एक ओर

भारत के अतीत को भारतीयों के समक्ष जीवित कर रहे थे चाहे वह हरिऔध हों अथवा मैथिलीशरण अथवा प्रसाद, और दूसरी ओर सामयिक वस्तुस्थिति से अपने पाठक को अवगत कराके उनके बीच उनसे उबरने के साधन ढूंढ़ रहे थे; मैथिलीशरण गुप्त के राम, हरिऔध के कृष्ण, रामनरेश त्रिपाठी का पथिक, प्रसाद का प्रेम पथिक और रहीम सब जातीयता से ऊपर उठकर भारतीयता का आदर्श प्रतिष्ठापित कर रहे थे।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों समवर्ती गंगा यमुना सी भारतीय चिंतन की उर्वरा भूमि को सींच रही थीं, संस्कृत की सरस्वती कहीं अदृश्य रहकर भी उनके भीतर व्याप्त थी जिससे इन दोनों भाषाओं का समर्थ कलेवर बन रहा था। एक ओर द्विवेदी जी का भगीरथ प्रयत्न था तो दूसरी ओर यमुनोत्तरी के स्वत:गोमुख से नि:सृत स्वतंत्र जाह्नवी से श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और प्रसाद की काव्य-सरिता अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी उससे अविभाज्य और अभिन्न थी।

❀

तेरहवाँ अध्याय

द्विवेदी युगीन मुक्तक काव्यधारा

'अग्निपुराण' में मुक्तक की परिभाषा देते हुए कहा गया है 'मुक्तकं श्लोक एकैश्चमत्कारक्षमः सताम्' अर्थात् वह एकाकी श्लोक जो सहृदयों को चमत्कृत करने में समर्थ है, मुक्तक कहा जाता है। अभिनव गुप्त की 'पूर्वापर प्रसंग निरपेक्ष एव एन रस-चर्वणाक्रियते तदेव मुक्तकम्' की व्याख्या के अनुसार भी प्रसंग अथवा वृत्त से अनिबद्ध वह स्वाधीन पद्य मुक्तक है जो अपने काव्यगुणों से पाठक को रसप्लावित करने की क्षमता रखता है। 'ध्वन्यालोक' कार ने भी 'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते' लिखकर मुक्तक को प्रबंध के समकक्ष ही प्रतिष्ठित किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मुक्तक की रचना के लिये कवि में निम्नलिखित गुण आवश्यक माना है—'जिस कवि में कल्पना की समाहारशक्ति के साथ भाषा की समाहारशक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा।'

भारतीय मुक्तक काव्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। इसका प्रारंभ ऋग्वेद से होता है। सर्वश्रेष्ठ मुक्तक रचनाओं की शृंखला में प्राकृत में हाल की 'गाथा सप्तशती', संस्कृत में 'अमरुक शतक' और हिंदी में 'बिहारी सतसई' का उल्लेख किया जा सकता है। इन काव्यों में जीवन के सरस खंडचित्रों के माध्यम से सुकवियों ने मानवीय हृदय को तन्मय करने में समर्थ मनोरम भावस्थितियों एवं मोहक रूपाकृतियों की शतशः मुद्राएँ और भंगिमाएँ शब्दतूलिका से ला उपस्थित की है जो कुशल शब्दचयन, व्यंजना व्यापार, अथवा लाक्षणिक चमत्कार से पाठकों को मंत्रमुग्ध कर लेती हैं।

द्विवेदी युगीन मुक्तक काव्य सर्वत्र रसनिष्पत्ति क्षमता की उत्तम कसौटी पर खरा नहीं उतरता, इसलिये उसके महत्वनिर्धारण के लिये पंडितराज जगन्नाथ का 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' सिद्धांत अधिक उपयुक्त ठहरता है। कुंतक का 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' सूत्र भी उसपर आरोपित करना उपयुक्त रहेगा, क्योंकि इस युग के काव्य में एक नवीन भाषा के ग्रहण और प्रयोग के परिणामस्वरूप रसचर्वण की क्षमता आनी अभी शेष थी। अपनी विषयव्यापकता और जीवन को गांभीर्य के साथ ग्रहण करनेवाली दृष्टि के होते हुए भी द्विवेदी युगीन काव्य

में उस चमत्कारवृत्ति और हल्के मन:प्रसादन के तत्व भी विद्यमान हैं जो उसे पूर्ववर्ती ह्रासशील ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुआ था।

द्विवेदी युगीन मुक्तक काव्य अपने युग और समाज की परिस्थितियों से संबद्ध था और ब्रजभाषा के उस कल्पनाविलासी सामंताश्रित काव्य से बहुत कुछ अपना नाता तोड़ चुका था, जिसे सामाजिक निष्क्रियता, मानसिक रुग्णता और जातीय निर्वीर्यता का ही पर्याय कह सकते हैं। कविता अब राजसभाओं के बाहर आकर गाँव और प्रकृति के परिवेश में विचरने लगी थी। मुद्रण कला के प्रसार के साथ काव्य के सहृदयों का क्षेत्र विस्तृत हो गया। भारतीय समाज के शिक्षित मध्यवर्ग की सभी 'समस्याएँ' और 'चिंताएँ' काव्य का विषय बनने के योग्य स्वीकृत हुईं। संक्षेप में, पूर्ववर्ती काल की संकुचित काव्यमान्यता, दृष्टिकोण, शैली, भाषा, वर्णनपद्धति सभी में सर्वांगीण परिवर्तन घटित हुआ और यह सब इतने आकस्मिक, द्रुत एवं अप्रत्याशित रूप में हुआ कि हिंदी के पाठकगण, ब्रजभाषा कवि के मुहावरे में, 'ठगे से' रह गए।

विदेशी साम्राज्यवादियों को, अपने शासन को सुव्यवस्था देने के लिये, भारतीयों में ज्ञान और शिक्षा का प्रसार करने के लिये, विवश होना पड़ा था और यद्यपि वह सीमित और प्रतिकूल शिक्षा थी, 'उसने नए भावों और गतिशील प्रगतिशील विचारों के लिये भारतीय के द्वार और वातायन मुक्त कर दिए,' और एक नई चेतना का उदय हुआ। उस चेतना का संवाहक मध्यवर्ग था। संपूर्ण 'आधुनिक साहित्य वस्तुत: भारतीय मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना का फल है।'

इस शिक्षित मध्य वर्ग को इस युग में जिन महापुरुषों ने प्रेरणा दी थी, वे थे, धार्मिक क्षेत्र में महर्षि दयानंद और रामकृष्ण परमहंस, आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ तथा राजनैतिक क्षेत्र में तिलक और गोखले। इन महापुरुषों ने इस वर्ग को युग की विषमताओं से जूझने का संदेश दिया। आदर्श-लुप्त समाज धार्मिक रूढ़ियों को येन-केन-प्रकारेण ढो रहा था, आर्थिक समस्याओं का कोई समाधान उपलब्ध न था, कुंठित और हताश मध्य वर्ग में असंतोष की भावना उद्‌बुद्ध हो रही थी, परंतु उसे निर्गमन का मार्ग नहीं मिल रहा था। इस युग के कवि ने उस कुंठा को दूर कर नवस्फूर्ति एवं उत्साह की भावना उत्पन्न कर दी। शतियों से सोए मानस तरंगायित हो उठे।

इस युग के प्रवर्तक, चिंतक और साहित्यकार नवीन शिक्षा प्राप्त करके भी न तो पाश्चात्य सभ्यता से अभिभूत हुए थे और न उसके अंधानुयायी ही बने थे। वे नवीन ज्ञान के आलोक की सहायता से भारतीय इतिहास के तिमिराच्छन्न भागों को प्रकाशित कर अतीत गौरव की अमूल्य राशि को समेट लेने के पक्ष में थे। नवोदित राष्ट्रीयता की भावना आकार ग्रहण करने लगी थी और मातृभूमि का स्तुतिवंदन

क्रमशः उसके प्राकृतिक सौंदर्य, इतिहासवैभव तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के माहात्म्य-वर्णन तथा सजग चित्रण का स्वरूप पाने लगा था। सामंतीय सामाजिक व्यवस्था एवं सभ्यता के जीर्णशीर्ण कुरीति परिधान भार लगने लगे थे। इसलिये वर-कन्या-विक्रय, विधवा प्रथा, नारी दुर्दशा, अछूत समस्या, अंतर्जातीय खान-पान-निषेध आदि स्वाभाविक रूप से कवियों के आक्रोश, क्षोभ तथा उपहास के आलंबन बने। धार्मिक क्षेत्र में साधु संतों के नैतिक ह्रास, चारित्रिक अधःपतन, पाखंड लीला एवं जनसामान्य के अंधविश्वासों की कटु आलोचना की गई। राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अपेक्षित सांप्रदायिक ऐक्य और अंतर्सामुदायिक सद्भाव पर पर्याप्त बल दिया गया एवं रूढ़िपंथियों के समान ही पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण में निमग्न, आत्महीनता के शिकार तथाकथित 'साहब' लोगों को भी तीव्र व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया। समाज के शोषित एवं नग्न बुभुक्षित कोटि कोटि जनसमुदाय के प्रति करुणा का अबाध प्रवाह जैसे फूट पड़ा और स्वदेशी का आग्रह राष्ट्रीय भावना का मूल मंत्र बन गया। राष्ट्रभाषा हिंदी और राष्ट्रलिपि देवनागरी की उन्नति और विकास जहाँ राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यक्रम में संमिलित हो गए थे, वहाँ वे काव्य के विषय भी बने। संक्षेप में, राष्ट्रीय क्षेत्र का कोई भी अंग या पहलू कवियों की दृष्टि से अछूता न बचा। यह विषयविस्तार हिंदी कविता के इतिहास में अभूतपूर्व था।

ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग भारतेंदु काल में ही प्रारंभ हो चुका था। द्विवेदी युग तक आते आते खड़ी बोली अपवादों को छोड़कर सर्वस्वीकृत काव्य-भाषा बन गई। अपवाद स्वरूप कवि वे हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा को ही अपने संस्कारों, के अधिक अनुकूल पाया, जैसे सत्यनारायण कविरत्न और 'रत्नाकर'। कविता में भाषा का बदलना, नया शरीर धारण करना, कायाकल्प है। यह 'कायाकल्प' आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुशल निर्देशन में संपन्न हुआ। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने अशुद्ध, अपरिमार्जित एवं संकर भाषा में निर्मित हो रहे काव्य की त्रुटियों की ओर दृष्टिपात किया और उसे परिष्कृत करने में लग गए। भाषाप्रयोग में अस्थिरता एवं उच्छृंखलता का उन्होंने प्राणपण से निवारण एवं निषेध किया। उनके नेतृत्व में कविता चमत्कारिक और इतिवृत्तात्मक रूप छोड़कर भावात्मक स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ हुई।

द्विवेदी युगीन काव्य में स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का आविर्भाव और विकास रीतिकालीन शास्त्रीय परंपरा के विरोध में हुआ। रीतिकाव्य का क्षेत्र संकीर्ण था। खड़ी बोली काव्य ने उसे विस्तृत बनाया। नायक-नायिका-भेद, अलंकार शास्त्र और सभाचतुर कवियों के प्रिय कवित्त-सवैया-छंदों के बाहर भी कविकल्पना की उड़ान के लिये पर्याप्त आकाश और अवकाश है, यह पुराने कवियों की समझ के बाहर की बात थी। जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में प्रदर्शित किया है, यह

स्वच्छंदतावाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व के कारण विकसित न होने पाया और कविता की धारा संस्कृत साहित्य की पद्धतियों से प्रभावित होकर प्राचीन परिपाटी में उलझ गई।[1] विभिन्न मानवीय भावनाओं को, इस युग में, रस और विभावन पद्धतियों के कठघरे से बाहर निकाला गया; उर्दू, बँगला, संस्कृत के वर्णिक, मात्रिक और लावनी जैसे लोकप्रचलित छंदों के प्रयोग में इस युग के कवि की मुक्त उदार दृष्टि की झलक है। विचारों की उच्चता और भावों की गरिमा ही इनकी काव्योपयुक्तता की कसौटी बन गई। उच्च कोटि की काव्यरचना की 'अल्पता' के पीछे मुख्य कारण नई भाषा की असमर्थता ही थी। भले ही खड़ी बोली के प्रयोग की परंपरा को अमीर खुसरो से जोड़ा जाय, साहित्य की प्रतिनिधि भाषा के रूप में उसका प्रयोग सर्वप्रथम इसी काल में हुआ, और इस काव्य के विकासकाल में ही उसकी शैशव और कैशोर्य अवस्थाएं व्यतीत हुईं।

भाषा के मामले में क्रांतिकारी होते हुए भी द्विवेदीयुगीन कवि अपने दृष्टिकोण में सुधारवादी ही थे। अंग्रेजी शासन को हटाना नहीं, उसके अंतर्गत ही 'होम रूल' अथवा 'स्वायत्त शासन' प्राप्त करना उनमें से बहुतों का उद्देश्य था। वे सरकारी नौकरियों का 'भारतीयकरण' चाहते थे। आर्थिक क्षेत्र में उनकी माँग देशी पूंजीवाद को विकसित करने का अवसर दिलाने की थी और सामाजिक क्षेत्र में भी वे कोई आमूल परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं थे। ईश्वर, धर्म आदि पर उनकी अचल आस्था थी, यद्यपि आर्यसमाज के प्रभाव से वे कर्मकांड, श्राद्ध और तीर्थयात्रा आदि को अवांछित मानने लगे थे। नारियों को समाज में संमानित स्थान देने की आकांक्षा उनमें थी, परंतु उनके आर्थिक अधिकारों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई थी। पाश्चात्य वेश भूषा, रहन सहन और खान पान आदि के विषय में उनके विचार बहुत कुछ 'शुद्धतावादी' थे और उसे वे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे।

इस काल के कवियों ने अपने दृष्टिकोण की विस्तृत व्याख्या के लिये मुख्यत: प्रबंध एवं छोटे बड़े आख्यानक काव्यों का आश्रय लिया। सर्वश्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त रामनरेश त्रिपाठी आदि ने अनेक प्रबंध काव्यों की रचना की, जिनके आधार पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक इतिवृत्त थे। परंतु मुक्तकों का क्षेत्र भी सूना न रहा और कवियों ने मुक्तकों को विभिन्न काव्य शैलियों से समृद्ध किया। पहली शैली परंपरागत अलंकरणप्रधान सौंदर्यवर्णन की थी, जिसमें कवित्त और सवैयों में अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति से आलंबन का स्थूल--रूप--निदर्शन आदि होता था। पंडित नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' का इस शैली का एक छंद द्रष्टव्य है--

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६०३-६०४।

उन्नति के मूल, ऊँचे उर अवनी तल पै,
मंदिर मनोहर, मनोज के युगल हैं।
मेल के मनोरथ मथेंगे प्रेमसागर को,
साधन उत्तुंग युग मंदर अचल हैं।
उद्धत उमंग भरे यौवन खिलाड़ी के ये,
'शंकर' से गोल कड़े कंदुक युगल हैं।
तीनो मत रूखे रसहीन हैं उरोज पीन,
सुंदर शरीर सुरपादप के फल हैं॥

दूसरी शैली उर्दू फारसी से प्रभावित चमत्कारप्रधान कविता की थी। किसी भी मार्मिक विषय को लेकर मुहावरों, वक्रोक्तियों आदि के प्रयोग द्वारा पाठकों का मनःप्रसादन इस शैली का उद्देश्य होता था। इस शैली ने भाषा के परिष्कार और समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया और उसमें सजीवता का समावेश किया। 'चुभते चौपदे' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

जो सुखों की गोदियों के लाल थे,
दिन ब दिन वे हैं दुखों से घिर रहे।
जो रहे अकड़े जगत के सामने
आज वे हैं पेट पकड़े फिर रहे॥
—अयोध्या सिंह उपाध्याय

अन्योक्तियों और सुभाषितों की परंपरा संस्कृत से चली आ रही थी, जिसे मध्य युग में रहीम, वृंद, बिहारी, गिरिधर कविराय और दीनदयाल गिरि ने समृद्ध किया था। इस क्षेत्र में इन कवियों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि अन्योक्ति रचना में भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का विशेष योग रहता है और काव्यभाषा की अपरिपक्व अवस्था मे इनकी उपलब्धि की विशेष आशा नही की जा सकती थी। पं० बदरीनाथ भट्ट रचित सुंदर अन्योक्ति का उदाहरण निम्नलिखित है—

सागर में तिनका है बहता।
उछल रहा है लहरों के बल,
"मैं हूँ" मैं हूँ कहता।
धोखे ही धोखे मे मित्रो,
अपने को खोवेगा।
जिस गोदी मे उछल रहा है,
उसमे ही सोवेगा॥

किसी भी विशिष्ट विषय को ग्रहण कर उसके प्रतिपादन की सहज, सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति, जिसमें यत्रतत्र भावावेश का गहरा पुट होता था, इस काल के मुक्तकों की सर्वप्रमुख शैली रही है। आचार्य द्विवेदी ने घोषित कर दिया था कि 'चींटी से लेकर हाथी पर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, सभी पर कविता हो सकती है।' अतः विभिन्न विषयों पर रचनाओं के, जिनमें बहुत सी शुष्क, विवरणात्मक और साधारण कोटि की थीं, ढेर से लग गए। इसी शैली में प्रथम विश्वयुद्ध का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

तोपें करतीं एक ओर, संहार दनादन,
एक ओर 'गन', छोड़ रहीं गोलियाँ सनासन।
संगीनों की मार, प्राण लेती है पल में,
हिल जाता यमराज-हृदय भी, इस हलचल में।
मनुज पतंगों की तरह, भुनते रण की आग से,
दल के दल हैं काटते, निर्मल होकर साग से।

—सनेही

यह संकेत करना असंगत न होगा कि उत्तम कलात्मक स्तर इस युग के अनेक कवियों की रचनाएँ न प्राप्त कर सकीं, परंतु जिस नवजागरण की स्फूर्ति और चेतना से वे स्पंदित थीं, उन्होंने उन्हें निर्जीव भी नहीं बनने दिया। एकांतिक कला के उपासक चाहे उन्हें उपेक्षणीय समझें, यह स्मरण रखना होगा कि अपने युग में इन कृतियों ने विशाल शिक्षित समुदाय में देशानुराग, स्वाभिमान और सामाजिक चेतना का संचार किया था, राष्ट्रीय कर्मक्षेत्र में पदार्पण करने की प्रेरणा दी थी, और विविध सामाजिक आंदोलनों का मार्ग प्रशस्त किया था। अवश्य ही इस काल के कृतित्व का बहुत कुछ महत्व, ऐतिहासिक है और उसमें कला के अपेक्षाकृत स्थायी तत्व स्वल्प मात्रा में ही हैं।

इस काल में अंग्रेजी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं से कविताओं के अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा में किए गए। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से अनेक अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। पोप, ग्रे, वर्ड्सवर्थ, बॉयरन, स्कॉट, शेक्सपियर और लॉंगफ़ेलो आदि कवियों की कविताओं के भाव सौंदर्य पर मुग्ध होकर हिंदी कवियों ने उनके अनुवाद प्रस्तुत किए। अनुवाद प्रायः शाब्दिक न होकर भावानुवाद होते थे। पं० श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के समूचे काव्यग्रंथों के अनुवाद किए। स्कॉट के 'लव आव् कंट्री' का यह गोपीदत्त वाजपेयी कृत अनुवाद देखिए—

होगा नहीं कहीं भी ऐसा अति दुरात्मा वह प्राणी,
अपनी प्यारी मातृभूमि है जिससे नहीं गई जानी।
मेरी जननी यही भूमि है इस विचार से जिसका मन,
नहीं उमंगित हुआ वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन।
(ब्रीद्स देयर द मैन, विद सोल सो डेड
हू नेधर टु हिमसेल्फ हैथ सेड
फ्राम वंडरिंग आन ए फारेन स्ट्रैंड
दिस इज माई ओन माई नेटिव लैंड)

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० श्रीधर पाठक एवं अन्य कवियों ने संस्कृत के काव्यानुवाद भी प्रस्तुत किए। द्विवेदी जी ने कालिदास के 'ऋतुसंहार' का सुंदर काव्यानुवाद किया और सन् १९०९ में श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'हिंदी मेघदूत' नाम से कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद किया। अनुवाद मूल की टक्कर के नहीं हैं परंतु तत्कालीन भाषा की शक्तिसीमाएँ देखते हुए उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है। पाठक जी कृत यह अनुवाद देखिए—

कुचों पे जो चंदन पंक है लिपी,
पड़े जो भारी हिमस्वेत हार हैं।
नितंब भागों पे स्वर्ण करधनी,
उछाह किसके मन में करे नहीं।

(पयोधराश्चन्दनपंकचर्चितास्तुषार गौरार्पित हार शेखरः।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः, प्रकुर्वते कस्य मनोन सोत्सुकम्॥)
।६। ग्रीष्म वर्णनम्।

सन् १९१४ में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने बँगला से 'विरहिणी' ब्रजांगना का अनुवाद किया। इन अनुवादों के द्वारा एक उल्लेखनीय कार्य यह हुआ कि श्रेष्ट काव्य के अनेक उत्तम उदाहरण कवियों और पाठकों के संमुख आ गए, जिनसे रचना परिष्कार और सुरुचि निर्माण में सुविधा हुई। पाठकों के बौद्धिक क्षितिज का विस्तार हुआ। इस काल के उल्लेखनीय मुक्तक रचनाकारों की सूची इस प्रकार है—

१. पं० श्रीधर पाठक
२. पं० नाथूराम शंकर शर्मा
३. पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी
४. पं० अयोध्यासिंह उपाध्यान 'हरिऔध'
५. राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

६. पं० लोचनप्रसाद पांडेय
७. पं० रामचरित उपाध्याय
८. पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' - 'त्रिशूल'
९. पं० रूपनारायण पांडेय
१०. श्री मैथिलीशरण गुप्त
११. पं० बदरीनाथ भट्ट
१२. पं० रामनरेश त्रिपाठी
१३. ठाकुर गोपालशरण सिंह
१४. पं० मुकुटधर शर्मा पांडेय

पं० श्रीधर पाठक

इस युग के कवियों में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी पं० श्रीधर पाठक का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में आगरा के जोंधरी ग्राम में माघ कृष्ण १४, संवत् १९१६ विक्रमी को हुआ था।

पाठक जी की कुशाग्र बुद्धि का परिचय उनके अध्यापकों को उनकी बाल्यावस्था में ही मिलने लगा था। सन् १८८१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा उन्होंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और सरकारी नौकरी में लग गए। पहले कुछ समय गवर्नमेंट हाई स्कूल, इलाहाबाद में अध्यापक रहे, फिर कलकत्ते में 'सेंसस कमिश्नर' के कार्यालय में नियुक्त हो गए। इस नौकरी के सिलसिले में उन्हें शिमला जाने का अवसर मिला। उनके प्रकृतिप्रेमी हृदय को हिमालय के अभिराम दृश्यों ने मुग्ध कर लिया। रेल की नौकरी के सिलसिले में वे कुछ समय रेवाड़ी रहे, फिर सार्वजनिक निर्माण विभाग में नियुक्त होकर प्रयाग आ गए। इस सेवाकाल में वे अनेक बार नैनीताल गए। उनका स्थानांतरण फिर आगरा हो गया और पदोन्नति करते हुए क्रमश: वे डिविजनल हेड क्लार्क तथा डिप्टी सुपरिंटेंडेंट के पद पर पहुँच गए। सन् १९०१ में उन्हें नवस्थापित 'इरीगेशन कमीशन' के सुपरिंटेंडेंट पद पर ३००) मासिक वेतन पर नियुक्त किया गया। कमीशन टूटने पर अवकाश लेकर वे काश्मीर चले गए जिससे प्रेरित होकर उन्होंने 'काश्मीर सुषमा' काव्य की रचना की। १९१४ ई० में उन्होंने स्थायी रूप से अवकाश ग्रहण कर लिया और प्रयाग में लूकरगंज मोहल्ले में रहने लगे जहाँ 'पद्मकोट' नाम से उन्होंने एक सुंदर बँगला बनवाया था। पाठक जी दीर्घ काल तक श्वास और खाँसी के कठिन रोग से पीड़ित रहे। चिकित्सकों के परामर्श से जलवायु परिवर्तन के उद्देश्य से वे कुछ समय के लिये देहरादून, मसूरी और शिमला भी गए, परंतु विशेष लाभ न होने पर प्रयाग लौट आए। १३ सितंबर, १९२८ ई० को पाठक जी का मसूरी में श्वास रोग से निधन हो गया।

पाठक जी की काव्य रचनाओं का उल्लेख प्रबंध काव्यों के प्रसंग में किया जा चुका है, और प्रबंध काव्यों का विश्लेषण भी। उनकी मुक्तक रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **मनोविनोद** (१८७७ ई०–१९१७ ई०)—कलकत्ता के भारत मित्र प्रेस से १८९२ ई० में प्रकाशित पाठक जी की बाल्यकाल की संपूर्ण रचनाओं का संग्रह है। १९१० ई० में हरिप्रकाश प्रेस, काशी से इसका परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् दूसरे दो भाग और प्रकाशित हुए। 'मनोविनोद' का अंतिम संग्रह १९१७ ई० में ओंकार प्रेस, प्रयाग से छपा था। 'जगत-सचाई-सार,' 'गड़रिया' और 'आलिम' मनोविनोद के पूर्व संग्रहों में संमिलित थे। परंतु बाद को 'जगत-सचाई-सार' अलग प्रकाशित हुआ। 'गड़रिया' और 'आलिम' में पाठक जी की इच्छा कुछ परिवर्तन और संशोधन करने की थी इसलिये उन्हें 'मनोविनोद' में स्थान नहीं दिया गया। 'आर्य गीता', जो पहले स्वतंत्र रूप से लिखी गई थी, बाद में इस संग्रह में संमिलित कर ली गई।

२. **बालभूगोल** (सन् १८८५ ई०)—इसमें प्रारंभिक कक्षाओं की छात्र छात्राओं की सुविधा के लिये सरल शैली में उदाहरण सहित भौगोलिक परिभाषाएँ पद्यों में प्रस्तुत की गई हैं।

३. **एकांतवासी योगी** (सन् १८८६ ई०)—अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ के 'द हरमिट' काव्य का अनुवाद है। मूल के चालीस पदों का अनुवाद पाठक जी ने उनसठ पदों में किया। इस काव्य में पाठक जी ने 'खयाल' और 'लावनी' की लय और तर्ज का सुंदर प्रयोग किया।

४. **जगत-सचाई-सार** (१८८७ ई०)—१०२ पंक्तियों के इस काव्य पर अंग्रेजी कवि 'लांगफेलो' की 'सांग आव् लाइफ' शीर्षक कविता का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इसमें जीवन और जगत् को सत्य रूप में स्वीकार कर कर्म करने की प्रेरणा दी गई है।

५. **ऊजड़ ग्राम** (सन् १८८९ ई०)—यह गोल्डस्मिथ के 'द डेजर्टेड् विलेज' का काव्यानुवाद है। 'ऊजड़ ग्राम' मधुर ब्रजभाषा में रचित कृति है।

६. **श्रांत पथिक**—गोल्डस्मिथ की रचना 'द ट्रैवेलर' का शाब्दिक अनुवाद है।

७. **काश्मीर सुषमा**—इस मनोहर काव्य में पाठक जी ने, उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण करने की पुरानी परंपरा से अलग हटकर, नैसर्गिक सौष्ठव की दिव्य और

यथार्थ छवि अंकित करते हुए हिंदी के तत्कालीन कवियों को एक नया मार्ग दिखलाया।

८. आराध्य शोकांजलि (१९०६ ई०)—इस काव्य में कवि ने अपने दिवंगत पिता के निधन पर संस्कृत श्लोकों में अपनी शोकभावना को अभिव्यक्ति दी, और उनके उदात्त व्यक्तित्व की महिमा का गान किया।

९. जार्ज वंदना—१९११ ई० में सम्राट् जार्ज पंचम और महारानी मेरी के भारत आगमन और 'दिल्ली दरबार' के अवसर पर अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन है। पहले स्वतंत्र रूप से प्रकाशित यह रचना बाद में 'मनोविनोद' के तीसरे भाग में संमिलित कर दी गई थी।

१०. भक्तिविभा (१९१९ ई०)—स्वप्न में अपने स्वर्गीय पिता के दर्शन होने पर कवि ने इस रचना द्वारा उनके प्रति अपनी निष्ठा और भक्ति प्रकट की थी।

११. श्री गोखले प्रशस्ति (१९१५ ई०)—उदारवादी नेता गोखले के निधन पर नौ श्लोकों में कवि ने यह श्रद्धांजलि अर्पित की है। श्लोक मधुर एवं ललित हैं।

१२. श्री गोखले गुणाष्टक (१९१५ ई०)—संमान्य गोखले के निधन पर यह 'अष्टक' पाठक जी ने छप्पय छंदों में लिखा था।

१३. देहरादुन (१९१५ ई०)—देहरादून के प्राकृतिक सौंदर्य का यथार्थपरक शैली में रोचक चित्रण है। यह बरवै छंद में लिखा गया है।

१४. गोपिका गीत (१९१६ ई०)—श्रीमद्भागवत् के दशमस्कंध के अंतर्गत इकतीसवें अध्याय का समश्लोकीय अनुवाद खड़ी बोली में प्रस्तुत किया गया है। रासक्रीड़ा के पश्चात् श्रीकृष्ण के अंतर्धान हो जाने पर गोपिकाओं की प्रेम तन्मयावस्था का वर्णन १९ छंदों में इस गीत में किया गया है।

१५. भारत गीत (१९२८ ई०)—देशभक्ति से प्रेरित जातीय गीतों का यह संग्रह कवि के मार्मिक उद्गारों का दर्शन कराता है। समय समय पर कवि की जो रचनाएँ विविध पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं, उनको यहाँ संग्रहीत किया गया है। १९२८ में 'गंगा पुस्तकमाला', लखनऊ, से 'भारत गीत' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण में इसमें 'भ्रमर गीत' और 'चर गीत' भी जोड़ दिए गए हैं।

कहा जाता है, 'मनोविज्ञान' पर भी पाठक जी ने 'बालभूगोल' के समान कोई रचना की थी। यह रचना उपलब्ध नहीं है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में पाठक जी 'वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और रुचिसंपन्न कवि थे'....'उनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए नए मार्ग भी निकाला करती थी'। यद्यपि पाठक जी ने ब्रज, अवधी, संस्कृत आदि

भाषाओं में भी काव्य रचना की थी, उनको सर्वाधिक महत्व और यश अपनी खड़ी बोली की कविताओं से ही मिला। पाठक जी की कविता की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी व्यापकता है। जातीय भावना, प्रकृतिसौंदर्य, सामाजिक जीवनदर्शन और भक्तिभाव सभी प्रकार के विषयों का ग्रहण उनकी प्रतिभा ने उन्मुक्त दृष्टि से किया है। अपनी सामाजिक कविताओं में हिंदुओं की अधोगति का उन्होंने विशद वर्णन किया है। 'विधवा दुर्दशा', 'बाल विवाह', 'अशिक्षा' आदि सामाजिक दोषों को दूर करने के लिये अपनी ओजस्वी वाणी में वे हिंदुओं का उद्बोधन कर रहे हैं। अपनी देशभक्ति विषयक कविताओं में कवि ने भारत भूमि के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की है, भावाकुल दशा में उसका अभिनंदन किया है, उसके अतीत गौरव का यशोगान करते हुए वर्तमान शोचनीय अवस्था पर अपनी व्यथा प्रदर्शित की है और देश की आंतरिक दशा एवं पराधीनता पर अश्रुविमोचन करते हुए स्वराज्य की कामना भी की है। पाठक जी की राजभक्ति विषयक कविताओं में अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी है, परंतु ये कविताएँ उनके व्यक्तित्व की शालीनता की द्योतक हैं, दासता वृत्ति से दूषित नहीं।

पाठक जी ने प्रकृति का संवेदनात्मक और चित्रात्मक, दोनों शैलियों में वर्णन किया है। प्रकृति के रूप में उनकी प्रतिभा ने अपनी सहानुभूति के प्रसरण के लिये एक नवीन क्षेत्र अन्वेषित किया। रीति कालीन काव्य में भी प्रकृतिसौंदर्य के विश्वसनीय एवं मोहक चित्र उपलब्ध थे परंतु निश्चय ही वे शास्त्रबद्ध उद्दीपन विधान के अंतर्गत प्रस्तुत किए गए थे, स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं।

पाठक जी की कविताओं में उनकी धार्मिक भावना परंपरा से कुछ भिन्न है। उनके अनुसार मनुष्य को कर्मशक्ति ईश्वर के द्वारा प्राप्त होती है इसलिये हरि स्मरण करते हुए भी स्वावलंबन के मार्ग पर चलना ही मनुष्य के स्वाभिमान के अनुरूप है। मानव मात्र को निरंतर कर्मशील रहकर ईश्वर के सृष्टि निर्माण के उद्देश्य को पूर्ण करने में प्रवृत्त रहना चाहिए।

पाठक जी की शैली यथार्थपरक और सरल है और जहाँ उसमें अपने हृदयगत उल्लास, आवेश आदि के संप्रेषण की क्षमता है वहाँ दृश्यगत रुचिरता को अंकित करने की भी खासी शक्ति। उनकी शैली के कई रूप हैं। कहीं वह ब्रजभाषा की शब्दावली से आवृत है, कहीं सहज बोलचाल की भाषा का प्रवाह लिए हुए है, तो कहीं संस्कृत की तत्सम शब्दावली से संपुष्ट होकर विचित्र गरिमा से मंडित दृष्टिगत होती है। आत्मनिष्ठ कविताओं में उस प्रकार की सानुप्रासिकता और सामासिकता नहीं लक्षित होती, जैसी राष्ट्रवंदना आदि विषयनिरूपक कविताओं में। प्रकृतिवर्णन की कविताओं में ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। अनुप्रासप्रेम में अनेक

शब्दों का विकृत रूप (गती, मती, उन्नती, सृष्टी) उनकी भाषा में मिलता है। काव्य मुख्यत: वर्णनात्मक होने के कारण उसमें अलंकारों का प्रयोग विरल है।

उनके काव्यशिल्प का क्रमिक विकास स्पष्ट लक्षित होता है। प्रसंगानुकूल प्रसाद अथवा ओज गुण उनकी विशिष्टता है। अपने अनुवादों से उन्होंने खड़ी बोली की कथन भंगिमाओं को समृद्ध किया और नए विषयों का समावेश कर कविता क्षेत्र को वैविध्ययुक्त और वैचित्र्यपूर्ण बनाया। व्याकरण की दृष्टि से कुछ असाधु और चिंतनीय प्रयोग उनकी भाषा में मिल जायँगे, परंतु उनकी रचनाओं से खड़ी बोली काव्य को जो शक्ति और आत्मविश्वास प्राप्त हुआ उसके समक्ष ये दोष नगण्य प्रतीत होते हैं। रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

बीता कातिक मास शरद का अंत है।
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमंत है॥
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये।
खल्यान के काम से किसान निबट गये॥

× × ×

जहाँ तहाँ रहँट परोहें चल रहे,
बरहे जल के चारो ओर निकल रहे।
जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी,
दिन दिन बढ़ने लगी, त्रिपुल शोभा सनी।

(हेमंत)

× × ×

प्रणमामि सुभग-सुदेश-भारत, सतत-मम-मन रंजनम्।
मम देश, मम सुखधाम-मय, तन प्राण धन-जन-जीवनम्।
मम तात-मात-सुतादि प्रिय, निज बंधु-गृह-गुरु - मंदिरम्।
सुर-असुर-नर-नागादि - अगनित - जाति - जनपद सुंदरम्॥

(भारत वंदना)

हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ' लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है।
अलक्ष्य पदों में गत सुनाती, तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है॥

(व्योम वीणा)

पं० नाथूराम शंकर शर्मा

शंकर जी का जन्म चैत्र शुक्ल १५, संवत् १९१६ वि० को अलीगढ़ के हरदुआ-गंज में गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम रूपराम शर्मा

और माता का जीवनी देवी था। शंकर जी की माता इन्हें डेढ़ वर्ष का छोड़कर चल बसी थीं। मातृ-सुख-वंचित शिशु का लालन पालन नानी और बुआ ने किया। प्रारंभ में हिंदी, उर्दू पढ़ने के पश्चात् शंकर जी ने फारसी में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। शंकर जी ने १३ वर्ष की अल्पावस्था से ही कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था और किशोरावस्था में ही मुशायरों में उर्दू कविता पढ़ने के लिये आमंत्रित किए जाने लगे थे।

जीविका की खोज में वे कानपुर पहुँचे और नहर विभाग के दफ्तर में काम करते हुए सब-ओवरसियर हो गए। कानपुर में महर्षि दयानंद के चरित्र से प्रभावित होकर आप 'आर्यसमाज' में आए और प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य देवदत्त शास्त्री से संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की। पं० प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क से ये हिंदी साहित्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए और कभी कभी तो उनके 'ब्राह्मण' पत्र का संपादन भी शंकर जी को ही करना पड़ता था। सात वर्ष कानपुर में रहकर स्वाभिमान के प्रश्न पर आपने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और अनूपशहर चले आए। वहाँ आयुर्वेद का अध्ययन कर अपने ग्राम हरदुआगंज में चिकित्सा कार्य प्रारंभ कर दिया। वे एक कुशल वैद्य के रूप में शीघ्र ही विख्यात हो गए, और फिर आजीवन इसी व्यवसाय में रहे।

शंकर जी के दो पुत्र उमाशंकर तथा रविशंकर और एकमात्र पुत्री महाविद्या का देहांत कवि की वृद्धावस्था में, डेढ़ वर्ष के अंतर्गत हो जाने पर, उन्हें बड़ा मानसिक क्लेश हुआ, और वे प्रत्येक क्षण मृत्यु का आवाहन करने लगे। उनके परम मित्र पद्मसिंह शर्मा का देहांत भी उसी साल में हुआ था। देहांत से साढ़े चार मास पूर्व भली चंगी दशा में अपनी जन्म जयंती के दिन इन्होंने कहा—

आयु तिहत्तर हाय न भोगी।
वर्ष गाँठ अब और न होगी।

ऐसा ही हुआ। भाद्रपद कृष्ण ५, रविवार, संवत् १९८९ वि० को उनका स्वर्गवास हो गया। उनके पुत्र पं० हरिशंकर शर्मा हिंदी के विख्यात पत्रकार और सुकवि हैं।

शंकर जी समस्यापूर्ति बहुत अच्छी करते थे जिनके पुरस्कार स्वरूप उन्हें सोने चाँदी के बीसों पदक, घड़ी, पगड़ी, दुशाले आदि प्राप्त हुए थे। पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में 'शंकर जी प्रतासभीरु थे।' बड़े बड़े नरेशों के निमंत्रण पर भी कभी उनके दरबारों में नहीं गए। केवल पाँच दिन के लिये वे छतरपुर अवश्य गए थे, परंतु तत्कालीन महाराज विश्वनाथ सिंह के दीवान प्रसिद्ध साहित्यकार रावराजा श्यामबिहारी मिश्र के आग्रह पर। देश के विद्वानों की शंकर जी और उनकी कविता

के विषय में बड़ी ऊँची संमतियाँ रही हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनकी प्रशंसा में यह दोहा लिखा था —

रसिक कुमुद-बन-कलाधर, प्रतिभा-पारावार।
कविता-कानन-केसरी, सहृदयता आगार॥

कालिदास को भी न बख्शनेवाले आचार्य द्विवेदी की इस संमति का महत्व न्यून नहीं है। राजा लक्ष्मण सिंह ने उन्हें 'भारत प्रज्ञेंदु' की उपाधि दी थी। प्रसिद्ध विद्वान् श्री जार्ज ग्रियर्सन, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री ग्राउस, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पं० नारायणप्रसाद 'बेताब,' पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पं० गोपीनाथ कविराज, प्रो० रामदास गौड़ आदि ने मुक्त कंठ से उनकी कविता की प्रशंसा की थी। काशी के अपने युग के महान् संस्कृत विद्वान्, व्याकरण, काव्य, दर्शन, पुराण, इतिहास, सहित्य आदि के प्रकांड पंडित पं० काशीनाथ जी महाराज ने शंकर जी को निम्नलिखित आशीर्वचन प्रेषित किए थे—

शंकर प्रणमन् काशीनाथोऽहं द्विज सत्तमः।
काव्य-दर्शन संगात–चमत्कारो निवेदये।
नूनं 'सरस्वती' नाथूराम शंकर पंडितः।
अन्यथेदृश पद्यानि को निर्ममीत मानवः॥

प्रेमचंद जी ने इनके काव्य और चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा था 'शायद कोई जमाना आए कि हरदुआगंज हमारा तीर्थ स्थल बन जाए … भारतीय विनम्रता उनमें (शंकर जी में) इतनी थी कि महाकवि होते हुए भी अपने को कवि कहने में उन्हें संकोच होता था। न नाम की भूख थी, न कीर्ति की प्यास।' अपने एक मुद्रित भाषण में पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की थी—'वे (शंकर जी) शब्दों के स्वामी, भाषा के अधीश्वर, मुहावरों के सिरजनहार और साहित्य के अखाड़े के अक्खड़ पहलवान थे। … राष्ट्र को उस नेत्रोन्मीलन के युग में, प्रभात की उस वेला में, प्रथम रविरश्मिस्नात उस घटिका में जिन विहंगों ने जागरण के, विनाश के और नवनिर्माण के गीत सुनाए, उनमें पूजनीय स्वर्गीय पं० नाथूराम शंकर शर्मा भी थे।'

शंकर जी को उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि 'अकबर' की शायरी पसंद थी। उनकी मृत्यु पर उन्होंने यह रुबाई लिखकर उनके पुत्र को भेजी थी —

न रखना हो क़यामत का,
न ज़ाहिर हो पयंबर का।
सकूनत पाक जन्नत में,
मिले अल्लाह अकबर को॥

शंकर जी कोरे कवि मात्र नहीं थे। उनकी गांधी जी के प्रति अपूर्व श्रद्धा थी, और उन्होंने रौलट बिल के विरुद्ध जन आंदोलन का नेतृत्व और संचालन भी किया था। भारत केसरी लाला लाजपतराय और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक से भी वे बहुत प्रभावित थे। लोकमान्य की मृत्यु पर एक कवित्त मे शंकर जी ने लिखा था —

पूरे परतंत्र को स्वराज्य दान देगा कौन,
गोरों ने दया का अधिकारी भी कहा नहीं।
मुकुट विहीन जिसे देखते हैं आज, उस
भारत के भाल पै 'तिलक' भी रहा नहीं ॥

परोपकार और निस्पृहता उनमें कूट कूटकर भरी थी। पीयूषपाणि वैद्य होते हुए भी उन्होंने जनता की प्रायः निःशुल्क चिकित्सा की और धनार्जन के फेर में न पड़े। निःस्वार्थ भाव और स्नेह तो इतना था कि जब 'अनुराग रत्न' ग्रंथ प्रकाशित हुआ तो उन्होंने उसे पं० पद्मसिंह शर्मा को समर्पित किया। प्रकाशन के पूर्व किसी राजा की ओर से संदेश आया कि यदि ग्रंथ उन्हें समर्पित किया जाए तो वे पाँच सहस्र रुपया प्रकाशन व्यय के अतिरिक्त देंगे, परंतु शंकर जी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। वे बड़े विनोदी भी थे। बुढापे में आँखों में नीला मोतिया उतर आया, तो दिल्ली में किसी डाक्टर को दिखाने गए। पं० पद्मसिंह शर्मा भी साथ थे। डाक्टर ने निराशा व्यक्त की तो शर्मा जी उदास हो गए परंतु शंकर जी ने तुरंत एक दोहा बनाकर उनकी खिन्नता दूर कर दी —

हाथ जोड़ बूढ़े शंकर से कहती है कविता बाला।
होकर 'सूर' भजो 'केशव' को लेकर 'तुलसी' की माला ॥

शंकर जी अपने सिद्धांत के इतने दृढ़ थे कि देशहित के लिये कविता रचने का व्रत ले लेने पर उन्होंने अपने अत्यंत सरस, श्रृंगार रस के उच्च कोटि के नख-शिख ग्रंथ 'कलित कलेवर' को स्वयं नष्ट कर दिया था। जब 'सरस्वती' में शंकर जी की खड़ी बोली की कविताएँ प्रकाशित हुईं तो प्रसिद्ध विद्वान् सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने एक पत्र में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को लिखा—"यह 'शंकर' जी कौन हैं? इनकी कविताएँ पढ़कर मैंने अपनी संमति बदल दी है और अब मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि खड़ी बोली में भी सुंदर और सरस कविताएं हो सकती हैं।"

शंकर जी को हिंदी, हिंदू आदि शब्द नापसंद थे। वे सदैव 'आर्य', 'आर्य भाषा' आदि शब्दों का प्रयोग करते थे। यहाँ तक कि अनेक बार अनुरोध किए जाने पर भी, हिंदी शब्द जुड़ा होने के कारण, उन्होंने 'हिंदी साहित्य संमेलन' का सभापतित्व स्वीकार नहीं किया। हाँ, उसके अंतर्गत अखिल भारतवर्षीय कवि संमेलन का सभापतित्व उन्होंने एक बार किया था।

शंकर जी ने जीवन भर किसी सभा में किसी व्यक्ति की वंदना अपनी लेखनी के द्वारा नहीं की। एक मात्र अपवाद महात्मा गांधी थे। शंकर जी के आमंत्रण पर जब गांधी जी हरदुआगंज आए तो अपनी ओजस्विनी कविता में कवि ने उनका हार्दिक स्वागत किया, जिसका एक दोहा इस प्रकार था—

श्री गाँधी गुरु का फले असहयोग मय मंत्र।
भारत लक्ष्मी नाथ हो पाय स्वराज्य स्वतंत्र॥

शंकर जी आशुकवि थे और अनुवाद करने में तो इतने सिद्धहस्त थे कि एक बार पं० पद्मसिंह शर्मा के अनुरोध पर एक शेर का केवल चार मिनट में यह सुंदर अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत किया था—

मूल शेर— इश्क अव्वल पर दिले माशूक पैदा मी शवद।
तान सोजद शमग्र के परवाना शैदा मी शवद॥

अनुवाद— पहले तिय के हीय में उपजत प्रेम उमंग।
आगे बाती बरत है, पीछे जरत पतंग॥

रचनाएँ

'शंकर सरोज', 'अनुराग रत्न', 'गर्भ रंडा रहस्य', 'गीतावली', 'कविता कुंज', 'कलित कलेवर'[1] और 'शंकर सतसई'[2]। इनकी पूरी काव्यावली 'शंकर सर्वस्व' नाम से प्रकाशित हुई।

काव्य की विषयवस्तु, भाव एवं छंदविधान सभी दृष्टियों से इनके काव्य में पर्याप्त नवीनता है। इनकी अधिकांश कविता का विषय समाज एवं धर्म है। सामाजिक अन्याय, पाखंड और अंधविश्वास का इतना सशक्त विरोध इस युग के किसी अन्य कवि में उपलब्ध नहीं है। यत्र तत्र इनका व्यंग अत्यंत तीक्ष्ण हो गया है। पराधीनता, आर्थिक वैषम्य और अशिक्षा के कुपरिणाम स्वरूप राष्ट्र की शोचनीय अवस्था का शंकर जी ने मार्मिक चित्रण किया है। इनमें संत कवियों का सा अक्खड़पन है इसलिये डा० सुधींद्र ने इन्हें 'खड़ी बोली के कबीर' की उपाधि दी है। वीरत्व का ओजस्वी उद्गार भी इनमें उपलब्ध है, और शृंगार वर्णन में इनके कवित्त रीति काल के श्रेष्ठ कवियों से टक्कर ले सकते हैं।

आर्यसमाज के सिद्धांतों का इनकी आध्यात्मिक विचारधारा पर स्पष्ट प्रभाव है। वैदिक दर्शन और विचारों का शंकर जी ने अपनी कविता में शक्ति से प्रति-

---

१. 'कलित कलेवर' कवि ने स्वयं नष्ट कर दिया था। और
२. 'शंकर सतसई' दोहों का सुंदर संग्रह दुर्घटनावश भस्मसात् हो गई थी। इसके नष्ट होने पर कवि को बहुत दुःख हुआ था।

पादन किया। आलंबन रूप में प्रकृति का चित्रण आपकी 'बसंत विकास', 'निदाघ निदर्शन' आदि कविताओं में है।

अनुप्रासपूर्ण शब्दविन्यास और चमत्कारपूर्ण उक्तिवैचित्र्य के कारण इनका कलापक्ष समृद्ध और संपन्न है। पिंगल के ये आचार्य थे। केशव के समान इनकी कविता में भी छंदवैचित्र्य खूब है। पिंगल के नियमों का अनुशासन स्वीकार कर चलने में ये खड़ी बोली के कवियों में अद्वितीय थे; यहाँ तक कि मात्रिक छंदों में इन्होंने वर्णसमानता के कठोर नियम का पूर्ण पालन किया था। श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' ने उस युग के कवियों में केवल इन्हें ही इस कसौटी पर निर्दोष पाया था और इसीलिये अपनी 'पद्यपरीक्षा' शीर्षक पुस्तक शंकर जी को समर्पित की थी। भावगांभीर्य होने पर भी इनके काव्य में क्लिष्टता दोष नहीं है। शंकर जी की खड़ी बोली का रूप अत्यत परिष्कृत और प्रांजल है।

आर्यसमाज के प्रभाव के कारण कहीं कहीं इनकी शैली खंडन मंडन की पद्धति पर आरूढ़ होकर शुष्क और नीरस हो गई है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के इतिहास मे इनकी पदावली को 'उद्दंडतायुक्त' कहा है। भाषा मे कहीं कहीं ब्रज के शब्दों और क्रियापदों का प्रयोग खटकता है। नवीन शब्दो के निर्माण मे भी शकर जी ने पर्याप्त स्वच्छंदता बरती है और संधिप्रयोग मे संस्कृत व्याकरण का अनुकरण किया है जो खड़ी बोली की प्रकृति के मेल में नहीं है, जैसे—'चहुँ दिशि विशुद्धय दौड़ते दरस रहे हैं' तथा 'भानूदय से पहले न्हाना' अथवा 'अन्योदक अवलोक तृषातुर चोंच न खोलें।'

मुहावरो के कुशल और सटीक प्रयाग, शैली के कसाव एवं लक्षणा व्यंजना शक्तियों के उचित उपयोग के कारण शंकर जी की भाषा अपने युग में आदर्श कही जा सकती है। नादसौंदर्य और ध्वन्यात्मकता के गुणों से भी वह सुशोभित है और अलकारो के सुष्ठु समावेश ने उसके सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है। उनके काव्य के कुछ उत्तम उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं—

धाय, धाय धूमरे धुमारे कारे धाराधर।
बरसें न, शोणित वियोगिनि को रीते जात॥
मेरे अंग अंग में, मिलाप की उमग उठे।
ढंग अब शंकर अनंग के न जीते जात॥
आली तड़िता की भाँति, तड़प तड़प रहौं।
हाय ऐसे औसर विलास-रस-रीते जात॥
आप घर आवैं, न विदेस में बुलावैं मोहिं।
प्यारे बिन सारे दिन पावस के बीते जात॥

× × ×

बेटियों को बेचे, करे बार-वधुओं से प्यार।
तो भी न बिरादरी से न्यारा किया जायेगा॥
वारुणी उड़ाता, मांस खाता है, गिराता गर्भ।
ऐसे कुलवीर से न दंड लिया जाएगा॥
चोरी करता है, झूठ बोले, भोगता है जेल।
साथ उसके भी पंच प्याला पिया जाएगा॥

× × ×

'भट्ट' भूल से भी जो अछूतों की छुएगा छाक,
हाँ, न हुक्कड़ों में उसे हुक्का दिया जाएगा।

× × ×

देवनागरो की राम-रेंरें को प्रणाम करो,
बूढ़ी बोलियों का मान माथे न बढ़ाइए।
फारस लौं फारसी की छार सी उड़ाते रहो,
उर्दू के दायरे का दौर न बढ़ाइए।
बाप ने पढ़ी थी, अब आपने पढ़ी है, वही,
प्यारी राजभाषा बालबच्चों को पढ़ाइए,
मिस्टर कहाओ 'भट्ट' लंडन की लाड़िली को,
ऊल ऊल उन्नति की चोटी पैं चढ़ाइए।

× × ×

देख लो शंकर बड़ा दिन आज है,
साल भर के वक्त का सिरताज है।
साहिबे-दौलत हँसाते, हंस रहे,
रो रहे वे घर न जिनके नाज है।

× × ×

रस पाट चुका लघु जीवन का, पर लालच हा न खुला मन का।
गत-शैशव उद्धत ऊल गया, उमँगा नवयौवन भूल गया।
उपजाय जरा तन झूल गया, अटका, लटका सटका पनका।
कुल में सविलास विहार किए अनुकूल घने परिवार किए।
विधि के विपरीत विचार किये, धर ध्यान बधू-बसुधा-धन का।
पिछले अपराध पछाड़ रहे, अब के अघ दोष दहाड़ रहे।
उर दुःख अनागत फाड़ रहे, मन का भय शोक हुताशन का।
रचि ढोंग प्रपंच पसार चुका, सब ठौर फिरा, झख मार चुका।
शठ 'शंकर' साहस हार चुका, अब तो रट नाम निरंजन का।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में वैशाख शुक्ल ४, संवत् १९२७ वि० को और देहावसान वहीं, पौष कृष्ण ३०, संवत् १९९५ वि० को हुआ। द्विवेदी जी ने इंटरमीडियट तक की शिक्षा प्राप्त की थी। परंतु स्वाध्याय के कारण उनका पांडित्य अगाध था। वे संस्कृत, मराठी आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। अनेक नौकरियाँ करने के बाद सन् १९०३ में उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन भार ग्रहण किया, और यहीं से उनके हिंदी विषयक ऐतिहासिक कार्य का प्रारंभ होता है। 'सरस्वती' संपादक के रूप में उन्होंने हिंदी भाषा के शुद्धीकरण और परिष्कार में अमूल्य योग दिया। हिंदी लेखकों ने भाषा के प्रयोग में भारतेंदु युग में जिस स्वेच्छाचारिता का अनुसरण किया था उसे अनुशासित लेखन का स्वरूप प्रदान कर उन्होंने हिंदी भाषा की अद्वितीय सेवा की। सन् १९२० तक वे 'सरस्वती' का संपादन करते रहे। वे उत्तम कोटि के कवि नहीं थे, परंतु उनकी रचनाएँ भाषा का स्वच्छ और स्वस्थ रूप अन्य कवियों के सामने आदर्श के रूप में रख रही थीं। श्री मैथिलीशरण गुप्त उन्हें अपना गुरु मानते थे क्योंकि उनकी अधिकांश प्रारंभिक रचनाओं की भाषा का सुधार द्विवेदी जी ने किया था।

द्विवेदी जी की मौलिक काव्यकृतियों में 'देवी-स्तुति-शतक', 'कान्यकुब्जावली व्रतम्', 'नागरी', 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप', 'काव्य मंजूषा' (संग्रह), 'सुमन' (संग्रह) आदि हैं। 'कविता-कलाप' उनके द्वारा संपादित तत्कालीन कवियों का कविता संग्रह है। द्विवेदी जी ने भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक', जयदेव के 'गीतगोविंद', कालिदास के 'ऋतुसंहार' आदि का काव्यानुवाद भी किया। अंग्रेजी से बायरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद भी इन्होंने प्रस्तुत किया।

मातृभूमि प्रेम, स्वदेशी, हिंदीप्रेम एवं तत्कालीन सामाजिक दशा उनकी कविता के प्रमुख विषय हैं। 'बलीवर्द' और 'जंबुकी न्याय' आदि उनकी अन्योक्ति-प्रधान व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं। उनके काव्य की शैली वर्णनात्मक है। उनकी अपनी प्रारंभिक रचनाओं में भाषासंकरता का दोष विद्यमान है, परंतु परवर्ती रचनाओं में इसका निराकरण करने में उन्हे सफलता प्राप्त हुई है। प्रारंभिक कविताओं की कुछ पंक्तियाँ इस कथन के समर्थन में द्रष्टव्य है—

'देख देख कर उसे मनीमन फूले नहीं समाते हैं।

(बलीवर्द)

जिसकी कीर्तिध्वजा अभी तक सतत फिरे है फहरानी।

(विधिविडंबना)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में संकेत किया है कि मराठी भाषा का प्रभाव होने के कारण द्विवेदी जी की भाषा रूक्ष और कर्कश है।[१] मराठी में बँगला की तरह 'कोमल-कांत–पदावली' का अभाव है, इसलिये द्विवेदी जी की भाषा भी बहुत बड़ी सीमा तक गद्यात्मक हो गई। द्विवेदी जी के काव्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

सुरम्य रूपे, रस-राशि - रंजिते
विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानंद-विधायिनी महा
कवींद्र-कांते कविते ! अहो कहाँ ?

(हे कविते)

यदि न देखना चाहे कोई मूर्तिमान अद्भुत अभिमान।
बलीबर्द ! वह रूप तुम्हारा देखे मत्त मतंग समान।
अहो भाल कंधा विसाल वर शैलशिखर सम शीश महान।
भूमि भंग कर अहो शृंग युग अनि उत्तुंग अंग बलवान।

(बलीबर्द)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

रचनाएँ—'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त उपाध्याय जी की मुक्तक कविताओं के संग्रह 'पारिजात', 'चभते चौपदे', 'पद्यप्रसून', और 'बोलचाल' आदि हैं। आपके ब्रजभाषा के छंदों के संग्रह 'रस-कलश' 'प्रेमांबु वारिधि', 'प्रेमांबु प्रवाह' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुए थे।

हरिऔध जी का बाल्यकाल भारतेंदु युग से प्रारंभ होता है। अनेक वर्षों तक वे ब्रजभाषा में कविता लिखते रहे। खड़ी बोली की उनकी मुक्तक कविताएँ सन् १९०० से प्रारंभ होकर 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'प्रभा', 'श्री शारदा' आदि पत्रिकाओं में निकलती रही। खड़ी बोली के लिये उन्होंने पहले उर्दू के छंदों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा क्योंकि उर्दू के छंदों में खड़ी बोली अच्छी तरह मँज चुकी थी।

'प्रिय प्रवास' की रचना के पश्चात् हरिऔध जी ने अपनी मुक्तक कविताएँ सरल और सुगम खड़ी बोली में लिखीं, क्योंकि 'प्रिय प्रवास' की तत्समप्रधान शैली की बहुत आलोचना हुई थी। बोलचाल की इस भाषा में मुहावरों के कुशल प्रयोग ने और चुस्ती ला दी। उर्दू के प्रचलित शब्दों का समावेश कवि ने अपनी भाषा

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६१०।

में नि:संकोच भाव से किया है। 'प्रिय प्रवास' की पदावली की सामासिकता भी यहाँ कहीं दृष्टिगत नहीं होती।

आगे मुक्तक काव्य में कवि लोकहित एवं समाजसुधार के उद्देश्यों से प्रेरित प्रतीत होता है। मानवीय उच्चादर्शों की मार्मिक व्याख्या करते हुए पाठकों को उनकी ओर प्रेरित करने का मंतव्य 'धर्मवीर' और 'कर्मवीर' जैसी कविताओं में बहुत स्पष्ट है। नारियों की दुर्दशा पर करुणा और क्षोभ, आक्रोश आदि की अभिव्यक्ति 'चौपदों' में प्रभावशाली रूप से की गई है। शिक्षा, राष्ट्रीयता आदि विषयों पर लिखने में भी कवि का मन खूब रमता था। कुछ कविताएँ 'होली', 'दशहरा' आदि उत्सव समारोहों पर रचित हैं जिनसे कवि की लोकधर्मी रुचि का परिचय मिलता है। कविता के द्वारा बालकों को शिक्षा और आनंद प्रदान करने का कर्तव्य भी हरिऔध जी ने निभाया। उनकी बालकोपयोगी कविताएँ उपदेशप्रधान एवं मनोरंजक हैं।

हरिऔध जी भाषा के मर्मज्ञ थे। भाषा की सरल कठिन सभी प्रकार शैलियों पर उनका असाधारण अधिकार था। एक आलोचक के शब्दों में "भाषा पर इनका सर्वाधिकार देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है—'देखो लड़को बंदर आया, एक मदारी लाया' से लेकर 'रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका, राकेंदु बिंबानना' सरीखी भाषा लिखना हरिऔध जी का ही काम है।" मुक्तक काव्य में कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिनमें भाषा का अंत्यानुप्रासपूर्ण पुराने ढर्रे का आलंकारिक रूप मिलता है। ऐसी रचनाएँ काल की दृष्टि से प्रारंभ की हैं और भावात्मक दृष्टि से भी उन्हें उत्कृष्ट कोटि में नहीं रख सकते। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

विघातिनी है गुरुता स्वदेश की
विलोपिनी है कुल - वंदनीयता।
विनाशिनी है सुख शांति जाति की
अपूज्यता, पूज्य – अपूज्य – पूज्यता॥

परंतु कालांतर में कवि की मुक्तक शैली में अद्भुत परिमार्जन और निखार आ गया, और उक्तिवैचित्र्य के संनिवेश ने अभिव्यंजना शैली को विचित्र प्रभाव एवं गरिमा प्रदान की। विरोधमूलक अलंकारों ने भी उसके कथन सौंदर्य में वृद्धि की है। लेकिन कहीं कहीं ऊहा और अतिरेक के प्रभाव से अस्वाभाविकता और भावापकर्ष के दोष भी आ गए हैं। जैसे—

हम नहीं हैं, फूल जो वे दें मसल,
हैं न ओले, जो हवा लगते गले।

हैं न हलुवे, जाय जो कोई निगल,
हैं न चींटी, जो हमें तलवे मलें।

लेकिन जहाँ कवि ने अकृत्रिम रूप से और शब्दचमत्कार का मोह छोड़कर अपने भावों को हार्दिकता के साथ व्यक्त किया है वहाँ उसकी रचना मनोरम और मार्मिक है। कतिपय उदाहरण दर्शनीय हैं—

हिंदुओ ! जैसी तुम्हारी है बनी,
बेबसी ऐसी बनी किसकी सगी ?
जागने पर जो लगी ही सी रही,
कब किसी की आँख है ऐसी लगी।

+ + +

जो कलेवा काल का है बन रहा,
वह बने खिलती कली का भँवर क्यों ?
मौर सिर पर रख, बनी का बन बना,
बेहयाओं का बने सिरमौर क्यों ?

+ + +

आज वे हैं जान के गाहक बने,
मुँह हमारा देख जो जीते रहे।
हाथ धो वे आज पीछे हैं पड़े,
जो हमारा पाँव धो पीते रहे।

+ + +

मर्द चाहे माल ही चाबा करें,
औरतें पीती रहेंगी माँड़ ही।
क्यों न रँड़ुवे ब्याह कर लें बीसियों,
पर रहेगी राँड़ सब दिन राँड़ ही।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, संवत १९२५ वि० को जबलपुर मे हुआ था। इनके पिता राय वंशीधर जबलपुर में वकालत करते थे। यह जाति से श्रीवास्तव कायस्थ (दूसरे) थे। 'राय' इनके परिवार को मुगल बादशाहों के काल से प्राप्त पदवी थी। 'पूर्ण' जी के पूर्वज कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील के भदरस ग्राम के रहनेवाले थे। इनका परिवार अत्यंत सुसंस्कृत और प्रतिष्ठित था और उसका अपनी शिक्षा और योग्यता के कारण अपने निवासस्थान में बड़ा संमान था।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के पिता का देहांत पूर्ण जी की शैशव अवस्था में ही हो गया था। इनके चाचा राय लीलाधर ने इनका पालन पोषण किया। ये बाल्य-काल में ही बड़े प्रतिभाशाली और विद्याप्रेमी थे। धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में इन्हें बड़ी रुचि थी, और छोटी अवस्था से ही ये कविता लिखने लगे थे। शिक्षा काल में अपनी योग्यता के कारण इन्हें सदैव कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त होता था। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बी० ए० और बी० एल० की उपाधियाँ प्राप्त करके कानपुर में वकालत प्रारंभ की। इस व्यवसाय में उन्हें बड़ी सफलता मिली और वे अपने समय के कानपुर के दीवानी के सर्वोत्तम वकीलों में माने जाते थे।

'पूर्ण' जी एक समाजसेवी व्यक्ति थे। कानपुर के सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने सक्रियता से भाग लिया और बड़ी ख्याति अर्जित की। अनेक सभा सोसाइटियों के वे पदाधिकारी थे। 'पूर्ण' जी सनातन धर्म के अनुयायी थे, और आर्यसमाज की विचारधारा को संकीर्ण मानते थे। उन्होंने ब्रह्मावर्त्त-सनातनधर्म-महामंडल की स्थापना की। इस संस्था ने कानपुर में सनातनधर्म कालेज स्थापित किया। भारतीयों पर दक्षिणी अफ्रीका में होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध भारत में जब आक्रोश और आंदोलन हुआ, 'पूर्ण' जी ने भी उसमें सहयोग दिया। इस उद्देश्य से कानपुर में आमंत्रित युक्तप्रांतीय राजनैतिक संमेलन के वे स्वागताध्यक्ष बनाए गए। १९१५ ई० में उन्होंने हिंदी साहित्य संमेलन के गोरखपुर अधिवेशन की अध्यक्षता भी की थी।

उदारवादी 'पूर्ण' जी राजनीति में नरम दल के अनुयायी थे। इसलिये श्री गोपाल कृष्ण गोखले के प्रति उनकी विशेष भक्ति थी। हिंदू विश्वविद्यालय निर्माण के लिये जब पं० मदनमोहन मालवीय धन एकत्रीकरण अभियान में कानपुर आए तो 'पूर्ण' जी ने उनके स्वागत में एक मार्मिक कविता पढ़ी और इस शुभ अनुष्ठान में भरसक योग दिया। ४७ वर्ष की अल्प अवस्था में ही ३० जून, १९१५ ई० को उनका निधन हो गया।

'पूर्ण' जी पहले ब्रजभाषा में कविता लिखते थे और अपनी उत्तमता के कारण वह ब्रजभाषा के पुराने कवियों का स्मरण दिलानेवाली होती थी। कालिदास के मेघदूत का सरस अनुवाद 'धारागधर धावन' उनके ब्रजभाषा के रचनालालित्य का उत्तम उदाहरण है। आपने ब्रजभाषा कवियों के एक मंडल की स्थापना 'रसिक समाज' नाम से की, और उसके तत्वावधान में 'रसिक वाटिका' नामक पत्रिका भी निकाली। उनके जीवन भर ब्रजभाषा काव्य की प्राचीन परंपरा कानपुर में बड़ी सजीव रही। इसलिये उनकी मृत्यु पर एक कवि ने लिखा था—

'रसिक समाजी' ह्वै चकोर चहुँ ओर हेरैं,
कविता को 'पूरन' कलानिधि कितै गयो ? (रतनेश)

युगप्रभाव से 'पूर्ण' जी ने खड़ी बोली में भी काव्यरचना की, जो यद्यपि बहुत उच्च कोटि की न थी, परंतु उसमें देशभक्ति, राजभक्ति, स्वदेशी और सांप्रदायिक एकता जैसी भावनाओं का प्रकाशन है। 'स्वदेशी कुंडल', 'स्वदेशी बारामासी', 'हिंदू विश्वविद्यालय', 'नवीन संवत्सर' एवं 'प्रदर्शिनी स्वागत' आदि रचनाएँ युगस्वर को प्रतिध्वनित करती हैं। 'विश्व वैचित्र्य' और 'आनंद का गीत' जैसी कविताओं के विषय भक्ति तथा वेदांत हैं। 'चेतावनी' में आर्यसमाज की बौद्धिक आलोचना है। लेकिन 'अमलतास' और 'बसंतवियोग' शीर्षक कविताओं में कोमल भावुकता के दर्शन होते हैं। इनमें प्रकृति का चित्रण भी सहृदयतापूर्ण है। 'बसंत वियोग' रूपकात्मक शैली में है। मुक्तक होते हुए भी कथानक की शृंखला क्षीण रूप से इसमें विद्यमान है।

'पूर्ण' जी के काव्य में विषयानुकूल अनेक शैलियों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। भक्ति संबंधी रचनाओं में यदि बोलचाल की सधुक्कड़ी खड़ी बोली है तो सामाजिक विषयों में हिंदी उर्दू का प्रचलित रूप, जिसमें कहीं कहीं अंग्रेजी, फारसी अथवा ब्रज. अवधी के शब्द आ गए हैं। प्रकृतिचित्रण अथवा सुकुमार भाव प्रसंगों में संस्कृत पदावली का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। भाषावैविध्य के कारण उनकी रचनाएँ पढ़कर यह भ्रांति उत्पन्न होने लगती है कि यह एक कवि की न होकर भिन्न भिन्न कवियों की है। इनके शब्द में कहीं कहीं संस्कृत, ब्रजभाषा अथवा उर्दू फारसी के शब्दों का अनौचित्यपूर्ण प्रयोग मिलता है—

मिल शत्रुओं के साथ
दे बाग उनके हाथ।
ले मरा घोर कलंक
ह्याँ मिटा सुख का अंक।

कहीं कहीं दो पंक्तियों में एक में संस्कृत और दूसरे में उर्दू की बहार दिखाई पड़ती है —

फूल फले अमित रंगों के
प्राण आगार हैं।
फर्श मखमल सब्ज के
रंगीन बूटेदार हैं॥

प्रधानतः बाह्य जीवन से ही संबद्ध होने के कारण 'पूर्ण' जी के काव्य की प्रमुख शैली तथ्यनिरूपण की है, जिसमें विषय की सुबोध प्रेषणीयता पर जितना

ध्यान था उतना अभिव्यंजना पक्ष के सौंदर्य की ओर नहीं। परंतु मुहावरों के प्रयोग से कवि की भाषा में कसावट आई है और उसकी चमत्कार शक्ति में भी वृद्धि हुई है जैसे--

कल से सकल बिदेस सबल, निष्कल निर्बल है।
भरतखंड ! कल बिना तुझे हा ! कसे कल है ॥

'पूर्ण' जी की कविताओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं--

देशी प्यारे भाइयो ! हे भारत संतान।
अपनी माता भूमि का है कुछ तुमको ध्यान ?
है कुछ तुमको ध्यान दशा है उसकी कैसी।
शोभा देती नहीं किसी को निद्रा ऐसी॥
वाजिब है हे मित्र तुम्हें भी दूरंदेशी।
सुन लो चारों ओर मचा है शोर 'स्वदेशी'॥

× × ×

बड़ाई पावे इंगलिस्तान, हिंद से, उससे हिंदुस्तान।
हुआ जब दोनों का संबंध, बढ़े जग में दोनों का मान।
हमारा आर्य देश है आर्य, पराये नहीं आपके जार्ज !
पूर्व संबंध बिना सम्राट, न मिलता तुम्हें यहाँ का चार्ज।

× × ×

हरे हरे लहलहे विपुल द्रुम, वृंद वृंद बन सोहें॥
लोनी-लतिका-कलित, ललित फल-वलित लेत मन मोहें।
लाले पीले सेत बैंगने सुमन सुहावन फूले।
गुंजगान करि चंचरीक मकरंद पान में भूले॥

× × ×

बंदे हैं सब एक से नहीं बहस दरकार।
है सब कामों का वही खालिक औ करतार॥
खालिक औ करतार वही मालिक परमेश्वर।
है जबान का भेद, नहीं मानी में अंतर॥
हो उसके बर अक्स, करो मत चर्चे गंदे।
कहकर राम रहीम मेल रक्खो सब बंदे॥

पं० लोचनप्रसाद पांडेय

पं० लोचनप्रसाद पांडेय का जन्म सन् १८८६ में हुआ था। आप सरयूपारीण ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। आपके पिता पं० चिंतामणि पांडेय एक सच्चरित्र

विद्वान् और माता श्रीमती देवहूति देवी एक आदर्श महिला थीं। आपके पिता मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ जिले में महानदी के किनारे स्थित बालपुर नामक ग्राम के निवासी थे। उनमें शिक्षा प्रसार के लिये बड़ा उत्साह था, और इसके लिये उन्होंने एक विद्यालय की स्थापना अपने ग्राम में की थी। उन्होंने हिंदी का एक विशाल पुस्तकालय भी वहीं खोला था। लोचनप्रसाद जी चार भाई थे। पुरुषोत्तमप्रसाद पांडेय, लोचनप्रसाद पांडेय, मुरलीधर पांडेय, और मुकुटधर पांडेय। मुकुटधर जी भी हिंदी के श्रेष्ठ कवियों में परिगणित किए गए हैं। लोचनप्रसाद जी का स्वर्गवास सन् १९५९ ई० में हो गया।

पांडेय जी बाल्यावस्था से ही कविता लिखने लगे थे। सन् १९०७ ई० से ही उनकी कविताएँ 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। इन्होंने प्रबंधात्मक एवं मुक्तक दोनों में काव्यरचना की। प्रकाशित काव्यसंग्रह 'नीति कविता', 'मेवाड़ गाथा', तथा 'पद्यपुष्पांजलि' आदि हैं। 'पद्यपुष्पांजलि' में राष्ट्र-प्रेम की कविताएँ हैं, और 'नीति कविता' का प्रतिपाद्य, व्यवहार कुशलता, नैतिकता आदि विचार हैं। 'मेवाड़ गाथा' में चित्तौड़ के राणा भीमसिंह के महान त्याग का यशोगान है। 'धुआँधार', 'गर्मी' और 'मंदाकिनी गंगा' जैसी कविताओं में कवि का ध्यान आलम्बन रूप में प्रकृतिचित्रण की ओर गया है।

पांडेय जी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाओं से हमें खड़ी बोली के क्रमिक विकास और परिष्कार के विविध सोपानों के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं। जहाँ प्रारंभ में इनकी कविता में ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट था, वहाँ परवर्ती रचनाओं में विशुद्ध खड़ी बोली का सौष्ठवयुक्त प्रवाह है। यदि पहले भाषा के स्वरूप में अनिश्चितता थी, शब्दचयन और शैली कभी हिंदी और कभी उर्दू के तर्ज पर होती थी, श्रुतिकटुत्व, न्यूनपदत्व आदि दोष रचना में बहुत थे, तो बाद की रचनाओं में भाषा की एकरूपता, लययुक्तता और परिपक्वता आ गई। फिर भी भाषा विषयक दोष कुछ न कुछ मात्रा में बने ही रहे और इसलिये उनके कृतित्व को एक सीमा तक अपरिपक्व और अप्रौढ़ स्वीकार करना पड़ता है। गद्यात्मकता और अभिधात्मकता का अभियोग तो उनके अधिकांश काव्य पर लगाया जा सकता है। श्रेष्ठ रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

नहीं वीर गति रोक सके बाधाएँ शतशत।
जल - प्रवाह - प्राखर्य - पूर्ण - धारा-अप्रतिहत।
रव-झरझर-सुखकर-सुभग, धारा दुग्ध समान।
प्रखर - प्रवाह - प्रताप युग-नीर-पतन-उत्थान।
नीर पतन उत्थान शैल - सुषमा से शोभित।
उत्थित धमाकार जहाँ है जल कण अगणित।

करते रविकर इंद्र धनुषमय जिसका अवयव।
धुआँधार का दृश्य नर्मदा-तांडव-भैरव॥

(धुआँधार)

+ + +

स्वर्ग सुख थे तुच्छ गिनते देवगण लखकर जिसे।
प्राप्त था सौभाग्य ऐसा और भूतल पर किसे।
देवदुर्लभ इस मही में जन्म धारण के लिये।
हो रहे सब काल थे सुरवृंद लालायित हिये।

(पद्य पुष्पांजलि)

पं० रामचरित उपाध्याय

पं० रामचरित उपाध्याय का जन्म संवत् १९२९ वि० में गाजीपुर में हुआ था, परंतु बाद को वे आजमगढ़ के पास एक गाँव में रहने लगे थे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। प्रारंभ में उन्होंने ब्रजभाषा में कविता लिखी, परंतु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपर्क में आने पर उनके प्रोत्साहन से खड़ी बोली में लिखने लगे। खड़ी बोली की उनकी पहली रचना सन् १९०६ में 'पवनदूत' शीर्षक से 'सरस्वती' में छपी थी। इसके पश्चात् 'इंदु', 'मर्यादा', आदि पत्रिकाओं में अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। स्फुट काव्य के अतिरिक्त 'रामचरित चिंतामणि नामक एक प्रबंध काव्य की रचना भी उपाध्याय जी ने की। मुक्तक रचनाओं के संकलन 'सूक्ति मुक्तावली', 'भारत भक्ति' आदि के नाम से निकले। संवत् १९९५ वि० में उपाध्याय जी का देहांत हो गया।

मुक्तक रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय समाजसुधार देशप्रेम, तथा नीति कथन हैं। नीति संबंधी कविता उपदेशप्रधान और अन्योक्ति शैली में है। भारत के उज्वल भविष्य के प्रति उपाध्याय जी का दृष्टिकोण आशावादी है। सामाजिक उद्बोधन की कविताएँ भी कवि ने पर्याप्त मात्रा में लिखी हैं। इन रचनाओं ने अपने युग की सामाजिक जाग्रति में विशिष्ट योग दिया था। कुछ कविताओं में प्रकृति का स्वतंत्र अंकन भी लक्षित होता है।

अपनी संस्कृत विज्ञता के कारण उपाध्याय जी की भाषा का तत्सम शब्दावली से मंडित होना आश्चर्यजनक नहीं है। अप्रचलित संस्कृत शब्दों के समावेश के कारण उनकी भाषा में कहीं कहीं क्लिष्टता का दोष आ गया है। उपाध्याय जी के काव्य में भाषा का रूप बहुत कुछ कृत्रिम है। उसमें स्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते। शब्दों के प्रयोग अनौचित्य के दृष्टांत भी उसमें विरल नहीं हैं।

उनके प्रबंध काव्य 'रामचरित चिंतामणि' की सबसे बड़ी विशेषता उसके

संवाद हैं, जिनमें उक्तिवैचित्र्य और चमत्कार पर विशेष बल दिया गया है। प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य में भाषाशैथिल्य कम है इसलिये उसकी शैली अधिक सजीव और प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण लीजिए —

क्यों देश उसकी मानियों में भूलकर गिनती करे।
निज जाति से जो ऐंठकर पर जाति से विनती करे॥
इससे अधिक निर्लज्जता क्या हो सकेगी बोलिए।
जीवन मृतक क्यों हो गए हैं चेतिए दृग खोलिए॥

× × ×

हीरक तेरा नाम वज्र है, तू कैसे पिस जावेगा।
तुझे पीसनेवाला जग में स्वयं कभी पिस जाएगा॥
मर्यादा रत कभी नीरनिधि नीर हीन क्या होता है?
विविध यत्न करिए पर दीपक तमोलीन होता है?

× × ×

यदि बेगार किसी दफ्तर की किसी तरह भी मिल जावे।
हृदय सरोवर में वांछा का तो वारिज बन खिल जावे॥
फिर क्या इंद्रासन से घटकर कुर्सी पर सुख पाते हम।
ठाठ बनाकर रोब दिखाते, फूले नहीं समाते हम॥

———०———

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', 'त्रिशूल'

पं० गयाप्रसाद शुक्ल का जन्म सन् १८८३ ई० में उन्नाव जिले के हड़हा ग्राम में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपने हिंदी तथा उर्दू में मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की, तत्पश्चात् मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए। इस दौरान उन्होंने हिंदी, उर्दू और फारसी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया। पहली रचना कानपुर के 'रसिक मित्र' में छपी। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में छपी उनकी 'कृषक क्रंदन' शीर्षक रचना ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। तबसे वे काफी समय तक 'सरस्वती' में नियमित रूप से लिखते रहे। सन् १९२८ ई० से सन् १९५० ई० तक उन्होंने 'सुकवि' का संपादन किया। इस पत्र के माध्यम से उन्होंने हिंदी को सैकड़ों कवि प्रदान किए। प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय अनूप शर्मा 'सनेही' जी के प्रमुख शिष्य थे। हिंदी के अन्य अनेक समर्थ कवि 'सनेही' जी के शिष्य रहे हैं। राजा महाराजाओं से लेकर सामान्य व्यक्तियों तक में हिंदी कविता के प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने का श्रेय 'सुकवि' संपादक 'सनेही' को ही है। आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' के पश्चात् जिस एक पत्र का हिंदी कविता के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है वह

'सनेही' का 'कुकवि' है। 'सनेही' जी की कविताओं का कोई संपूर्ण संग्रह उपलब्ध नहीं है। वैसे 'त्रिशूल तरंग', 'मानस तरंग' 'कृषक क्रंदन', 'करुण भारती' और 'कुसुमांजलि' शीर्षक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने चार उपनामों से कविता लिखी—'सनेही', 'त्रिशूल', 'तरंगी' और 'अलमस्त'। इनमें दो नाम 'सनेही' और 'त्रिशूल' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'सनेही' जी बड़े स्वाभिमानी व्यक्ति थे परंतु उनमें आत्मीयता और विनम्रता के गुण भी प्रचुर मात्रा में थे।

कविता को कला के रूप में सिद्ध करनेवालों में 'सनेही' जी का नाम इस युग में 'हरिऔध' जी के साथ ही लिया जाएगा। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में कविता लिखी और यह निश्चित करना सरल नहीं है कि उनकी किस भाषा की कविता अधिक उत्तम है। शृंगारिक एवं कोमल भावनाओं की कविता में वे अपना नाम 'सनेही' रखते थे और ओजस्वी एवं राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के समय 'त्रिशूल' उपनाम का प्रयोग करते थे। समस्यापूर्ति की कला में अत्यंत दक्ष थे। आचार्य शुक्ल ने उन्हें भावुक और सरसहृदय कवि स्वीकार किया है।[1]

राष्ट्रीयता, शोषित वर्ग के दैन्य पर क्षोभ एवं आक्रोश, तथा शृंगार, प्रेम आदि उनकी कविता की प्रमुख भावनाएँ हैं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में देशानुराग जैसे छलका पड़ता है। होम रूल आंदोलन के दिनों में उनकी कविताएँ लोकगीतों के समान जनता के कंठ में बसी हुई थीं। 'कौशिल्या का विलाप', 'अशोक वाटिका में सीता' और 'शैव्या का विलाप' जैसी कविताओं में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। १९१७ ई० में रूस की राज्यक्रांति का प्रभाव जिन विचारशील कवियों पर तुरंत पड़ा उनमें 'सनेही' जी भी थे। उस काल की कविता की ये पंक्तियाँ इसे प्रमाणित करती हैं—

'समदर्शी फिर साम्य रूप धर जग में आया।
समता का संदेश गया घर घर पहुँचाया॥
धनी रंक का ऊँच नीच का भेद मिटाया।
विचलित हो वैषम्य बहुत रोया चिल्लाया॥
काँटे बोए राह में, फूल वही बनते गए।
साम्यवाद के स्नेह में सुजन सुधी सनते गए॥

('जातीयता', राष्ट्रीय गीत, १९१७ ई०)

'सनेही' जी के काव्य में छंदों की विविधता है। कवित्त और सवैये उनके प्रिय छंद हैं। उर्दू की बहरों, संस्कृत के वर्णवृत्तों और हिंदी के मात्रिक छंदों का उन्होंने

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२८।

समान अधिकार से प्रयोग किया। बड़े से बड़ा छंदशास्त्री भी, उनके काव्य में छंद की त्रुटि नहीं निकाल सकता। छंदों के क्षेत्र में वे प्रयोगशील कवि रहे हैं। उदाहरणार्थ सवैया छंद में उन्होंने एक नया प्रयोग किया है। आठ जगण (। ऽ ।) और एक गुरु (ऽ)--

नहीं नहीं में नहीं साफ़ है हाँ नहीं,
हाँ कहिये कि नहीं कह दीजिये।

जनप्रचलित वीरगीतों का प्रयोग भी उनके काव्य में मिलता है। वीरगीतों में लावनी की भाँति चार चरण तक अंतरा के अंतर्गत आते है और अंतिम चरण का युग, स्थायी के एक चरण से होकर आवृत्ति होती है। सनेही जी की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ इसी छंद में हैं--

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है।

शुक्ल जी की खड़ी बोली कविता में पहले उर्दू के शब्द अधिक रहते थे क्योंकि वे पृथक् रूप से उर्दू की कविता भी लिखते थे। हाँ, उर्दू से उनकी भाषा को प्रवाहमयता, मुहावरेदानी और कथनविदग्धता के गुण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए। अपने युग के अन्य कवियों की तुलना में इनकी कविता में अविधात्मकता का दोष कम है, परंतु आंदोलन काल की कुछ कविताएँ प्रचारात्मक तत्व से आक्रांत हैं। कविताओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं--

परवा न हवा की करे कुछ भी, भिड़ आके जो कीट पतंग जलाये।
जगती का अँधेरा मिटा कर आँख में, आँख की पुतली हो के समाये।
निज ज्योति से दे नवज्योति जहान को, अंत में ज्योति में ज्योति मिलाये।
जलना हो जिसे वह जले मुझ सा, बुझना हो जिसे मुझ सा बुझ जाये।

× × ×

कठिन है परीक्षा न रहने कसर दो।
न अन्याय के आगे तुम झुकने सर दो।
गँवाओ ने गौरव नये भाव भर दो।
हुई जाति बेपर है तुम इसको पर दो।
असहयोग कर दो असहयोग कर दो।
मनाते हो घर घर खिलाफत का मातम।
अभी दिल में ताजा है पंजाब का गम।
उन्हें देखता है खुदा और आलम।
यही ऐसे जख्मों का है एक मरहम।
असहयोग कर दो असहयोग कर दो।

× × ×

फांदने जाओ हिमालय के शिखर,
लवण बनकर सिंधु की तुम थाह लो।
अंक पर ले लो दवानल की लपट,
पर सताकर दीन की मत आह लो।

पं० रूपनारायण पांडेय

पं० रूपनारायण पांडेय का जन्म आश्विन शुक्ल १२. संवत १९४१ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम पं० शिवराम पांडेय था। यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कवि की एक वर्ष की अवस्था में ही इनके पिता का देहांत हो गया था। इनका लालन पालन इनके पितामह ने किया था। रूढ़िवादी परिवार में इनकी शिक्षा दीक्षा केवल संस्कृत में ही हुई। स्वाध्याय से इन्होंने बँगला, गुजराती, मराठी और उर्दू आदि भाषाएं सीखीं और अंग्रेजी से भी परिचित हुए। पांडेय जी का व्यक्तित्व सरलता, सादगी और निश्छलता का मूर्त रूप था। आपने, 'नागरी प्रचारक', 'निगमागम चंद्रिका', 'इंदु', 'कान्य कुब्ज', 'सुधा' और 'माधुरी' आदि पत्र पत्रिकाओं का संपादन किया। 'माधुरी' के संपादन विभाग में तो वे इक्कीस वर्ष रहे और १९३३ से १९५० ई० तक सत्रह वर्ष इसके प्रधान संपादक रहे। 'माधुरी' के संपादक रूप में आपने नए लेखकों का बड़ा उत्साहवर्धन किया। पांडेय जी ने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं जिनमें बहुत बड़ी संख्या संस्कृत एवं बँगला से अनुवादित धार्मिक एवं साहित्यिक पुस्तकों की है। १२ जून, १९५८ ई० को पांडेय जी का निधन हो गया।

प्रारंभ में पांडेय जी ने ब्रजभाषा में ही कविता लिखी, परंतु बाद में खड़ी बोली में जो रचनाएँ की उनमें पूरी रसात्मकता लाने में समर्थ हुए हैं।' 'पराग' इनकी मुक्तक कविताओं का संग्रह है। 'तिलांजलि', 'दलित कुसुम', 'चाँदनी' एवं 'वन-विहंगम' जैसी कविताओं मे उनकी व्यक्तिवादी भावुकता और सहृदयता के दर्शन होते हैं। उनकी अनेक कविताएँ राष्ट्रीय और सामाजिक विषयों से संबद्ध हैं। पांडेय जी में किसी परंपरा विशेष का गतानुगतिक बनकर काव्य रचना करने का कोई आग्रह नहीं था। वे सरल तथा प्रसादगुणपूर्ण शैली में सामाजिक तथा अंतरंग विषयों पर अपने भावनात्मक उद्गार प्रस्तुत किया करते थे। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अहह अधम आंधी आ गई तू कहाँ से।
प्रलय - घन - घटा सी छा गई तू कहाँ से॥
पर सुख दुख तूने हाय देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय यों तोड़ डाला॥
तड़प तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता॥

निठुर फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिए से।
इस नवलतिका की गोद सूनी किए से॥

× × ×

शुक्लाभिसारिका सदृश यह शरद शर्वरी मनभाई।
प्रिय प्रभात से मिलने को हँसती सी देखो है आई॥
चटकीली चाँदनी पड़ी चादर सी चंद्रवदन पर है।
तारे हैं या चाँदी के तारों का काम मनोहर है॥

× × ×

एक जमाना हमारा भी था, जिसको अपना लिया वह बड़े हो गए।
शान थी ऐसी दुकान में देखने, बूढ़े जवान सभी खड़े हो गए॥
हाँ, हँसिए मत काल का फेर है जो हम गंदे-गले-सड़े हो गए।
काल की मार पड़ी जो बड़ी, तो विदीर्ण हुआ उर चीथड़े हो गए॥

श्री मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण जी ने काव्यलेखन १९०३-१९०४ से आरंभ किया। अर्ध शताब्दी से भी अधिक लंबे रचनाकाल में उन्होंने अनेक प्रबंध और मुक्तक काव्यों की रचना की। 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' और 'जयद्रथवध' उनके प्रमुख प्रबंध काव्य हैं। युग की मुक्तक प्रवृत्ति का प्रभाव उनके प्रबंध काव्यों पर भी दिखाई पड़ता है जिनमें ('जयद्रथवध', 'पंचवटी' और 'नहुष' जैसे छोटे काव्यों को छोड़कर) मुक्तक गीतों की प्रचुरता है। मुक्तक काव्यों के संग्रह 'झंकार', 'मंगल घट', 'स्वदेश संगीत' आदि हैं। इस क्षेत्र में उनकी 'भारत भारती' का ऐतिहासिक महत्व है। इसमें उर्दू के प्रसिद्ध कवि मौलाना हाली के 'मुसद्दस' की शैली पर हिंदुओं की अतीत और वर्तमान दशाओं की विषमता प्रदर्शित की गई है। यह पुस्तक राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में नवयुवकों में बहुत लोकप्रिय हुई।

गुप्त जी का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। भारतीय संस्कृति की उदार समन्वयवादी भावना उनके काव्य में सर्वत्र विद्यमान है। साहित्य में उन्हें शास्त्रीय विचारधारा का कवि कहा जाएगा।

गुप्त जी की प्रारंभिक कविताएँ, समकालीन कवियों से, भाषा की दृष्टि से, अधिक व्याकरणसंमत और परिष्कृत होती थीं; परंतु उनमें शैली की एकरूपता नहीं दिखाई देती। एक प्रकार का अनिश्चय सा मिलता है। कहीं शैली संस्कृत शब्दों से लदी हुई थी तो कहीं प्रांतीय भाषाओं का प्रयोग अधिक होता था। क्रमशः उनकी भाषा इन दोषों का निराकरण करने में समर्थ हुई और उसमें प्रौढ़ता आने के साथ साथ लाक्षणिकता और व्यंजकता के गुण भी आए। उनकी शैली सहज

और प्राकृतिक है तथा यत्र तत्र अलंकृत होने पर भी उसमें अलंकारों की अनावश्यक भरमार नहीं है। गुप्त जी कुशल शब्दशिल्पी हैं, परंतु कहीं कहीं उनपर अनावश्यक चमत्कारप्रियता का अभियोग लगाया जा सकता है। उनकी शैली प्रवाहपूर्ण है, यद्यपि कहीं कहीं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग उसकी गति में बाधक बन जाता है।

राष्ट्रीयता, अतीत गौरव, वर्तमान सामाजिक और सांस्कृतिक दुर्दशा एवं प्रकृतिसौंदर्य आदि उनके मुक्तकों के प्रमुख विषय हैं। भारत के प्राचीन गौरव का चित्रण उन्होंने अपने प्रबंध काव्यों में भी किया है, परंतु आधुनिक चेतना से आक्रांत होने के कारण वे उसे प्रसाद जी का सा विश्वसनीय रूप प्रदान नहीं कर सके। उनकी राष्ट्रीयता धर्मनिरपेक्ष और सहिष्णुतापूर्ण औदार्य से आवृत है। प्रकृति का चित्रण बिंबगोचर और आलंकारिक दोनों शैलियों में किया गया है। उनकी मुक्तक कविता के कुछ उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा सा जल रहा।
है चल रहा सन सन पवन, तन से पसीना ढल रहा।
देखो कृषक शोणित सुखाकर, हल तथापि चला रहे।
किस लोभ से इस आँच में वे, निज शरीर जला रहे।

× × ×

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है।
सूर्य चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह, सूर्य तारे मंडल है।
बंदी विविध विहंग, शेष फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।

× × ×

दूती बैठी हूँ सजकर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम-धरा-धन, सब तजकर मैं।
धन्य हुई हूँ इस धरती पर, निज जीवन धन को भजकर मैं।
बस अब उनके अंक लगूँगी, उनकी वीणा सी बजकर मैं।

पं० बदरीनाथ भट्ट

पं० बदरीनाथ भट्ट का जन्म सन् १८८६ में हुआ था। उनके पिता पं० रामेश्वर भट्ट गोकुलपुरा, आगरे के रहनेवाले थे। वे संस्कृत और हिंदी के विद्वान्

थे। कितनी ही संस्कृत और हिंदी की पुस्तकों की टीकाएँ उन्होंने लिखी थीं। इस प्रकार साहित्यिक रुचि भट्ट जी को पिता से ही प्राप्त हुई थी। 'सरस्वती' में उनकी रचनाएँ आचार्य द्विवेदी के संपादन काल में निरंतर प्रकाशित होती रहीं। भट्ट जी ने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी और लखनऊ विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक पद पर कार्य करते रहे थे। भट्ट जी का देहावसान ४७ वर्ष की अवस्था में सन् १९३३ में ही हो गया था। वे एक श्रेष्ठ नाटककार भी थे।

भट्ट जी उन कवियों में थे जिन्होंने द्विवेदी युगीन कविता को अंतर्गभप्रधान और आत्माभिव्यंजक बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। उनके काव्य की प्रमुख भाव-धाराएँ राष्ट्रीयता, प्रकृतिप्रेम तथा आध्यात्मिकता हैं। उनकी भाषा शैली में प्रसाद गुण की प्रधानता है। उसमें कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं है। उनकी रचना खड़ी बोली के सौष्ठव को प्रदर्शित करती है। उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

पड़ी भूमि पर ठोकर खाती, पीला तेरा रंग हुआ है।
सब रस रूप समय ने लूटा, चुरमुर सारा अंग हुआ है।
जिसपर रहती थी सवार नित, घुल घुलकर बातें करती थी।
वही हवा अब धूल फेंकती, उल्टा सारा ढंग हुआ है।

—'सूखी पत्ती'

× × ×

अब तो आँखें खोलो प्यारे।
पूर्व दिशा अब तरुण हुई है।
प्रकृति देवि पट बदल रही है।
यम ने तम की बाँह गही है।
छिपकर भागे तारे।
उषा देवि के दर्शन पाकर।
हुए प्रफुल्लित सभी चराचर।
तुम क्यों सोए शीश झुका कर।
सुधि, बुधि सभी बिसारे।
अब तो आँखें खोलो प्यारे।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी का जीवनवृत्त प्रबंध काव्य संबंधी उनके कृतित्व विश्लेपण में दिया जा चुका है।

त्रिपाठी जी ने 'पथिक', मिलन' और 'स्वप्न' तीन खंड काव्यों की रचना की। आपकी स्फुट रचनाएँ 'मानसी' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत हैं। प्रकृतिप्रेम, देशानुराग एवं

सामाजिक सुधार आदि उनकी कविताओं के प्रमुख विषय हैं। हास्य और व्यंग्य भी कुछ कविताओं में सहज और सशक्त रूप से मुखरित हुआ है। आचार्य शुक्ल ने त्रिपाठी जी के विषय में लिखा है—"काव्य क्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छंदता का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था, उसके पथ पर चलनेवाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठी ही दिखाई पड़े।" त्रिपाठी जी की स्वच्छंद कल्पना ने मौलिक आख्यानों की रचना की और उनके माध्यम से प्रकृतिप्रेम, देशप्रेम एवं जनकारुण्य के भावों को मार्मिकता के साथ व्यक्त किया। त्रिपाठी जी ने खड़ी बोली की सही प्रकृति को पहचाना, उसे संस्कृतनिष्ठ बनाने का प्रयास नहीं किया। श्रुतिमधुरता इनकी भाषा का गुण है और शब्दमैत्री उसकी विशिष्टता। खड़ी बोली की कर्कशता का इन्होंने कुशलता से निराकरण किया। इनकी कविता के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं--

मनमोहिनी प्रकृति की जो गोद में बसा है।
सुख स्वर्ग सा जहाँ है, वह देश कौन सा है।
जिसका चरण निरंतर रतनेश धो रहा है।
जिसका मुकुट हिमालय, वह देश कौन सा है।
सबसे प्रथम जगत में जो सभ्य था यशस्वी।
जगदीश का दुलारा वह देश कौन सा है।

× × ×

अब शाम आ रही है चिड़ियाँ लगीं उतरने ।
दिन भर थके हुए से पत्ते लगे ठहरने ।
कहने लगीं ऊँचाई किरणें पहाड़ियों की ।
गाने लगीं कतारें गुंजान झाड़ियों की ।

× × ×

हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए ।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए ।
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें ।
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीर-व्रत-धारी बनें ।

× × ×

बार बार उचक उचक लहरों में सिंधु
देखता किसे है बड़ी गहरी लगन से ?
जाता है सबेरे प्रति दिवस कहाँ समीर
राजकर लेकर सुरभि का गगन से ?
कौन है ? कहाँ है ? वह जिसकी उतारते हैं
रवि, शशि, तारागण आरती गगन से ?

दीप पाके बुद्धि का, अँधेरे पथ में मनुष्य
पूछता नहीं क्यों एक बार निज मन से ?

ठा० गोपालशरण सिंह

ठाकुर गोपालशरण सिंह का जन्म पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९४८ वि० को हुआ। इनके पिता का नाम लाल जगतबहादुर सिंह था। वे बुंदेलखंड के रीवां राज्य में नई गढ़ी इलाके के ताल्लुकेदार थे। वे बड़े ही दयालु और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण उन्होंने अपने इलाके में संस्कृत शिक्षा के लिये एक पाठशाला खोली थी, जिसमें शिक्षा का आर्थिक भार वे स्वयं वहन करते थे। गोपालशरण सिंह जी ने प्रारंभ मे संस्कृत भाषा की ही शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् सन् १९१० ई० में वे मैट्रिकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में इन्होंने आगे की शिक्षा के लिये प्रवेश लिया। परंतु अनेक कारणों से इन्हें कालेज छोड़ना पड़ा।

उनके अपने शब्दों में 'काव्य से उनका परिचय संस्कृत और ब्रजभाषा के द्वारा हुआ।' बाल्यावस्था में ही इन्होंने 'रघुवंश' और 'शिशुपाल वध' जैसे काव्यों का अध्ययन किया था। सन् १९१२ ई० से इन्होंने खड़ी बोली में कविताएँ लिखनी प्रारंभ कीं, जो 'सरस्वती' में सन् १९१६ ई० तक प्रकाशित होती रहीं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इन्हें बराबर प्रोत्साहित करते रहे। पाँच छह वर्ष के व्यवधान के बाद १९२३ से फिर इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में (भाद्रपद, संवत् १९८१ वि०) में इनपर एक लेख लिखते हुए इन शब्दों में इनकी प्रशंसा की थी—'ठाकुर गोपाल शरण सिंह कविता की दृष्टि से भी राजा हैं और लौकिक विभूति की दृष्टि से भी। आप बड़े विद्याव्यसनी, बड़े उदारचरित्र और हिंदी के बहुत बड़े प्रेमी हैं।' संवत् १९८२ ई० में ठाकुर साहब हिंदी साहित्य संमेलन के साथ होनेवाले अखिल भारतवर्षीय कविसंमेलन, वृंदावन के सभापति निर्वाचित हुए थे। सन् १९६० ई० में ठाकुर साहब का देहावसान हुआ।

ठाकुर साहब की प्रारंभिक रचनाएँ 'संचिता' में संग्रहीत है, यद्यपि 'माधवी' पहले प्रकाशित हुई। प्रकृतिसौंदर्य, आध्यात्मिकता, सामाजिक अनाचार एवं नारी इनकी कविता के प्रमुख विषय हैं। नारी को इन्होंने अनेक रूपों में देखा है।

इनकी कविताएँ इस बात की साक्षी हैं कि खड़ी बोली मे भी मधुरता में ब्रजभाषा से स्पर्धा करनेवाली कविताएँ लिखी जा सकती हैं। इनकी अभिव्यक्ति में ऋजुता और सादगी है। अलंकारों का प्रयोग अकृत्रिम रूप से हुआ है। प्रारंभिक कविताओं में खड़ी बोली के बीच ब्रजभाषा के चित्य प्रयोग मिल जाते हैं। कविता के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

आँख है बेचैन रहती हर घड़ी,
आँसुओं की है लगी रहती झड़ी।
यत्न कर कर थक गए निकली नहीं,
हाय कैसी किरकिरी इसमें पड़ी।
आँख रो रो कर गई है फूल सी,
है गई उसकी चपलता भूल सी।
हाय उसमें एक छोटी किरकिरी,
सालती है सर्वदा ही शूल सी।

× × ×

हो रहते तुम नाथ जहाँ,
रहता मन साथ सदैव वहीं है।
मंजुल मूर्ति बसी उर में,
वह नेक कभी टलती न कहीं है।
लोलुप लोचन को दिखती,
वह चारु छटा सब काल यहीं है।
है वह योग मिला हमको,
जिसमें दुख मूल वियोग नहीं है।

× × ×

पत्थर हैं छूते और धूल को भी छूते आप,
फिर किस कारण से हमको न छूते हैं?
यह तो बताइए क्या आपमें विशेषता है,
आपके करों में क्या सुधा के बिंदु चूते हैं?
आप ही कहें कि आप कैसे हैं विचारवान,
हमको न छूते किंतु छूते नित्य जूते हैं?
हम तो सदैव मानते हैं अपने को पूत,
कैसे हैं अछूत हम पाप से अछूते हैं?

पं० मुकुटधर पांडेय

पं० मुकुटधर पांडेय जी पं० लोचनप्रसाद पांडेय के छोटे भाई हैं। इनका जन्म सन् १८९५ में छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले के बालपुर नामक ग्राम में हुआ था। सन् १९१५ में इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इसके बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रयाग के क्रिश्चियन कालेज में भरती हुए परंतु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण घर लौट गए। वहाँ जाकर वे अध्यापन

कार्य करने लगे। पांडेय जी ने काव्यरचना बाल्यावस्था में ही प्रारंभ कर दी थी। सन् १९०९ में उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई थी।

'मुकुटधर जी प्रकृति के बड़े उपासक हैं। बचपन से ही इन्हें चित्र, कविता और संगीत से बड़ा प्रेम है।' मुकुटधर जी की गद्य रचनाएँ भी उत्तम कोटि की होती हैं। वे बँगला भाषा भी जानते हैं। पांडेय जी की कविताएँ 'सरस्वती', 'इंदु' और 'प्रभा' आदि पत्रिकाओं में निकलती रहीं। इनकी कविताओं के प्रमुख विषय दर्शन, प्रकृति एवं प्रेम आदि हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में इन्हें पं० श्रीधर पाठक और पं० बदरीनाथ भट्ट आदि के साथ स्वाभाविक स्वच्छंदतावादी मार्ग का प्रवर्तक कहा है।

पांडेय जी के काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष निखरा हुआ, समृद्ध और प्रभावशाली है। इनकी कृतियों में भाषा का संतुलित रूप दृष्टिगत होता है। यद्यपि तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर है तथापि उसके कारण पदावली में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। शैली में प्रवाह एवं सरलता के गुण विद्यमान हैं। उर्दू, फारसी के प्रचलित शब्दों का भाषा से बलात् बहिष्कार नहीं किया गया है। रचनाओं के कुछ उत्तम उदाहरण इस प्रकार हैं—

दीन हीन के अश्रुनीर में।
पतितों की परिताप पीर में॥
संध्या की चंचल समीर में।
करता था तू गान॥
सरल स्वभाव कृषक के हल में।
पतिव्रता रमणी के बल में॥
श्रम सीकर से सिंचित धन मे।
विषयमुक्त हरिजन के मन में॥
कवि के सत्य पवित्र वचन में।
तेरा मिला प्रमाण।

× × ×

हमारी आँखें बैठी हैं अधीरा बन करके अनिमेष।
पुतलियों का आसन है डाला, छिपाकर रक्खी मुक्तामाला॥
खुले दरवाजे पलकों के, पधारोगे कब हे प्राणेश।

× × ×

जब सूर्यागम का समय देखकर प्राची ने निज भरा सुहाग।
तब उसने भी हँसकर मिल, उससे प्रकट किया अपना अनुराग॥

कब लख सकता था पर-सुख-कातर प्रात-वात उसका यह मोद।
कर दी खाली झट उसे गिराकर उसने मृदु गुलाब की गोद॥
हो स्थानच्युत भी, हुआ नहीं वह चिंतित मन में किसी प्रकार।
निज भग्न हृदय को ले पहनाया उसने तृण को मुक्ताहार॥
(ओस की निर्वाण प्राप्ति)

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त श्री कन्हैयालाल पोद्दार, सैयद अमीर अली 'मीर', श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री कामताप्रसाद गुरु, सर्वश्री मिश्रबंधु, श्री गिरिधर शर्मा, श्री माधव शुक्ल, श्री मन्नन द्विवेदी, श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी, लाला भगवानदीन, श्री केशवप्रसाद मिश्र और सेठ गोविंददास आदि अन्य अनेक कवियों ने इस युग को अपनी रचनाओं से समृद्ध किया। यद्यपि पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री राय कृष्णदास और श्री सियारामशरण गुप्त भी इस काल में लिखने लगे थे, परंतु उनका मुख्य कृतित्व छायावादी काल में है, इसलिये उपर्युक्त चर्चा में उनका उल्लेख अप्रासंगिक प्रतीत हुआ। छायावादी युग में जो हिंदी कविता अपने प्रौढ़ और पुष्ट रूप में पाठकों के संमुख आई उसका बहुत कुछ श्रेय इन कवियों के सत्प्रयास को दिया जाएगा जिन्होंने भाषा को वस्तु एवं कला दोनों दृष्टियों से संपन्न बनाया।

अध्याय १४

द्विवेदी युगीन प्राचीन काव्यधारा

काव्यरूपों और छंदों के प्रयोग में भारतेंदु युगीन काव्य अधिकांशतः परंपरा-वादी रहा। सामान्यतः इस युग का कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय, कुंडलिया आदि छंदों में रचित काव्य मुक्तक प्रधान रहा। अपवाद रूप में रचे गए प्रबंधगीतों अथवा निबंध काव्यों में भी परंपरा का संबल ही प्रधान रहा है। शतक, सतसई आदि संख्यावाचक मुक्तक अनेक कवियों के लिये आकर्षक बने रहे। समस्यापूर्ति काव्य तो मुक्तकों में ही रचा गया। भक्तिकाव्य की पदशैली इस युग में पुनर्जीवित हुई और उसके माध्यम से प्रगीत मुक्तकों की रचना हुई। पदशैली के अंतर्गत होली, डफ, फाग, धमार, कजली, लावनी आदि लोक-गीत-शैलियों का प्रयोग हुआ जिनमें लोक परंपराओं को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सक्रिय रही है। भारतेंदु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने गजल, कसीदा, शेर, मर्सिया आदि की भी रचना की परंतु इन सभी रूपों में मुक्तक की चेतना ही प्रधान रही है।

भारतेंदु युगीन काव्य में परंपरागत पदशैली और छंदो को स्वीकृति मिली। परंतु छंदों की रचना अपेक्षाकृत अधिक हुई। दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलिया, हरिगीतिका आदि मात्रिक छंदों के प्रयोग के साथ मंदाक्रांता, शिखरिणी, वंशस्थ, वसंततिलका आदि वर्णवृत्तों को भी अपनाया गया। भारतेंदु ने उर्दू बहरों, बंगला के 'पयार' और अंबिकादत्त व्यास ने 'दीर्घललित' छंदों को प्रयोग के स्तर पर रचा। इस प्रकार भारतेंदु युगीन काव्य में छंदों की विविधता दिखाई पड़ती है, परंतु प्रधानता रीति कालीन छंदों की रही।

समग्रतः भारतेंदु युगीन काव्य परंपरा और नवीनता के तत्वों से वस्तु और शिल्प के स्तर पर अनुप्राणित हुआ। भक्ति कालीन आदर्शवाद और वैयक्तिक शृंगार चेतना की अवशिष्ट प्रवृत्तियों के साथ उसमें युगबोधपरक लोकमंगल की भावना और लोकचेतना पल्लवित हुई। परंतु समग्रतः भारतेंदु युगीन काव्य में परंपरा का संस्कार ही प्रखर रहा।

द्विवेदी युगीन काव्य चेतना और ब्रजभाषा काव्य

द्विवेदी युग में हिंदी काव्यधारा के अंतर्गत तीव्र परिवर्तन घटित हुए। ये परिवर्तन युग की सर्वतोमुखी गतिविधि के प्रतिफलन थे। नव जागरण और आधुनिकता की जिन प्रवृत्तियों का उद्भव भारतेंदु युग और उसके साहित्य में हुआ

था, द्विवेदी युग में उनकी प्रतिष्ठा सुधारवाद के रूप में हुई। धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों के प्रभावस्वरूप लोकजीवन में आत्मिक उत्थान और नैतिकता के मूल्यों का प्रसार हुआ। उनकी चेतना को साहित्य में भी प्रवेश मिला, परिणामतः काव्य में नवीन विषयों का समावेश हुआ। प्राचीन विषयों और काव्यपरंपराओं की युगसंदर्भ में व्याख्या की गई। काव्यभाषा और काव्यादर्शों में महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए। काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई। कविता में शास्त्रीयता की तुलना में प्रयोगशीलता को प्रश्रय मिला तथा उसमें सामाजिक तत्व उत्तरोत्तर प्रखर होते गए। महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' ने साहित्य को नवीन दिशा दी। द्विवेदी जी की मान्यताओं के अनुरूप कविता के रूढ़ तत्वों की प्रतिक्रिया नवीन एवं विविध विषयों के रूप में हुई। कविता और गद्य की भाषा के एकीकरण की नीति का विकास हुआ, परिणामतः खड़ी बोली कविता की मुख्य भाषा बन गई। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि प्रतिष्ठित कवि ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली में काव्यरचना करने लगे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने समसामयिक कवियों को ब्रजभाषा की समस्यापूर्ति और नायिकाभेद के वृत्त से बाहर निकलने की प्रेरणा दी। परंतु ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा द्विवेदी युग में भी विकासमान रही। इस युग में ब्रजभाषा के बहुसंख्यक कवि जहाँ परंपरा के अनुवर्ती रहे तथा रूढ़ विषयों और शैलियों को स्वीकृति देते रहे, वहीं अनेक कवि नवीन भावबोध और युगसंदर्भ को अभिव्यक्ति देने में प्रवृत्त हुए। द्विवेदी जी की कविता संबंधी मान्यताओं का केवल भाषा को छोड़कर आंशिक प्रतिफलन उनके समसामयिक ब्रजभाषा काव्य में भी हुआ। परंतु परंपरा का आग्रही और संस्कारवादी होने के कारण द्विवेदी युग का ब्रजभाषा काव्य खड़ी बोली की तुलना में नई संचेतना और मूल्यों को अभिव्यक्ति नहीं दे सका।

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवि

द्विवेदी युग में ब्रजभाषा के बहुसंख्यक कवियों में अधिकांश कवि कृष्णभक्ति और राधाकृष्ण की लीलाओं का परंपराभुक्त पद्धति पर चित्रण करते रहे। ब्रजमंडल की सीमा में और कृष्णभक्ति संप्रदायों की भावभूमि पर काव्यरचना करनेवाले कवि प्रायः इसी प्रकार के हैं। परंतु अनेक कवि वस्तु और शिल्प दोनों में परंपरा निर्वाह के साथ युगप्रवाह और नवीन मूल्यबोध से संचालित रहे। शिल्प के स्तर पर अधिकांश कवियों की रचनाओं में परंपरा का अनुवर्तन ही प्रधान रहा। नए विषयों, काव्यरूपों और छंदों के प्रयोग की क्षमता बहुत कम कवियों में दिखाई पड़ती है। आगे

द्विवेदी युग के जिन ब्रजभाषा कवियों और उनकी कृतियों का परिचय दिया जा रहा है, उनमें से कई कालांतर में खड़ी बोली में लिखने लगे और अनेक कवि ऐसे हैं जिनकी काव्यसाधना का काल भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग तक विस्तीर्ण है। कवियों का एक वर्ग ऐसा भी है जिनका जीवनकाल तो द्विवेदी युग में पड़ता है परंतु जिनकी काव्य-साधना का विकास उसके बाद हुआ। अतः किसी भी रचनाकार की कृतिविशेष को केंद्र में रखकर द्विवेदी युग की सीमा के अंतर्गत कवियों की काव्यप्रवृत्ति का निरूपण संभव नहीं हो सका है।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक (संवत् १९१६–१९८५) का रचनाकाल भारतेंदु युग के अंतिम चरण से लेकर द्विवेदी युग तक विस्तीर्ण है। पाठक जी का जन्म आगरा जिले के जोधरी ग्राम में सारस्वत ब्राह्मण कुल में हुआ था। अंग्रेजी में एंट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण करके वे राजकीय सेवा में आ गए। पाठक जी ने सेवा से अवकाश लेकर प्रयाग के लूकरगंज मोहल्ले में अपना स्थायी निवास बना लिया जहाँ उनका देहांत संवत् १९८५ में हुआ। पाठक जी प्रकृतिप्रेमी थे। सेवाकाल में उन्हें नैनीताल और शिमला में रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। इन स्थानों के प्राकृतिक सौंदर्य का उनके मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में दिखाई पड़ती है। काव्यरचना के क्षेत्र में पाठक जी को जो ख्याति मिली, उसका कारण उनके 'एकांतवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रांत पथिक' नामक गोल्डस्मिथ की रचनाओं के तीन अनुवाद हैं। श्री पाठक आधुनिक हिंदी काव्य की स्वच्छंद धारा के प्रवर्तक तथा ब्रजभाषा काव्यपरंपरा और काव्यविषयक उपलब्धियों के समर्थक थे। इसीलिये उनके काव्य में नवीन और प्राचीन दोनों शैलियों का संमिश्रण दिखाई पड़ता है।

श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा की काव्यरचनाओं में 'स्वर्गीय वीणा', 'काश्मीर सुषमा' 'देहरादून' उल्लेखनीय हैं। काव्यसंग्रहों में 'मनोविनोद', 'पद्य संग्रह', 'जगत सचाई सार', शीर्षक रचनाएँ आती हैं। 'गोपिकागीत' और 'भारतगीत' उनके गीतिकाव्य हैं। मौलिक काव्यरचनाओं के अतिरिक्त पाठक जी की संस्कृत और अंग्रेजी से अनूदित काव्यकृतियों में 'ऋतुसंहार', 'श्रांत पथिक', और 'ऊजड़ ग्राम' उल्लेखनीय हैं। 'ऋतु-संहार' कालिदास की रचना का अनुवाद है। इन रचनाओं में 'एकांतवासी योगी' और 'श्रांत पथिक' गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवेलर' से अनूदित खड़ी बोली की काव्यपरंपरा में ऐतिहासिक महत्व की कृतियाँ हैं। 'ऊजड़ ग्राम' गोल्डस्मिथ की 'डेजर्टेट विलेज' का ब्रजभाषा में अनुवाद है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से 'आराध्य शोकांजलि', 'गोखले प्रशस्ति', 'एकांतवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम', 'श्रांत पथिक', 'जगत सचाई सार', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून', 'तिलस्माती मुंदरी', आदि नवीन कोटि में रखी जा सकती

हैं। प्राचीन शैली की कृतियों में 'मनोविनोद', 'श्री गोखले गुणाष्टक' आदि आती हैं। परंतु इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। पाठक जी की इन रचनाओं में ब्रजभाषा काव्य की शिल्पगत विशिष्टता देखी जा सकती है। परंतु कहीं कहीं पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संमिश्रण भी दिखाई पड़ता है।

श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा की रचनाएँ सरस एवं मधुर हैं। वे प्रकृति के कुशल चितेरे हैं। प्रकृतिचित्रण की रूढ़ियों में बँधकर न चलने के कारण ही वे प्रकृति के उपेक्षित अंगों का चित्रण कर सके हैं। इसीलिये उनकी प्रकृति विषयक रचनाओं में प्रकृति के गरिमामय रूपों के साथ यथार्थबोध का पक्ष भी संमिलित है। प्रकृति-चित्रण के साथ ही पाठक जी राष्ट्र और समाज के प्रति भी जागरूक रहे हैं। 'भारतोत्थान', 'बाल विधवा', 'भारत प्रशंसा' आदि कविताएँ उनकी राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की अभिव्यंजक हैं।

पाठक जी शब्दशोधन में अद्वितीय कहे गए हैं। जिस प्रकार उनकी ब्रजभाषा चलती हुई और रसमयी है, उसका पदविन्यास भी उसी अनुपात में मधुर और सुसंस्कृत है। उन्होंने ब्रजभाषा को जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया। इस प्रक्रिया में पाठक जी की भाषा खड़ी बोली से प्रभावित हो गई है। परंतु उसमें सजीवता और सरसता के दर्शन होते हैं। अनुवादों की भाषा में मूल भावों की संरक्षा के साथ साथ भाषा-प्रवाह भी बना रहा है। पाठक जी की भाषा में अलंकारों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। केवल अनुप्रास, संदेह, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि कहीं कहीं मिल जाते हैं। कवित्त और सवैया के अतिरिक्त बरवै छंद के प्रयोग में पाठक जी सफल रहे हैं। समग्रत: पाठक जी का ब्रजभाषा काव्य उनकी प्रतिभा, भावुकता और सुरुचिसंपन्नता का परिचायक है। संभवतः इसीलिये रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"भद्दापन इनमें न था, न रूप रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।"

नाथूराम शर्मा 'शंकर'

नाथूराम शर्मा 'शंकर' (सं१९१६-१९८९) ह्रासोन्मुखी भारतेंदु युग के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त कवियों में माने जाते हैं। 'शंकर' जी के ब्रजभाषा काव्य में प्राचीनता और नवीनता का युगपद् विन्यास दिखाई पड़ता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की प्रारंभिक कविताओं में युगप्रवाह के अनुरूप षट्ऋतु वर्णन, नखशिख, रस-रसांग-विवेचन, समस्यापूर्ति आदि प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। परंतु इसके बाद इनकी काव्य-प्रवृत्ति आर्यसमाज जैसे आंदोलनों से प्रभावित होकर यथार्थोन्मुखी होती है। 'शंकर' में आशुकवित्व की प्रतिभा थी, परिणामतः काव्यरचना उनके लिये एक सहज कर्म बन गया था। छंदःप्रयोग की दृष्टि से 'शंकर' विशेष सफल कवियों में माने जाते हैं। वे मात्रिक और वर्णिक छंदों में समान वर्णविन्यास के माध्यम से काव्यरचना

में कुशल थे। 'शंकर' ने परंपरा से चले आ रहे अनेक नामरहित छंदों का नामकरण किया। उन्होंने 'मिलिंदपाद', 'शंकरछंदु', 'राजगीत' जैसे छंदों का प्रवर्तन किया जो उनकी विशिष्ट प्रतिभा के परिचायक हैं।

'शंकर' जी समस्यापूर्ति के क्षेत्र में अपने युग के अग्रणी कवियों में माने जाते हैं। वे एक समस्या की अनेक रूपों में पूर्ति करने की कला में सिद्धहस्त थे। वे आशु-प्रतिभा-संपन्न कवि थे। 'शंकर' ने ब्रजभाषा के साथ साथ उर्दू और खड़ी बोली में भी काव्यरचना की। अतः उनकी ब्रजभाषा विशुद्ध नहीं रह सकी है। कहीं कहीं तो वह खड़ी बोली के निकट पहुँच गई है। फिर भी उनकी भाषा में सजीवता और प्रेषणीयता के गुणों का विन्यास हुआ है। 'शकर' की प्रारंभिक कविता अलंकारप्रयोग की प्रवृत्ति बोझिल है, परंतु उत्तरोत्तर यह प्रवृत्ति कम होती गई है। छंदःप्रयोग की विविधता और कुशलता 'शंकर' के समान द्विवेदी युग के अन्य ब्रजभाषा कवियों में नहीं दिखाई पड़ती। समग्रतः नाथूराम 'शंकर' का कृतित्व परंपरागत ब्रजभाषा काव्यरचना को प्राथमिकता देने के साथ नवीनता की ओर उन्मुख रहा।

महापात्र लाल जी

इनका जन्म संवत् १९१४ में असनी (जिला फतेहपुर) में हुआ। लाल जी ने 'अश्विनी चरित्र', 'षट्ऋतुविनोद' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। अवध के ब्रजभाषा कवियों में इनका विशेष संमान था। लाल जी की कविता का एक उदाहरण है—

बरसें घनस्याम न कैधों वहाँ, गति चारु चकोरन की हरी है।
उड़े चातक, मोर मिलिंद किधौं, मति कोकिल दादुर की अरी है॥
अब लों घर आए न लाल जी हा, ज्यों बिरंचि न भूमि हरी करी है।
हर मारयो मनोज कै फेरि छुरी, बिजुरी पै किधौं बिजुरी परी है॥

वल्लभ सखा

इनका पूरा नाम ब्रजवल्लभदेव था। वल्लभ सखा का जन्म संवत् १९१७ में हुआ तथा संवत् १९९२ में गोलोकवासी हुए। ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज बिहार के दरभंगा जिले में सदूरपुरिया सरसब नामक स्थान के निवासी थे। वल्लभ सखा ने नवीं कक्षा तक शिक्षा पाई थी। उन्होंने घर पर संस्कृत, उर्दू और फारसी स्वाध्याय से सीखी थी। वल्लभ जी एक चित्रकार, संगीतज्ञ और कवि थे। वियोगी हरि ने उन्हें 'ब्रज के धूल भरे हीरे' कहा है। वल्लभ सखा ने 'ऊषा चरित्र', 'रुक्मिणी मंगल', 'रामाश्वमेध', 'कृष्णजन्म', 'शकुंतला',

'कादंबरी', 'रघुवंश' आदि नाटकों की रचना की और उनका अभिनय भी किया। वल्लभ सखा के एक गीत का ब्रजभाषानुवाद भी उनके पुत्र के पास सुरक्षित है। इनकी 'प्रेम-प्रीति-माला' नामक एक कृष्णभक्तिपरक दोहों में रचित रचना प्रकाशित हुई थी। परंतु अब वह अप्राप्य है। यहाँ वल्लभ सखा का एक कवित्त उद्धृत है—

प्यारी प्रानाधारी ते निहारी हैं हमारी कहूं,
कीरति कुमारी सो सिधारीं रिसियान पै।
ओढ़े नील सारी जामे जरद किनारी जरी,
चंद उजियारी मंद होत मुख भान पै॥
वल्लभ विलासी तू तो वारिज बरूथन को,
बिरमै कह्यो है मोहि मृदु मुख मुस्क्यान पै।
भूलिहू तिहारी मति डोलती न मारी,
जौ पै होती डीठ डारी तें पियारी अधरान पै॥

रंगनारायण 'रंगपाल'

रंगपाल (संवत १९२१-१९९३) का व्यक्तित्व रीतिकालीन रसज्ञ कवि-आश्रयदाता का स्मरण दिलाता है। वे बस्ती जिले के हरिहरपुर के ताल्लुकेदार थे। रंगपाल कवि होने के साथ साथ कवियों के आश्रयदाता भी थे। भारतेंदु ने उन्हें 'महाकवि' की उपाधि दी थी। रंगपाल शास्त्रीय परंपरा के कवि थे। वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ तथा संगीत आदि विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे। युगप्रवाह के अनुरूप रंगपाल की रचनाओं में भी प्राचीन तथा नवीन काव्य प्रवृत्तियों की समांतरता दिखाई पड़ती है। उन्होंने जहाँ कृष्ण-भक्ति-विषयक रचनाएँ कीं वहीं वे हास्य, करुण, शांत और वीर रसों की काव्यरचना में भी सफल रहे। उनकी कविता में युगयथार्थ, गोसेवा, नया फैशन और मातृभाषाप्रेम जैसे विषयों के माध्यम से नवीनता का समावेश हुआ है।

रंगपाल की कविता में हिंदी और संस्कृत के विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। साथ ही उन्होंने पद शैली में काव्यरचना करके अपनी संगीतसाधना का परिचय दिया। इस दृष्टि से वे रीति काल के घनानंद जैसे कवियों के निकट दिखाई पड़ते हैं। रंगपाल की प्रारंभिक रचनाओं में ब्रजभाषा का रूप अलंकृत तथा तत्सम-पदावली-युक्त रहा है, लेकिन धीरे धीरे उसमें तद्भव पदावली की प्रधानता होती गई। संगीताश्रित लोकगीतों की रचना में रंगपाल की ब्रजभाषा का रूप सहज है। इस प्रकार रंगपाल की ब्रजभाषा कविता में प्राचीन और नवीन के समन्वय के साथ शैलीगत विविधता लक्षित होती है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संवत् १९२२–२००३) आजमगढ़ जिले में निजामाबाद के सनाढ्य ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। संवत् १९३६ में उन्होंने हिंदी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। संवत् १९४० में निजामाबाद के तहसील के स्कूल में अध्यापक हो गए और संवत १९४४ में उन्होंने नार्मल उत्तीर्ण किया। संवत १९४६ में कानूनगो की परीक्षा उत्तीर्ण करके सदर कानूनगो हो गए। इसके बाद सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त करके काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापक हो गए। अयोध्यासिंह उपाध्याय का प्रारंभिक कवि रूप बाबा सुमेरसिंह के यहाँ होनेवाली कवि-गोष्ठियों में विकसित हुआ; वहाँ वे अपनी काव्यपूर्तियाँ पढ़ा करते थे। इनका 'हरिऔध' नाम उसी समय का है। अपने जीवनकाल में हरिऔध ब्रज-साहित्य-मंडल से संबद्ध रहे।

'हरिऔध' द्विवेदी युग के उन कवियों में हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में काव्यरचना की। हरिऔध की प्रारंभिक रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। ये रचनाएँ समस्यापूर्तियों के रूप में उपलब्ध हैं जिनमें कल्पना की उड़ान और चमत्कृति का विन्यास देखा जा सकता है। परंतु बाद में वे नवीन एवं समसामयिक विषयों पर लिखने लगे। 'हरिऔध' की ब्रजभाषा रचनाओं में उनके कवि और आचार्य रूपों की अभिव्यक्ति हुई है। कवि रूप में हरिऔध ने समाज सुधार, देश-प्रेम, धार्मिक सद्भाव जैसे विषयों पर रचना की और युगानुरूप प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति संबंधी रचनाएँ भी की जिनके अंतर्गत उन्होंने उसके परंपरागत उद्दीपन और अलंकृत रूप का परित्याग कर आलंबन और रहस्यात्मक सत्तावाले रूप को प्रधानता दी। 'रस कलश' में हरिऔध ने अपनी रस विषयक नवीन धारणा प्रस्तुत की। इस रचना में उन्होंने शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का महत्व प्रतिपादित किया है तथा युग के अनुरूप नायक नायिकाओं के नवीन भेदों की कल्पना की है। 'रस कलश' में हरिऔध की आचार्य चेतना पर महावीरप्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं का संस्कार दिखाई देता है। उन्होंने अतिशय शृंगारिकता और अश्लीलता का यथासंभव परिहार करने की चेष्टा की है। 'रसकलश' में हरिऔध ने नए ढंग की जिन नायिकाओं के भेद वर्णित किए हैं, वे रस सिद्धांत की दृष्टि से ठीक नहीं उतरते।

हरिऔध की ब्रजभाषा कविता में ब्रजभाषा का रूप अत्यधिक प्रौढ़, परिष्कृत सुव्यवस्थित और व्याकरण संमत है। ब्रजभाषा की प्रकृति में ढालकर उन्होंने अन्य भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया है। उनकी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के सफल प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। हरिऔध का ब्रजभाषा कवि का रूप उनके खड़ी बोली के कवि रूप के सामने दब सा गया है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (संवत् १९२३–१९८९)

द्विवेदी युग में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा के एकनिष्ठ कवि के रूप में दिखाई पड़ते हैं। द्विवेदी युग में खड़ी बोली काव्यप्रवाह से अधिकांश कवि प्रभावित हुए, परंतु जगन्नाथदास 'रत्नाकर' युगप्रवाह से अप्रभावित रहे। इसीलिये उन्हें ब्रजभाषा का अंतिम 'क्लासिक' कवि कहा जाता है।

रत्नाकर का जन्म काशी के बाबू पुरुषोत्तमदास अग्रवाल के सुसंपन्न कुल में हुआ था। इनके पूर्वज हरियाणा के पानीपत के निकट सफीदों नामक कस्बे के निवासी थे, जो कई पीढ़ियों पूर्व काशी में आ बसे थे। संवत् १९४८ में रत्नाकर ने बी० ए० उत्तीर्ण किया। इसके बाद वे फारसी लेकर एम० ए० करना चाहते थे, किंतु अपने इस उद्देश्य में वे सफल नहीं हो सके। रत्नाकर के पूर्वज मुगल बादशाहों के यहाँ प्रतिष्ठित पदों पर रहे थे। अतः परंपरा से उसके परिवार में फारसी का संमान था। शिक्षा समाप्त करने के बाद रत्नाकर आवागढ़ स्टेट में सेक्रेटरी नियुक्त हुए और फिर अयोध्यानरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए तथा आजीवन उसी पद पर रहे। रत्नाकर के पिता भारतेंदु हरिश्चंद के अंतरंग मित्र, काव्यप्रेमी और उर्दू फारसी के विद्वान् थे। उनके यहाँ कविगोष्ठियाँ हुआ करती थीं। यहीं से रत्नाकर को कविता के संस्कार मिले और वे स्वयं काव्य रचना में प्रवृत्त हो गए। प्रारंभ में रत्नाकर 'जकी' उपनाम से उर्दू में कविता रचते थे, बाद में ब्रजभाषा में कविता करने लगे। रत्नाकर ने उर्दू, फारसी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बँगला आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। भाषाज्ञान के साथ रत्नाकर का ज्ञानकोष भी पर्याप्त संपन्न था। उन्होंने साहित्य, संस्कृति, धर्म और दर्शन का अच्छा ज्ञान अर्जित किया था। रत्नाकर के पूर्ववर्ती और समसामयिक ब्रजभाषा कवियों ने जहाँ ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा की एक ही प्रवृत्ति को ग्रहण किया, वहाँ रत्नाकर ने भक्ति, शृंगार, नीति और वीरता संबंधी रीतिपरिपाटी की भी सरस काव्यरचनाएँ प्रस्तुत कीं।

रत्नाकर की खंडकाव्यात्मक ब्रजभाषा रचनाओं में 'हरिश्चंद', 'हिंडोला, 'कल काशी', 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' आती हैं। इन रचनाओं में उन्होंने पारंपरित पुराणगाथाओं और काव्यविषयों का आधार लेकर उन्हें अपनी कला से अलंकृत किया। 'शृंगार लहरी', 'गंगाविष्णु-लहरी', 'भीमाष्टक', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक', 'द्रौपदीक्रंदन', और 'प्रकीर्णक-पदावली' उनकी मुक्तक रचनाएँ हैं। मौलिक काव्यरचना के अतिरिक्त रत्नाकर ने 'हम्मीर हठ', 'बिहारी रत्नाकर', 'हित तरंगिणी', 'कविकुल कंठाभरण' और 'सूरसागर' के कुछ अंशों का संपादन भी किया। रत्नाकर के ये संपादन, ब्रजभाषा के प्रति उनके अनन्य अनुराग के साथ उसका मर्मज्ञ होने के परिचायक हैं। रत्नाकर की सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रचना 'उद्धव शतक' है।

रत्नाकर की काव्यदृष्टि विशुद्ध कलाकार की है। इसीलिये वे 'क्लासिक' कवि होते हुए भी अलंकृति की रूढ़िवादिता से मुक्त दिखाई पड़ते हैं। उनमें आचार्यत्व के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाई देता। वे रीतिकालीन मुक्तक परंपरा के अतिरिक्त प्रबंध काव्य की रचना में भी सफल रहे हैं। भक्ति और श्रृंगार की साधना के साथ अन्य रसों के प्रयोग में उन्हें जो सफलता मिली है, वह उन्हे रीतिकालीन कवियों की परंपरा से पृथक् कर देती है। प्रकृतिचित्रण के क्षेत्र में वे प्रकृति के उद्दीपन रूप के स्थान पर आलंबन रूप में संशिलष्ट प्रकृतिचित्रण के कारण भी रीति-काव्य-परंपरा से पृथक हो जाते हैं।

रत्नाकर ने प्राचीन कथानकों का आधार ग्रहण कर उन्हें स्वकल्पना से पल्लवित और कला से अलंकृत करते हुए ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा में खंड काव्यों के नवीन प्रयोग किए। इस दृष्टि से उनके 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' का विशेष महत्व है। मुक्तक छंदों में विभिन्न रसों को व्यंजित करने में भी रत्नाकर पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने ब्रज-काव्य-परंपरा में उपेक्षित वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्-भुत आदि रसों का उनके अनुरूप वर्णयोजना के माध्यम से सफल अभिव्यंजन किया है। रत्नाकर का ब्रजभाषा काव्य भाव और कला दोनों दृष्टियों से संपन्न एवं प्रौढ़ है। प्रसाद और माधुर्य गुणों की अभिव्यक्ति में उनकी भाषा सक्षम है और उसमें सर्वत्र कलात्मकता के साथ अपूर्व प्रवाहमयता लक्षित होती है। आधुनिक काल के कवियों में ब्रजभाषा को परिष्कृत और सुव्यवस्थित बनाने का जो कार्य भारतेंदु ने प्रारंभ किया था, रत्नाकर ने उसे पूरा किया। इसलिये रत्नाकर की भाषा में सर्वत्र एकरूपता मिलती है। रत्नाकर ने ब्रजभाषा की प्रकृति की सर्वत्र रक्षा की है उन्होंने तत्सम तथा फारसी शब्दावली का ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप प्रयोग किया है। अलंकरण वृत्ति को प्रश्रय देते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसे भाव-सौंदर्य-बाधक नहीं बनने दिया है। अनुप्रास, यमक, वीरता, श्लेष आदि शब्दालंकारों तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, विरोधाभास आदि अर्थालंकारों के माध्यम से उनके काव्य में जहाँ भाषागत चारुता आई है, वहीं वे अर्थसौरस्य का भी सफल विधान कर सके हैं। रत्नाकर की कलाचेतना रसयुक्त होते हुए भी नवीनता की आग्रही रही है और इसलिये, उनके काव्य में मानवीकरण, विशेषण विपर्यय, ध्वन्यर्थ व्यंजना एवं चित्रात्मकता के सुंदर प्रयोग सहज रूप में दिखाई पड़ते है। छंदप्रयोग के क्षेत्र में उन्हें कवित्त, सवैया, रोला आदि के प्रयोग में विशेष सफलता मिली है। घनाक्षरी उनका सर्वाधिक प्रिय छंद है। उन्होंने घनाक्षरी का सफल प्रयोग करते हुए उसके रूपविधान का एक मानदंड प्रस्तुत किया। वे द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ ब्रजभाषा कवि हैं।

लाला भगवानदीन 'दीन' (संवत १९२६-१९८७)

लाला भगवानदीन ब्रजभाषा-काव्य-रचना के क्षेत्र में उर्दू फारसी का संस्कार

लेकर आए। वे रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ होने के साथ ही ब्रजभाषा के सुकवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। लाला जी का जन्म श्रावण शुक्ल छठ को संवत् १६२३ में फतेहपुर जिले के बरवट ग्राम में हुआ था। एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त करके वे अध्यापन कार्य में प्रवृत्त हुए तथा उन्होंने कायस्थ पाठशाला और छतरपुर राज्य के महाराजा हाई स्कूल में अध्यापन कार्य किया। इसके बाद छतरपुर से आकर वे काशी के सेंट्रल हिंदू कालेज में फारसी के अध्यापक नियुक्त हुए। वहीं बाद में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में उन्होंने हिंदी का अध्यापन कार्य किया और प्रतिष्ठा अर्जित की। लाला जी ने नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में प्राचीन ग्रंथों के संपादन कार्य में भी योग दिया।

दीन जी बहुमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति थे। कवि के अतिरिक्त वे एक कुशल लेखक, समालोचक संपादक और मर्मज्ञ अध्यापक भी थे। दीन जी ने 'हिंदी शब्द-सागर' के संपादन में योग दिया तथा 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका का संपादन किया। काव्य रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने रीति ग्रंथों की रचना करके एक प्रकार से रीतिबद्ध कवियों की परंपरा का अनुसरण किया। 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंगार्थ मंजूषा' उनके रीति ग्रंथ है जो अपने ढंग के अनूठे हैं। 'बिहारी बोधिनी' 'केशव कौमुदी', 'प्रिया प्रकाश' और 'सूक्ति सरोवर' उनके प्रसिद्ध टीका ग्रंथ हैं जिनसे उनको प्राचीन काव्य की मर्मज्ञता का बोध होता है। इनके अतिरिक्त लाला जी द्वारा संपादित 'सूरपंचरत्न' और 'केशव पंचरत्न' उनकी संपादित कृतियां हैं।

लाला भगवान दीन पहले ब्रजभाषा में कविता करते थे। 'लक्ष्मी' के संपादक हो जाने के बाद उन्होंने खड़ी बोली में भी कविता की। काव्यरचना के प्रति लाला जी की अभिरुचि बाल्यावस्था से ही थी। पहले वे उर्दू में 'रोशन' उपनाम से कविता करते थे। दीन जी की ब्रजभाषा रचनाएँ सरल, सरस और भावपूर्ण शैली में रची गई हैं। वे समस्यापूर्ति में सिद्धहस्त थे। 'नवीन बीन' और 'वीर पंचरत्न' उनकी प्रसिद्ध ब्रजभाषा रचनाएँ हैं। दीन जी में नई और पुरानी काव्य प्रवृत्तियों का समन्वय दिखाई देता है। दीन जी की प्राचीन शैली की ब्रजभाषा रचनाओं में रीतिकालीन संस्कार प्रखर है, ऐसा कदाचित् उनके रीतिकालीन अध्ययन की गहनता के कारण हुआ। उन्होंने रूढ़ विषयो को चुना और कला पक्ष को महत्व दिया। परिणामतः उनकी प्राचीन शैली की रचनाओं में अलंकारप्रियता, उक्तिवैचित्र्य, चमत्कार-प्रियता आदि प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं। दीन जी की नवीन शैली की रचनाओं में राष्ट्रीय भावना और समसामयिक विषयों को अभिव्यक्ति मिली। उनकी अनेक कविताओं में रेल, मोटर, साइकिल, वायुयान, ताजमहल जैसे नए विषयो को ग्रहण किया गया है। इन विषयों को स्वीकार करते हुए भी उनकी शैली का स्वरूप अलंकृत और

उक्तिवैचित्र्यपूर्ण ही रहा है । दीन जी की ब्रजभाषा व्याकरण की मर्यादा का निर्वाह करती है । परंतु साथ ही उसपर बुंदेलखंडी का प्रभाव देखा जा सकता है । फारसी का संस्कार होने के कारण कहीं कहीं उनकी भाषा में फारसी औ उर्दू शब्दावली का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है । दीन जी ने सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय, रोला आदि ब्रजभाषा के छंदों का प्रयोग तो किया ही, उन्होंने उर्दू बहरों के आधार पर भी कुछ छंदों की रचना की। दीन जी अपने समय के ब्रजभाषा कवियों में समस्यापूर्ति के लिये प्रसिद्ध थे।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (संवत् १९२५–१९७२)

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' द्विवेदी युग की नवीन काव्यचेतना से पृथक् प्राचीन परंपरा में काव्यरचना करनेवाले कवियों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे द्विवेदी युग में भारतेंदु युग की 'अवशिष्ट विभूति' कहे गए हैं । राय देवीप्रसाद पूर्ण का जन्म संवत् १९२५ में जबलपुर में हुआ था, परंतु उनकी काव्यसाधना का क्षेत्र कानपुर रहा। शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने कानपुर में वकालत प्रारंभ की । वकालत के साथ ही वे कानपुर की सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक गतिविधियों में संलग्न रहते थे । 'पूर्ण' जी स्थानीय कांग्रेस कमेटी और पीपुल्स एसोसिएशन के सभापति थे। संवत् १९६९ में कानपुर में होनेवाली प्रांतीय कानफरेंस के वे सभापति थे। हिंदी के प्रांतीय संमेलनों में वे कई बार सभापति बने । लंदन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने उन्हें अपना नियमित सदस्य स्वीकार किया । 'पूर्ण' जी ने कानपुर में 'रसिक समाज' को नवजीवन प्रदान किया और ब्रजभाषा कविता की धूम मचाई। 'रसिक समाज' से उन्होंने संवत् १९५४ में 'रसिक वाटिका' नामक पत्रिका भी निकाली, जिसमें समस्यापूर्ति और प्राचीन ढंग की कविताएँ प्रकाशित होती थीं। उसके बाद संवत् १९६२ में उनके संपादकत्व में 'रसिक मित्र' का प्रकाशन हुआ, परंतु यह पत्र अधिक दिनों तक नहीं चल सका। इसके बाद संवत् १९६८ में 'पूर्ण' जी की प्रेरणा से 'धर्म कुसुमाकर' निकला, जो रसिक समाज की सेवा करता रहा ।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की रचनाओं का संग्रह 'पूर्ण संग्रह' नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिसमें उनकी सभी रचनाएँ संग्रहीत हैं। 'स्वदेशी कुंडल', 'राम-रावण-विरोध', 'राजदर्शन', 'बसंत वियोग' इस संग्रह की प्रमुख रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त 'कादंबरी', 'सरस्वती', 'सुंदरी सौंदर्य', 'भक्ति', 'विज्ञान' 'रंभा-शुक-संवाद', विश्वविद्यालय 'डेप्यूटेशन', 'नूतन वर्ष का स्वागत' 'शकुंतला जन्म' शीर्षक से पूर्ण की स्फुट किंतु महत्वपूर्ण रचनाएँ संकलित हैं। काव्यरचनाओं के अतिरिक्त 'पूर्ण' जी का एक 'चंद्रकला भानुकुमार' शीर्षक नाटक भी प्रसि

है। उन्होंने मेघदूत का ब्रजभाषा अनुवाद भी किया, जो 'धाराधर धावन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'पूर्ण' जी की अधिकांश रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की ब्रजभाषा कविताओं में विषयगत वैविध्य दिखाई पड़ता है। उनमें देशभक्ति, हिंदू-मुस्लिम-एकता, मातृभाषा अनुराग, थियोसोफिस्ट आंदोलन, अद्वैत वेदांत जैसे परंपरा और युगबोध से संबंधित विषयों को ग्रहण किया गया है। 'पूर्ण' जी की ब्रजभाषा रचनाओं का एक वर्ग ऐसा भी है जिनमें उनका विशुद्ध कविरूप अभिव्यक्त हुआ है। ऐसी कविताओं में उनका प्रकृति अनुराग और आत्मानुभूति का सफल अभिव्यंजन हुआ है। इस प्रकार 'पूर्ण' जी की ब्रजभाषा कविताओं में परंपरा एवं नवीनता का सहविन्यास दिखाई पड़ता है।

'पूर्ण' जी प्रकृति के कुशल चितेरे थे। प्रकृति के सहज रूप और सौंदर्य के चित्रण में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। वे प्रकृतिचित्रण की पाश्चात्य प्रणाली से भी परिचित थे, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी ब्रजभाषा में देखी जा सकती है। शब्दलालित्य और अनुप्राससृष्टि उनकी ब्रजभाषा कविता के सहज गुण हैं।

बैजनाथ सिंह 'किंकर'

'किंकर' का जन्म संवत् १६१८ में काशी के औरंगाबाद नामक मुहल्ले में हुआ था। 'किंकर' जी काशी के प्रसिद्ध राजा मोतीचंद के यहाँ अनेक वर्षों तक कार्य करते रहे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त से भी 'किंकर' जी का संबंध था और उनके साथ सेवा उपवन में रहते थे। किंकर जी ब्रजभाषा साहित्य के प्रेमी होने के साथ एक सफल कवि भी थे। 'किंकर' ने 'गंगा स्तुति', 'राधारानी का इजलास', 'सुदामा चरित्र' जैसे पुराने विषयों के साथ समसामयिक विषयों पर भी अनेक छंद रचे, जिनमें प्रसाद-गुण-पूर्ण प्रवाह मिलता है। उनकी ब्रजभाषा कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है—

मोरन पखौवन की राखि कै किरीट भाल,
गुंजन बहोर गुहि मालहि सँवारे हौ।
कामनी पुरानी सो चिरानी नदराय जू की,
लागि लागि ताको निज दिवस गुजारे हौ।
घूरनि घरेते पाहिरे ते सब साथ लिए,
ब्रज बीथिकानि मैं कुकीरति पसारे हौ।
सुनौ हो कंधाई अब लाज हूँ पराई पेखि,
राधा सों सगाई हेत हांस हिय धारे हौ।

ब्रजेश

इनका जन्म संवत १९२८ में हुआ था। ब्रजेश के पूर्वज महापात्र नरहरि जी सम्राट् अकबर के दरबारी कवियों में थे। ब्रजेश का परिवार रीवाँ के साहित्यानुरागी राजाओं के द्वारा बहुत समय से संमानित रहा है. ब्रजेश आचार्य कवियों की परम्परा में आते हैं। उन्होंने 'रसोग निर्णय', 'रमेश रत्नाकर', और 'विश्वनाथ भूषण' नामक ग्रन्थों में अपनी आचार्य प्रतिभा का परिचय दिया है। ब्रजेश के काव्यग्रंथों में 'विरह वाटिका', 'शांत शतक', 'सोरठा शतक', 'रामायण' आदि प्रसिद्ध हैं। ब्रजेश जी की ब्रजभाषा काव्यशैली पर पद्माकर का बहुत प्रभाव है --

सौरभिन सारी सेत सोहत सुमनहार,
सारदा ते सुषमा सबाई उघरति है।
कहत 'ब्रजेश' बैठी आदरस आगे करि,
मा कौं रमा कौ रंग-रूप निदरति है।
आर सों आँगुरी में चंदन लगाइ चाइ,
चित्र चारु गोलन कपोलन करति है।
आरसी सु.छवि स्यामा आरसी करन स्यामे,
आरसी में मानो जंत्र आरसी भरति है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी आधुनिक काल मे ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा के उन्नायकों तथा द्विवेदी युग के प्रतिनिधि ब्रजभाषा कवियों में माने जाते हैं। वे ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली में भी काव्यरचना करते थे। साथ ही उनकी ख्याति एक आचार्य कवि के रूप में भी रही है। काला कांकर से प्रकाशित होनेवाले 'हिंदुस्थान' में पोद्दार जी की ब्रजभाषा रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। उनका 'भर्तृहरि शतक' का ब्रजभाषा अनुवाद 'हिंदुस्थान' में ही प्रकाशित हुआ था। 'काव्य कल्पद्रुम' पोद्दार जी के आचार्य कवि के व्यक्तित्व का प्रमाणिक ग्रंथ है जिसमें उन्होंने काव्य सिद्धांतों के निरूपण के साथ धार्मिक रचनाओं को उदाहरणों के रूप में रखा है। उनका एक सवैया प्रस्तुत है—

अलि पुंजन की मद गुंजन सों, बन कुंजन मंजु बनाइ रह्यो,
लगि अंग अनंग तरंगन सों रति रंग उमंग बढ़ाइ रह्यो।
विकसे सर कंजन कंपित कै रज रंजन लै छिटकाइ रह्यो,
मलयानिल मंद दसों दिस में मकरंद अमंद बहाइ रह्यो।

बलरामप्रसाद मिश्र 'द्विजेश'

उत्तर प्रदेश के बस्ती नगर में संवत् १९२९ में जन्मे 'द्विजेश' ब्रजभाषा

काव्य के प्रेमी ही नहीं, अपितु सफल कवि भी थे। काशी के औरंगाबाद के निवासी श्री काशीपति त्रिपाठी के पास 'द्विजेश' की ब्रजभाषा रचनाओं का अच्छा संग्रह है। द्विजेश की ब्रजभाषा कविताओं के रत्नाकर जी प्रशंसक थे। उनकी कविताओं में भक्ति, श्रृंगार और नीति जैसे परंपरित विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। 'द्विजेश' की कविताओं का अभिव्यक्ति पक्ष रीतिकालीन संस्कार लिए हुए है। द्विजेश की वचन-विदग्धा नायिका का एक चित्र देखिए—

पथ की थकी हो मनमथ के अरथ की ना
  मथ की महकि भरी है 'द्विजेश' लखि लै :
छलकी परति राते हलकी करन चाहौं,
  छलकी कहूना बलकि चाहैं तू चाखि लै।
जैहौं अब ऐहौं पुनि सौंह तेरे तेरी सौंह,
  करै ना रिसौंह भौंह मेरी या परखि लै।
मानत नहीं तौ जमानत मैं कान्ह जानि,
  मेरी आँग आँगी तू अमानत मैं राखि लै।

अमीर अलो 'मीर' (संवत् १९३०–१९९४)

द्विवेदी युग के ही नहीं, आधुनिक काल के ब्रजभाषा के मुसलमान कवियों में सैयद अमीर अली 'मीर' का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी काव्यसाधना का काल भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग तक विस्तीर्ण है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य प्रभाकर' से प्रेरणा और पिंगल ज्ञान प्राप्त करके वे संवत् १९५१ से काव्य-साधना में प्रवृत्त हुए। 'मीर' की प्रारंभिक रचनाएं समस्यापूर्तियों के रूप में उपलब्ध हैं। परंतु कालांतर में युगबोध से प्रेरित होकर उन्होंने राष्ट्रप्रेम, गोसेवा, शिक्षा-प्रसार, राष्ट्रभाषा जैसे समसामयिक विषयों पर भी रचनाएँ कीं। 'मीर' के काव्य का वैशिष्ट्य प्रमुखतः अन्योक्तिविधान में देखा जा सकता है। 'मीर' की भाषा व्याकरणसंमत, प्रसाद-गुण-युक्त, और भावाभिव्यक्ति में सफल है। उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण प्रवाहमयता और अर्थव्यंजना की अद्भुत शक्ति दिखाई पड़ती है। मीर की ब्रजभाषा कविताओं में छंदविधान संयत एवं छंद-शास्त्रोचित है।

मिश्रबंधु

'मिश्रबंधु' के नाम से विख्यात गणेशबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र और श्यामबिहारी मिश्र नामधारी मिश्रबंधुओं ने हिंदी साहित्य के अध्ययन अनुशीलन में लेखक, संपादक, समालोचक और इतिहासकार के रूप में योग दिया। इनमें श्यामबिहारी मिश्र (सं० १९३०–२००४) और शुकदेवबिहारी मिश्र (सं० १९३५-

२००८) ब्रजभाषा के कवि के रूप में भी विख्यात रहे हैं। मिश्रबंधुओं की ब्रजभाषा काव्य रचनाओं में 'पद्य पुष्पांजलि', 'लवकुश चरित्र', 'भरतविनय' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। मिश्रबंधुओं के ब्रजभाषा काव्य में भाषा और शिल्प के स्तर पर प्रायः परंपरा का ही अनुवर्तन हुआ है। विषयक्षेत्र में कृष्णभक्ति के सामान्य रूप के ग्रहण के अतिरिक्त 'जीवात्मा परमात्मा', 'वीरनायक वर्णन', 'सेना वर्णन', 'युद्ध के दाँव पेंच' जैसे विषयों को मिश्रबंधु की कविताओं में स्थान मिला है। मिश्रबंधुओं की ब्रजभाषा कविता का एक उद्धरण प्रासंगिक होगा—

प्रबल प्रचंड मारतंड सो तपाय नीको,
छायो तेज दसहू दिसान अनियारो है।
बैरिन के मद परिपूरन को चूरन कै,
सूरन को निज सग्नागत निहारो है।
दीनन को देत अर्थ दान नित जाही बिधि,
गव्बरन त्यों ही बिनु मान करि डारो है।
सिवाजी खुमान हौं बखान केहि भाँति करौं,
बढ़ि सब ही ते लखे सुजस तिहारो है।

कृष्ण कवि

इनका पूरा नाम लाला किशनलाल था। कृष्ण कवि का समय संवत् १९३१ से १९९० तक मान्य है। उन्होंने ब्रजभूमि में रहकर अपनी काव्यसाधना की। कृष्ण कवि की अनेक छोटी छोटी ब्रजभाषा रचनाओं में 'गजेंद्रमोक्ष' और 'कृष्ण कविता-वली' ही प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। कृष्ण कवि की एक खंडिता नायिका का चित्र इस प्रकार है—

आए भोर उठि कै बिताई प्रिय रैन कहाँ, आलस उनींदे दृग लाजन सों छूटी है।
अंजन अधर छवि देत मनो नीलम की जावक लिलार प्रभा मानिक सी तूटी है॥
'कृष्ण कवि' कहैं माल बिन-गुन मुकतन की, ठौर ठौर अंजन में राजत सुटूटी है।
साँच कह दीजै हा-हा नैंक न दुराव कीजै कौन से नवीन जौहरी की हाट लूटी है॥

वचनेश मिश्र

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में 'वचनेश' मिश्र (संवत् १९३२–२०१६) अपनी काव्यरचना में शास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण विशेष महत्व रखते हैं। वचनेश ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली में भी काव्यरचना करते थे। वे संस्कृत, हिंदी, उर्दू और फारसी के ज्ञाता थे। परंतु वचनेश का महत्व उनकी ब्रजभाषा के ही कारण है। वचनेश की कविताएँ 'सुकवि' में प्रकाशित होती थीं। उन्होंने ब्रजभाषा

काव्य के प्रेमी और मर्मज्ञ कालाकांकर नरेश के संपर्क में रहकर शृंगार और समसामयिक विषयों पर काव्यरचना की। वचनेश अपने पिंगल शास्त्र के अधिकार के कारण "अभिनव पिंगलाचार्य" के नाम से विख्यात थे। वे रीति कवियों की परंपरा का प्रतिनिधित्व करनेवाले कविशिक्षक रचनाकार थे।

वचनेश के काव्य में प्राचीनता के साथ नवीनता का समावेश मिलता है। ब्रजभाषा काव्य के परंपरित विषयों के साथ उन्होंने समसामयिक विषयों पर भी रचनाएँ की। वचनेश की रचनाएँ प्रबंध और मुक्तक दोनों ही काव्यरूपों में उपलब्ध होती हैं। इनका शबरी' नामक खंडकाव्य ब्रजभाषा की आधुनिक रचनाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राधा कृष्ण की लीलाओं पर आधारित मुक्तक रचनाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही, उनकी समसामयिक विषयों से संबद्ध मुक्तक रचनाएँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। समाजसुधार, मातृभाषा, प्रेम, अछूतोद्धार, राष्ट्रीयता, पराधीनता और जातीय उद्बोधन से संबंधित उनकी रचनाओं में युगबोध की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। वचनेश ने समसामयिक महापुरुषों और राष्ट्रसेवकों की गौरव गाथाओं को भी अपनी काव्यरचना में स्थान दिया। वचनेश की ब्रजभाषा कविता का व्यंग भी महत्वपूर्ण है और उन्होंने अ.ने समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विसंगतियों पर गहरी चोट की है। विषय वैविध्य की इस प्रक्रिया में वचनेश के मुक्तकों में शृंगार, हास्य, करुण, शांत, वी आदि रसों का प्रसार मिलता है।

वचनेश के ब्रजभाषा काव्य में प्रेषणीयता एवं अर्थव्याप्ति के गुण सामान्य प्रवृत्ति के रूप में देखे जा सकते हैं। यद्यपि वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे, तथापि उनके काव्य में उसकी सायास योजना नहीं मिलती। अनुप्रास और वर्णमैत्री की सहज योजना के साथ अर्थव्यंजना में वे सिद्धहस्त हैं। स्तोत्र शैली और भक्तिपरक रचनाओं को छोड़कर शब्दप्रयोग के क्षेत्र में वचनेश प्रायः उदार हैं। इसीलिये उनकी भाषा में उर्दू फारसी शब्दों के साथ अवधी के प्रयोग भी मिल जाते हैं। वचनेश नए छंदों के निर्माण में भी सिद्धहस्त थे, जिससे उनके पिंगल शास्त्र के ज्ञान का परिचय मिलता है।

रामसिंह

संवत् १९३६ में जन्मे सीतामऊ नरेश राजा रामसिंह ने ब्रजभाषा मे सरस कविताएँ लिखीं। रामसिंह की ब्रजभाषा कविताओं पर रीतिकालीन शैली की छाप प्रखर है। इनकी कविताओं का संकलन "मोहन विनोद" नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें राधा कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं का चित्रण हुआ है। रामसिंह को दोहा छंद की रचना में विशेष सफलता मिली है। इनके कुछ दोहे प्रस्तुत हैं—

नैन बिहीनो नेह है, यहै जथारत बात।
ना तौ क्यों न चकोर को बिधु कौं अंक लखात ॥
जानत हरि की बाँसुरी, उर छेदन की पीर।
फिर तू मो उर छेदिबे हा क्यों न होत अधीर ॥
तव मूरति की लटक नित अटकि रही इन नैन।
जिहि ढूंढन भटकति फिरौं पटकि सीस दिन रैन ॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

गयाप्रसाद शुक्ल (संवत् १९४०-२०३२) 'सनेही' और 'त्रिशूल' दो भिन्न उपनामों से कविता करते थे। वे 'सनेही' के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'सनेही' जी ब्रजभाषा के साथ ही 'उर्दू' में भी काव्यरचना करते थे। 'सनेही' जी की ब्रजभाषा कविताएँ 'रसिक मित्र', 'काव्यसुधानिधि' और 'साहित्य सरोवर' में बराबर प्रकाशित होती रहती थीं। 'सनेही' जी की कविताओं के तीन संग्रह 'प्रेमपचीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक क्रंदन' नाम से उपलब्ध हैं। सनेही जी ने अपने समसामयिक कवियों को अपने द्वारा संपादित 'सुकवि' नामक पत्र के माध्यम से ब्रजभाषा में काव्यरचना की प्रेरणा दी। आगे चलकर ये खड़ी बोली में भी काव्यरचना करने लगे।

सनेही जी की खड़ी बोली कविताओं में समसामयिक राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होने के कारण देशभक्ति का स्वर मुखर है। परंतु उनकी ब्रजभाषा कविताओं में शृंगार, वीर और करुण रसों का परिपाक दिखाई पड़ता है। सनेही जी समस्यापूर्ति में भी सिद्धहस्त थे। सनेही जी की ब्रजभाषा में अवधी, खड़ी बोली और उर्दू का प्रभाव दिखाई पड़ता है जिससे उनकी भाषा मिश्रित हो गई है। परंतु सनेही जी की भाषा का गुण सजीवता है और वह भावाभिव्यक्ति में समर्थ है।

सत्यनारायण कविरत्न (संवत् १९४१-१९७५)

द्विवेदी युग में जो कवि ब्रजभाषा की मधुर वाणी सुनाते रहे उनमें 'ब्रज-कोकिल' सत्यनारायण कविरत्न अग्रगण्य हैं। सत्यनारायण का जन्म अलीगढ़ के सरोध नामक ग्राम में हुआ था। माता पिता का देहांत हो जाने के कारण बाबा सुमेरसिंह ने इन्हें पाला पोसा था। आगरा कालेज में उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा पाई। बाल्यकाल से जीवन पर्यंत वे आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर ग्राम में ही रहे। सत्यनारायण जी का जीवन विषमता से भरपूर रहा। उनका संपूर्ण जीवन एक दुःखगाथा था। कविरत्न ब्रजमाधुरी में पगे जीव थे। इसके विपरीत उनकी पत्नी आर्यसमाजी संस्कारोंवाली महिला थीं। उनके पारिवारिक जीवन में यह विषमता बढ़ती गई और थोड़ी अवस्था में ही कविरत्न की जीवनयात्रा समाप्त हो गई।

सत्यनारायण कविरत्न छात्रावस्था से ही ब्रजभाषा में कविताएँ लिखने लगे थे। वसंत के आगमन पर रसिया आदि ग्रामगीत उन्मुक्त भाव से गाते थे। उनका सवैया छंद का सस्वर पाठ रसविभोर कर देनेवाला होता था। वे जीवन के अनुभवों को कविताबद्ध करने में सिद्धहस्त थे और मित्रों को वे पद्य में पत्र लिखा करते थे। वे प्रत्येक अवसर की कविताएँ रच देते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "उनकी वही दशा थी जो उर्दू के प्रसिद्ध शायर इंशा की लखनऊ के दरबार में हो गई थी।"

सत्यनारायण कविरत्न की ब्रजभाषा को रचनाओं में 'छप्पयतरंग' और 'भ्रमरदूत' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त कविरत्न जी के 'उत्तररामचरित', 'मालती माधव' और मेकाले के 'होरेशस' खंड काव्य के ब्रजभाषा अनुवाद भी महत्वपूर्ण हैं। 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' के अनुवादों में उन्होंने सवैयों का प्रयोग किया है। होरेशस का अनुवाद पद्यबद्ध है। कविरत्न जी की 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। 'भ्रमरदूत' की रचना नंददास के 'भ्रमर गीत' की शैली के अनुकरण पर हुई है परंतु उसमें कविरत्न जी की देशप्रेम की अंतश्चेतना और युगयथार्थ की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

कविरत्न की कुछ रचनाएँ समसामयिक हैं। इन रचनाओं में स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू आदि नेताओं की प्रशस्तियाँ, लोकहितकर आयोजनों के लिये अपील, जिसमें हिंदू विश्वविद्यालय के लिये अपील बहुत प्रसिद्ध है, दुःख और अन्याय निवारण के लिये पुकार, जिसमें 'कुली प्रथा के विरुद्ध पुकार' विशेष रूप से चर्चित रही है, आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। परंतु इन रचनाओं में कविरत्न की आत्मानुभूति का वह उद्वेग नहीं दिखाई पड़ता जो उनकी कृष्णभक्ति संबंधी रचनाओं में संभव हो सका है जबकि उनमें भी युगबोध सन्निभित हो गया है।

कविरत्न के ब्रजभाषा काव्य की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। वे कृष्णभक्ति और कृष्णलीला के गायक होते हुए भी युगचेतना के प्रति पर्याप्त जागरूक थे। उनकी भक्तिपद्धति में सख्य भाव और समष्टि चेतना को प्रमुखता मिली है। कविरत्न ने प्रकृति को निकट से देखा था और श्रीधर पाठक की प्रकृतिचित्रण की शैली का अनुसरण करके उन्होंने ग्राम्य प्रकृति के विविध पक्षों का उन्मुक्त चित्रण किया। कविरत्न ने ब्रजभाषा और ब्रजकाव्य को उसके संकीर्ण वृत्त से बाहर निकाला और जीवन से संपृक्त किया। इसीलिये उनको भाषा में साहित्यिक गरिमा के साथ लोकचेतना की भी रक्षा हुई है। अपने रूपनिर्माण की इस प्रक्रिया में कविरत्न का ब्रजभाषा काव्य सहज ही सरस और प्रेषणीय बन गया है।

धनीराम शर्मा 'प्रेम'

आगरा निवासी 'प्रेम' सत्यनारायण कविरत्न के समसामयिक थे । इनके कवित्त और सवैए रीतिकालीन शैली के हैं । जैसे—

बार सिवार हुते सुकुमारी सुगंध सने सुचि सीस सम्हारे।
काजर ते कजरारे महा अरु साँपिन सावक ते सटकारे ।।
चीकने चारु चिरौंजी हुते कवि 'प्रेम' भुवी मन बाँधन हारे ।
खोलत हैं तिनके भवफंद खुले कबहूँ जिन जाय निहारे ।।

रामचंद्र शुक्ल

संवत् १९४१ में अश्विन पूर्णिमा को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में जन्मे और संवत् १९९७ तक साहित्य साधना में संलग्न रहनेवाले हिंदी के मूर्धन्य आलोचक, साहित्यचिंतक और इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ब्रजभाषा और खड़ी बोली के सफल कवि भी थे । शुक्ल जी ने ब्रजभाषा में अंग्रेजी के कवि आर्नल्ड के 'लाइट आव् एशिया' का 'बुद्धचरित' नाम से अनुवाद भी किया । 'बुद्धचरित' शुक्ल जी की भावुक कल्पना और अनुभूति के योग से मौलिक काव्यकृति सा प्रतीत होता है । 'बुद्धचरित' ब्रजभाषा को नवीन काव्य संपत्ति प्रदान करता है । 'बुद्धचरित' के निम्न उद्धृत अंश से उनकी कविप्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है—

छिटकी विमल विस्राम बन पै जामिनी मृदुता भरी ।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सों नछत्रन सों जरी ।।
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-रासि सों मनभावनी ।
संचरित सैल सुवायु सीतल मंद मंद सुहावनी ।।

रामधीन

इनका जन्म संवत् १९४१ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था । रामधीन के पिता मुंशी रामचरन लाल मैहर स्टेट में एकाउंटेंट थे । रीवा और ओरछा राज्यों से रामधीन का घनिष्ठ संबंध रहा है । ओरछा नरेश ने तो आपको 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि प्रदान की थी । रामधनी के आठ ब्रजभाषा काव्यग्रंथ कहे जाते हैं । इन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में सुंदरकांड की रामकथा कवित्त, घनाक्षरी आदि छंदों में रची थी । रामधीन के निम्न उद्धृत छंद से उनकी कविप्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है—

मचो है विवाद ठाँव ठाँवन में मेरी बीर,
पुर प्रति गाँवन में सखि सखियान में ।

कहत बतात सबै लोग कृष्ण कारे भए,
धारें सीस सघन मयूर पखियान में ।
रामधीन मेरी जान जबते भए हैं स्याम,
प्रेमपन पालिबे की रुचि रखियान में ।
जब ते बसायो राधिका ने गरबीलो निज,
कुटिल - कटीली - कजरारी - अँखियान में ।

रूपनारायण पांडेय

द्विवेदी युग में ब्रजभाषा में काव्यरचना करनेवालों में रूपनारायण पांडेय का महत्वपूर्ण स्थान है । रूपनारायण पांडेय का जन्म संवत् १९६० और देहावसान संवत् २०१६ में हुआ । उनकी पूरी शिक्षा दीक्षा लखनऊ में हुई । वे 'निगमागम चंद्रिका', 'नागरीप्रचारक', और 'इंदु' नामक पत्रिका के भी संपादक रहे । उन्होंने माधुरी के प्रारंभिक पाँच वर्षों में उसका संपादन किया । पांडेय जी पहले ब्रजभाषा में काव्यरचना करते थे, परंतु द्विवेदी युग के प्रवाह के कारण खड़ी बोली में भी काव्यरचना करने लगे । रूपनारायण की ब्रजभाषा रचनाओं में 'शिव शतक' और 'श्रीकृष्ण महिमा' प्रसिद्ध है । इनके अतिरिक्त उन्होंने 'गीतगोविंद' की टीका भी की । पांडेय जी का एक छंद यहाँ उद्धृत है—

बुद्धि विवेक की ज्योति बुझी, ममता-मद-मोह घटा घन घेरी ।
है न सहारो अनेकन हैं ठग, पाप के पन्नग की रहै फेरी ॥
त्यों अभिमान को कूप इतै, उतै कामना रूप सिलान को ढेरी ।
तू चल मूढ़ सुधारि अरे मन, राह न जानी है रैन अंधेरी ॥

पुरुषोत्तमदास 'सैयाँ'

इनका जन्म सवत् १९४२ में मथुरा में एक अग्रवाल वैश्य कुल में हुआ था । 'सैयाँ' जी कंठी माला बेचने का व्यवसाय करने के साथ ही ब्रजभाषा में कविता भी करते थे । 'सैयाँ' जी की दूकान ब्रज-साहित्य-प्रेमियो का केंद्र बनी रहती थी । कविता में इनकी नाम छाप 'उत्तम' भी मिलती है । 'सैयाँ' जी ने कृष्णभक्ति और पौराणिक प्रसंगों से संबंधित अनेक स्फुट छंदों की रचना की । 'सैयाँ' द्वारा रचित राजा विराट् के नगर में बृहन्नला के वेश में छिपे हुए अर्जुन का उत्तम के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान करने के प्रसंग से संबंधित एक कवित्त देखिए—

कंकन करैन कहिं, किंकनी बिराज रही,
धीरता बिराज रही मन की उमंग में ।

'उत्तम' निहार बेनी, सेनी मृगनैनी रहीं,
जग की नसैनी बान सोहत निखंग में।।
बीरी पौन जापै बाँधि राखी तरवार,
रथ के अगारी बैठ्यो केसरी उमंग में।
हीजरा कै ढंग में सुबीरता के रंग रंग्यो,
उत्तम के संग जाइ पारथ यों जंग में।।

नाथूराम माहौर

संवत् १९४२ में झाँसी में जन्मे श्री नाथूराम माहौर ब्रजभाषा के सफल कवि हैं। माहौर जी की ब्रजभाषा रचनाओं में 'बीर वधू', 'बीरमाला', अश्रुमाल' आदि प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त माहौर कृत 'रस प्रवाह', 'षट्ऋतु दर्शन', 'छत्रसाल गुणावली', 'सूरसुधा','द्रौपदी दुकूल' तथा अनेक स्फुट रचनाएँ हैं जो अब तक अप्रकाशित हैं। माहौर कृत ब्रजनागरी वंदना का एक अंश देखिए—

मधुभावनी हैं मधु रासि दुहूँ, कवि को बरनें गुन माधुरी के।
दुहूँ कोमल कांत पदावली है, लख पंकज लाजैं विभावरी के।
मनमोहक हैं सुषमा में दुहूँ, निरखे उपमान बराबरी के।
ब्रजनागर के मन माँहि रमे, पद बंदौं दुहूँ ब्रजनागरी के।।

जयशंकर प्रसाद

छायावाद के प्रवर्तक और यशस्वी कवि जयशंकर प्रसाद (संवत् १९४६-१९९४) की काव्यसाधना ब्रजभाषा के माध्यम से प्रारंभ हुई थी। 'प्रसाद' का पालन पोषण परंपरावादी परिवेश में हुआ था और उनके घर प्रायः ब्रजभाषा के कवियों का जमघट लगा रहता था। प्रारंभ में 'प्रसाद' 'कलाधर' उपनाम से काव्यरचना करते थे। प्रसाद की ब्रजभाषा-काव्य-रचनाएँ समस्यापूर्तियों के रूप में प्राप्त होती हैं। प्रसाद की ब्रजभाषा रचनाओं के संकलन 'चित्राधार' का संस्करण संवत् १९७५ वि० में प्रकाशित हुआ था जिसमे ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों की रचनाएँ थीं, परंतु सं० १९८५ के द्वितीय संस्करण में केवल ब्रजभाषा कविताएँ ही रखी गई। 'चित्राधार' में 'वन मिलन','प्रेमराज्य' और 'अयोध्या का उद्धार' तीन आख्यानक कविताएँ संकलित हैं। इनके अतिरिक्त 'पराग', 'मकरंद और 'बिंदु' शीर्षकों के अंतर्गत स्फुट रचनाएँ संग्रहीत हैं, जो प्रकृति, प्रेम और शृंगार विषयक हैं। 'प्रसाद' की इन रचनाओं में से अधिकांश 'इंदु' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। ब्रजभाषा में नवीन भावनाओं की अभिव्यक्ति के दर्शन 'प्रसाद' की इन रचनाओं में होते हैं। प्रसाद का दूसरा काव्यसंग्रह 'प्रेमपथिक', जिसका खड़ी बोली संस्करण संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ, उनके अनुसार, आठ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था।

यद्यपि प्रसाद की ब्रजभाषा रचनाएँ आगे न चल सकीं, लेकिन उनका एक ऐतिहासिक महत्व है। 'प्रसाद' की इन रचनाओं में उनकी स्वच्छंद काव्यचेतना का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

प्रकृति, प्रेम और भक्ति को प्रसाद की इन रचनाओं में नवीन धरातल प्राप्त हुआ है, साथ ही उन्होंने ब्रजभाषा काव्य के परंपरागत छंदों के अतिरिक्त नए छंदों का प्रयोग किया है। 'प्रसाद' का ब्रजभाषा काव्य एक ओर जहाँ उनकी स्वच्छंद रचनाशीलता का प्रथम सोपान है, वहीं उससे उनके काव्य के भावी रूप का भी संकेत मिलता है।

श्यामसेवक

इनका जन्म संवत १९४८ में रीवाँ के मऊगंज नामक स्थान में हुआ था। श्यामसेवक की 'प्रेम फौजदारी', 'ज्ञान मंजरी', 'कीर्ति मुक्तावली', 'गृहस्थोपदेश', 'प्रेम-प्रवाह' आदि ब्रजभाषा-काव्य-रचनाएं प्रसिद्ध हैं। यहाँ 'प्रेम फौजदारी' का एक अंश प्रस्तुत है—

हुतीं गरे गुंजन की माला, चहुँदिसि प्रभा प्रसारे।
मोरपखन को मुकुट मनोहर, हुते सीस पै धारे॥
पटिका पीत हुतो कटि में सुचि नटवर भेष बनाए।
अनियारे नैनन को काजर, सुंदर साज पिन्हाए॥
देखत ही राधा प्यारी को दौर परे द्वै नैना।
बदल पैंतरा तिरछौंहे ह्वै हन्यो राधिका सैना॥

ब्रजनंदन कविरत्न

इनका जन्म संवत् १९८९ में रायबरेली के मनुवामऊ नामक ग्राम में हुआ था। कविरत्न ने संवत १९६९ से ब्रजभाषा में काव्यरचना आरंभ की। इन्होंने "वृंदावन विरहनी बरवै" के अंतर्गत ब्रजभाषा में बरवै छंदों की रचना की। 'कविरत्न' रचित सर्वप्रथम कहा जानेवाला एक छंद यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

मनमोहन मोहि कै कूबरी पै निज प्रेमिन सों मुख मोरिए ना।
जेहि प्रेम पियूष पियाएहु ताहि, वियोग के वारिधि बोरिए ना॥
नित नेह को नातो बढ़ाइ दियो तब सो तिनका अब तोरिए ना।
ब्रजजीवन फेरि बसौ ब्रज मैं बिसवास में यों बिस घोरिए ना॥

हरदयालु सिंह

हरदयालु सिंह के ब्रजभाषा काव्य का विषयगत नवीनता की दृष्टि से

महत्व है। इनका जन्म सीतापुर जिले के महमूदाबाद नामक स्थान में संवत् १६५० में हुआ था। संवत् १६७० में क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर से इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करके कानपुर, मथुरा, इंडियन प्रेस (इलाहाबाद), सेंट्रल स्कूल (झाँसी) और गोरखपुर में नौकरी करने के पश्चात् संवत २००५ में महमूदाबाद लौट आए। हरदयालु सिंह ब्रजभाषा के सुकवि ही नहीं एक टीकाकार, अनुवादक, निबंधकार और लक्षण ग्रंथों के प्रणेता भी थे। परंतु आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा में हरदयालु सिंह का महत्व उनके 'दैत्य वंश' और 'रावण' नामक महाकाव्यों के कारण है। कवि ने युगों से उपेक्षित दैत्यों और रावण को इन काव्यों में महत्व प्रदान किया है। ये दोनों ही काव्यशास्त्रीय लक्षणों में युक्त हैं तथा इनके माध्यम से आधुनिक काल में ब्रजभाषा काव्य की परंपरा पुनर्जीवित हुई है। हरदयालु सिंह की ब्रजभाषा सुव्यवस्थित होते हुए भी मिश्रित है।

काशीपति त्रिपाठी 'प्रेमहरि'

काशीपति त्रिपाठी का जन्म संवत् १६५० में काशी में हुआ। इनके पूर्वज दाराशिकोह के गुरु थे। 'प्रेमहरि' का संपर्क लाला भगवानदीन, जगन्नाथदास रत्नाकर, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे ब्रजभाषा काव्यप्रेमियों से रहा है। 'प्रेमहरि' की ब्रजभाषा रचनाएँ मुख्यतः कवित्त, सवैया और दोहा छंदों में रची गई हैं। उनमें भक्ति, शृंगार और नीति के साथ समसामयिक विषयों को भी अभिव्यक्ति मिली है। 'प्रेमहरि' की कंट्रोल विषयक कविता देखिए—

अधिक सुखैहै, दीन पीन ह्वैहै धनवारे,
रोल कंट्रोल पै दुकानि अन्न सून है।
ग्रीष्म वसन जू व्यर्थ और सिसिर आए,
बाधक सहिस्नुता को सूत अरु ऊन है।
संपति धनी कै करै चित्त को विकार आवै,
दीनता तै याद ईस बित्त कीनों खून है।
नूनता है चाहूँ ओर दूम दून निस दिन,
खान को कनून परिधान को कनून है।

नबीबख्श 'फलक'

संवत् १६५० में दतिया में जन्मे मुंशी नबीबख्श 'फलक' रसखान जैसे कृष्ण-भक्तों की परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे ब्रज, ब्रजचंद और ब्रजेश्वरी के अनन्य उपासक के रूप में विख्यात रहे हैं। 'फलक सतसई' में उनके कृष्णभक्ति संबंधी दोहे संकलित हैं। दोहों के अतिरिक्त उन्होंने कवित्त और सवैया छंदों में अपनी

कृष्णभक्ति की अभिव्यक्ति की है। नीचे उधृत दोहों और कवित्तों में 'फलक' की ब्रजभाषा रचना की बानगी देखी जा सकती है, जैसे—

दोहा— राधारानी के चरन, गहौ वेग ही जाइ।
बिगरे काज बनाइ लै फलक न देर लगाइ।।

कवित्त—राज के भरोसे कोऊ, काज के भरोसे कोऊ,
साज के भरोसे कोऊ, कोऊ बरबानी के।
देह के भरोसे कोऊ, गेह के भरोसे कोऊ,
नेह के भरोसे कोऊ, कोऊ गुरु ज्ञानी के।
नाम के भरोसे कोऊ, ग्राम के भरोसे कोऊ,
दाम के भरोसे कोऊ कीरति कहानी के।
ब्रज है भरोसे सदा स्याम ब्रजराज के तौ,
फलक है भरोसे एक राधारानी के।

दुलारेलाल भार्गव

इनका जन्म संवत् १९५२ में लखनऊ में हुआ। इंटर तक शिक्षा प्राप्त करके भार्गव जी नवलकिशोर प्रेस में काम करने लगे। दुलारेलाल भार्गव को विशेष ख्याति 'माधुरी' और 'सुधा' नामक पत्रिकाओं के संपादक के रूप में प्राप्त हुई। दुलारेलाल भार्गव की एक मात्र ब्रजभाषा-काव्य-कृति 'दुलारे दोहावली' प्रसिद्ध है, जिसपर उन्हें प्रथम देव 'पुरस्कार प्राप्त' हुआ था। 'दुलारे दोहावली' सतसई परंपरा की महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें दोहों के अतिरिक्त सोरठे भी हैं। यह रचना भावसंपदा और उक्तिवैचित्र्य की दृष्टियों से 'बिहारी सतसई' तथा भक्त कवियों की रचनाओं से अनुप्रेरित है। साथ ही वह युगचेतना से भी प्रभावित है और इसीलिये उसमें स्वराज्य, अछूतोद्धार देशभक्ति जैसे विषयों को भी अभिव्यक्ति मिली है। बिहारी के काव्यादर्शों से प्रभावित दुलारेलाल भार्गव की प्रतिष्ठा मुख्यत: एक सफल मुक्तककार के रूप में रही है।

वियोगी हरि (संवत् १९५३)

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा के प्रतिनिधि कवियों में वियोगी हरि का मूल नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। वियोगी हरि का जन्म संवत् १९५३ में छतरपुर राज्य के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वियोगीहरि की प्रारंभिक शिक्षा छतरपुर में हुई। किशोरावस्था से ही वे अद्वैतवादी हो गए, लेकिन आगे चलकर माध्व संप्रदाय की कृष्णभक्त छतरपुर राज्य की महारानी कमलाकुमारी "युगलप्रिया" के संपर्क में आने के कारण कृष्णभक्त हो गए। वियोगी हरि ने भारत के प्रसिद्ध तीर्थों का भ्रमण किया है। वियोगी हरि ने ब्रजभाषा काव्य का संकलन, संपादन,

और सृजन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कविता, नाटक, गद्यगीत, निबंध आदि के अतिरिक्त अनेक बालोपयोगी पुस्तकें और महापुरुषों की जीवनियाँ रची हैं। संवत् १९९१ से वियोगीहरि के जीवन में एक नया मोड़ आया और वे समाज-सेवा के अनुष्ठान में सलग्न हो गए। वियोगी हरि हरिजन सेवा संघ, गांधी सेवा संघ, हरिजन बस्ती, गांधी स्मारक निधि, भूदान आंदोलन और भारत सेवक समाज से संबद्ध रहे हैं। वे हिंदी साहित्य संमेलन से भी घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहे हैं।

वियोगी हरि के ब्रजभाषा-कवि-व्यक्तित्व में परंपरा और नवीनता का सुंदर समन्वय है। वियोगी हरि की 'प्रेम नाटक','प्रेम पथिक','प्रेमांजलि','वीर सतसई' आदि ब्रजभाषा रचनाओं में जहाँ उनकी कृष्णभक्ति अभिव्यक्त हुई है, वहीं उनकी राष्ट्रीय एवं सामाजिक विचारधारा की भी अभिव्यक्ति हुई है। वियोगी हरि ने ब्रजभाषा को युगानुरूप भावों की अभिव्यंजना में समर्थ बनाया। वियोगी हरि की भक्ति परंपरा का निर्वाह मात्र नहीं है, उसमें उनके भक्त हृदय के सहज रूप की अभिव्यक्ति हुई है। विकास की प्रक्रिया में वियोगी हरि की भक्तिनिष्ठ आत्मचेतना समाजोन्मुखी होती है और उसमें अछूतोद्धार, महापुरुषों की जीवनगाथा और नवनिर्माण के उद्‌बोधन के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

वियोगी हरि की ब्रजभाषा रचनाओं में सर्वाधिक ख्याति 'वीर सतसई' को प्राप्त हुई जिसपर उन्हें हिंदी साहित्य संमेलन से 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ। 'वीर सतसई' वीररस का काव्य है, जिसमें वीर रस की नवीन व्याख्या और युगानुरूप व्याप्ति निरूपित है। वियोगी हरि की देश की राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक दशा से संबंधित रचनाओं में करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। वियोगी हरि की ब्रजभाषा का स्वरूप साहित्यिक है, जो बुंदेलखंडी से प्रभावित है। वियोगी हरि ने ब्रजभाषा को युगानुरूप एवं नवीन संदर्भों की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाने की प्रक्रिया में तरलता प्रदान की है। परंतु समग्रत: उनकी ब्रजभाषा भावाभिव्यक्ति में सक्षम है। वियोगी हरि का ब्रजभाषा काव्य कलात्मकता के रूढ़ि रूप से मुक्त है।

द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य की प्रवृत्तियाँ

भारतेंदु युग तक का ब्रजभाषा काव्य भक्ति और रीति तत्वों से प्रभावित था। भारतेंदु युग के ब्रजभाषा कवियों में एक ओर तो कृष्णभक्ति के संस्कारों का आग्रह दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर उसमें नवीनता को आत्मसात् करने की आकुलता। परंतु अपनी संपूर्ण चेतना में उसका स्वर परंपरावादी ही रहा। द्विवेदी युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्यादर्शों के प्रभावस्वरूप आदर्शवादी दृष्टि को प्रधानता मिली तथा कविता के क्षेत्र में इतिवृत्तात्मकता और उपदेशवृत्ति को

प्रश्रय मिला। परंतु साथ ही स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति भी विकसित हुई और नए मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में नवीनता का जो आग्रह लक्षित होता है उसे पर्याप्त सीमा तक खड़ी बोली काव्य की नई संचेतना का समानधर्मी कहा जा सकता है। नवीनता की जो प्रक्रिया महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से खड़ी बोली काव्य में घटित हो रही थी, समसामयिक ब्रजभाषा काव्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा। परंतु परंपरा का आग्रही होने के कारण द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य में खड़ी बोली की तुलना में परिवर्तन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत मंद रही।

अनूदित और पल्लवित काव्य

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने मौलिक काव्यसृजन के साथ संस्कृत और अंग्रेजी रचनाओं के ब्रजभाषा काव्यानुवाद भी किए। भक्ति और रीति कालों में ब्रजभाषा में भागवत, हरिवंश, स्कंद आदि पुराणों, गीता, गीतगोविंद तथा वल्लभ, चैतन्य, आदि कृष्णभक्ति संप्रदाय के आधारभूत सिद्धांत ग्रंथों के भावानुवादों की परंपरा मिलती है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की भी कविशिक्षा के प्रयोजन से अनुवादों की प्रवृत्ति को इन कालों में प्रश्रय मिला। भारतेंदु युग में काव्यानुवादों की यह परंपरा विकासमान रही। रामयण, भागवत, आदि उपजीव्य संस्कृत ग्रंथों के अनेक अनुवाद हुए। संस्कृत काव्यों और नाटकों में विशेषकर कालिदास, भवभूति, शूद्रक, जयदेव आदि की रचनाओं ने भारतेंदु युग के अनेक रचनाकारों को आकृष्ट किया और उनके अनेक ब्रजभाषा अनुवाद हुए। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के संपर्क के साथ अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवादों की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। भारतेंदु युगीन अनूदित काव्यों की रचनाप्रेरणा अधिकांशतः भारतीयता और अंग्रेजी रचनाओं की नवीनता के आग्रह में संनिहित प्रतीत होती है। द्विवेदी युग में ब्रजभाषा में अनूदित रचनाओं में संस्कृत से अनूदित रचनाओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। अंग्रेजी रचनाओं के अनुवाद की सामर्थ्य बहुत कम कवियों में दिखाई पड़ती है। वस्तुतः महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा ने 'सरस्वती' ने नवीनता के आग्रह में अनुवादों की जिस परंपरा को प्रेरणा दी, उसी का आंशिक प्रतिफलन समसामयिक ब्रजभाषा काव्य में और पल्लवन खड़ी बोली काव्य में हुआ।

इस युग में संस्कृत से अनूदित रचनाओं में महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'विहार वाटिका' (मूल जयदेव), राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'धाराधर धावन' (कालिदास कृत मेघदूत) सत्यनारायण कविरत्न की 'उत्तररामचरित', 'मालती माधव', वचनेश की 'वैराग्य शतक' आदि उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी से श्रीधर पाठक के गोल्डस्मिथ की 'डेजर्टेड विलेज' के 'ऊजड़ ग्राम', सत्यनारायण कविरत्न के होरेशस

तथा टेनीसन की कुछ कविताओं के अनुवाद, रत्नाकर का पोप कृत 'ग्रान क्रिटिसिज्म' का 'समालोचनादर्श' नामक ब्रजभाषा अनुवाद आदि महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा अनुवादों की इस परंपरा में सर्वाधिक चर्चित अनुवाद रामचंद्र शुक्ल का एडविन अर्नाल्ड के 'लाइट आव् एशिया' का 'बुद्धचरित' नामक भावानुवाद है जिसका महत्व अनुवाद की दृष्टि से ही नहीं, एक सफल मुक्तकप्रधान ब्रजभाषा काव्य के रूप में भी है। 'बुद्धचरित' अपनी भावप्रवणता, प्रकृति एवं मनोभावों के चित्रण की कला एवं सानुप्रासिक पदावली युक्त ब्रजभाषा के कारण मौलिक रचना के समान सरस बन गया है। द्विवेदी युग के ब्रजभाषा अनुवादों में मूल रचनाओं की भावराशि और संवेदना को संप्रेषणीय बनाने की कला का सफल रूप देखा जा सकता है। इनमें ब्रजभाषा का स्वरूप सरस और प्रवाहमय है। परंतु ब्रजभाषानुवादों की परंपरा द्विवेदी युग के अवसान तक क्षीण होती गई।

द्विवेदी युग तक पल्लवित काव्यरचना की परंपरा समाप्त होती हुई दिखाई पड़ती है। इस दौर में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कबीर की साखियों पर कुंडलिया छंद के अंतर्गत रचित 'कबीर कुंडल' उल्लेखनीय है।

काव्यपरंपराओं का नवीन संस्कार

भारतेंदु युग के पूर्वार्ध के ब्रजभाषा काव्य पर परंपरा का प्रभाव प्रखर था। परंतु उत्तरार्ध में नवीनता का आग्रह विकसित होने लगा। द्विवेदी युग तक आते आते इस प्रवृत्ति का जो स्वरूप निर्मित हुआ, उसके अंतर्गत प्राचीन काव्यपरंपराओं के नवीनीकरण की चेष्टा प्रधान रही है। यह प्रवृत्ति द्विवेदी युग में रची गई भ्रमरगीत, सतसई और लक्षण ग्रंथों की रचना में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है।

भ्रमरगीत परंपरा

प्राचीन के नवीनीकरण की प्रक्रिया भ्रमरगीत संबंधी रचनाओं में सर्वाधिक मुखर रही है। द्विवेदी युग में स्फुट रूप में रचे गए भ्रमरगीत विषयक बहुसंख्यक ब्रजभाषा के छंदों के अतिरिक्त जिन रचनाओं से विशेष प्रतिष्ठा मिली उनमें सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक' प्रमुख हैं। इनके अंतर्गत भ्रमरगीत की वस्तु और शिल्प को नया धरातल प्राप्त हुआ।

सत्यनारायण कविरत्न ने 'भ्रमरदूत' की रचना द्वारा भ्रमरगीत परंपरा में नूतनता का समावेश करके उसकी मार्मिकता को नया आयाम प्रदान किया। 'भ्रमरदूत' में उद्धव का ब्रज आगमन नहीं होता, परिणामतः उद्धव-गोपी-संवाद के तर्क वितर्क का

समावेश इसमें नहीं हुआ है। 'भ्रमरदूत' में केवल दो पात्र हैं—यशोदा और भ्रमर। नंद, गोप, गोपियाँ, राधा आदि में से किसी का समावेश इस काव्य में नहीं हुआ है। यहाँ उद्धव और गोपियों के बीच ज्ञान और भक्ति का तर्क वितर्क उपलब्ध नहीं होता। रचना में सर्वत्र विकल एवं शोकातुर माँ का हृदय अभिव्यक्त हुआ है। वास्तव में भ्रमरदूत भारत की तत्कालीन करुण दशा का चित्र है, जिसमें भारत ब्रज है और पिछड़ी हुई भारतीय नारी यशोदा। यशोदा के भ्रमर के प्रति दिए गए उपालंभों में स्त्रीशिक्षा, देशप्रेम, भारतीय सांस्कृतिक गरिमा, ग्राम्य जीवन की महत्ता और निष्कलुषता, जातीयता, परतंत्रता, अकाल, आर्थिक शोषण आदि समस्याओं को बड़े कौशल के साथ संमिलित किया गया है। आलस्य, रूढ़िग्रस्तता और पारस्परिक वैमनस्य के रहते देश को स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हो सकती। कविरत्न ने यशोदा से कहलवाया है—

> या बिनु ग्वालन को, हित की को बात सुनावै।
> अरु स्वतंत्रता, समता सहभ्रातृता सिखावै॥
> यदपि सकल विधि ये सहत दारुण अत्याचार।
> पै न कछू मुख सों कहत कोरे बने गँवार॥
> कोउ अगुवा नहीं।
>
> (भ्रमरदूत)

'भ्रमरदूत' द्विवेदी युग की आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करनेवाला अप्रतिम काव्य है। उसने भ्रमरगीत की परंपरा को सर्वथा नवीन संस्कार प्रदान किया।

रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में भ्रमरगीत के परंपरित कथानक को 'शतक' काव्यरूप के अंतर्गत ग्रहण किया। परंतु उसकी नियोजना उन्होंने सर्वथा मौलिक ढंग से की है। एक मार्मिक घटना के सहारे रत्नाकर ने प्रसंगोद्भावना की है। भ्रमर का समावेश उद्धव शतक में नहीं होता, यहाँ गोपियाँ उद्धव को लक्ष्य करके ही अपने कृष्णानुराग को अभिव्यक्त करती हैं। कदाचित् इसीलिये रत्नाकर ने इसे 'उद्धव शतक' नाम दिया है। रत्नाकर ने कृष्ण की विह्वलता को गोपियों की समकक्षता में चित्रित करने का सर्वप्रथम उपक्रम किया। मनोवैज्ञानिक भूमिका में रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में नाटकीयता और प्रभावोत्पादकता की सृष्टि की है। कृष्ण की विह्वलता, उद्धव की मन:स्थिति, गोपियों की उत्सुकता एवं प्रेमविह्वलता, गोपियों की निराशा, नंद और यशोदा की वात्सल्यसिक्त मनोदशा आदि का विश्लेषण रत्नाकर ने अत्यंत मार्मिक एवं स्वाभाविक ढंग से किया है। 'उद्धव शतक' में कला का स्वरूप रसोत्कर्ष में सर्वत्र सहायक है और भाषा में शिल्पगत सजगता के साथ अद्भुत प्रेषणीयता है। 'उद्धव शतक' नवीन प्रसंगोद्भावनाओं, अलंकार कौशल, भाषा की शुद्धता, रसमयता, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि विशिष्टताओं के कारण द्विवेदी युग में भ्रमरगीत परंपरा का नया संस्कार करता है।

द्विवेदी युग की बौद्धिकता, आदर्शवादिता और नैतिकता सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमरदूत' में जिस स्तर पर अभिव्यक्त हुई है, वैसी भ्रमरगीत संबंधी किसी अन्य रचना मे नहीं मिलती ।

सतसई परंपरा

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने भक्ति, शृंगार और नीति की पोषक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की सप्तशती तथा भक्ति और रीति काल के कवियों द्वारा पल्लवित सतसई परंपरा के पुनर्संस्कार में अप्रतिम योग दिया । द्विवेदी युग के अनेक ब्रजभाषा सतसई काव्यों में रामचरित उपाध्याय की 'ब्रजसतसई', मदनमोहन गोस्वामी की 'राष्ट्र सतसई', महेशचंद्र प्रसाद की 'स्वदेश सतसई', अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'हरिऔध सतसई', वियोगी हरि की 'वीर सतसई', शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' की 'सिरस नीति सतसई', नबीबख्श 'फलक' की 'फलक सतसई' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं । सतसई नामधारी इन रचनाओं के अतिरिक्त दोहा और सोरठा छंदों में रची गई कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनका 'सतसई' नाम तो नहीं मिलता परंतु उनकी रचनाप्रेरणा सतसई ग्रंथों में संमिलित रही है । ऐसी रचनाओं में दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' विशेष उल्लेखनीय है । द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा के सतसई ग्रंथों की नामावली से स्पष्ट है कि उनमें सतसई परंपरा के भक्ति, शृंगार और नीति के स्थान पर नवीन पर समसामयिक विषयों का समावेश हुआ है । विषयपक्ष की नवीनता के साथ इन सतसई ग्रंथों में अभिव्यक्ति का स्वरूप सहज है । इनकी भाषा भी सरल है । सतसई परंपरा की नीतिचेतना और उपदेशवृत्ति का द्विवेदी युग के सतसईकार सर्वथा परित्याग नहीं कर सके । इन सतसई रचनाओं में कहीं कहीं पूर्ववर्ती रचनाओं की भावसंपदा और शब्दावली के अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है । कबीर, तुलसी, रहीम, बिहारी, वृंद आदि के दोहों के काव्य इन रचनाओं में रूपांतरित हुए हैं, परंतु मूलतः उनका स्वर समसामयिक बोध से अनुप्राणित है । इनमें सामासिक पदावली, उक्तिवैचित्र्य और अलंकृति का विधान अपेक्षाकृत कम हुआ है और सतसई-कार अपने कथ्य को सहज रूप में प्रेषणीय बनाने में सफल रहे हैं । इस प्रकार द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने सतसई परंपरा का परिष्कार करके उसे युगानु-रूपता प्रदान की ।

लक्षण ग्रंथों की रचना

रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य में लक्षण ग्रंथों की प्रशस्त परंपरा विकसित हुई । परंतु भारतेंदु युग से नवजागरण और नवीन जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा के कारण शास्त्ररचना की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर शिथिल पड़ती गई । द्विवेदी युग में नए

काव्यमूल्यों की प्रतिष्ठा हुई और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली काव्य को अपनी मान्यता के आलोक में पुष्पित एवं पल्लवित करने की महती साधना की। ऐसी स्थिति में ब्रजभाषा कवियों के सामने अपनी प्रशस्त काव्यशास्त्रीय परंपरा से आगे बढ़कर कुछ नया कर सकना अथवा कथित का पुनराख्यान कर पाना भी एक समस्या थी। फिर भी द्विवेदी युग में ब्रजभाषा में लक्षण ग्रंथों की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। रस विवेचक रचनाओं में 'काव्य प्रभाकर' (जगन्नाथप्रसाद भानु), 'रसांग निर्णय' (ब्रजेश), 'रस कलश' (अयोध्या सिंह उपाध्याय) उल्लेखनीय हैं। जिन रचनाओं में मुख्य रूप से नायिकाभेद का विवेचन हुआ है उनमें 'ब्रज विनोद' (जगदीशलाल), 'रस कलश' (हरिऔध), 'विरहा नायिकाभेद' (बलवीर), महत्वपूर्ण हैं। पिंगल संबंधी ग्रंथों में 'छंद प्रदीप' (कन्हैयालाल शर्मा), 'छंदोबोध' (ऋषीकेश भट्टाचार्य), 'छंद भास्कर' (रामकिशोर सिंह), 'पिंगल' (हरदेव वैश्य), 'चितचंद्रिका' (राजा बलवान सिंह), 'छंद प्रभाकर' (जगन्नाथप्रसाद भानु), 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' (जगन्नाथ दास रत्नाकर) उल्लेखनीय है। सर्वांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के 'काव्य कल्पद्रुम' और बिहारी भट्ट के 'साहित्य सागर' को विशेष ख्याति मिली। द्विवेदी युग में उपलब्ध होनेवाली लक्षण ग्रंथों की यह परंपरा यद्यपि अपनी पूर्वपरंपरा की तुलना में शिथिल है तथापि उसमें नवीनता और विषय को बोधगम्य बनाने की चेष्टा मिलती है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रचनाकार कहीं कहीं गद्यात्मक टिप्पणियों और 'खड़ी बोली गद्य का प्रयोग करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अलंकार के क्षेत्र में 'रसाल' और कन्हैयालाल पोद्दार, रस के क्षेत्र में जगन्नाथप्रसाद भानु की रचनाएँ प्रौढ़ हैं।

हरिऔध के 'रस कलश' में युगानुकूलता और नूतनता का आग्रह है, जो इसे पूर्ववर्ती रीति ग्रंथों से भिन्न मौलिक स्वरूप प्रदान करता है। 'रस कलश' में नवों रसों का सूक्ष्म और मौलिक विवेचन हुआ है। उन्होंने शृंगार रस की शास्त्रीय विवेचना के साथ उसके सामाजिक पक्ष को भी विश्लेषित किया है। सामाजिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने रस का मौलिक विवेचन किया। नायिकाभेद के विवेचन में उन्होने जाति के आधार पर भेद करने के पश्चात् प्रकृति के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन भेद माने। इसी प्रकार उन्होंने धर्मानुसार स्वकीया, परकीया और सामान्या भेदों का विश्लेषण किया है। हरिऔध के इस विवेचन में यद्यपि परंपरा का आधार लिया गया है तथापि उत्तमा नायिका के भेदों की विवेचना कवि की मौलिकता है। उन्होंने पतिप्रेमिका, परिवारप्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका तथा धर्मसेविका आठ प्रकार की नायिकाओं की उद्भावना की। देश और राष्ट्र के उत्थान और स्वातंत्र्य हेतु नारीकर्तव्य की सूक्ष्म विवेचना इस नायिकाभेद में संमिलित करके हरिऔध ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उनके इस

विवेचन पर द्विवेदी युगीन मर्यादावाद के प्रभाव की छाया भी दिखाई देती है। लक्षण निरूपण के बाद कवि ने रसों को समझाने की चेष्टा की है। वीर रस के विवेचन में हरिऔध ने युद्धवीर, धर्मवीर, दयावीर और दानवीर के अतिरिक्त युग की परिस्थितियों के अनुरूप एक पाँचवाँ भेद कर्मवीर भी जोड़ दिया है। रसविवेचन की युगानुरूप व्याख्या द्विवेदी युग की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप थी और इस दृष्टि से 'रस कलश' द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य की एक नवीन उपलब्धि है।

इस प्रकार द्विवेदी युग में लक्षण काव्यों में परंपरा पोषण के साथ युगानुरूप परिष्कार एवं परिमार्जन हुआ।

समस्यापूर्ति काव्य

ब्रजभाषा काव्य की एक विशिष्टता समस्यापूर्ति की परंपरा भी रही है। रीतिकालीन दरबारी परिवेश में इस परंपरा को विशेष प्रश्रय मिला। समस्यापूर्ति आशु-कवि-प्रतिभा के मूल्यांकन की एक कसौटी रही है। भारतेंदु युग में समस्यापूर्ति से संबंधित कई संकलन प्रकाश में आए कवि मंडल, काशी की समस्यापूर्तियाँ भारतेंदु युग में बहुत प्रसिद्ध थीं। इस संस्था के मंत्री रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' समस्यापूर्तियाँ आयोजित करते थे। द्विवेदी युग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि समस्यापूर्ति की कला को 'वाणी की विगर्हणा' कहकर अवमूल्यित किया, तथापि उनके समय के ब्रजभाषा काव्य में यह परंपरा विद्यमान रही। रत्नाकर, हरिऔध, पूर्ण, सनेही, शंकर आदि कवियों ने इस परंपरा को निभाया। कानपुर से 'सनेही' द्वारा संपादित 'सुकवि' तथा कलकत्ता से रमाकांत त्रिपाठी 'प्रकाश' द्वारा संपादित 'काव्यकलाधर' के माध्यम से समस्यापूर्ति परंपरा का पल्लवन हुआ। इसी प्रकार 'काशी-कवि-समाज' में रत्नाकर और कानपुर के 'रसिक समाज' तथा उसके दो पत्रों 'रसिक वाटिका और 'रसिक मित्र' में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' इस परंपरा को लोकप्रिय बनाए रहे। द्विवेदी युग के समस्यापूर्ति काव्य में रीतिकालीन परंपरा का निर्वाह मिलता है। उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार वृत्ति और कल्पना की अतिशयता आदि प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युगीन समस्यापूर्ति काव्य में मिल जाती हैं। रत्नाकर की समस्यापूर्तियाँ द्विवेदी युग में विशिष्ट महत्व रखती हैं। समस्यापूर्ति के उद्देश्य से रचे गए उनके कई छंद कालांतर में 'उद्धव शतक' में जोड़ दिए गए।

द्विवेदी युग के समस्यापूर्ति काव्य में परंपरापालन के साथ आधुनिकता की भी छाप मिलती है। इस प्रकार की समस्यापूर्तियाँ यद्यपि कम हैं तथापि नवीनता की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य है। रूपनारायण पांडेय की समस्यापूर्तियाँ परंपरा प्रमुक्त एवं नवीन युगचेतना से प्रभावित रही हैं। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने 'धीर धरै ना' की पूर्ति में अपने युग की दरिद्रता, भूख और भारत के अभागों का प्रभावी चित्र अंकित किया है—

शंकर नाँहि उधार मिलै धन बातन ते कछु काज सरै ना,
हारि हिए दिन राति अनेक उपाय करैं पर पेट भरै ना।
रोटिन को रिरियात फिरैं कितहूँ दुखियान की दार गरै ना।
भारत के हतभागिन को दल दीन भयो अब धीर धरै ना।

(शंकर सर्वस्व, पृ० ३५१)

'शंकर सर्वस्व' में उनकी 'पामर पंच कहायो', 'ताकनि तेरी', 'आयो अकेलो सिधायो', 'मनो नाँहि मानत आन तियान' आदि समस्यापूर्तियाँ संकलित हैं जिनमें युगबोध को व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्ति मिली है। परंतु अपनी संपूर्ण चेतना में द्विवेदी युग का ब्रजभाषा समस्यापूर्ति काव्य परंपरा का अनुगामी ही रहा।

नवीन प्रयोगात्मक प्रयास

द्विवेदी युग का ब्रजभाषा काव्य परंपरानिर्वाह के साथ समसामयिक बौद्धिक क्रांति, राष्ट्रीय जागरण और सामाजिक चेतना से भी अनुप्रेरित रहा है। इस युग के खड़ी बोली के कवि जहां नई काव्यभाषा और नवीन विषयों को अपनाकर नए काव्यमार्ग का निर्माण कर रहे थे, वहीं ब्रजभाषा के कवि भी अपने सीमित वृत्त में विषयगत और भाषागत रूढ़ियों से अपने को मुक्त कर युगसंवेदना को अभिव्यक्ति देने में सचेष्ट दिखाई पड़ते है। इस प्रकार ब्रजभाषा के कवियों को दुहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ रहा था। नए भावबोध और युगचेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से द्विवेदी युग की ब्रजभाषा के प्रेमकाव्य, वीरकाव्य और प्रकृतिकाव्य की धाराएँ विशेष महत्व रखती हैं।

ब्रजभाषा काव्य पर द्विवेदी युग में अतिशय शृंगारिकता का आरोप बहुचर्चित था और भारतेंदु युग तक ब्रजभाषा काव्य की परंपरा को देखते हुए यह आरोप काफी हद तक सही भी था। अतः द्विवेदी युग के अनेक ब्रजभाषा कवियों ने शृंगार के रूढ़िग्रस्त स्वरूप को, जिसमें मांसलता का रंग प्रखर था, त्याग कर स्वस्थ प्रेम का चित्रण किया। राधा माधव की प्रणयकेलि का चित्रण करनेवाले सामान्य कवियों की प्रेम और शृंगार भावना में एक संयम दृष्टिगत होता है। समकालीन वैचारिक क्रांति और राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित ब्रजभाषा कवि सामाजिक दायित्व के नवीन परिप्रेक्ष्य में रूढ़ियों को तोड़ने में संलग्न हुआ। नारी का वासनात्मक रूप सामाजिक समस्याओं, विषमताओं और यथार्थ अनुभूतियों के समक्ष उत्तरोत्तर गौण पड़ता गया। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'हिंडोला', 'शृंगार लहरी', तथा नाथूराम शर्मा 'शंकर' और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की शृंगारिक रचनाएँ और समस्यापूर्तियाँ इसी कोटि की हैं। इनमें प्रेम का जो चित्रण हुआ है, उसमें लोकरीतियों की सुंदर अभिव्यंजना हुई है।

द्विवेदी युग की इस प्रेम भावना का प्रतिनिधित्व मुख्य रूप से जयशंकर प्रसाद की ''प्रेमपथिक', रामचंद्र शुक्ल की 'शिविर पथिक', सत्यनारायण कवि-रत्न की 'प्रेमकली' आदि रचनाओं में उपलब्ध होता है। 'प्रेमपथिक' का पथिक सामाजिक बंधनों और रूढ़ियों से त्रस्त और पीड़ित है। इस रचना में प्रेम के व्यापक एवं सार्वभौम रूप का चित्रण हुआ है। वह प्रेम की व्यापकता को समझाते हुए कहता है कि प्रेम में धैर्य, विरह, त्याग और बलिदान का महत्व है--

हिए राखि कछु धीरज, सहि कछु पीर।
आशा और निराशा नैनन नीर॥
× × ×
पथिक धीर धरि चलिए पथ अति दूर।
ह्वै कटिबद्ध सदा सनेह में चूर॥

(प्रेम पथिक)

प्रसाद की प्रेमभावना स्थूल सौंदर्य से आध्यात्मिकता और सूक्ष्मता की ओर उन्मुख हुई है। वे 'नीरव प्रेम' की रहस्यमय अनुभूति करते हैं--

तरल वीचि निनादन में कढ़ै। प्रकृति के मधुराक्षर को पढ़ै॥
करन व्यक्त चहै वहि भाव को। पर न पावत कोउ उपाव को॥
तिमि करो तुम केलि अमंद सो। हृदय में करिके छल छंद सो॥
तदपि नाहि कबौं दरसात हौ। प्रगट होन चहौ छिपि जात हौ॥

(चित्राधार)

प्रसाद के प्रेम का यह व्यापक एवं सार्वभौम रूप ब्रजभाषा काव्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसका विकास आगे चलकर उनकी खड़ी बोली रचनाओं में हुआ है।

रामचंद्र शुक्ल के 'शिविर पथिक' का पथिक आर्थिक विपन्नता के कारण विवश होकर अंग्रेज सेना अधिकारी के कहने पर अपनी नवविवाहिता को छोड़कर अफगान युद्ध में संमिलित हो जाता है। इस कविता में युगयथार्थ और जीवनगत विषमता का सुंदर चित्रण हुआ है। 'शिविर पथिक' की नायिका प्रलाप करनेवाली नायिका नहीं है, वह सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से अनुप्राणित है। वस्तुतः द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में प्रेम के युगसापेक्ष्य एवं नवीन रूप को अभिव्यक्ति मिली। ब्रजभाषा कवियों ने प्रेम को मांसलता के स्तर से उठाकर एक सार्वभौम एवं मंगलकारी शक्ति के रूप में चित्रित किया। रामचंद्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' में प्रेम के इसी उदात्त एवं शिव रूप

का चित्रण हुआ है। सत्यनारायण कविरत्न ने 'प्रेमकली' को 'प्रेम का स्वरूप', प्रेम का आखर' और 'सबद' कहकर प्रेम के सामान्य से लेकर उसके विश्वबंधुत्व तक की मीमांसा की है। हरिऔध ने 'रस कलश' में नवीन नायिकाओं की सृष्टि करके प्रेम के युगसापेक्ष्य एवं व्यापक रूप को भी प्रतिपादित किया है। अस्तु, द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य में प्रेम की रूढ़ियों को तोड़कर उसके उदात्त एवं व्यापक स्वरूप की जो अभिव्यक्ति हुई है वह ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा की अपूर्व उपलब्धि है।

द्विवेदी युग के पूर्ववर्ती ब्रजभाषा काव्य में, अपवादों को छोड़कर वीररस की कल्पना अधिकांशतः युद्धवीर तक ही सीमित मिलती है। आधुनिक युग में विज्ञान के प्रभावस्वरूप युद्ध की शैली में अंतर आया। राजनीतिक परिवर्तनों के साथ युद्धवीर की परंपरित मान्यताएँ खंडित हुईं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद और शोषण के प्रतिक्रिया-स्वरूप जिस सांस्कृतिक चेतना और जागरण का संचार हुआ उसने राष्ट्रीय एकता की भावना को उद्बोधित किया। ब्रजभाषा कवियों ने देश के गौरवमय अतीत को महाराणा प्रताप, छत्रसाल और शिवा जी जैसे राष्ट्रीय वीरों की जीवनगाथाओं के माध्यम से स्मरण किया। राष्ट्रीयता आंदोलन और जनजागरण के इस युग में युद्धवीर के अतिरिक्त दानवीर, धर्मवीर और दयावीरों का पुनरुद्धार हुआ। साथ ही युग की आवश्यकता के अनुरूप सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नवीन वीरों की कल्पना की गई। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

इस युग के ब्रजभाषा काव्य में वीरता भारतीयता के पर्याय के रूप में स्वीकृत हुई। अतः प्रख्यात और युग के मान्य नेताओं में समानधर्मता और मौलिकता के निरूपण की प्रवृत्ति भी पल्लवित हुई। वियोगी हरि ने महात्मा गांधी को 'सत्यवीर' कहा। वियोगी हरि के वीरों का वृत्त अत्यंत व्यापक है। उन्होंने देवर भाभी के पुनीत संबंधों और मर्यादा की रक्षा हेतु विषपायक हरदौल को 'धर्मवीर', गोपियों को 'विरहवीर', दधीचि को 'दानवीर', भीष्मपितामह को 'प्रकृतिवीर', चाणक्य को 'नीतिवीर' और समाज-सेवा-रत कर्मशील महापुरुषों को 'कर्मवीर' कहकर नवीन उद्भावनाएँ कीं। 'वीर सतसई' में जिन ऐतिहासिक वीरों के पराक्रम और शौर्य का चित्रण हुआ है उनमें चामुंडराय, लंगारेराय, आल्हा ऊदल, गोरा बादल, रानी पद्मिनी, महाराणा साँगा, जयमल, महाराणा प्रताप, महाराणा राजसिंह, शिवा जी, चूड़ावत, छत्रसाल, गुरु तेगबहादुर गुरु गोविंद सिंह आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने तिलक, देशबंधु दास, मीरा, चाँदबीबी, नीलदेवी, दुर्गावती आदि राष्ट्रनायकों और वीरांगनाओं को भी काव्य का विषय बनाया।

द्विवेदी युग में इस नवीन वीर-भाव-धारा को पल्लवित करनेवाले कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन आदि का योगदान भी महत्वपूर्ण है। 'पूर्ण' की 'चंद्रभानु कला' (नाटक), हरिऔध की 'रस कलश', रत्नाकर की 'वीराष्टक', मिश्रबंधु की 'लवकुश चरित' आदि कृतियों तथा भगवानदीन की स्फुट कविताओं में वीर भावना का नव्य रूप देखा जा सकता है। इस प्रकार द्विवेदी युग में वीर-भाव-धारा को जो नया धरातल और नया संस्कार मिला वह सांस्कृतिक गरिमा और युगचेतना से युगपद् रूप में अनुप्राणित है।

द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा में प्रकृति के प्रति नया दृष्टिकोण पल्लवित हुआ : द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में प्रकृति चमत्कृति का माध्यम मात्र नहीं रही, प्रत्युत उसकी विविध रूपात्मकता और स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा हुई। ब्रजभाषा कवियों ने प्रकृतिचित्रण की उस रूढ़िवद्धता को तोड़ा जो ब्रजभाषा काव्य को शताब्दियों से जकड़े हुए थी। कृष्णभक्ति काव्य में प्रकृति के आदर्श और सीमित रूप को ही अभिव्यक्ति मिली थी जिसका विकास सेनापति जैसे अपवादों को छोड़कर संपूर्ण रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य में परिलक्षित होता है। आधुनिक काल के प्रारंभ में 'द्विजदेव' ने इस प्रकृति को निकट से देखा परंतु उन्हे भी अपवाद ही समझना चाहिए। भारतेंदु युग में ब्रजभाषा कवियों का परंपरावादिता के बावजूद प्रकृति के प्रति अनुरागपूर्ण दृष्टिकोण उद्भूत हुआ। भारतेंदु ने प्रकृति को आलबन रूप में ग्रहण करने के साथ मानव प्रकृति के प्रति भी अपनी अनुरक्ति दिखाई है। उनके समसामयिक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और ठाकुर जगमोहन सिंह ने प्रकृति का सहज एवं अनुभूत रूप चित्रित किया। परंतु द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक ने 'हिमालय', 'काश्मीर', 'देहरादून' आदि स्थानों के प्राकृतिक सौंदर्य को चित्रित करके अपनी स्वच्छंद एवं अनुराग दृष्टि का परिचय दिया। रामचंद्र शुक्ल ने ग्राम्य प्रकृति का चित्रण किया। इन दोनों कवियों ने प्रकृति के उपेक्षित रूप को अभिव्यक्ति देकर उसके आलंबनगत रूप की नवीन परंपरा का सूत्रपात किया। 'हरिऔध', 'पूर्ण' और सत्यनारायण कविरत्न आदि ने प्रकृति के मनोरम चित्र अंकित करके प्रकृतिचित्रण की इस नवीन परंपरा को आगे बढ़ाया।

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में जहाँ उपेक्षित प्रकृति को अभिव्यक्ति मिली, वहीं प्रकृति के उद्दीपन, आलंबन, अलंकरण, उपदेशग्रहण और रहस्यात्मक तथा परोक्ष सत्ता के रूपों को भी स्वीकृति मिली। प्रकृति के इन रूपों के अतिरिक्त उसके मानवीकरण, प्रतीकविधान, बिंबग्रहण आदि के निमित्त भी उसका उपयोग स्फुट रूप में मिल जाता है।

प्रकृतिचित्रण के इन रूपों के उदाहरण 'हरिऔध', 'पूर्ण', 'कविरत्न',

'रत्नाकर', आदि के काव्य में सरलता से खोजे जा सकते हैं। समग्रतः द्विवेदी युग में प्रकृति के प्रति ब्रजभाषा कवियो की संवेदनशीलता अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने प्रकृति का अपनी काव्याभिव्यक्ति में विविध रूपों में उपयोग किया तथा प्रकृति के सीमित और रूढ़ रूप को त्याग कर उसके यथार्थ एवं उपेक्षित रूप की प्रतिष्ठा की।

युगबोध

द्विवेदी युग की साहित्यिक चेतना में साहित्य को जीवन के निकट लाने की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उससे ब्रजभाषा काव्य भी प्रभावित हुआ। ब्रज कवियों की संवेदनशीलता भी समकालीन प्रवाह और जीवन की विषमताओं को आत्मसात् करने में उन्मुख हुई। भारतेंदु और समकालीनों में भी यह प्रवृत्ति पनपी थी और अपनी सीमाओं में रहकर उन्होंने युगयथार्थ को राजनीतिक पराधीनता, महँगाई, अकाल, भारतीय धन के विदेशगमन, सामाजिक वैषम्य, धार्मिक रूढ़िवादिता, नैतिक पतन आदि विषयों के माध्यम से चित्रित किया था। द्विवेदी युग में समसामयिक बोध अपेक्षाकृत व्यापक रूप में विकसित हुआ तथा राष्ट्रीयता अंदोलन और सुधारवादी चेतना के प्रभावस्वरूप द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में समसामयिक जीवन को अभिव्यक्ति मिली क्योंकि उसके अभाव में सुधार वृत्ति को उपदिष्ट कर सकना कठिन था। परंतु आर्यसमाज और राष्ट्रीयता आंदोलन से प्रभावित रचनाओं मे कहीं कहीं उपदेशवृत्ति पल्लवित हुई है। नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माधव शुक्ल, आदि कवियों के काव्य में जहाँ यथार्थबोध झलकता है, वहीं उनमें उपदेश की प्रवृत्ति भी मुखर हुई है। इसी के समानांतर श्रीधर पाठक, हरिऔध, वचनेश, कविरत्न, वियोगी हरि, दुलारेलाल भार्गव आदि की कविताओं में यथार्थबोध का स्वरूप संवेदनायुक्त है तथा उसमें मार्मिकता पल्लवित हुई है। इन कवियों ने सजग युगद्रष्टा के रूप में अपने समय की प्रायः सभी समस्याओं को अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।

द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य मे युगबोध की अभिव्यक्ति उन सभी संदर्भों और आयामों से संपृक्त है जो देशव्यापी राष्ट्रीयता के आंदोलन का संचालित कर रहे थे। मातृभाषा, भारतीय संस्कृति की गौरवमयी परंपरा, देशभक्ति, स्वतंत्रता, नवीन सामाजिक चेतना, आर्थिक विषमता, शोषित वर्ग की उन्मुखता, युगानुरूप धार्मिक चेतना जैसे विषय इस युग के ब्रजभाषा काव्य में इसीलिये वर्णित हुए हैं। सुविधा की दृष्टि से द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य मे वर्णित इन सभी विषयों को राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया जा रहा है।

राष्ट्रीय चेतना

इस युग की राष्ट्रीयता की चेतना का रूप ब्रजभाषा कवियों की मातृभाषा विषयक प्रबुद्धता में दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीयता आंदोलन के कर्णधारों ने इस सत्य का अनुभव किया था कि एक भाषा के माध्यम से भावात्मक एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता की भावना को उद्बोधित किया जा सकता है। देशव्यापी इस अभियान को सफल बनाने के लिये राष्ट्रनायकों ने हिंदी को ही समर्थ एवं उपयुक्त पाया था। जनजीवन में मातृभाषा के प्रति अनुराग की भावना को जगाने में ब्रजभाषा कवियों ने भी योग दिया। श्रीधर पाठक 'भारत गीत' में भारत और हिंदी के महत्व को घोषित करते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'स्वभुजा' उठाकर हिंदी के गौरव का गान किया। उनकी भाषानीति के अनेक आयाम थे जिनमें अंग्रेजी, फारसी और उर्दू, जनपदीय भाषाओं, संस्कृत, बँगला और ब्रजभाषा के अंतर्विरोध सम्मिलित थे। ब्रजभाषा कवियों में हिंदी के गौरवगान के साथ ब्रजभाषा के प्रति अनुराग का भाव समानांतर रूप मे क्रियाशील था। अतः उन्होंने ब्रजभाषा मे काव्यरचना और 'नागरी' की प्रतिष्ठा के लिये अपने को समर्पित किया। सत्यनारायण कविरत्न 'भारत भारती' कविता में कहते हैं—

नागरी पढ़ौ सप्रीति। पालहु निज धर्म-रीति।
सकल चलहु स्वकुल रीति। रहहु न मन मारे॥

द्विवेदी युग में निर्मित हिंदी भाषा के स्वरूप के प्रति राष्ट्रीय हितों की भूमिका में ब्रजभाषा कवियों ने जो आत्मसमर्पण किया उसी के परिणामस्वरूप उनमें से अनेकों ने कालांतर में खड़ी बोली को अपनी काव्यरचना का माध्यम बनाया।

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों की राष्ट्रीयता उनकी भारतीयता की चेतना में संनिहित है जिसके अंतर्गत उन्होंने अपनी प्रशस्त सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपराओं का यशोगान किया है। श्रीधर पाठक ने ब्रजभाषा में भारतवंदना और राष्ट्रीय गीत अपनी काव्यसाधना के प्रारंभिक चरण में ही लिखने प्रारंभ कर दिए थे। उनकी 'नौमि भारतम्' कविता बहुत प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने भारत के विराट् एवं भव्य रूप का चित्रण किया है—

हिम-शैल-शुभ्र-सुभाल-भ्राजत दिव्य-मौलि प्रभालयम्।
सित-अभ्र-जाल-विशाल-साजत राज-छत्र-छटामयम्॥

× × ×

कहुँ देवदास-सुब्रात-वृत, सुठि-पर्वतालि-तट-स्थली।
कहुँ शाल-ताल-तमाल-तत सुविशाल-वन शोभा भली॥

कहुँ रम्य-तीर-द्रुमालि-बिंबित-स्वच्छ-नीर-सरोवरम् ।

+ + +

मनुजादि नृपति-नृवर्य-जनु-थल-विनय-नय-अनुशासितम् ।
बल-वीर्य-बुद्धि-विलास-वर्द्धक-आर्यकुल-अधिवासितम ॥

श्रीधर पाठक के बाद वंदना गीतों के माध्यम से भारत वैभव का चित्रण अन्य ब्रजभाषा कवियों ने भी किया, जिनमें सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रमुख हैं। उन्होंने 'हृदय तरंग' में भारत माता के वैभव को पूर्ण निष्ठा के साथ वर्णित किया है। 'हिंद वंदना' कविता में उन्होंने राष्ट्रप्रेम को अभिव्यक्ति देते हुए उसकी समसामयिक स्थिति से क्षुब्ध होकर कहा—

सब मिलि पूजिय भारत माई।
आर्य अनार्य सरस चाखत जिह, प्रेम भाव रुचि राई।
अस जननी पूजन हित धावहु, बेला जनि कढ़ि आई॥

+ + +

प्रिय स्वदेश व्यापार अर्घ जल सिंचन करहु बनाई।
जपहु मुदित मन सत्य मंत्र बंदेमातरम सुहाई॥

सत्यनारायण कविरत्न के अतिरिक्त नाथूराम शर्मा शंकर की समस्यापूर्तियों और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की 'राष्ट्रीय वीणा' की कविताओं में भारत की गौरवमयी परंपरा का पुनराख्यान हुआ है। इस प्रक्रिया में ब्रजभाषा कवियों की राष्ट्रीय भावधारा में ऐतिहासिक कथाओं और महान् विभूतियों की चरित्र-गाथाओं का भी समावेश हुआ है।

द्विवेदी युग के प्रारंभिक चरण में भारतेंदु युग की राजभक्ति की भावना कुछ ब्रजभाषा कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की ब्रजभाषा कविताओं में कहीं कहीं अंग्रेजों की नीति का समर्थन दिखाई पड़ता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की कविताओं में भी यही प्रवृत्ति प्रतिबिंबित हुई है, परंतु उनका स्वर 'पूर्ण' की तुलना में दबा हुआ है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रारंभिक ब्रजभाषा काव्य में भी राजनीति की छाया दृष्टिगत होती है। 'अयोध्या का विलाप' शीर्षक कविता में 'लाटवीर' के माध्यम से उनकी राजभक्ति अभिव्यक्त हुई है। इसी प्रकार 'कृतज्ञता प्रकाशन' में द्विवेदी जी ब्रिटिश शासन के यशसौरभ से भारत के 'सुगंध युक्त' होने की कामना करते हैं। वस्तुतः द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य की राजभक्ति की यह चेतना राष्ट्रीयता आंदोलन की समानांतर प्रवृत्ति ही कही जायगी। हमारे राष्ट्रनायकों ने प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजी सत्ता और साम्राज्य का समर्थन किया था और वे स्वराज्य की कामना के साथ राजभक्ति का सर्वथा

परित्याग नहीं कर सके थे। श्रीधर पाठक की 'जार्ज वंदना', सत्यनारायण 'कविरत्न' की 'सम्राट् स्वागत सौरभ', 'ब्रिटिश विजय प्रार्थना' और 'विजय वंदना' तथा 'पूर्ण' की 'दिल्ली दरबार' आदि कविताएँ इसी मनोवृत्ति की द्योतक हैं। परंतु राष्ट्रीयता आंदोलन के विकास के साथ राजभक्ति की भावना का धीरे धीरे उच्छेदन हुआ और स्वराज्य की भावना बलवती हुई। श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न नाथूराम शर्मा 'शंकर' की कई कविताओं में स्वराज्य की इसी नवीन भावना की अभिव्यक्ति हुई है। स्वराज्यबोध की धारणा ने देश के आर्थिक शोषण, भुखमरी, सामाजिक विसंगतियों आदि यथार्थ संदर्भों का बोध कराया। अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर जापान की रूस पर विजय जैसी भावनाओं ने राष्ट्रीयता की भावना को नया संबल दिया तथा स्वराज्य और स्वाभिमान की भावनाएँ उद्वेलित हुईं। महात्मा गांधी के आत्मिक बल और सत्याग्रह जैसी धारणाओं से स्वराज्य की चेतना और भी बलवती हुई। द्विवेदी युग के श्रीधर पाठक, पूर्ण, कविरत्न, रत्नाकर, दुलारेलाल भार्गव की ब्रजभाषा कविताओं में स्वराज्य का स्तवन इस बात का प्रतीक है कि ब्रजभाषा काव्य युगप्रवाह से अछूता नहीं बचा। दुलारेलाल भार्गव भारतवासियों को प्रबोधन देते हुए कहते हैं—

गांधी गुरु तैं ज्ञान लै, चरखा अनहद जोर।
भारत सबद तरंग पर बहत मुकुति की ओर॥

परंतु आगे चलकर ब्रजभाषा काव्य में समसामयिक चेतना की अभिव्यक्ति शिथिल पड़ती गई क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के साथ खड़ी बोली राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होती गई। ब्रजभाषा के अधिकांश कवि भी खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गए।

सामाजिक चेतना

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में रचनाकारों का सामाजिक बोध जहाँ समाज की विसंगतियों का निरूपण करता है, वहीं वह उनके परिष्कृत और स्वस्थ जीवनदृष्टि का भी संकेत करता है। ब्रजभाषा कवियों ने अपने समय के कुंठित और विकृत समाज पर प्रहार किया है और उनकी कचोट व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त हुई है। इस दृष्टि से नाथूराम शर्मा 'शंकर' की ब्रजभाषा कविताएँ बहुत सफल बन पड़ी हैं। 'शंकर' ने 'कलियुग राज', 'राम : रुपैया', 'कंजूस रोगी', 'रेलवे देवी', 'अफीम की आफत', 'खिलाड़ी खटमल', 'अनोखे उल्लू', 'खुचेरूलाल' आदि व्यंग कविताओं के माध्यम से समाज के विकृत रूप को उद्घाटित किया है। उन्होंने समाज की रूढ़िग्रस्तता और अपाचक आधुनिकता पर इन कविताओं में गहरी चोट की है। 'शंकर' की समस्यापूर्तियाँ भी इसी चेतना से अनुप्राणित हैं। 'शंकर'

के अतिरिक्त सत्यनारायण 'कविरत्न', लाला भगवानदीन, दुलारेलाल भार्गव आदि कवियों ने भी समाज की विभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाया। परतु इनमें जो मार्मिकता सत्यनारायण 'कविरत्न' की कविताओं में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों और जीवनपद्धति के पतनोन्मुख रूप का 'करुण क्रंदन' में जो चित्रण किया है, वह अत्यंत मार्मिक है। 'हृदय तरंग' में वे दुर्जनों के बढ़ते हुए प्रभाव से पीड़ित हैं—

मौजें उड़ें खलनि की, करि मित्र भेद।
मारे फिरें सुजन नित्य उठाइ खेद॥
उत्साह वृद्धि तिनके चित न सम्हारौं।
तौ लौं बताउ जिय मैं कस धीर धारौं॥

वर्गवादिता, जातीयता और विकृत संस्कार देनेवाली रूढ़ियोंवाले समाज के प्रति ब्रजभाषा कवियों के मन में गहरी वेदना थी। पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण और स्वस्थ परंपराओं के प्रति उपेक्षा की भावना ने समाज के सामने अनेक नई समस्याएँ खड़ी कर दी थी। इसीलिये ब्रजभाषा कवियों ने अंग्रेजी वेशभूषा, भाषा और आचरण को उपहास का विषय बनाया। वे स्वदेशप्रेम के साथ स्वदेशी वेशभूषा और परंपराओं के ग्रहण का उपदेश देते हैं। 'हृदय तरंग' में सत्यनारायण 'कविरत्न' मन को प्रबोधित करते हुए कहते हैं—

करहु मन मातृभूमि अनुराग।

× × ×

करनौं काज करन सो सीखौ कोरी गिटपिट त्याग।
जो परदेस वस्तु छिनभंगुर तिन पर डारहु आग॥
निज कर रची वस्तु सेवहु नित तजि मत्सर मद राग।
चलहिं अधिक दिन जो करि देखहु कमती लागहिं लाग॥

× × ×

घोरि एकता रंग परस्पर खेलहु हिल मिल फाग।
सत्य ढोल डफ लैकै गावहु नित उन्नति को राग॥

द्विवेदी युग की सामाजिक चेतना में नारी जागरण और नारी स्वातंत्र्य एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस युग में राष्ट्रीयता आंदोलन के उन्मेष के साथ नारी को सामाजिक उत्थान का एक आवश्यक अंग समझा जाने लगा। नारी को स्वस्थ मानवीय एवं सामाजिक संदर्भों में देखा गया। परिणामतः उसके मध्यकालीन और शोषित रूप को इस युग में मुक्ति मिली। नारी समाज से संबंधित कुप्रथाओं का विरोध हुआ। नारी समाज से संबंधित कुप्रथाओं और उसकी नई प्रतिष्ठा को महावीरप्रसाद द्विवेदी,

श्रीधर पाठक, कविरत्न और नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने कई कविताओं में चित्रित किया है। नारी के उद्धार के लिये नारीशिक्षा पर बल देते हुए 'शंकर' ईश्वर से प्रार्थना करते हैं——

विदुसी उपजैं, समता न तजैं, व्रतधार भजैं, सुकृती वर को।
सधवा सुधरैं, विधवा उभरैं, सकलंक करैं न किसी घर को।।
दुहिता न बिकैं, कुटनी न टिकैं, कुलबोर धिकैं तरसैं दर को।

'वीर सतसई' और 'वीर पंचरत्न' जैसी रचनाओं में नारी के विविध आदर्श रूपों की कल्पना की गई है। ब्रजभाषा कवियों की नारी-समाज-विषयक कल्पना उदात्त है और उन्होंने उसके ऐसे आदर्श रूप को चित्रित किया है जो उस युग की आवश्यकता के अनुरूप है।

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में समाज के शोषित वर्ग, विशेषकर किसानों और मजदूरों, के प्रति यथार्थमूलक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण पल्लवित हुआ है। इससे पूर्व भारतेंदु युग के ब्रजभाषा काव्य में कृषक और मजदूर विषयक इतनी प्रबुद्धता नहीं मिलती। वस्तुतः इस युग के अंतिम चरण तक राष्ट्रीयता आंदोलन का दृष्टिकोण असफलताओं के कारण व्यापक हो गया था। अंग्रेजी शासन की शोषण नीति का निर्धन जनता, विशेषकर किसानों और मजदूरों, पर कुप्रभाव पड़ रहा था। वे शासन की दमन नीति के शिकार बन रहे थे। देश के नेताओं ने समाज के इस वर्ग की महत्ता को समझा तथा उन्होंने किसानों और मजदूरों को शोषण से मुक्ति दिलाने के सकल्प को भी स्वराज्य का आदर्श बनाया। 'कविरत्न', 'शंकर', रामचंद्र शुक्ल आदि कवियों ने इस नई चेतना को अपनी अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी। 'कविरत्न' तो एक ऐसे सुशिक्षित कवि थे जो युगद्रष्टा थे और जिन्हें ग्रामीण जीवन की विडंबनाओं का साक्षात् अनुभव था। अपने युग के कांग्रेस नेताओं की ग्रामों के प्रति उपेक्षा भावना का कथन करते हुए वे प्रबोधन देते हैं——

एलेलबी निपुण प्लीडर विज्ञ बी० ए०।
एमें प्रसिद्ध धनवंत सामोद ही ए।।
कांग्रेस जात प्रति वर्ष छटा प्रकासी।
पै ना कछू सुनत निर्धन ग्रामवासी।।
का वे नहीं वसत भारतवर्ष माँहि ?
किंवा कछू सुमन को तिण सत्व नाँहि ?
छाये जहाँ जस अपार कठोर नेम।
कैसे बढ़ै कहहु तत्र स्वदेश-प्रेम ?

समाज का यह शोषित वर्ग शासन की यातनाओं का शिकार था ही, अकाल, बाढ़, महामारी, रोग आदि प्राकृतिक यातनाओं को भी इसे भोगना पड़ता था। 'शंकर'

ने अपनी कई कविताओं में महामारी और दुर्भिक्ष के चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'बुद्धचरित' में रामचंद्र शुक्ल ने प्राचीन कथा के माध्यम से युग के इस संदर्भ को कुशलतापूर्वक संपृक्त किया है। बुद्ध की करुणा दारिद्र्यग्रस्त कृषकों और निर्धनों की दुर्दशा देखकर द्रवित हो उठी है।

इस प्रकार द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने युगचेतना के समानांतर जागरूकता का परिचय दिया। उनकी सामाजिक विचारधारा में यथार्थबोध के साथ रूढ़ियों के निषेध, स्वस्थ जीवनदृष्टि के उन्मेष, नारी स्वातंत्र्य और शोषित वर्ग के पुनरुद्धार की चेतना अभिव्यक्त हुई है। परंतु ब्रजभाषा काव्य की यह प्रबुद्धता खड़ी बोली काव्यधारा की तुलना में व्यापक नहीं कही जा सकती और न उसका आगे विकास ही हो सका।

धार्मिक चेतना—ब्रजभाषा काव्य का कृष्णभक्ति से जो घनिष्ठ संबंध भक्तिकाल में स्थापित हुआ उसकी व्याप्ति भारतेंदु युग तक बनी रही। भारतेंदु युग में देशभक्ति और आधुनिकता की नवीन भावनाओं का आविर्भाव हुआ परंतु उसकी धार्मिक भावना का रूप पर्याप्त सीमा तक रूढ़ ही रहा। द्विवेदी युग में बुद्धिवाद, यथार्थबोध और विज्ञान के प्रभाव के कारण इस परंपरित धार्मिक भावना को आघात पहुँचा। इसीलिये द्विवेदी युग में अवतारवाद की नवीन, बौद्धिक और युगसापेक्ष्य अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। यह उल्लेखनीय है कि ब्रजमंडल और कृष्णभक्ति की रूढ़ परंपरा में भी द्विवेदी युग में प्रभूत ब्रजभाषा काव्य रचा गया। इस काव्य में न तो जीवनी शक्ति ही है और न युगबोध का कोई स्वर। इसकी अभिव्यंजना शैली भी रूढ़ है।

नवीन बोध से प्रेरित ब्रजभाषा काव्य में युगसंदर्भ मुखर हुआ है। 'हरिऔध', कविरत्न, 'पूर्ण' आदि की ब्रजभाषा रचनाओं में अवतार को मानव सेवा और लोकमंगल की भूमिका में चित्रित किया गया है। इस क्षेत्र में केवल 'रत्नाकर' ही अपवाद हैं जो अपनी काव्यचेतना में परंपरावादी कहे जा सकते हैं। हरिऔध की 'श्रीकृष्ण शतक', 'प्रेमांबु प्रवाह', 'प्रेमांबु वारिधि' आदि रचनाओं में परंपरा के निर्वाह के साथ नवीनता का आग्रह भी दिखाई पड़ता है। उन्होंने 'रस कलश' में शृंगार रस और नायिका भेद का जो निरूपण किया उसमें परंपरा की बौद्धिक और युगसापेक्ष्य प्रतिक्रिया है। 'कविरत्न' ने भी परंपरागत भक्तिभावना का निर्वाह करते हुए भी उपालंभों के माध्यम से नवीन भावबोध को प्रमुखता दी है। उनकी ईश्वर के प्रति एक उपालंभ कविता उधृत है—

सबै धान बाईस पसेरी नित तोलनि सो काम।
बलिहारी नहिं विदित तुम्हें कछु ऊँच नीच सो काम॥

× × ×

जगत पिता कहवाय भये अब ऐसे तुम बेपीर।
दिन दिन दुगुन बढ़ावत जो नित द्रोह-द्रोपदी-चीर ।।
जुग कर जोरि प्रार्थना ये ही निज माया धरि राखौ।
'सत्य' दीन दुखियन को हित अब सदय हृदय अभिलाषौ।।

वस्तुतः द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में धार्मिक भावना आधुनिक बोध से संपृक्त हुई। कवियों की वैयक्तिक भक्तिचेतना समाजोन्मुख हुई। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' जैसे सनातनधर्मी संस्कारों के कवि भी बौद्धिक चेतना से प्रभावित हुए। सामाजिक एवं राष्ट्रीय पुनरुद्धार की नव्य धार्मिक भावना को आर्य समाज आदि आंदोलनों ने और भी प्रेरणा दी। समग्रतः द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में अभिव्यक्त धार्मिक भावना का स्वरूप एकांतिक न होकर सामाजिक है, लोकवादी है।

नवीन विषय

द्विवेदी युग में नवीन ज्ञान विज्ञान, राष्ट्रीय चेतना, शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य प्रभाववाली व्यवस्था के फलस्वरूप बौद्धिकता का उन्मेष और प्रसार हुआ। जीवन में विज्ञान का प्रभाव उत्तरोत्तर प्रखर होता गया। अंग्रेजी शासन व्यवस्था और वैज्ञानिक आविष्कारों ने समाज को जहाँ नई सुख सुविधाएँ प्रदान कीं वहीं उसे समस्याओं से आक्रांत भी किया। परिणामतः विज्ञान में सुख सुविधा जुटानेवाले साइकिल, मोटर, रेल, हवाई जहाज, रेडियो, बिजली, पावर हाउस, इंजेक्शन आदि साधन कविता के विषय बने और ब्रजभाषा के कवि इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे। प्रदर्शनी, कचहरी, चपरासी, वकील आदि नई व्यवस्था की उपलब्धियों ने भी उन्हें स्फुट छंदों की रचना की प्रेरणा दी। इन सबके साथ ही राष्ट्रीय तिरंगे झंडे तथा महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक आदि महापुरुषों और उनके आदर्शों ने ब्रजभाषा कवियों को व्यापक स्तर पर आकृष्ट किया। गो माता, गंगा, गायत्री आदि सांस्कृतिक महत्व के विषयों ने ब्रजभाषा कवियों की अंतश्चेतना को आलोड़ित किया। अस्तु, द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने युगबोध की अभिव्यक्ति के साथ विज्ञान, संस्कृति, समाज और अंग्रेजी शासन तंत्र के स्फुट विषयों को अपनी काव्यरचना में स्थान दिया। अपवादों को छोड़कर इस प्रकार की स्फुट कविताओं में उक्तिवैचित्र्य का साधारण रूप और नवीनता की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है। स्फुट विषयों पर काव्यरचना करनेवाले कवियों में लाला भगवानदीन और दुलारेलाल भार्गव के नाम विशेष रूप से उल्लेनीय हैं। ब्रजभाषा काव्य में नवीन विषयों के समावेश की यह प्रवृत्ति द्विवेदी युगीन काव्यदृष्टि में नवीनता के आग्रह का प्रतिफलन कही जा सकती है।

काव्यरूप

द्विवेदी युग की ब्रजभाषा काव्यधारा में काव्यरूपों की विविधता मिलती

। उसमें प्रबंध, गीत और मुक्तक तीनों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी युग की काव्य-ष्टि के अनुरूप काव्यरूपों के क्षेत्र में भी कवियों की नवीन उद्भवनाएँ देखी जा सकती । यह उल्लेखनीय है कि द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा में किसी भी महाकाव्य ी रचना नहीं हो सकी जबकि खड़ी बोली काव्यधारा में इस कोटि की रचनाएँ हुईं। रदयालु सिंह की 'दैत्य वंश' और 'रावण' जैसी अपवाद प्रबंधात्मक रचनाओं में नवीन कथावस्तु को ग्रहण करते हुए उन्हें महाकाव्य बनाने की चेष्टा मिलती है रन्तु उनमें महाकाव्य की गरिमा और संदेश की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। पौराणिक एवं प्रख्यात कथानकों और चरित्रों को लेकर इस युग के ब्रजभाषा काव्य में खंड ाव्यों की रचना की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा कवियों की वृत्ति कथात्मक कविताओं की ओर उन्मुख हुई। वस्तुतः द्विवेदी युग में मुक्तक और गीति चनाओं के ही माध्यम से अधिकांश ब्रजभाषा कवियों ने परंपरा और युगचेतना को अभिव्यक्ति दी। इनमें भी गीतों की रचना अपेक्षाकृत कम हुई। अनेक प्रबंधात्मक चनाओं में भी मुक्तक का शिल्प संगुफित हुआ है। सामान्य रूप से द्विवेदी युगीन जभाषा काव्य में प्रयुक्त काव्यरूपों के निम्नलिखित वर्ग निर्धारित किए जा कते हैं—

१. खंड काव्य
२. कथात्मक कविता
३, मुक्तक काव्य
४. गीति काव्य

खंड काव्य

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों ने पौराणिक कथानकों और प्रख्यात चरित्रों को लेकर मौलिक एवं अनूदित खंड काव्यों की रचना की। विवेच्य युग में जो ब्रज ाषा खंड काव्य रचे गए उनमें रत्नाकर का 'गंगावतरण', वचनेश का 'शबरी', नाथू-राम माहौर का द्रौपदी दुकूल', रामचंद्र शुक्ल का 'बुद्धचरित', हरिदयालु सिंह का 'दैत्य वंश' और 'रावण' प्रमुख हैं। इन खंड काव्यों में नवीनता का आग्रह और रूढ़िमुक्ति की चेष्टा सम्मिलित है। द्विवेदी युग की जभाषा काव्यधारा में 'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक' प्रबंध और मुक्तक के समन्वित शल्प का सुंदर प्रयोग है। प्रबंध के साथ मुक्तक के शिल्प की सशक्त परिणति होने े कारण 'उद्धव शतक' में कथातत्तु बहुत सूक्ष्म है और उसमें घटनाओं का मूर्त विकास भी नहीं है और न सर्गबद्धता के नियम का ही निर्वाह हुआ है। फिर भी उद्धव शतक' में कथावस्तु का सुगठित और सुव्यवस्थित विन्यास देखा जा सकता है। द्विवेदी युग की पूर्ववर्ती खंडकाव्यात्मक रचनाओं में भागवत आदि पुराणों, रामायण

और महाभारत के कथाप्रसंगों की रूढ़ वस्तु और शैली का आधार लेकर रचना की प्रवृत्ति मिलती है परंतु द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा खंड काव्यों में उपेक्षित और नवीन कथाप्रसंगों को ग्रहण किया गया।

कथात्मक कविता

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा कवियों में कथात्मक कविताएँ लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्रारंभ से यह प्रवृत्ति पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों का आधार लेकर चली। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'वामन', 'शकुंतला जन्म', 'रंभा-शुक-संवाद', 'लक्ष्मी', 'रामचंद्र का धनर्विद्या शिक्षण', 'राम-रावण-संग्राम' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से कथात्मक कविताओं की रचना खड़ी बोली और ब्रजभाषा काव्य मे समानांतर रूप में हुई। इनकी रचना का प्रयोजन प्रख्यात कथाओं और सांस्कृतिक महत्व के चरित्रों के आदर्श की भूमिका में चित्रित करना रहा है। परंतु धीरे धीरे कथात्मक कविताओं की प्रेरणा में परिवर्तन आया और उनमें प्रकृति, इतिहास और युगसंदर्भ का भी समावेश हुआ। कथानक नवीन और प्राचीन दोनों ही रहे। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' और 'देहरादून', रामचंद्र शुक्ल की 'शिशिर पथिक', कविरत्न की 'सरिता' और 'भ्रमरदूत', प्रसाद की 'अयोध्या का उद्धार', 'वन मिलन' और 'प्रेमराज्य' आदि कविताएँ इसी कोटि की हैं। इन कविताओं में संदेश तत्व प्रधान रहा है। साथ ही इनमें इतिवृत्तात्मक तत्वो के साथ प्राकृतिक दृश्यों और चरित्रों को उजागर करने की प्रवृत्ति प्रधान रही है।

इस युग की सर्वाधिक प्रसिद्ध कथात्मक कविता कविरत्न की 'भ्रमरदूत' है। इस अपूर्ण रचना में कथात्मक कविता का स्वरूप अत्यंत प्रभावी और युगचेतना से अनुप्राणित है। पद शैली में रचित 'भ्रमरदूत' में कविरत्न ने भ्रमरगीत की कथा को नवीन आयाम प्रदान किया है। आगे चलकर समसामयिक खड़ी बोली काव्यधारा में रचित कथात्मक कविताओं की तुलना में ब्रजभाषा काव्यधारा में इनकी परंपरा विकास नहीं पा सकी।

मुक्तक काव्य

ब्रजभाषा काव्य अपनी प्रकृति और परंपरा से मुक्तक प्रधान रहा है और द्विवेदी युग का ब्रजभाषा काव्य इसका अपवाद नहीं है। इस युग में राधाकृष्ण की लीलाओं और भक्ति पर आधारित रचनाएँ प्रायः कवित्त, सवैया और दोहा छंदों के अंतर्गत मुक्तक शैली में ही रची गईं। मुक्तक रचना की दृष्टि से द्विवेदी युग का ब्रजभाषा मुक्तक काव्य विविधतासंपन्न है। उसमें वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार के मुक्तक रचे गए।

वस्तु और शिल्प की दृष्टि से द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्यधारा में चमत्कृत, कथाश्रित, युगबोधपरक, प्रकृतिपरक, उपदेश और नीतिपरक तथा भक्तिपरक कोटियों के मुक्तक प्राप्त होते हैं। चमत्कृत शैली के मुक्तकों की रचना में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', लाला भगवानदीन, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने विशेष योग दिया। श्रीधर पाठक और दुलारेलाल भार्गव के कुछ मुक्तकों पर बिहारी की उक्तिवैचित्र्य की कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कथाश्रित मुक्तकों में परंपरित वीर कथानकों तथा देशप्रेम और राष्ट्रीय भावनापरक लघु कथाओं और उनसे व्यंजित होनेवाले आदर्शों को संगुंफित करने की प्रवृत्ति पल्लवित हुई है। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' के दोहे इस दृष्टि से सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। युगबोधपरक मुक्तकों की रचना में 'पूर्ण', 'शंकर' और 'कविरत्न' ने विशेष योग दिया। उनमें राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की व्यंगात्मक अभिव्यक्ति हुई है। प्रकृति के दृश्यों, क्रियाव्यापारों और भावों को चित्रित करनेवाले मुक्तकों की रचना में श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'प्रसाद' और लाला भगवानदीन का विशिष्ट योग रहा। उपदेशात्मक सूक्तियों और और अन्योक्तियों के रूप में रचे गए मुक्तकों में आदर्शों की व्यंजना हुई है। इस कोटि के मुक्तक अधिकतर लाला भगवानदीन, दुलारेलाल भार्गव, नाथूराम शर्मा 'शंकर', हरिऔध, 'पूर्ण', और कविरत्न ने रचे। भक्तिपरक मुक्तकों में यद्यपि कृष्णभक्ति और राधाकृष्ण की श्रृंगार लीलाओं का चित्रण प्रधान रहा, तथापि गंगा, शिव, गणेश आदि देवताओं की भी स्तुति गाई गई। द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा मुक्तक रचनाओं में चमत्कृत शैली के मुक्तकों को छोड़कर प्रायः सभी में कथ्यसंप्रेषण की कला विन्यस्त हुई है। सभी शैलियों के मुक्तकों में कवित्त, सवैया, छप्पय और दोहा छंदों की ही प्रधानता रही। परिमाण की प्रचुरता तथा वस्तु और शिल्पगत विविधता के कारण मुक्तक को द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा काव्य का प्रधान काव्यरूप कहा जा सकता है।

गीति काव्य

गीति शैली ब्रजभाषा काव्य की निजी शैली रही है। संगीत, कला, लोक-चेतना और आत्मानुभूति समन्वित कृष्णभक्ति काव्य में इसका पद शैली के अंतर्गत चरमोत्कर्ष लक्षित होता है। रीतिकाल में गीतिकाव्य की धारा क्षीण पड़ गई और इसका विकास मुख्य रूप से सांप्रदायिक काव्य के ही अंतर्गत हुआ। भारतेंदु युग की पदात्मक रचनाओं में गीति रचनाओं का पुनरुन्मेष हुआ, विशेषकर भारतेंदु की रचनाओं में। द्विवेदी युग मे ब्रजभाषा में रचित गीति काव्य का स्वरूप पदात्मक ही रहा और उसकी रचना की प्रवृत्ति 'हरिऔध', 'प्रसाद' और 'कविरत्न' की प्रेम

और सामाजिक चेतना से अनुप्राणित उपालंभपूर्ण रचनाओं में दिखाई पड़ती है। 'हरिऔध' की 'प्रेमांबु वारिधि' और 'प्रेमांबु प्रवाह' के गेय पदों पर कृष्णभक्त कवियों की गीति भावना का संस्कार लक्षित होता है। 'प्रसाद' के 'चित्राधार' के गीतों में आत्मानुभूति का सफल अभिव्यंजन हुआ है। 'कविरत्न' के उपालंभ गीतों की चेतना आत्मानुभूतिजन्य युगबोध को अभिव्यक्ति देने में सफल रही है।

द्विवेदी युग की ब्रजभाषा गीति रचनाओं में श्रीधर पाठक के राष्ट्रीय-भावना-प्रधान स्तुतिपरक गीतों को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। उनके गीतों में राष्ट्रीय बोध की बहुआयामी अभिव्यक्ति हुई है। सत्यनारायण 'कविरत्न' के राष्ट्रीय गीतों में इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है। यद्यपि द्विवेदी युग की ब्रजभाषा गीति रचनाओं में नवीनता दिखाई पड़ती है तथापि उसे बौद्धिक चेतना और युगसंदर्भों की संश्लिष्टि के कारण उसकी प्रशस्त परंपरा की अवसानपूर्ण परिणति कहा जाएगा।

समग्रत: द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में काव्यरूपों की विविधता विकसित हुई, परंतु सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यरूप मुक्तक ही रहा।

छंद

द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में परंपरागत कवित्त, सवैया, छप्पय, रोला, हरिगीतिका, दोहा आदि छंदों की प्रधानता रही। इन सभी छंदों का पूर्ववर्ती ब्रजभाषा काव्य में पूर्ण परिष्करण हो चुका था, अत: इस युग के कवियों के लिये उनकी रचनाप्रक्रिया और नियमों की मर्यादा का निर्वाह करना एक अनिवार्यता सी थी। इसीलिये उनके काव्य में छंददोष बहुत कम मिलते हैं। इस युग के छंदों के प्रयोक्ताओं में नाथूराम शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीन, रंगनारायन पाल, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'वचनेश और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ ने काव्यरचना के साथ पिंगल रचना में भी योग दिया। परंपरित छंदों के अतिरिक्त इस युग के ब्रजभाषा काव्य में नवीन मिश्रित और उर्दू छंदों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी मिलती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी नवीनता और प्रयोगशीलता की नीति को वर्णवृत्तों के प्रयोग द्वारा निदर्शित किया। उनकी ब्रजभाषा रचनाओं में हरिगीतिका, शिखरिणी, मंदाक्रांता, शार्दूल विक्रीडित, वसंततिलका, इंद्रवज्रा, द्रुतविलंबित, मालिनी आदि छंदों का प्रयोग इसका प्रमाण है। श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'प्रसाद' और नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग किए। लाला भगवानदीन और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने उर्दू बहरो के आधार पर छंद रचे। परंतु नवीन छंदों की उद्भावना सर्वाधिक 'शंकर' के ब्रजभाषा काव्य में हुई। उन्होंने किसी छंद के साथ 'मिलिंदपाद' के दो चरण जोड़कर 'भुजंगप्रयात

मिलिंदपाद', 'कलाधर मिलिंदपाद', 'त्रिविर मिलिंदपाद', 'त्रोटक मिलिंदपाद' आदि अनेक छंदों की सृष्टि की। इन छंदों के अतिरिक्त उन्होंने 'लावनी' और 'गजल' के अंत्यानुप्रास के क्रम पर आधारित कई नवीन छंदों की सृष्टि की। परंतु द्विवेदी युग के ब्रजभाषा काव्य में छंदप्रयोग की यह नवीनता केवल प्रयोग के स्तर पर ही दिखाई पड़ती है। मुख्यतः कवित्त, सवैया, दोहा, रोला, हरिगीतिका आदि छंदों की ही प्रधानता रही और इन्हीं छंदों में रत्नाकर जैसे कवियों की मुक्तक कला का उत्कर्ष भी दिखाई पड़ता है।

गीति रचनाओं में पद शैली ही प्रचलित रही जिसका सफल प्रयोग प्रसाद, सत्यनारायण 'कविरत्न', 'हरिऔध' आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है।

सारांशतः द्विवेदी युग का ब्रजभाषा काव्य परंपरा और युगचेतना से युगपद् रूप में अनुप्राणित है। उसमें पूर्व परंपराओं को नया संस्कार देने तथा नए विषयों और जीवनमूल्यों को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। उसमें युगीन काव्य संचेतना और प्रयोगशीलता की प्रवृत्तियाँ वस्तु और शिल्प के क्षेत्रों में पल्लवित हुईं जो समसामयिक खड़ी बोली काव्यधारा में व्यापक और प्रखर रूप में प्रतिफलित हुईं। परंतु ब्रजभाषा काव्यधारा नए परिप्रेक्ष्य और युगप्रवाह को खड़ी बोली काव्यधारा की तुलना में अभिव्यक्ति देने में उत्तरोत्तर अक्षम सिद्ध होती गई। ब्रजभाषा के अनेक कवि खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गए। परिणामतः ब्रजभाषा काव्यधारा उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। द्विवेदी युग की सीमा में जन्मे और उसके बाद काव्य रचना करनेवाले अनेक कवि ब्रजभाषा काव्य की रचना में योग देते रहे। परंतु ब्रजभाषा काव्यरचना की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर शिथिल एवं संकुचित होकर उसके मूल क्षेत्र ब्रजमंडल तक ही सीमित होती गई। उससे बाहर जो कवि ब्रजभाषा काव्यरचना में योग देते रहे उसे उनकी वैयक्तिक अभिरुचि का प्रतिफलन और परंपरा का निर्वाह मात्र समझना चाहिए।

अवधी काव्य

संवत् १९५७ तक भारतेंदु युग के काव्यादर्शों में परिवर्तन आने लगा था। भारतेंदु युग के अंतिम चरण में चार शताब्दियों की सशक्त परंपरावाली ब्रजभाषा का विरोध होने लगा था। ऐसी स्थिति में अवधी काव्य के विकास की संभावनाओं के अभाव का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग की रचनाओं और रचनाकारों के उल्लेख नहीं मिलते। परंतु क्षेत्रीय काव्यभाषा के रूप में द्विवेदी युग में भी अवधी में काव्यरचना की परंपरा जीवित रही। द्विवेदी युग के अवधी कवियों में ज्वालाप्रसाद, शिवरत्न मिश्र, महारानी, गंगाप्रसाद, हरितालिकाप्रसाद, ब्रजदत्त,

अंबिकाप्रसाद, बैजनाथ, राममनोहर, ललिताप्रसाद, माधवप्रसाद, जयगोविंद, गुरुप्रसाद, इंद्रदत्त, गयाचरण, रघुबंश, प्रयागदत्त आदि उल्लेखनीय हैं।[1] इन कवियों की प्रायः स्फुट रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें से बहुत सी अप्रकाशित हैं।

इस प्रकार द्विवेदी युग में अवधी काव्य की रचना स्वांत:सुखाय एवं क्षेत्रीय भाषा के अनुराग का प्रतिफलन कही जा सकती है। इन कवियों में से कोई भी ऐसा प्रतिभावन कवि नहीं हुआ जिसमें समकालीन ब्रजभाषा और खड़ी बोली के कवियों की तुलना में अपने को उजागर करने की क्षमता हो। अत: द्विवेदी युग के अवधी काव्य को परंपरा के निर्वाह मात्र के रूप में स्वीकार करना चाहिए। 'सुकवि काव्य कलाधर' आदि पत्रों में अवधी के छोटे मोटे कवि समस्यापूर्ति भी कर लिया करते थे।

द्विवेदी युग के अंतिम चरण में क्षेत्रीय कवियों का झुकाव अवधी की ओर फिर हुआ। उनकी अभिरुचि गाँवों की जनता, वातावरण और लोकभाषा के प्रति आकृष्ट हुई। नवीन राजनीतिक चेतना का प्रभाव भी अवधी के कवियो पर पड़ने लगा और परिणामत: अवधी काव्य ने भी युगचेतना से अनुप्राणित करने की चेष्टा की परंतु अवधी काव्य का युगबोध ब्रजभाषा और खड़ी बोली काव्य के युगबोध की तुलना में हलका ही कहा जाएगा।

द्विवेदी युग की सीमा में जन्मे और कालांतर में रचना करनेवाले अवधी कवियों मे पं० वंशीधर शुक्ल, अनूप शर्मा, लक्ष्मणप्रसाद 'मित्र' विशेष लोकप्रिय हुए।

इस प्रकार द्विवेदी युग में अवधी काव्यरचना की परंपरा क्षीण एवं क्षेत्रीय रूप में बनी रही।

राजस्थानी काव्य

आधुनिक राजस्थानी काव्य के विकास में संवत् १९०० से १९५० तक का युग संपूर्ण देश की चेतना के अनुरूप सांस्कृतिक उन्मेष और राष्ट्रीयता के प्रसार का युग कहा जा सकता है। नवीन बोध और राष्ट्रीय चेतना के प्रभावस्वरूप राजस्थान में राज्याश्रित काव्यरचना की परंपरा धीरे धीरे शिथिल होती गई और चारण काव्य पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। राजस्थान में डिंगल के साथ ब्रजभाषा में काव्यरचना की परंपरा बहुत पहले से चली आ रही थी। राष्ट्रीय बोध की भूमिका में भारतेंदु युग में उसे विशेष बल मिला। इसीलिये आधुनिक युग में डिंगल में रचे गए काव्य का अभाव प्रारंभ से ही दिखाई पड़ता है और अनेक राजस्थानी कवि राजप्रशस्ति, युद्ध, शौर्य आदि जातीय विषयों के साथ शृंगार

1. डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, अवधी और उसका साहित्य, पृ० ८०।

अलंकार, नायिकाभेद, छंद आदि विषयों को भारतेंदु युग के राजस्थानी काव्य में नया संस्कार और भाषा का नया परिधान प्राप्त हुआ। परंतु जिस स्तर पर भारतेंदु मंडल और उनके अनुवर्ती कवियों ने राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक बोध को ग्रहण किया, राजस्थानी कवि उसे उस स्तर पर अभिव्यक्ति नहीं दे सके। उनके काव्य में राष्ट्रीय चेतना और कतिपय सामाजिक कुरीतियों की निंदा जैसे विषय का सामान्य स्तर पर ही समावेश हो सका।

द्विवेदी युग का राजस्थानी काव्य पर्याप्त सीमा तक अपनी पूर्व परंपरा का ही निर्वाह करता हुआ दिखाई पड़ता है। द्विवेदी युग में ब्रज-काव्य-रचना की परंपरा खड़ी बोली के प्रभाव के कारण धीरे धीरे शिथिल होने लगी और ब्रजभाषा के बहुत से कवि या तो समानांतर रूप में खड़ी बोली में काव्यरचना करते रहे अथवा अपनी काव्यसाधना के परवर्ती काल में वे उसकी ओर उन्मुख हो गए। राजस्थान में भी हिंदी काव्य की इन परिवर्तनशील स्थितियों का प्रभाव पड़ा तथा राजस्थान के कवि राजस्थानी के साथ और ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली में काव्यरचना करने लगे। द्विवेदी युग में नव्य बोध और राष्ट्रीय चेतना का जो उन्मेष हमें उत्तर भारत की ब्रजभाषा और खड़ी बोली काव्यधाराओं में दृष्टिगत होता है, वह राजस्थानी में लिखे गए काव्य में नहीं मिलता। यहाँ उसका चित्र अपेक्षाकृत धुंधला है। राजस्थानी लोकमानस और रचनाकार अनेक रूपों में प्राचीन परंपराओं का अनुरागी बना रहा, परिणामतः युगचेतना से प्रभावित होते हुए भी राजस्थानी कवि प्राचीन शैली के दोहों और गीतों को छोड़ नहीं सका। उसने राजस्थान के वीर चरितों—महाराणा प्रताप, पद्मिनी और हाड़ी रानी जैसे चरित्रों—को विस्मृत नहीं किया। इसीलिये द्विवेदी युग के राजस्थानी काव्य को पर्याप्त सीमा तक परंपरा का विकास कहना उचित प्रतीत होता है।

राजस्थानी साहित्य के इतिहासकारों ने आधुनिक राजस्थानी काव्य की विवेचना प्राचीन और नवीन धाराओं के अंतर्गत की है, परंतु द्विवेदी युग की सीमा में आनेवाले राजस्थानी कवियों पर परंपरा का प्रभाव ही अधिक दिखाई पड़ता है। उन्होंने परंपरित उपादानों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को प्रकट किया है। आगे विवेचित द्विवेदी युग की सीमा में आनेवाले रचनाकारों और उनकी कृतियों के संबंध में यह ज्ञातव्य है कि उनकी स्थिति का निरूपण उनके जीवनकाल के आधार पर किया गया है[1], किसी कृति विशेष को उसका आधार बनाना संभव नहीं हो सका।

---

१. देखिए— डा० मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य।
डा० शांतिलाल भारद्वाज 'राकेश', आधुनिक राजस्थानी साहित्य।
डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, राजस्थानी साहित्य का इतिहास।

स्वतंत्र रचनाओं के अतिरिक्त राजस्थानी कवियों में स्फुट काव्यरचना की प्रवृत्ति भी मिलती है। इसलिये इस प्रकार की सीमारेखा निर्धारित कर सकना और भी संभव नहीं हो सका।

चतुरसिंह

मेवाड़ के राजवंश की साहित्यिक परंपरा का प्रतिनिधित्व करनेवाले महाराज चतुरसिंह राजस्थानी के अत्यंत लोकप्रिय कवियों में माने जाते हैं। इनका समय संवत् १९३६ से १९८६ तक माना गया है। चतुरसिंह के पिता का नाम महाराज सूरतसिंह था। वे विद्याप्रेमी और भगवद्भक्त थे। अतः चतुरसिंह पर पिता का संस्कार पड़ना स्वाभाविक था। अठारह वर्ष की आयु में चतुरसिंह का विवाह हुआ परंतु दस वर्ष के बाद इनकी पत्नी का देहांत हो गया। चतुरसिंह के दो पुत्रियाँ हुईं। पत्नी के देहांत के बाद वे कैलाशपुरी के मार्ग पर सुखेर ग्राम में एक कुटिया बनाकर रहने लगे। चतुरसिंह अंतिम समय तक इसी झोपड़ी में रहे और इन्होंने अपना जीवन योगाभ्यास, चिंतन और राजस्थानी भाषा में लोकोपयोगी कृतियों की रचना में व्यतीत किया।

चतुरसिंह ने मौलिक और अनूदित प्रभूत साहित्य की रचना की। उनकी रचनाएँ विविध विषयों से संबद्ध हैं। मेवाड़ी प्राइमर, बालकां री वार जैसी रचनाएं उनके राजस्थानी भाषा के अनुराग की प्रमाण हैं। उनके रचे हुए अन्य ग्रंथों की सूची इस प्रकार है—

१. भगवद्गीता की गंगाजली टीका
२. परमार्थ विचार
३. योगसूत्र की टीका
४. सांख्य तत्व की टीका
५. सांख्य कारिका की टीका
६. मानव मित्र रामचरित
७. शेष चरित्र
८. अलख पचीसी
९. तुंही अष्टक
१०. अनुभव प्रकाश
११. चतुर चिंतामणि
१२. महिम्न स्तोत्र
१३. चंद्रशेखराष्टक
१४. हनुमान पंचक
१५. समान बत्तीसी
१६. चतुर प्रकाश

चतुरसिंह एक बहुभाषी और सफल कवि थे। चतुरसिंह ने राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में कविता की। उनके काव्य में जहाँ सहजता है, वहीं उपदेश वृत्ति भी पल्लवित हुई है। चतुरसिंह मेवाड़ में अत्यत लोकप्रिय हैं और इस दृष्टि से वे मीरा की परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। चतुरसिंह का हिंदी के भक्तिकालीन कवियों के प्रति गहरा अनुराग था।

चतुरसिंह संस्कृत के अच्छे जानकार थे तथा हिंदी के अतिरिक्त गुजराती,

मराठी, बँगला आदि भाषाएँ भी जानते थे। चतुरसिंह का एक अत्यंत लोकप्रिय पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

> रे मन छन ही में उठ जाणो।
> ईं रोनी है ठोड़ ठिकाणो, बारे मन छन ही में उठ जाणो ॥१॥
> साथै कई नी लायो पेली नी साथै अब आणो।
> वी वी आय मिलेगा आगे, जी जी करम कमाणो ॥२॥
> सो सो जतन करै ईं तन रा, आखर नी आपाणो।
> करणो वै सो झट कर लै, पछै पड़े पछताणो ॥३॥
> दो दन रा जीवा के खातर क्यों अतरीं ऐंठाणो।
> हाथां में तो कई नी आयो, बाता में लेकाणो ॥४॥
> कणी मीम पै गाम बसावै, कणी नीम कमठाणो।
> ई तो पवन पुरुष रा मेला, "चातुर" भेद पिछाणो ॥५॥

कवि गिरिवरदान

ये जोधपुर राज्य की जेतारण तहसील में वाणसी नामक ग्राम के निवासी थे। गिरिवरदान की कविता में अलंकरण शैली की प्रमुखता रही है तथा लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा अभिव्यंजना का रूप सशक्त बन पड़ा है। इनका गदर संबंधी एक छप्पय उद्धृत किया जा रहा है—

> बरती चवदह बरस पड़े इल बंध अपाराँ ॥
> विकट लोक बदलियो सोच लागो उर माराँ ॥
> कानी कानी कलह बाय कंपनि उर दीधो।
> खोज खजानो खास लूट गेरण पुर खीधो ॥
> बजराज झाट लागा बहै धके दिली दिस धाउवे।
> महाराज खीभा लेवा मदत डारधर रुपिया आउवे ॥

चारण कवि केसरीसिंह

इनका जन्म संवत् १९२९ में हुआ और संवत् १९९८ पर्यंत इन्होंने मातृभूमि और साहित्य की सेवा की। केसरीसिंह ने उदयपुर के महाराणा फतेहसिंह को 'चेतावणी रा चूंगट्या' के शीर्षक से राजस्थानी दोहे संवत् १९६९ में दिए थे और दिल्ली दरबार में जाने से उन्हें रोक दिया था। आंदोलनों और क्रांतिकारी गतिविधियों में केसरीसिंह का बहुत योगदान रहा। वे राव गोपालसिंह खरवा और डा० मोड़सिंह खरवा जैसे क्रांतिकारियों के सहयोगी थे। केसरीसिंह बारहठ की इस चेतावनी से महाराणा सचेत हो गए तथा संपूर्ण

राजस्थान के राजपरिवारों में क्रांति की लहर फैल गई। स्वयं बारहठ के परिवार में अनेक क्रांतिकारी हो गए और उनके पुत्र प्रतापसिंह 'लार्ड हार्डिंग बम केस' में मृत्युदंड के भागी हुए। उनका एक प्रसिद्ध दोहा यहाँ उद्धृत किया जा रहा है--

खगधारा, घोड़ां, नरां सिमिट भरयो सह्याण।
इण थी मदाधर तरल जल पातालहिं परमाण ॥

केसरीसिंह के काव्य का वैशिष्ट्य उनकी स्वानुभूतिजन्य उग्र चेतना है।

मानदान कविया

दीपपुर (सीकर) निवासी श्री मानदान कविया संवत् १९५९ तक जीवित थे। इनके रचे हुए तीन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है--१. मंगलवंश-यश-प्रकाश, २--विरुद चिहंतरी, और ३--फुटकर। परंतु आठ हजार छंदों में रचित 'मंगलवंश-यश-प्रकाश' मानदान कविया का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसकी रचना 'वंश भास्कर' की परंपरा में हुई है। मानदान कविया विरचित एक दोहा उद्धृत है--

दातां मंदिर सिर दियो, आतां दल अवरंग।
इण बातां सूजो ऊपर राय सलोतां रंग ॥

उदयराज उज्जवल

इनका जन्म संवत् १९४२ में मारवाड़ के ऊजलां नामक ग्राम में हुआ था। उज्जवल जी को चारण समाज में भारी संमान प्राप्त हुआ। उज्जवल के साहित्य का विपुल विस्तार है जिनकी संख्या २७७ बताई जाती है। इनमें अधिकांश राजस्थानी के हैं। कविता कर्म के साथ राजस्थानी साहित्य के संग्रह तथा राजस्थानी भाषा और साहित्य के अध्ययन एवं अनुशीलन में उज्जवल का योगदान स्मरणीय है। उज्जवल जी की प्रमुख रचनाओं की सूची इस प्रकार है--

१. ढूंढ़सार (डिंगल)
२. मारवाड़ रा वीर
३. दूध प्रकाश
४. मातृभाषा दोहावली
५. भानिये रा दूहा
६. स्वराज शतक
७. उज्जवल शतक
८. तेज शतक
९. सर्वोदय शतक
१०. श्रम शतक
११. सती शतक
१२. जागीरदारां रै अवगुण सर दूहा
१३. भासा शतक आदि

राजस्थान साहित्य अकादमी ने उज्जवल की रचनाओं का प्रकाशन किया है।

उज्जवल की कविता में जहाँ परंपरा का आग्रह है वहीं युगबोध की भी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। उज्जवल के राष्ट्रीय बोधप्रधान काव्य का निम्न उधृत अंश द्रष्टव्य है—

भारत देश भुजंग, नेहरू की पूङ्गी नचै।
सेसनाग सरवङ्ग, भारी जाग्यों भौनिया।।
नेहरू गरुड़ निखंग, ऊडै स भारत ऊपरां।
परतंत पाग पनंग, भागै दिस दिस भानिया।।

नाथूदान महियारिया

राजस्थान की गौरवशाली परंपराओं के अनुरूप सती और शूर पर रचना करने में पारंगत नाथूदान महियारिया का जन्म संवत् १६४८ में उदयपुर में हुआ। नाथूदान महियारिया चारण परंपरा के प्रतिनिधि कवि हैं, साथ ही उनके काव्य में युगजीवन की भी अभिव्यक्ति हुई है। महियारिया के काव्य का स्वर लोकस्वर है और सरस भाषा में रचे जाने के कारण उसका शिल्प अनगढ़ हैं। उनकी अनुभूति लोकानुभूति के धर्म को सहज रूप में आत्मसात् किए हुए दिखाई पड़ती है। नाथूदान महियारिया की निम्नलिखित रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं— ’

१. वीर सतसई, २. गांधी शतक, ३. हाड़ी शतक, ४. झाला शतक और ५. मोहन शतक।

नाथूदान महियारिया की 'वीर सतसई' बहुत प्रसिद्ध है। उसे सतसई परंपरा की एक महत्वपूर्ण कृति स्वीकार किया जाता है। 'वीर सतसई' में वे मध्यकालीन वीरों और वीरांगनाओं के शौर्य एवं पराक्रम का चित्रण करने में सफल रहे हैं। साथ ही महियारिया युगबोध के प्रति भी जागरूक दिखाई पड़ते हैं। शतक नामधारी शेष रचनाओं में उनकी सांस्कृतिक और युगीन चेतना पल्लवित हुई है। महियारिया की वीर सतसई के कुछ पद उधृत किए जा रहे है—

रण कर कर रज रज रँगै, रवि ढकै रज हूँत।
रज जेनी धर नह दिए, रज रज हुवै रजपूत।।
भड़ बाँका बाँकी खगां, बाँकी हाथ कबांण।
तिहुँ बाँका आगल रहै जग सूधो सब जाण।।
देख सखी मोटौ गढ़ाँ, गोला री झड़ियाँह।
कोय न वायै काकरी, भड़ री झूँपड़ियाँह।।
सुत मरियो हित देस रै, हरख्यो बंधु समाज।
माँ नहँ हरखी जनम दै जतरी हरखी आज।।

कविराज मोहनसिंह

कविराज मोहनसिंह का जन्म संवत् १९५६ में मेवाड़ के बसी नामक ग्राम में हुआ।

कविराज मोहनसिंह की ख्याति 'पृथ्वीराज रासो' के संपादक के रूप में रही है जो साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ से प्रकाशित हुआ है। परंतु उनका कवि व्यक्तित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। कविराज मोहनसिंह रचित निम्नलिखित ग्रंथ हैं—

१. प्रताप-यश-चंद्रोदय
२. भूपाल भूषण
३. कुंभा-कीर्ति-प्रकाश
४. कूर्म-यश-कलानिधि
५. व्यंगार्थ प्रकाश
६. कुंडलिया शतक
७. नीति शतक
८. मोहन सतसई
९. मृगया बावनी
१०. महाराणा चरितामृत
११. राजबहार
१२. रघुवंश चरित
१३. मान पचीसी
१४. वणिक बहत्तरी
१५. प्रपंच पचीसी
१६. जैमल पचीसी
१७. रामदास पचीसी

इन रचनाओं के अतिरिक्त मोहनसिंह के सूरदास, रसखान और बिहारी के पदों और छंदों के डिंगल पद्यानुवाद भी प्राप्त होते हैं। कविराज मोहनसिंह की रचनाओं में प्राचीन शैली का अनुवर्तन हुआ है। उनकी रचनाओं में राजस्थान के चरित काव्यों और संख्यावाचक काव्यरूपों के अंतर्गत विविध विषयों की अवतारणा हुई है। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से कविराज मोहनसिंह का आधुनिक काल के राजस्थानी कवियों में महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

टोपन कों फारि दीनें कवचन तोरि दीनें,
हवद विथोरि दीनें धधकि धकायो है।
म्लेछन कों मारि दीनें हाथिन पछार दीनें,
तुरंग उधारि दीनें पुल्लि विफरायो है।
गिरिन हलाय दीनें दिग्गज हुलाय दीनें,
अचल चलाय दिग्ध पौरुष दिखायो है।
वीर जयमल रन ठेलि कै दुरग काज,
ऐसो खगखेल खेल सुरग सिधायो है।

इन कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग और उसके बाद प्राचीन धारा के अंतर्गत राजस्थानी में काव्यरचना करनेवाले कवियों में रावल नरेंद्रसिंह, मुकुंददान खड़िया, खुमान सिंह, शंभूदान अशियां, चारण यशकरण, किशोरसिंह जी सोढ़ा, नाथूदान बारहठ, विजयदान, मुकुंददान बारहठ, गोपालसिंह खरवा, कान्हीदीन बारहठ बलदेवदान कविया, गोपीदान बारहठ आदि अनेक कवियों और उनकी रचनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन कवियों के काव्य में राजस्थानी काव्यपरंपरा की रूढ़ियाँ ही पल्लवित हुई हैं। इसीलिये अधिकांश कवि सांस्कृतिक बोध के नाम पर वीर गाथाओं और जातीय शौर्य का गान करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन कवियों के काव्य में शिल्पगत उपादान भी रूढ़ियों से आक्रांत रहे हैं। इसीलिये नए संदर्भों को स्वीकार करते हुए भी कवियों का झुकाव सतसई और शतक जैसे काव्यरूपों तथा दोहा, सोरठा आदि छंदों के प्रति अधिक रहा। भाषा के क्षेत्र में अवश्य कवियों ने उदारता का परिचय दिया, परिणामतः इनकी भाषा में प्रचलित शब्दावली का समावेश हो गया है। अस्तु अपवादों को छोड़कर द्विवेदी युग का राजस्थानी काव्य अधिकांशतः परंपरावादी रहा। उसमें युगबोध और जीवन से जुड़कर चलने की अपेक्षित क्षमता का विकास नहीं हो सका।

उपसंहार

भारतेंदु युग में जागरण की नई चेतना की जो लीक हिंदी साहित्यकार ने निर्मित की, द्विवेदी युग में विकास के क्रम में वह मार्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुई। द्विवेदी काल के उन मूल्यों की, जो लोकजीवन को उन्नयन की ओर ले जाने के साधन थे, व्यापक प्रतिष्ठा का यत्न हुआ। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह चिंतन एवं अनुष्ठान चल रहा था कि व्यक्ति और समाज कैसे आज की परिस्थिति में शाप-ताप-मुक्त हों। साहित्य को समाज का दर्पण बनाने का महत् प्रयत्न आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व में चल रहा था। इस प्रयत्न में यह संकल्प भी मूर्तित करने का व्रत था कि साहित्य समाज का केवल आईना न बने अपितु अपने में ऐसे गुणधर्म का भी संयोजन करे जिससे उसकी प्रभा से मानस दृप्त हो सके।

अतीत में हिंदी साहित्य की एक प्रभावशाली धारा थी रीतिवाद की। इस युग में उस रीतिवाद का प्रभाव मलिन तो पड़ गया था पर उससे मोह की स्थिति रचनाकार की बनी हुई थी। इस कामानुरंजनी वृत्ति का दीपक परंपरा के तेल से जल रहा था पर नए जीवन के आर्जव का झोंका इसपर हावी था। परंपरावादी यह मानते थे कि जो कुछ भी पुराना है, वही सनातन है और अनन्य। उसके अतिरिक्त नवीन का योग उस फल की निष्पत्ति नहीं कर सकता जो साहित्य की सृष्टि को महान् बना सके। देशकाल नए भावलोक में प्रवेश कर रहा था और यह मान्यता प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि सबकी उपयोगिता है, साहित्य का भी प्रयोजन है। साहित्य साध्य नहीं, साधन है। पुरानी विचारधारा के पत्ते सूखकर झर रहे थे और साहित्य की डाल पर नए पत्ते उनका स्थान ले रहे थे। पुरानी विचारधारा के लोग यह मानते थे कि सब कुछ रीति, अलंकार, पिंगल, नायक-नायिका-भेद के या प्राचीन साहित्य शास्त्र के भीतर समा सकता है, जबकि अंग्रेजी, बंगला, मराठी के माध्यम से आ रहे नए साहित्यिक मूल्यों का बोध उस युग के उन साहित्यकारों को तत्कालीन जीवन में हो रहा था, जो औद्योगिक विश्व की देन है।

भारतेंदु इस भावलोक से परिचित थे और उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में नवोन्मेष की आधुनिक युग में आदि भूमिका रची। परंपरा जब रूढ़ि का स्थान ले लेती है तो एक प्रकार की घुटन का अनुभव समाज को होने लगता है पर बहुतों का अभ्यास बँधे जल में रहने का होता है पर बँधा जल धारा नहीं बन सकता तथा विकास के लिये धारा का प्रवाह मूल आवश्यकता है। बँधे जल को आकाश

और धरती जब सोख लेती हैं तो केवल पंक या गड्ढा रह जाता। पर धारा की अपनी समस्या भी होती है। समस्या के बिना जीवन आगे नहीं बढ़ता क्योंकि उससे पुरुषार्थ का उदय होता है और उसका फल मंगल एवं कल्याण की सृष्टि है।

जब नया आर्जव वेग ग्रहण करता है तो रूढ़ि के भक्त भी अपना हाथ पैर फैलाते हैं और क्षण-प्रति-क्षण प्रवहमान कालचक्र को यथास्थितिवाद के मंत्र से रोकना चाहते हैं और वे इतने पीछे छूट जाते हैं कि देशकाल का नाता रिश्ता उनसे टूट जाता है। ऐसे रूढ़िवादी लोग भी परंपरा की रक्षा की दोहाई पर जीते हैं। लेकिन वे सही अर्थों में परंपरावादी नहीं होते। परंपरा का जो अंश सनातन तथा भविष्य की रचना में सहायक होता है उसे ही सच्चा परंपरावादी नए देशकाल के आधुनिक परिवेश से जोड़ता है क्योंकि यह कार्य विकास की प्रक्रिया में सहायक होता है और एक अविच्छिन्न जीवन का नियामक तथा कालजयी कदम भी। उस युग में रूढ़िपंथी साहित्यकारों से अलग हटकर जो लोग साहित्य के अनुष्ठान में लगे थे वे परंपरा के कतई विरोधी नहीं थे पर परंपरा के उन मूल्यों के कायल थे जो जाग्रत और जीवन शक्ति से मंडित थे। ऐसे लोगों में ऐसे भी लोग थे जो पश्चिम के नए साहित्यिक सिद्धांतों एवं विधाओं से परिचित नहीं थे पर देशकाल की आवश्यकता की अनुभूति उनमें थी और ऐसे लोग भी थे जो पश्चिम के उन्नत साहित्य सिद्धांत से सीधे या माध्यम से परिचित थे। ऐसे लोग नवोन्मेष के समर्थक एवं साधक थे। रूढ़ि की राह पर चलनेवालों में भी अनेक प्रतिभा के धनी थे एवं बुद्धि, विवेक तथा साहित्य कौशल में निष्णात् थे। उन्होंने अपने विवेक पर बुद्धि विश्वास की युगसापेक्ष रचना की।

द्विवेदी युग आदर्श से अनुप्राणित लोगों का कर्मक्षेत्र था। उस युग का आदर्श मूल रूप से समाज के नैतिक मूल्यों पर आधारित था। समाज भी जीवन के उन मूल्यों से प्राणवंत था जो उस युग के नियमन एवं उन्नयन के लिये आवश्यक थे। इसलिये धर्म से लेकर संस्कार तक और आचार व्यवहार से लेकर सहज शिष्टाचार तथा राजनीति से लेकर घर बार तक सर्वत्र सुधार के आंदोलन देश में चल रहे थे। अधोगति के कारणों का पता सबको चल गया था और उनके उन्मूलन की व्यवस्था में सभी अपने अपने क्षेत्र में आस्थापूर्वक लगे थे। इस युग में साहित्य का क्षेत्र भी इसी का पक्षधर बना। जब ऐसे व्यापक अंतरस्पर्शी नवोन्मेष-शाली आंदोलन की आवश्यकता समाज को पड़ती है तो साधन पक्ष पर भी विचार आवश्यक हो जाता है। साधन के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सफलताप्राप्ति के लिये साहित्य के पक्षसंधान में वर्तमान साधन लचर लग रहे थे।

निबंध का विस्तार प्रसार अपनी सीमा और शक्ति की किशोरावस्था में था; उसे उद्दाम यौवन की जीवनी शक्ति से मंडित करने के लिये आवश्यकता इस बात की थी कि भाषा का संस्कार किया जाय। शब्द में अर्थ होते हैं। किंतु शब्द का महत्व वाच्य के बिना उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार ईंट का महत्व प्रासाद से अलग बिलग। यह युग गद्य के क्षेत्र में शब्द की सीमा लाँघकर वाक्य के क्षेत्र में अवतरित हुआ, यद्यपि हिंदी में तब कोई प्रामाणिक व्याकरण तक न था। व्याकरण और प्रामाणिक व्याकरण की रचना नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से हिंदी जगत् की मान्य प्रतिभाओं के मनन चिंतन के आधार पर कामताप्रसाद गुरु के माध्यम से कराई जा रही थी।

द्विवेदी जी और बाबू श्यामसुंदरदास दोनों ने भाषा के प्रतिमानीकरण के क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया। बाबू श्यामसुंदरदास नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के माध्यम से, जिसके प्रकाशन का श्रीगणेश सभा ने ही किया था, साहित्य के क्षेत्र में सर्जनात्मक नियमन कर रहे थे। बाबू साहब का प्रयत्न यह रहा कि हिंदी को गंभीर से गंभीर साहित्य एवं वाङमय के अध्ययन, मनन और चिंतन की वाणी बनाया जाय। साहित्य के क्षेत्र में भाषा के संस्कर्ता द्विवेदी जी 'सरस्वती' के माध्यम से बने। वास्तव में एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी लगनेवाले बाबू साहब एवं द्विवेदी जी हिंदी साहित्य की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक थे। सर्जनात्मक साहित्य की रचना के विकास में 'सरस्वती' एक प्रकाशस्तंभ थी। द्विवेदी जी की शुष्क आदर्शवादिता के विलोम में जो नवोन्मेषशाली रचनाकार आए वे भी द्विवेदी जी और 'सरस्वती' की प्रेरणा से ही कर्मक्षेत्र में अवतरित हुए।

गद्य साहित्य की भाषा शुद्ध एवं सुस्थिर हो इसके लिये द्विवेदी जी ने अभूतपूर्व जाँगरतोड़ काम किया जो उनकी सैद्धांतिक दृष्टि से आलोकित था। काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा युग को भावबोध कराने में सफल नहीं हो पा रही थी। हिंदी जगत् में विराट् आंदोलन चल रहा था कि खड़ी बोली काव्य की भाषा बने। खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने में द्विवेदी जी की सारस्वत-साधना, अपने अतुल योगदान के कारण, ऐतिहासिक एवं मौलिक महत्व की है। द्विवेदी जी ने हिंदी में खड़ी बोली को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने में आशातीत सफलता प्राप्त की। वे अपने आदर्श से लोगों को ही नहीं बाँधते थे; स्वयं भी इतने अधिक बँधे हुए थे कि कालिदास को भी नहीं बख्शा। काव्य अंतर्मुक्ति की साधिका है। मुक्ति का बंधन से विरोध है। इस बंधन में हिंदी कविता पद्य की सीमा तक पहुँच गई। पर द्विवेदी जी ने जिस खड़ी बोली की काव्य में स्थापना की उसी का विकास हिंदी को नई समर्थ काव्यभाषा देने

में सहायक हुआ, जिसकी झलक द्विवेदी युग के दूसरे दशक के काव्य में मिलने लगी। विषय की दृष्टि से काव्य का व्यापक रूप से विस्तार एवं सामाजीकरण हुआ, पर रूप, रस, रंग, गंध, सौंदर्य, चाहे लौकिक हो या प्राकृतिक, कामरचना के साधन बन सकते हैं। इसलिये द्विवेदी जी इनके स्पर्श से कविता को बचाना चाहते थे ताकि नैतिकता एवं आदर्श पर आघात न हो सके। पर जीवन और काव्य इनके बिना अपूर्ण और असंतुलित भी हो जाता है। इस युग के काव्य में यह पूर्णता बाद में आई। इसलिये काव्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली की संस्थापना के वे एक अखंड स्तंभ हैं।

जहाँ तक कहानी का प्रश्न है, इस युग में 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी में आधुनिक कहानी विधा का शुभारंभ ही नहीं हुआ, व्यापक विस्तार, प्रसार और विकास भी हुआ। दिनोत्तर वह प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती गई। उपन्यास और नाटक का क्षेत्र उतना उर्वर न हो सका, पर उसका गुणात्मक विकास द्विवेदी काल में हुआ और उसके निखार का संकेत उनके काल के अंतिम दशक में मिला। गद्य गीतों की सृष्टि का भी आरंभ हुआ। द्विवेदी काल में साहित्य की सभी विधाओं को उसके गुणधर्म की अभिव्यक्ति के लिये वाणी मिली। ब्रज-भाषा का प्रभुत्व इस युग के जीवंत साहित्य से विलुप्त हुआ। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बाल गंगाधर तिलक और पं० मदनमोहन मालवीय भारत के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम हिंदी को ही मानते थे। ऐसी राष्ट्रभाषा हिंदी का अखिल भारतीय युगांतरकारी रूप इसी युग में प्रस्तुत हुआ। द्विवेदी युग का अवदान आधुनिक हिंदी में सनातन महत्व का है।

आलोचना

द्विवेदी युग को भारतेंदु युग से उत्तराधिकार में एक आलोचना पद्धति मिली थी। उस युग का आलोचक सचेतक था जो रचनाकारों एवं कृतियों की त्रुटियों का सबल ढंग से उद्घाटन करता था और अंधानुकरण से, चाहे वह पाश्चात्य हो या अपने पारंपरिक साहित्य का हो, अनुगामी कृतियों को आगाह करता था पर वह नवीनता और परंपरा का समन्वयन चाहता था। उस युग की समीक्षा दोष-निरूपक पर समन्वयवादी, बेलौस पर व्यावहारिक थी। द्विवेदी युग में आलोचना की दृष्टि में पश्चिम के आलोचकों की कृतियों से परिष्कार आया। इस सुधार परिष्कार की दृष्टि के लिये पोप, जान्सन, मैक्समूलर, मैकडानल, बूलर, हार्नली तथा ग्रियर्सन का ऋण हिंदी आलोचना पर है। द्विवेदी युग का आलोचक विधायक एवं नियंत्रक दोनों था, विश्लेषक भले न रहा हो। उसने साहित्य की गठन को दिशा दी। आलोचना के अनेक प्रकार इस युग में व्यवहृत हुए

और उसमें बराबर नया आर्जव भी आया। आलोचना का साहित्य साहित्यिक आंदोलनों की कालावधि में तर्क एवं चिंतन की उत्तेजना के कारण विशेष रूप से प्रस्फुटित एवं विकसित होता है और यह युग व्यापक साहित्यिक मूल्यों एवं मान्यता के आंदोलनों का था। विभिन्न प्रकार की आलोचना पद्धतियों के दर्शन इस युग मे हुए।

इस क्षेत्र में पुरातनवादी विद्वानों का पक्ष बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन द्वारा उपस्थित किया गया। तीनों ब्रजभाषा और रीति साहित्य के निष्णात् मर्मज्ञ विद्वान् और संरक्षक थे। भारतीय काव्य के मर्म को ये समझते थे। शृंगार और भाव से ऊजड़ वर्तमान इतिवृत्तिपरक खड़ी बोली के काव्य में उन्हें रस नहीं मिलता था इसलिये उपयोगितावादी बुद्धिप्रधान इस अरस काव्य का, यहाँ तक कि छायावाद का भी, इन्होंने विरोध किया। ब्रजभाषा में काव्यरचना के द्वारा भी इन्होंने अपनी बात का मान रखने का यत्न किया। पर इनका इस क्षेत्र में मूल अवदान पुराने काव्य की टीका द्वारा प्राचीन साहित्य के मर्मोद्घाटन का था। टीका लेखन की पद्धति भारत की अपनी है जिसमें शब्द का अर्थ, अन्वय, काव्य का भाव, रस तथा अलंकार निरूपण द्वारा साहित्य के बाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य का बोध कराया जाता है। पर अनेक अनाड़ी भी मैदान में उतरकर टीकाएँ करने लगे थे और अनर्थ कर रहे थे। टीका विद्वत्ता की कसौटी है, अनाड़ी का खेल नहीं। पुराने काव्य का सही मर्म लोग समझ सकें और विशेषकर नए लोग समझ सकें, इस दृष्टि से टीकाकार का ऋण साहित्य जगत् पर शिक्षक का होता है। बिना टीका के प्राचीन साहित्य को समझना सबके वश की बात नहीं। टीकाकार उसे सर्वसुलभ बनाता है। यह प्राचीन साहित्य की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा है। ऐसी टीकाओं से पुराने काव्य की आलोचना के लिये मूल्यवान् कच्ची सामग्री (रॉ मैटीरियल) की उपलब्धि हुई। लाला भगवानदीन ने केशव, तुलसी एवं बिहारी की कृतियों के संबंध में छात्रोपयोगी गंभीर सामग्री प्रदान की। बिहारी सतसई की टीका एवं संपादन द्वारा श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने (जो बाद में प्रकाशित हुई) प्राचीन ग्रंथों के संपादन एवं टीका लेखन का प्रतिमान उपस्थित किया। पाठभेद, पाठशोधन एवं वैज्ञानिक संपादन की परंपरा का 'रत्नाकर' ने इसके द्वारा आधुनिक युग में एक माडल उपस्थित किया। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई के अधूरे 'संजीवन भाष्य' द्वारा इस दिशा में नए आर्जव को जन्म दिया।

हिंदी की तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में उनकी सामर्थ्य का लोहा समसामयिक आतंक का होते हुए भी ऐतिहासिक महत्व का है। इनकी विद्वत्ता गंभीर थी। फारसी और संस्कृत दोनों के काव्य का इनका अध्ययन प्रगाढ़ था। यद्यपि उन्होंने बिहारी के

केवल १२६ दोहों की ही टीका की है तो भी उसमें अनुसंधानात्मक इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि नवीन या प्राचीन किसी भी पद्धति पर बिहारी का मूल्यांकन करनेवाले को उसमें विशिष्ट सामग्री मिलती है। शर्मा जी ने सजीव और सचित्र भाषा में, जो कहीं कहीं भावावेग के कारण चंचल हो गई है, अपने विचार दृढ़तापूर्वक व्यक्त किए हैं। उनकी टीका में खंडन मंडन वाली वृत्ति कहीं कहीं साहित्यिक मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण करती भी दिखेगी। इस टीका का प्रथम प्रकाशन संवत् १९७५ में ज्ञानमंडल यंत्रालय, काशी से हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण संवत् १९७९ में दिल्ली से और तृतीय संस्करण बिजनौर से हुआ था। तृतीय संस्करण में शर्मा जी ने न्यूनाधिक परिवर्तन किया है। इस टीका में प्रस्तावना, अर्थ, व्याख्या, भावों का उद्घाटित रूप, दोहों का सौष्ठव और अलंकार निरूपण किया गया है। अर्थ करने में उन्होंने प्राचीन टीकाओं से सहायता ली है किंतु उन्होंने इन्हें अपनी दृष्टि से देखा है। इस टीका पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी संवत् १९८९ में मिला था। ज्वालादत्त शर्मा की टीका को भी आपने इसमें सामाधि दे दी है। जो कुछ भी हो, खंडन मंडन के रहते तथा परस्पर विवाद और आलोचना प्रत्यालोचना के होते हुए भी शर्मा जी ने 'संजीवन भाष्य' में बिहारी साहित्य के प्रेमियों के नीमित्त केवल सामयिक रूप से विचारोत्तेजक सामग्री ही नहीं प्रस्तुत की अपितु उन्होंने स्थायी रूप से बिहारी का अध्ययन करनेवालों को पर्याप्त रूप से खोजपूर्ण सामग्री दी है। इसलिये तुलनात्मक समीक्षा के इस श्रेष्ठ आलोचक के मान का मूल्यांकन टीकाकार के रूप में भी निरंतर होता रहेगा।

आलोचना की दूसरी पद्धति तुलनात्मक आलोचना का व्यापक उदय इस युग में हुआ। एक ही भाषा के विभिन्न कवियों या दूसरी भाषा के कवियों में परस्पर आलोचना आरंभ की गई और एक से दूसरे की श्रेष्ठता स्थापित करने का यत्न किया जाने लगा। सूर की तुलसी से, देव की बिहारी से, कालिदास की शेक्सपीयर से तुलनाएँ की गईं। इनमें उत्तेजक देव-बिहारी-प्रसंग था। मिश्रबंधु ने देव को शृंगार काल का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। पद्मसिंह शर्मा और दीन जी बिहारी के पक्षधर बने। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखा, लाला जी ने 'बिहारी और देव'। पद्मसिंह जी ने अपने विद्वत्तापूर्ण निबंधों के माध्यम से बिहारी को देव से ऊपर प्रतिष्ठित किया। एक ऐसा दिलचस्प विवाद हिंदी जगत् में छिड़ा कि उस युग के सभी रसिक और पारखी उस जीवंत शास्त्रार्थ का आनंद ले रहे थे। हिंदी के अखाड़े में बुद्धि विवेक, तर्क, कुतर्क के दाँव पेंच एवं कुश्ती अपनी मान्यता की जीत के लिये लड़ी जाने लगी।

तुलनात्मक आलोचना पद्धति पूर्वाग्रही होती है, सत्याग्रही नहीं। यह आलोचना पद्धति सत्याभिनिवेश की विवेकी दृष्टि को भावुकता के कारण धुंधला देती

है, इसलिये आलोचक की उपलब्धि धर्मकाँटे पर समाश्रित नहीं होती। यह समालोचना के मर्म, धर्म और कर्म के विलोम में है। पर इस पद्धति के द्वारा अनेक ऐसे तथ्य उद्घाटित अवश्य होते हैं जो काम के होते हैं और जिनसे साहित्य की शान, और संपदा की वृद्धि होती है। जहाँ एक ओर द्विवेदी कालीन तुलनात्मक समीक्षा भावावेशमयी तर्कविन्यास की शक्ति से हिंदी आलोचना को मंडित करती है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक मनोरंजन की भी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती है। साहित्य में तुलना का अपना स्थान है पर तुलना ही जब साध्य हो जाती है तो कर्ता, वृत्ति और कृति की महिमा का उद्घाटन गौण हो जाता है। आलोचक टेनीमार तौला नहीं, विवेकशील पारखी होता है। देश-काल-सापेक्ष मूल्यांकन एवं तत्व के चिंतन के तिरोधान से आलोचना का मूल्य निर्वीर्य हो जाता है। द्विवेदी कालीन तुलनात्मक आलोचना व्यक्तिगत पांडित्य प्रदर्शन का साधन तो बनी पर उसने हिंदी आलोचना को आर्तवाद से विरक्ति की सार्थकता भी दी। उसकी अनुपयोगिता ने हिंदी में तत्वाभिनिवेशी आलोचना के लिये द्वार खोला।

व्यावहारिक समीक्षा को इस युग में दृढ़ आधार मिला। यह आधार प्रस्तुत समीक्षा को लेकर था। भारतेंदु युग में आलोचना में दोषदर्शन अधिक होता था। इस युग का आलोचक गुण का भी कायल हुआ। इस युग का आलोचक निर्भय एवं उन्मुक्त था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का कृतित्व इस क्षेत्र में भी उच्च मान का अधिकारी है। वे अपने सिद्धांत की कसौटी पर कृति को परखते थे। यद्यपि उनके साहित्य-शास्त्र-संबंधी सिद्धांत सर्वथा पूर्ण नहीं थे, तो भी युगधर्म का सापेक्ष आग्रह उनमें था। जीवन, आदर्श, सुधार, चरित्र, ज्ञानविस्तार, देश और भाषा प्रेम तथा त्याग के वे समर्थक तथा पोषक थे। वे निर्भय अपनी बात कहते थे और अप्रिय को भी अपनी परुष लेखनी से अभिव्यक्त करते थे। वे परम सिद्धांतवादी व्यक्ति थे। सिद्धांत से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया, भले ही कोपभाजन बनना पड़ा हो। उनकी विवेचना में ग्रंथ के सदसत् का उद्घाटन उनके सैद्धांतिक विवेक के अनुसार होता था, इसलिये उनकी आलोचना में मूल्यांकन व्यवहारपरक होता था। द्विवेदी जी के सारे सिद्धांत सटीक और पूर्ण नहीं थे, इसलिये आलोच्य विषयवस्तु के साथ सदा सम्यक् न्याय नहीं होता था।

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में बालमुकुंद गुप्त का योगदान भी मूल्यवान् है। वे प्रभावशाली, ओजस्वी एवं व्यावहारिक सशक्त समीक्षक थे। उनकी वाणी में शक्ति तथा विचारों में ओज था। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी विद्वान् एवं व्यावहारिक समीक्षक थे पर व्यक्तिगत स्तर पर उतर जाने के कारण उनकी आलोचना व्यक्ति पर प्रहार करनेवाली, रागरंजित एवं मानहीन होती थी। श्री गोविंदनारायण मिश्र सनातनी संस्कृत के विद्वान् थे। 'आत्माराम की टेंटें' में उन्होंने द्विवेदी जी के समर्थन में भी

बालमुकुंद गुप्त पर संस्कृतबहुल पदावलीवाली गद्य शैली में निर्मम प्रहार किया जो द्विवेदी जी के समर्थन में था। इस युग में ऐसी आलोचना में व्यंग्य-विनोद और परस्पर कटाक्ष भी मिलता है। व्यक्तिपरक आलोचना आलोचना को व्यक्तित्वहीन कर देती है। व्यंग्य विनोद का आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान है, पर वह कदापि व्यक्तिगत नहीं होनी चाहिए। जो भी हो, व्यावहारिक आलोचना का विकास इस युग में मानक स्थापित न कर सका लेकिन उस दिशा में प्रस्थान का उसने रास्ता बनाया।

कुछ साहित्यकारों के जीवनवृत्त भी इस काल में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास एवं मिश्रबंधुओं द्वारा प्रस्तुत किए गए। उन्होंने तब तक प्रचलित वृत्तांतों का संकलन तो अवश्य किया पर उनके भीतर उनकी न तो तलस्पर्शी पैठ थी और न उनके कृतित्व में युगावदान की अभिव्यक्ति की शक्ति। इसे आलोचना न मान चरितचर्चा मात्र माना जा सकता है।

'मिश्रबंधु विनोद' साहित्य के इतिहास लेखन की ओर एक प्रारंभिक अवदान है। यद्यपि कविकीर्तन इस ग्रंथ का उद्देश्य था तो भी हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में यह एक कदम भी है। इतस्ततः देशकाल का साहित्य पर प्रभाव, युगविधायक संतों और दार्शनिकों की साहित्य पर प्रभा का रंग, और सामाजिक, प्रशासनिक परिवर्तनों का साहित्य पर पड़नेवाले प्रभाव की चर्चा भी इसमें है। काल विभाजन का संयोजन भी 'विनोद' में किया गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का बीज बिंदु 'मिश्रबंधु विनोद' में वर्तमान है। इतिहास लेखन के लिये जो सारग्राही दृष्टि एवं अध्ययन की अत्यंत तलस्पर्शी गंभीरता अपेक्षित है, वह मिश्रबंधुओं मे नहीं थी। उस युग के परिवेश में यह छोटा नहीं, बड़ा काम था। मिश्रबंधु (श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र, गणेशबिहारी मिश्र) व्यावहारिक आलोचना के साथ ही साथ निर्णायक आलोचना भी करते थे। 'हिंदी नवरत्न' इसका दृष्टांत है। कवियों की श्रेणी बनाकर तौलने की यह प्रक्रिया मेढकों के तौलने की प्रक्रिया सिद्ध हुई और तौलने का काम पंडितों का नहीं, औरों का माना गया। मिश्रबंधु की आलोचना साहित्य के विवेक की कसौटी पर खरी नहीं उतरती पर उनका अथक श्रम, तत्वसंचयन, प्राचीन से नवीन को जोड़कर देखने की दृष्टि उन्हें इस क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्व प्रदान करती है।

इस युग में शोधपरक आलोचना के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा आयोजन हो रहा था और वह चुपचाप बाबू श्यामसुंदरदास जी के नेतृत्व में नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से चल रहा था। सन् १८९४ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी को शासन द्वारा काम सौंपा गया कि वह हिंदी हस्तलेखों की खोज का काम भी करे। सन् १९०० ई० तक हिंदी के लगभग ६०० ग्रंथ सोसायटी ने खोजे थे। उसके बाद

हिंदी का यह काम नागरीप्रचारिणी सभा को शासन की ओर से सौंपा गया। सभा के कार्यकर्ताओं ने हिंदी के प्राचीन ग्रंथों की खोज देश के कोने कोने में आरंभ की। जो ग्रंथ प्राप्त हो सकते थे वे सभा में आए, जो न मिल सके उनका विवरण लिखा गया। हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की इन त्रैवार्षिक रिपोर्टों का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। ये रिपोर्टें निष्णात् विद्वानों द्वारा संपादित कराई जाती थीं जिनमें सामान्य प्रस्तावना के अतिरिक्त प्राप्त ग्रंथकारो, ग्रंथों आदि का विवरण संकलित किया जाता है। इन विवरणों में पुस्तक का नाम, रचयिता, कागज, आकार, पंक्ति संख्या, परिमाण (अनुष्टुप), पूर्ण या अपूर्ण, साहित्य का रूप, लिपि, लिपिकाल, तथा विशेष ज्ञातव्य बातों का विवरण रहता था। साथ ही परिशिष्ट में प्रस्तुत खोज में मिले नए रचयिता, प्रस्तुत खोज में प्राप्त नवीन रचनाएँ, संग्रह ग्रंथों में प्राप्त ऐसे नए कवि जो पहले अज्ञात थे, ग्रंथकार और उनके आश्रयदाताओं की सूची, ग्रंथों की अनुक्रमणिका तथा प्राप्त ग्रंथों के आदि और अंत का अंश दिया जाता था। इस कार्य के द्वारा सहस्रों ज्ञात एवं अज्ञात कवियों की रचनाओं के अध्ययन के लिये शोध सामग्री का संकलन, तथा उसको विवृति प्रस्तुत हुई जो हिंदी में शोधपरक समीक्षा का मूलाधार है। जहाँ हिंदी जगत् का ज्ञान कुछ विख्यात साहित्यकारों की कृतियों की लीथो पर छपी, अप्रामाणिक असंपादित पुस्तकों, कुछ इधर उधर पड़े हस्तलेखों पर आधृत था, वहीं इस ज्ञानयज्ञ ने शोधपरक समीक्षा के लिये हिंदी में मार्ग प्रशस्त किया और हिंदी साहित्य को बेठनों के भीतर से निकालकर सारस्वत समाज के संमुख प्रस्तुत कर दिया। नागरीप्रचारिणी पत्रिका में भी गंभीर खोजपरक लेखों का प्रकाशन आरंभ हुआ। ये इतिहास, भाषा एवं साहित्य से संबंधित थे। पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा राजस्थान के कवियों, राजस्थानी भाषा एवं इतिहास के संबंध में प्रस्तुत सामग्री और पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के पुरानी हिंदी और अपभ्रंश के साहित्य के संबंध में इस युग में प्रकाशित निबंध ने शोधपरक अन्वेषणात्मक समालोचना की नींव इतने सुदृढ़ आधार पर रखी कि हिंदी के इस क्षेत्र के लिये उनका गंभीर अध्ययन, व्यापक तत्वचयन, अथक तत्वग्राही श्रम एवं अतुल विवेक सदा प्रेरणादायक बना रहेगा। पं० गोविंदनारायण मिश्र ने भी प्राकृत के संबंध में पांडित्यपूर्ण कार्य किया।

द्विवेदी युग वैचारिक आंदोलनों का युग था। जब विचार संमुख आते हैं तो उनका मूल्यांकन, समीक्षा और आलोचना तथा प्रत्यालोचनाएँ प्रस्तुत होती हैं। साहित्य के संबंध में द्विवेदी जी की अपनी मान्यताएँ थीं। वे पुरानी मान्यता के विरोध में थीं, फिर भी वे सर्वांगीण नहीं थीं। इसलिये साहित्य संबंधी उनकी मान्यताओं का एक तरफ पुरातनपंथी विरोध कर रहे थे, दूसरी तरफ वे ही समसामयिक विद्वान् आलोचक उसमें अभाव का अनुभव कर रहे थे। आगत भी उनका

विचारक्षेत्र में विरोधी था इसलिये काव्य में छायावाद का आंदोलन उनकी काव्य-मान्यता के विरोध में आया। काव्य में खड़ी और पली बोली का विवाद साहित्य की अन्य विधाओं के साथ ही साथ भाषा के प्रतिमानीकरण एवं वर्तनी आदि के रूप के संबंध में खुलकर हुआ। जीवन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में वह विचार-मंथन का अभूतपूर्व काल था। इसलिये साहित्य के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों की आलोचना एवं प्रत्यालोचना बड़े व्यापक परिवेश एवं परिमाण में हुई और इसके माध्यम से सैद्धांतिक समालोचना के क्षेत्र में पर्याप्त विचारोत्तेजक सामग्री का प्रणयन हुआ।

आधुनिक आलोचना के सिद्धांत पक्ष पर विचार का आरंभ नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित निबंधों के माध्यम से १९वीं शती के अंत में आरंभ हो चुका था। मराठी साहित्य के विद्वान् श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के 'ग्रंथावर टीका' निबंध का अनुवाद पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा उक्त पत्रिका में 'समालोचना' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। जान्सन का स्पष्ट प्रभाव इस लेख पर है। इसी पत्रिका में 'समालोचनादर्श' शीर्षक पद्यात्मक निबंध बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का प्रकाशित हुआ जो अलेक्जेंडर पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' की विचारछाया पर रचित है। तीसरा निबंध अंबिकादत्त व्यास का 'गद्यकाव्य मीमांसा' है। यह तीसरा निबंध तो शतावधानी के अतीतमोह का विद्याविनोद है पर अन्य दोनों निबंध साहित्य संबंधी नव-विचार-अवगाहन का संकेत देते हैं। द्विवेदी जी ने नाटक, उपन्यास, कविता आदि पर अनेक निबंध समय समय पर प्रस्तुत किए जिनमें पश्चिम और पूरब के उदात्त आदर्शवादी उपयोगी सिद्धांतों के समन्वय का यत्न है। मिश्रबंधुओं ने भी 'हिंदी काव्य समालोचना' लिखकर काव्य के लक्षण बताए जो पश्चिम के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'काव्यभाषा' और 'समालोचना' पर विचार व्यक्त किए। द्विवेदी जी अपने विचारों में कट्टर आदर्शवादी और घोर नैतिक उपदेशवादी रहे। मिश्रबंधु को नवीनता से परहेज नहीं था पर वे रमणीयतावादी थे। पं० कृष्णबिहारी मिश्र रसवादी और स्वच्छंदता के एक सीमा तक समर्थक थे। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा के पोषक अन्य विद्वान् थे कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', लाला भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, बाबूराम बिथारिया आदि।

प्राचीन परंपरावादी संस्कृत एवं रीति में रमे लोग थे। प्राचीन से नवीन के संयोजक हृदय से अतीत के प्रेमी थे और उनके मन का झुकाव नवीन की ओर तो था पर उनका हृदय उसमें रम नहीं सका था। इस भाँति एक प्रकार की विसंगति का दर्शन उस युग के समीक्षा शास्त्र में होता है और जब इस कसौटी पर साहित्य

को वे परखने लगते थे तो पुराने साहित्यिक मूल्य उनपर छा जाते थे। इसलिये नवीन का उनसे लगाव मात्र था जो भविष्य की आलोचना का आलोक बना।

भाषा के संस्कार में द्विवेदी जी का ऋण आधुनिक हिंदी साहित्य में अनन्य महत्व का है। भाषागत अव्यवस्था या अराजकता के वे महान् शत्रु थे। इस क्षेत्र में उनका कर्तृत्व एवं दबदबा खड़ी बोली को संस्कार देने में सहायक सिद्ध हुआ। वे शुद्ध और बोधगम्य भाषा के संरक्षक तथा संवर्धक थे। श्री बालमुकुंद गुप्त ने द्विवेदी जी के भाषा संबंधी दोषों पर एक परिहासपूर्ण लेखमाला 'भारत जीवन' में 'भाषा की अस्थिरता' शीर्षक से 'आत्माराम' के नाम से लिखी। एक व्यापक विवाद हिंदी के मंच पर आरंभ हुआ। द्विवेदी जी के पक्षधर थे सर्वश्री गोविंदनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पद्मसिंह शर्मा, देवीप्रसाद शुक्ल, गिरिजाप्रसाद वाजपेयी और बालमुकुंद गुप्त के खेमे में थे सर्वश्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, अक्षयवट मिश्र, गोपालराम गहमरी। इस चर्चा के माध्यम से भाषा संबंधी अत्यंत गंभीर व्यापक सामग्री हिंदी जगत् के संमुख आई। द्विवेदी जी व्याकरणसंमत शिष्ट भाषा के पक्षधर थे, गुप्त जी जनबोली के संयोग के हामी। व्याकरण के शिथिल बंधन को स्वीकार करते हुए भी वे यह चाहते थे कि बोलने और लिखने की भाषा में किसी प्रकार का भेद न हो। वे साहित्य मे व्यवहारवाद क समर्थक थे जिसे अपने युग के तिरोधान के बाद द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य संमेलन के अध्यक्ष पद से माना।

दूसरा महत्वपूर्ण विवाद फारसी उर्दू शब्दों के हिंदी में प्रयोग का था। हिंदी संस्कृत के साथ उर्दू फारसी के लोकप्रचलित शब्दों के व्यवहार को सभी सुबुद्ध पक्षों की मान्यता थी। हिंदी प्रकृति के अनुसार दूसरी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार हो, यह सब मानते थे पर विहार में जाने पर मतभेद प्रकट हुआ। इसका कारण संस्कारगत था। हिंदी के साथ ही साथ द्विवेदी जी संस्कृत के और बालमुकुंद गुप्त उर्दू फारसी के विद्वान् थे। द्विवेदी जी कहते थे कि संस्कृत के आधार पर हिंदी की मूल प्रकृति गठित है इसलिये उर्दू फारसी के शब्दों का हिंदी की प्रकृति के अनुसार प्रयोग होना चाहिए। इस विवाद में बात द्विवेदी जी की चली। गुप्त जी चाहते थे कि हिंदी में उर्दू फारसी के शब्द अपनी प्रकृति को बनाए रहें।

कुछ लोग यह चाहते थे कि भाषा का तद्भव रूप हिंदी में ग्रहण किया जाय। अयोध्यासिंह उपाध्याय और मिश्रबंधु इसके समर्थक थे पर द्विवेदी जी और गुप्त जी दोनों इसके विरोधी। सिद्धांत रूप में, तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाय और तद्भव शब्दों की वर्तनी में भी एकरूपता लाई जाय, इस पक्ष को अधिकांश का समर्थन था। विभक्ति साथ लिखी जाय या अलग अलग, इसपर व्यापक विवाद हुआ। इन विवादों का परिणाम यह हुआ कि परिनिष्ठित हिंदी ने रूप ग्रहण

किया और व्यापक रूप से लेखन में सावधानी से इसका उपयोग प्रारंभ हुआ। वैचारिक मंथन से हिंदी भाषा के स्वरूपविन्यास को आर्जव मिला और हिंदी को अभिव्यक्ति की पुष्ट शक्ति। इस सैद्धांतिक आलोचना ने हिंदी को शक्ति दी और उसका रूप सँवारा।

द्विवेदी युग हिंदी आलोचना का किशोरकाल है जो अपने विकास क्रम में यौवन को स्पर्श करती है। बाबू श्यामसुंदरदास इस क्षेत्र में इसी युग में अवतरित हुए और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसा महान् समीक्षक इस युग के अंतिम वर्षों में इस क्षेत्र में अपनी लेखनी उठा चुका था जिनके कृतित्व से हिंदी में बाद में युगविधायक कार्य हुआ।

निबंध

भारतेंदु युग में व्यक्तित्व के धनी लोगों से हिंदी निबंध का साहित्य रसरंजित है। द्विवेदी युग में निबंध की अपेक्षा लेख व्यापक क्षेत्र में एवं बड़े पैमाने पर लिखे गए। द्विवेदी युग में व्यक्तित्ववाले महान् लोगों का मेला लगा हुआ था पर सारा युग और उसकी शक्ति सामूहिक एवं सामाजिक तथा राष्ट्रीय अनुष्ठान में लगी थी। सभी क्षेत्रों में जागरण एवं उन्नयन को केंद्र मानकर सारी रचनाप्रक्रिया चल रही थी। उद्देश्य की एकता मर्यादा की डोर से बँधी और नैतिकता की गाँठ से जुड़ी हुई थी। ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व का सामाजीकरण हो जाता है। व्यक्तित्व की मौलिकता मर्यादा की लगाम से, एक प्रकार के भाव के रूपविधायक कौशल से, जिसमें कभी कभी नीरसता भी आ जाती है, रंजित हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रायः ज्ञान और विवेक प्रधान हो जाता है और रंग रस के वैविध्य का लोप।

द्विवेदी युग में राजनीति, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, आचार विचार, कर्म, संस्कार सभी समाज और जीवन में चल रही हलचलों से इस प्रकार जुड़ गए थे कि सबके सब लोकजीवन की प्रगति के साधन और अभ्युदय के तेज से मंडित थे। सामूहिक अनुष्ठान में व्यक्तित्व का विलोप अपने में जहाँ एक ध्येय के विशेष दार्शनिक गौरव का अधिकारी होता है वहीं व्यक्ति के अंतर की मौलिक निजी साक्ष्य की अनुभतिपरक अभिव्यक्ति साहित्य के मर्म के लिए विशेष आवश्यक। व्यक्तित्व की मौलिक प्रभा की रंजना के अभाव में निबंध व्यक्तित्वहीन हो जाते हैं। साहित्य में केवल सम नहीं सम विषम के घोल में बने मधु का मान होता है। द्विवेदी युग में निबंध की अपेक्षा लेख बहुत बड़े परिमाण में लिखे गए। इन लेखों में विषयवस्तु का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ। धर्म, इतिहास, राजनीति, राष्ट्रप्रेम जीवनचरित, शिक्षा, सामाजिक कुप्रथा, उद्योग, विज्ञान, लोकजीवन, लोकाचार, यात्रा, साहस, साहित्य, भाषा, प्रकृति, मनोविज्ञान, पुरातत्व प्रायः जीवन के संबंध में सभी विषयों पर लेख लिखे गए।

भारत धर्मप्रधान देश है। धर्म को श्रद्धा के मंदिर से उतारकर जीवन के साथ जोड़ने का यत्न इस युग के लेखकों ने किया। धर्म जीवन के जयगान का आख्याता है और मनुष्यता के विकास की कहानी का मूल तत्व। सभी धर्म मानव के लिये हैं और वह जड़ता का नहीं, मानव की चेतना के विकास का प्रहरी है। इस मान्यता की भित्ति पर धार्मिक लेखों का प्रणयन हुआ। भारत का धर्म विश्व भर का प्राचीनतम लोकमंगलकारी धर्म है। उसकी उपलब्धि मनुष्यता की इस क्षेत्र की प्रगति की कहानी की गरिमा की दृष्टि से अनन्य रही है। भारत का धर्म जीवमात्र से प्रेम के कारण विश्वधर्मों में सिरताज रहा है। भारत के अतीत के धर्म के वैभव से प्रदीप्त लोगों ने अपने लेखों में हिंदू धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित कर धार्मिक हीनग्रंथि को खोलने का यत्न किया। यह मात्र भावुकता नहीं, तर्क एवं विवेक के निकष पर कसकर उद्भावित करने का संकल्प उन लेखों मे है। इस विषय के कुछ लेख भले ही इतिवृत्तात्मक हों पर इनमें कुछ विचारोत्तेजक लेखों की सरणि के गुणवान लेख हैं। इन विचारात्मक लेखकों में सर्वश्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रूपनारायण पांडेय, राधाकमल, परमानंद, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के लेख विशेष महत्व के हैं।

अशिक्षा के कुपरिणामों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करके इस युग के लेखकों ने नई चेतना जगाने का व्यापक आयास प्रयास किया। भारत की मूल धुरी किसान है। उसकी दर्दनाक आर्थिक परिस्थिति, दुर्दशा एवं विपन्न जीवन का चिंतन तथा उसके निदान के लिये भी उन्होंने लेख लिखे। केवल किसान ही नहीं, अर्थतंत्र के अन्य क्षेत्रों--व्यापार, उद्योग, कलाकौशल, मजदूरी आदि--को भी स्पर्श किया गया। इन विषयों पर लिखे गए लेख बहुत प्रौढ़ तो नहीं हैं, लेकिन समाज में इस दिशा में जो चिंतन हो रहा था उसके दिशानिर्देशक हैं और जानकारी से भरे पड़े हैं। महावीर-प्रसाद द्विवेदी, कृष्णानंद जोशी, जगन्नाथ मिश्र गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, प्राणनाथ आदि इस क्षेत्र के प्रतिष्ठित लेखक हैं।

उस समय के अशिक्षित समाज को विविध विषयों के संबंध में जानकारी देने का काम भी लेखकों ने अपने ऊपर उठाया था। प्रौढ़ शिक्षा का यह कार्य उनको गुरुता प्रदान करता है, उनका साहित्यिक मान भले ही उससे ऊपर न उठे। तथ्यपरक ढंग से इन लेखों में सीधी सादी भाषा में विषयों की जानकारी वर्णनात्मक ढंग से दी जाती थी। ये जानकारियाँ चरित्र, देश, त्यौहार, व्रत, यात्रावर्णन, समाजतत्व, विज्ञान, स्थान, जाति, स्थापत्य आदि के विषयों में नैतिक ढंग से होती थी। इन लेखकों में मुख्य हैं महावीरप्रसाद द्विवेदी, लज्जाशंकर झा, संतराम, गंगाप्रसाद आदि। जिन लेखों के द्वारा केवल जानकारी पाठक को मिलती है उनमें योगदान करनेवाले मुख्य लेखक हैं--ईश्वरीप्रसाद वर्मा, वियोगी हरि, आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव, द्वारिका-

प्रसाद चतुर्वेदी, रामसेवक पांडेय, संतराम, अवधबिहारी शरण, लक्ष्मीकांत त्रिपाठी, हरिशंकर उपाध्याय, शिवप्रसाद गुप्त ।

इन कोरे वर्णनात्मक लेखों के अतिरिक्त इस युग में चरितचर्चा विषय पर भी बहुत से प्रेरणादायक लेख लिखे गए जो धर्माचार्यों, इतिहास, पुराणों एवं साहित्यकारों पर हैं। इन निबंधों में तथ्यवर्णन के साथ लेखक के अंतर के आदर्श की अभिव्यक्ति की प्रेरणाविधायिनी प्रभा भी झलकती है। इन लेखकों में पद्मसिंह शर्मा, पुरुषोत्तमदास टंडन, महावीरप्रसाद द्विवेदी, ब्रजरत्नदास, श्यामसुंदरदास, द्वारिका-प्रसाद चतुर्वेदी, लक्ष्मीधर वाजपेयी, जहूर बख्श, संपूर्णानंद, लल्लीप्रसाद पांडेय, फणीश्वरनाथ भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, ज्वालाप्रसाद शर्मा, गोपालकृष्ण, रामानंद सिंह प्रमुख हैं।

इस युग में भाषा एवं साहित्य और उसके अंगों या तत्वों पर आलोचनात्मक निबंध बहुत बड़े पैमाने पर लिखे गए जिनकी चर्चा एवं विश्लेषण पहले किया जा चुका है। ऐसे लेखकों में मुख्य हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, गोविंदनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, मिश्रबंधु, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला कन्नोमल, रामचंद्र शुक्ल, कामताप्रसाद गुरु। शोधपरक निबंध लेखन के क्षेत्र में गौरीशंकर हीराचंद ओझा, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबूराव विष्णु पराड़कर, जगन्मोहन वर्मा एवं श्यामसुंदरदास का नाम विशेष उल्लेख्य है।

दर्शन और मनोविज्ञान के गंभीर धरातल पर रामचंद्र शुक्ल के 'विश्वप्रपंच' की भूमिका और गुलाब राय के स्फुट निबंध इसी युग में लिखे गए। इन निबंधकारों ने विश्लेषण की गंभीर शैली का निदर्शन अपने निबंधों में किया है तथा अपने कथ्यों का विश्लेषण व्यापकता से विस्तारपूर्वक किया है। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका को एक प्रबंध की संज्ञा दी जा सकती है।

साहित्यिक दृष्टि से भी निबंधों का प्रणयन इस युग में किया गया। वर्णनात्मक विवरण भी अपने कथ्य में रसात्मकता की निष्पत्ति कर सकें और वे राग-रंजित हो सकें तथा कथनी में रसात्मकता उत्पन्न कर सकें, ऐसी योजना जयशंकर प्रसाद के प्रकृति-वर्णन-संबंधी निबंधों में है। कृष्णदेव वर्मा ने भी अपने निबंध मे यह कला प्रदर्शित की है। इन लेखकों के निबंध में उनके व्यक्तित्व एवं देशकाल तथा प्रकृति को देखने की उनकी भावात्मक दृष्टि के दर्शन भी होते हैं। संख्या में ऐसे निबंध एकके दुक्के हैं पर वर्णनात्मक साहित्यिक निबंधों में रसात्मकता का ये संकेत देनेवाले हैं।

भारतेंदु युग से चले आ रहे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के 'राजा भोज का सपना' जैसे ललित निबंध, जिनमें कथा, कल्पना, रोमांस का योग होता है, इस युग

में भी रचे गए। इन ललित निबंधों की विशेषता यह होती है कि कल्पना और प्रतीकों का गुंफन करके अपने व्यक्तित्व की सर्जनात्मक छाप या तथ्यपरक अवतारणा इस प्रकार लेखक करता है कि लाक्षणिक ढंग से एक प्रकार के उपदेश की रचना भी होती है। यह रचना-प्रक्रिया सर्जनात्मक साहित्य के अधिक निकट है जिसे ललित निबंध की कोटि में रखा जा सकता है। द्विवेदी युग में इस विधा पर भी अनेकों ने सुंदर प्रयोग किए। इन ललित रचनाकारों में लल्लीप्रसाद पांडेय, लक्ष्मीधर वाजपेयी, निजामशाह, शिवप्रसाद वर्मा, विंध्येश्वरीप्रसाद उपाध्याय, श्रीकंठ पाठक का नाम उल्लेख्य है।

सही, सटीक और सच्चे अर्थों में साहित्यिक दृष्टि से भी निबंध लेखन का कार्य हुआ। भारतेंदु युग के निबंधों की ऊँचाई बालकृष्ण भट्ट एवं प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में जिस सीमा तक पहुँची थी, व्यक्तित्वप्रधान निबंधों की उस कड़ी का तथ्यबोधक विकास भी इस युग में हुआ। माधवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी इस क्षेत्र के अमिट हस्ताक्षर हैं। विविधता एवं उद्देश्य की बहुरंगत ने द्विवेदी युग के निबंधों का मौलिक व्यक्तित्व नहीं बनने दिया था पर इन निबंधकारों ने इसे व्यक्तित्व प्रदान किया। इन निबंधकारों के निबंध समग्र द्विवेदी युगीन निबंध साहित्य में मात्रा में स्वल्प होते हुए भी निबंध के गुणधर्म से इस प्रकार मंडित रत्न हैं कि सारे हिंदी निबंध साहित्य के इतिहास में इनका मान इनकी साहित्यिक प्रभा के कारण सनातन है। माधवप्रसाद मिश्र के इस कोटि के विश्रुत प्रतिष्ठित निबंध हैं—रामलीला, परीक्षा। इसमें निबंधकार का सार्थक व्यक्तित्व तो उजागर है ही, साहित्य की रसवती भाषा की ऊर्जा एवं शैली का प्रसाद तथा काव्य की स्पष्टता भी है।

सरदार पूर्णसिंह ने बहुत थोड़े निबंध हिंदी में लिखे पर अपनी गुणवत्ता के कारण 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' जैसे उनके निबंध व्यक्तिव्यंजक निबंधों की कोटि में अनन्य मान के अधिकारी हैं। इन्होंने पंजाबी में निबंध लिखकर वहाँ भी इस क्षेत्र में चमत्कार पैदा किया है। अंग्रेजी में भी इन्होंने निबंध लिखे। इनके निबंध व्यक्तित्व की सहज छाप के अतिरिक्त भावगत साहित्यिक सौंदर्य की निष्पत्ति भी करते हैं। पूर्णसिंह जी के निबंध पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ हैं और उनकी शैली में एक सहज प्रवाह है। भावना के वेग में वे उस तथ्य की अभिव्यक्ति को सार्थकता प्रदान करते हैं जो उनका अंतर्मन से देखा परखा है। उनके निबंधों में एक प्रकार के भावविन्यास की निर्झर भंगिमा है जिसमें ऊर्जा और आर्जव दोनों हैं। वे निबंधों के बीच में मुहावरे और उक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उनकी शैली उससे

बलवती तथा प्रभावशाली होती है। निबंध साहित्य में सरदार पूर्णसिंह के निबंध व्यक्तिव्यंजकता और साहित्यिकता के उज्ज्वल दृष्टांत हैं।

इस युग के निबंधकारों में चंद्रधर शर्मा गुलेरी का अपना मौलिक महत्व है। ये हिंदी में अपने ढंग के अनूठे निबंधकार हैं। चंद्रधर शर्मा के निबंध अनेक अर्थों में अनेक निबंधकारों से अलग हैं। वे परम सुविज्ञ पंडित थे किंतु उनका हृदय एक साहित्यकार का था। 'उसने कहा था' कहानी इसका प्रमाण है। वे शास्त्रज्ञ थे और उनके व्यक्तित्व में विद्वत्ता कूट कूटकर रसिकता के साथ भरी थी। विद्वत्ता और सरसता का सुंदर समन्वय उनमें हुआ था। उनके निबंध व्यक्तित्व की छाप से जहाँ दीप्त हैं, वहीं शास्त्र संदर्भों एवं सूक्तियों से संपन्न भी। उनके निबंधों में तर्कों की विधायिनी विवेचना शक्ति, भावना का तीव्र वेग और बिंबविधान की अनूठी शक्ति का जहाँ एक ओर दर्शन होता है, वहीं उनके निबंधों में व्यक्तिनिष्ठता भी है। इस प्रकार हिंदी निबंध जगत् में विवेचनपूर्ण भावात्मक एकालाप शैली के वे जनक हैं। निबंध की उनकी यह शैली बिल्कुल निजी और मौलिक थी। इस क्षेत्र में उनके अस्तित्व एवं शक्तिबोध का पता 'कछवा धर्म' और 'मारेसि मोहि कुठावँ' जैसे निबंधों से चलता है। वे इस शैली के प्रवर्तक थे और उनकी इस शैली से प्रभावित होकर अनेकों ने व्यक्तिव्यंजक निबंध बाद में लिखे। पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इसी प्रकार का एक निबंध 'दमयंती का चंद्रोपालंभ' लिखा। फिर भी गुलेरी जी के निबंध अपने स्थान पर हैं। वे ऐतिहासिक सारस्वत महत्व के तो हैं ही, हिंदी में उनकी अपनी अलग शान और मान है।

मनोवैज्ञानिक विषयों पर इस युग में बहुत से निबंध लिखे गए। शिष्टाचार भी इस युग का प्रिय विषय था। इन विषयों पर लिखनेवालों में यशोदानंदन अखौरी, लक्ष्मीधर वाजपेयी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, कामताप्रसाद गुरु, लोचनप्रसाद पांडेय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चित्तवृत्तियों को लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी, कृष्णबिहारी मिश्र ने अच्छे निबंध लिखे। उनमें एक एक सूक्ष्म तत्व को मूर्तिमान् करने के कौशल का अभाव है। वे समसामयिक जीवन से जुड़े हुए चिंतन के कारण सामयिक महत्व के हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'क्रोध और लोभ' आदि विषयों पर निबंध लिखे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बाद में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में ऐसे विषयों पर निबंध लिखे, जैसे 'क्रोध', 'लोभ और प्रीति', घृणा, 'करुणा', 'ईर्ष्या'। शुक्ल जी के ये निबंध यद्यपि द्विवेदी काल के अंतिम दशक में लिखे गए, तथापि इन्होंने निबंध साहित्य में अपने संकल्पात्मक सूक्ष्म निरीक्षण एवं अपनी मूर्तिविधायिनी व्यक्तित्वनिष्ठता तथा रागात्मक रसवत्ता के कारण मानदंड स्थापित किया। इस दृष्टि से शुक्ल जी के निबंध हिंदी साहित्य के निबंध जगत् की श्रेष्ठ उपलब्धि के

रूप में मान्यताप्राप्त हैं। उनकी सर्जना भी इसी युग में आरंभ हुई पर उनका परमोत्कर्ष इस युग के बाद हुआ।

द्विवेदी युग के निबंध साहित्य का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। लेख, निबंध, प्रबंध बहुत बड़ी मात्रा में लिखे गए। जीवन से संबद्ध सभी विषयों और मूल्यों पर इस युग में लेखों और निबंधों का प्रणयन हुआ। शैली की दृष्टि से भी नाना प्रकार की शैलियों, वर्णनात्मक से लेकर विवेचनात्मक शैली तक, के दर्शन इस युग के निबंधों में हुए। यह युग कट्टर आदर्शवादियों का था, इसलिये व्यंग्य विनोद की रसात्मकता के दर्शन बड़ी संकुचित सीमा में ही होते हैं और कहीं कहीं तो व्यंग्य व्यक्तिगत कटुता का रूप ले लेता है। तो भी समग्र रूप से द्विवेदी युग का निबंध साहित्य हिंदी में इस क्षेत्र के धरातल को विस्तृत एवं उर्वर बनाता है। जिन कृती शिल्पियों के कारण हिंदी का निबंध साहित्य उन्नति के परमोच्च शिखर पर पहुँचा उनका प्रादुर्भाव और अवतारणा इस युग में हुई। इस युग के निबंधकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, माधवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, कृष्णबिहारी मिश्र की महिमा ऐतिहासिक महत्व की है। साथ ही इस युग में जिन लोगों ने अपने कृतित्व का शुभारंभ किया उनमें बाबू श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, गुलाब राय, बाबूराव विष्णु पराड़कर, संपूर्णानंद, जयशंकर प्रसाद का अवदान भविष्य के निबंध-रचना-शिल्पियों में अनन्य शक्ति के स्रोत के रूप में प्रकट हुआ।

नाटक

भारतेंदु हरिश्चंद्र के तिरोधान के बाद हिंदी में नाटकों का क्षेत्र सूना सूना सा लगने लगा और लाला श्रीनिवासदास जी के बाद तो उसका ह्रास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा तथा यहाँ तक माना जाने लगा कि बाबू हरिश्चंद्र के साथ ही हिंदी में नाट्यकला का तिरोधान हो गया। नाटकों के क्षेत्र में द्विवेदी युग उस संपन्नता का बोधक नहीं है जो हिंदी की अन्यान्य विधाओं के क्षेत्रों में उसने प्रदर्शित की। एक प्रकार की शून्यता का अनुभव नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी युग में होता है। रंगमंच और नाटक दोनों पतनोन्मुख हुए। द्विवेदी युग में नाटकों के ह्रास की पीड़ा का संताप द्विवेदी जी को भी था। द्विवेदी जी यह चाहते थे कि हिंदी नाटक उन्नत हो और नाट्यशास्त्र संबंधी अपने निबंध में उन्होंने इसकी चर्चा भी की, किंतु साहित्यिक आदर्शवाद तथा युग की परिस्थिति के कारण वांछित फल की प्राप्ति संभव न हो सकी। इस युग में मूल रचना की अपेक्षा नाटक के क्षेत्र में अनुवाद का स्वर अत्यंत अधिक मुखर दिखाई पड़ता है।

हिंदी में संस्कृत, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद किया गया। जो छिटपुट मौलिक नाटक लिखे गए उनमें भाषा का संस्कार तो हुआ किंतु

नाटक के अन्य गुणों का अभाव उन्हें निर्जीव बना बैठा। नाटकों की रचना तो कम हुई किंतु रंगमंच के अभ्युदय का सिलसिला जारी रहा। देश की राजनीतिक स्थिति और परिस्थिति तथा प्रकृति का प्रकोप भी इसमें सहायक नहीं हुआ कि मौलिक रचना की जाय और राष्ट्रीय शासन में इस सशक्त माध्यम द्वारा लोकमंगल के लिये संघर्ष किया जाय। एक ओर तो राष्ट्रीयता की बाढ़ थी और दूसरी ओर व्यावसायिक नाटक कंपनियों द्वारा बाजारू नाटकों का बाजार गरम था। अव्यावसायिक नाटक मंडलियाँ भी स्थान स्थान पर राष्ट्रीयता से उत्प्रेरित हो अपने प्रयत्न कर रही थीं जिनमें कुछ को पं० मदनमोहन मालवीय, माधव शुक्ल, पुरुषोत्तमदास टंडन, रासबिहारी शुक्ल और महादेव भट्ट जैसे कर्मवीरों का योग, सहयोग और समर्थन प्राप्त था। ये सभी के सभी लोग राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के प्रेमी और अंग्रेजी शासन के विरोधी थे। अपने आदर्श की स्थापना और प्रसार के लिये वे जनजीवन में रंगमंच को माध्यम बनाना चाहते थे। राजनीतिक जीवन प्रतिबंधित था और शासक यह नहीं चाहता था कि उसके प्रति विद्रोह की दावाग्नि रंगमंच के माध्यम से भड़के। इसलिये ऐसी सारी की सारी साहित्यिक गतिविधियाँ भी प्रतिबंधित थीं। सन् १९०० में माधव शुक्ल के संचालकत्व में तथा नागरी प्रवर्धनी सभा के तत्वावधान में हिंदी नाट्य समिति की स्थापना हुई। यह संस्था १५ वर्ष तक चलती रही। ये लोग पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से तत्कालीन लोकजीवन को उद्बुद्ध कर विदेशी शासन की निःसारता को सांकेतिक ढंग से प्रकट करते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि यह संस्था टूट गई क्योंकि इसके अधिकांश कार्यकर्ता कट्टर कांग्रेसी राजनीतिज्ञ थे। रुचि संस्कार करने की सामर्थ्य इस युग के मौलिक नाटककारों में न थी। नाटकलेखन का कार्य बद्रीनाथ भट्ट, मिश्रबंधु, माखनलाल चतुर्वेदी और जी० पी० श्रीवास्तव कर रहे थे। इनका रंगमंच या उसकी शिल्पविधि से सीधा संबंध भी नहीं था इसलिये ये लोग व्यावसायिक कंपनियों की भावभूमि को, जो बाजारू मनोरंजन पर आधृत थी, साहित्यिक राष्ट्रीय संस्कार दे सकने में समर्थ नहीं हुए। रुचि संस्कार रंगमंच के विकास के लिये अनिवार्य आवश्यकता है।

व्यावसायिक रंगमंच पारसी नाटक कंपनियों के हाथ में था। यह सिलसिला १८६८ से आरंभ हुआ और इस युग में भी बराबर चलता रहा। अल्फ्रेड थिएट्रिकल कंपनी, पारसी थिएट्रिकल कंपनी, कावस जी खटाऊ आदि की कंपनियाँ इस दिशा में काम कर रही थीं। इनका विषय था पौराणिक। इन कंपनियों में प्रायः स्त्री का अभिनय पुरुष ही करते थे। किंतु एल्फिंस्टन थिएट्रिकल कंपनी ने कुमारी जौहर बेगम को मंच पर उतारा था। उस युग में सभ्य घर की लड़कियाँ हिंदी प्रदेशों में नाटकों में भाग लेना मानहानि समझती थीं। पारसी

कंपनियों में उल्लेखनीय काम न्यू अल्फ्रेड कंपनी का था जिस कंपनी के नाटक लेखक मुहम्मद आगा हश्र कश्मीरी और पं० राधेश्याम कथावाचक थे। राधेश्याम जी ने पारसी रंगमंच पर रुचि संस्कार का क्षीण प्रयत्न किया। अन्य नाटक लेखकों में इस युग के तुलसीदत्त शैदा, किशनचंद्र जेबा, नारायणप्रसाद बेताब, सैयद मेंहदी हसन अहसान, श्रीकृष्ण हसरत आदि थे। अनेक अन्य व्यावसायिक कंपनियाँ भी इस क्षेत्र में एक सीमित मात्रा में काम कर रही थीं जिनके नाम हैं—न्यू अल्फ्रेड शेक्सपीयर थिएट्रिकल कंपनी, ओल्ड पारसी थिएट्रिकल कंपनी, जुबली कंपनी, अलेक्जैन्ड्रिया कंपनी आदि।

ये कंपनियाँ व्यावसायिक थी, इसलिये पैसा पैदा करना इनका ध्येय था। साहित्य के मूल्य से इनका कोई संबंध नहीं था। इसलिये इन्होंने मनोरंजन के नाम पर कुरुचिपूर्ण, असांस्कृतिक बाजारू मनोभावों को बढ़ाया। अनाप शनाप नाच गाने, अंडबंड सीन सिनरियों के द्वारा मनोरंजन इनका ध्येय था। जो लेखक इन कंपनियों में नाटक लिखते थे वे भी स्वतंत्र नहीं थे, अपितु व्यावसायिक दृष्टि से इन लेखकों को 'बारहो मजे चना जोर गरम' की तरह का नाटक लिखना पड़ता था। लेखक लेखक नहीं थे अपितु कंपनियों के सेवक थे। इसलिये स्वतंत्र साहित्य के वे साधक नहीं थे, अपितु इनकी लेखनी परिस्थितियों की गुलाम थी।

भारतेंदु स्वयं रंगमंच में रुचि लेते थे और अभिनय भी करते थे। वे रंगमंच का संस्कार करना चाहते थे पर इस कार्य को अधूरा छोड़कर चले गए। द्विवेदी युग में यह कार्य आरंभ हुआ और अनेक संस्थाओं का समय समय पर इस कार्य के लिये गठन हुआ। रंगमंच के नियोजन और उन्नयन का काम साधारण नहीं, असाधारण है। आर्थिक, शिल्पगत और संगठनात्मक एकान्वयन की प्रक्रिया के अभाव में रंगमंच के क्रियाकलाप में बिखराव आ जाता है। आदर्श से अनुप्राणित हो लोक की रुचि को संस्कार देने के लिये अनेक नाट्य संस्थाओं की स्थापना द्विवेदी युग में हुई। प्रयाग और काशी इसके प्रमुख केंद्र बने। प्रयाग की हिंदी नाट्य मंडली, हिंदी नाट्य समिति, काशी की नागरी नाटक मंडली, भारतेंदु नाट्य समाज, जबलपुर की नाट्य समिति, आरा की मनोरंजन नाटक मंडली, मुजफ्फरपुर की नवयुवक समिति, छपरा की शारदा नवयुवक समिति, ने इस दिशा में मनोयोग से कार्य किया। नाट्य समितियाँ या परिषदें राष्ट्रीयता की भावना से दीप्त थीं तथा आदर्श एवं आचार संस्कार की भावना से उत्प्रेरित। प्रयाग में माधव शुक्ल, महादेव भट्ट, रमाकांत मालवीय के योग से १८९३ में रामलीला नाटक मंडली के नाम से हुई थी। मालवीय जी और बालकृष्ण भट्ट का सक्रिय सहयोग इनके साथ था। परस्पर मतभेद हो जाने के कारण १९०८ में माधव ... ने हिंदी नाट्य समिति ...

की। इन लोगों ने दूसरे शहरों में जाकर भी नाटक खेले। पुरुषोत्तमदास टंडन भी इनके सहयोगी थे। इन्होंने राधाकृष्णदास के महाराणा प्रताप, माधव शुक्ल के नाटक महाभारत पूर्वार्ध का सहज और प्रभावशाली मंचन किया। इनकी अभिनय की कला और नाटक की शिल्पविधि ने हिंदी रंगमंच को एक नई दिशा दी और इसके मूल प्रेरणास्तंभ माधव शुक्ल थे। राष्ट्रीय जीवन में सक्रिय सहयोग देने के कारण हिंदी नाट्य समिति भी सरकारी कोप का भाजन बनी। श्री माधव शुक्ल कलकत्ता चले गए। शुक्ल जी प्रायः राष्ट्रीय कार्यों के कारण दंडित हो जेल में ही रहते थे। कलकत्ता पहुंचने पर शुक्ल जी ने वहां भी अपना प्रयत्न जारी रखा। वहां भी उनके नाटकों में गति आई और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसे लोग मंच पर अभिनय में उतरे। श्री माधव शुक्ल ने नाटक भी लिखे जो आजादी के आंदोलन के लिये वरदान साबित हुए।

साहित्य की भांति ही रंगमंच के क्षेत्र में काशी का अवदान अनुपम महत्व का है। भारतेंदु और 'प्रसाद' जैसे नाटककार काशी के ही हैं। काशी की भारतेंदु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली ने द्विवेदी युग में रंगमंच के उन्नयन के लिये ऐतिहासिक कार्य किया। जैन नाटक मंडली की भी यहीं स्थापना हुई। नागरी नाट्यकला और संगीत प्रवर्तक मंडली का भी यहां संयोजन हुआ। पारस्परिक विग्रह से ये नाटक मंडलियां बनतीं और बिगड़ती रहीं। भारतेंदु नाटक मंडली ने भारतेंदु कृत 'सत्य हरिश्चंद्र' का अभिनय किया। गोविंद शास्त्री दुगवेकर, हरिदास माणिक, बालकृष्ण दास (बल्ली बाबू) ने इसमें ऐतिहासिक महत्व की भूमिका निभाई। इनके उल्लेखनीय अभिनय 'महाराणा प्रताप' और 'सोभद्र हरण' (गोविंद शास्त्री दुगवेकर द्वारा किया गया मराठी नाटक का अनुवाद) में हुए। नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली के विघटन पर भारतेंदु नाटक मंडली की स्थापना हुई। थोड़े ही दिनों में इसकी इहलीला भी समाप्त हो गई। १९१६ में यह पुनर्जीवित हुई। इसने दो नाटक खेले। 'हरहर महादेव' और 'महाभारत'। इन दोनों के लेखक थे क्रमशः गोविंद शास्त्री दुगवेकर और माधव शुक्ल। भारतेंदु नाटक मंडली की निष्क्रियता से विक्षुब्ध होकर आदर्श भारतेंदु मंडली संस्था स्थापित हुई जिसमें माधव शुक्ल का 'महाभारत' नाटक खेला गया। १९२० में केशवराम टंडन के प्रयत्न से भारतेंदु नाटक मंडली पुनः जागृत हुई। इन्होंने अनेक नाटकों का अभिनय किया जिनकी धूम चारों तरफ मच गई। इन लोगों ने जो नाटक खेले वे द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों के अनुवाद थे, यथा 'मेवाड़ पतन', 'दुर्गादास', 'शाहजहां' राधेश्याम का 'अभिमन्यु' और विलक्षण जी के 'भीष्म', 'द्रोण', 'नादिरशाह', को भी उन्होंने रंगमंच पर उतारा। बहुत बाद में जाकर 'प्रसाद' के 'ध्रुवस्वामिनी' को भी इन्होंने मंचित किया। भारतेंदु नाटक मंडली के एक साल बाद ही नागरी नाटक मंडली की स्थापना हुई। यह हिंदी क्षेत्र का

सबसे पुराना वर्तमान रंगमंच है जो आज भी प्रगति के पथ पर है। इसने २७ जुलाई, १९०९ को भारतेंदु, राधाकृष्णदास आदि के नाटक खेले। जिन नाटकों को इन्होंने खेला उनमें कुछ के नाम हैं 'महाराणा प्रताप', 'सम्राट् युधिष्ठिर', 'सम्राट् अशोक', 'महाभारत', 'भीष्म पितामह', 'अभिमन्यु', 'सूरदास', 'बिल्वमंगल', 'कलियुग', 'पाप का परिणाम', 'अत्याचार' आदि। बाबू आनंदीप्रसाद कपूर का, जो एक नाटककार भी थे, सफल और अद्वितीय अभिनय तथा निर्देशन नागरी नाटक मंडली में होता था। हिंदी नाटकों को उस युग में और आज भी अव्यावसायिक रंगमंच सच्चे अर्थ में नहीं मिल पाया। इस क्षेत्र में जो जो भी प्रयत्न हुए वे स्थायी नहीं हो पाए। कहीं कलाकारों का राग विराग और कहीं साधन की कमी, कहीं प्रतिभा का अभाव, कहीं संकल्प की कमी बाधक होती रही। हिंदी में जो नाटक लेखक होते हैं उनमें से अधिकांश रंगमंच की शिल्प विधि से परिचित नहीं होते और जो रंगमंच के शिल्पी हैं वे साहित्य की गंभीर गरिमा की उपासना के कायल नहीं। जब तक इन सभी तत्वों का संनियोजन नहीं होगा, हिंदी की यह विधा संपन्न न हो सकेगी।

नाटक साहित्य

द्विवेदी युग में मूल नाटक, जिन्हें सही अर्थों में नाटक कहा जा सके, बहुत कम लिखे गए, अंग्रेजी, बँगला, मराठी और संस्कृत से अनुवाद ही होते रहे। शेक्सपीयर के तीन नाटकों—'रोमियो ऐंड जूलियट', 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेंट आव वेनिस'—का अनुवाद गोपीनाथ पुरोहित ने किया। शेक्सपीयर के ही 'मैकबेथ', का 'साहसेंद्र साहस' नाम से अनुवाद सं० १९५० में मथुराप्रसाद चौधरी ने किया। शेक्सपीयर के 'हैमलेट' का अनुवाद मराठी से हिंदी में जयंत ने किया। मूलतः अंग्रेजी से अनुवादकों का केंद्रबिंदु शेक्सपीयर था। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणीसंहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' का अनुवाद किया। 'रत्नावली नटिका' का भी उन्होंने अधूरा अनुवाद किया और बाबू बालमुकुंद गुप्त ने इस नाटक का पूर्ण और सशक्त अनुवाद उपस्थित किया। सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' और 'मालती माधव' का सफल अनुवाद किया। मराठी के कुछ नाटकों के अनुवाद श्री दुगवेकर ने किए। बाबू रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी, रूपनारायण पांडेय ने बँगला से नाटकों का अनुवाद कार्य किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा के अनूदित नाटक मुख्यतः भारतेंदु युग के हैं। रूपनारायण पांडेय ने गिरीश बाबू तथा द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद किया। गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'खानजहाँ', रवींद्रनाथ ठाकुर के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के नाटक 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई', आदि का सम्यक् अनुवाद प्रस्तुत हुआ। इन्होंने

मौलिक लेखन क्षेत्र में 'उत्तररामचरितम्' की छाया पर 'सीता बनवास' की रचना की। बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभात मिलन', 'मीराबाई' नाटक और 'लल्लाबाऊ' प्रहसन लिखा। ये अपने कृतित्व में मार्मिकता, सहृदयता, मूर्तिवत्ता के कारण विशेष सफल रहे। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' और 'मयंक मंजरी' लिखा तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्नविजय व्यायोग'। इन दोनों के नाटक सफल नहीं कहे जा सकते। बाबू शिवनंदन सहाय ने 'सुदामा' नाटक लिखा। देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चंद्रकला भानुकुमार' नाम का नाटक लिखा जो कल्पित कथावस्तु पर मध्यकाल के इतिहास के जीवन को प्रस्तुत करता है। यह नाटक अभिनय की दृष्टि से निराशाजनक न होते हुए भी अच्छा पाठ्य नाटक है। जो भी नाटक लिखे गए उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक या पौराणिक हैं। कल्पनाप्रधान नाटकों में राजे, राजकुमारों और राजकुमारियों की ही लीला है; समाज की तत्कालीन स्थिति, परिस्थिति को प्रकट करनेवाले नाटक नहीं के बराबर लिखे गए; जो लिखे भी गए वे विशेष साहित्यिक सार के नहीं।

द्विवदी युग का रंगमंच और नाट्य साहित्य इस युग के साहित्य की अन्य विधाओं के उत्थान की तुलना में बौना लगता है जिसका विकास आगे जाकर हुआ। जो प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में आगे आईं। उनके बीजबिंदु इसी युग में दिखाई पड़े।

उपन्यास

हिंदी में द्विवेदी युग का उपन्यास साहित्य प्रारंभिक अवस्था का है। किंतु उस युग के उपन्यासों से हिंदी उपन्यास साहित्य को एक व्यापक आयाम बाद में मिला। वैसे तो हिंदी में उपन्यास लेखन की वास्तविक शुरूआत ही इस काल में हुई, किंतु इस काल में प्रस्तुत उपन्यास की पीठिका विशेष महत्व की है। इस युग के प्रारंभिक काल में जो उपन्यास लिखे गए उनमें तिलस्म और ऐयारी प्रधान, रोमांस मूलक, अपराध प्रधान, जासूसी कथाएँ, इतिहास पर आधारित रोमांस, सामान्य रोमानी कथाएँ और सामाजिक प्रकार के उपन्यास हैं।

बाबू देवकीनंदन खत्री ने अपने उपन्यासों 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' के माध्यम से, जो इस अवधि में सन् १९१२ तक वर्तमान थे, ऐयारी एवं तिलस्म की प्रेमकथाओं के संयोग से पाठक वर्ग का निर्माण कर रहे थे। इस क्षेत्र में उनका मुख्य अवदान था कौतूहल और चमत्कार के द्वारा पाठक का मनोरंजन। वे हिंदी के ऐसे कौतूहल उत्पन्न करनेवाले रोमांचकारी उपन्यास लेखक थे जिन्होंने हिंदी उपन्यास के लिये पाठकों का एक विशाल वर्ग तैयार किया। वे आदर्शों की झंझट में पड़नेवाले नहीं, समाज को कौतूहलपूर्ण किस्सा सुना उसे मंत्रमुग्ध करनेवाले इस क्षेत्र के हिंदी के आदि किंतु अनन्य लेखक थे। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा यश का भी अर्जन किया और धन का भी। इनकी सरस्वती ने लक्ष्मी को जिस रूप में प्राप्त किया

उनकी प्रेरणा से इस क्षेत्र में हरिकृष्ण जौहर, निहालचंद वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और दुर्गाप्रसाद खत्री आगे आए। इन सबकी कृतियाँ खत्री जी के कृतित्व की छाया पर जीवित थीं। इसलिये इनमें आर्जव और आकर्षण की वह शक्ति नहीं थी जो खत्री जी के उपन्यासों में है।

अपराधप्रधान जासूसी कथाएँ गोपालराम गहमरी जी ने प्रस्तुत कीं और इस कथापरंपरा के वे जनक बने। उन्होंने लगभग १०० उपन्यास लिखे और 'जासूस' नाम की पत्रिका भी निकाली। कौतूहलवर्धक नवीन प्रवृत्ति की अपराध कथाएँ अपने जासूसी उपन्यासों में गहमरी जी ने प्रकट कीं। रोमांस और प्रेम से हटकर अपराध की ओर कथा साहित्य को इन्होंने मोड़ा। अपराध साहित्य का लेखन संसार में आज बड़े उच्च धरातल पर है क्योंकि उसमें बुद्धि, विवेक और मनोविज्ञान के अंतस्तल तक पहुँचकर अपना रचना कौशल लेखक को दिखाना पड़ता है और ऐसी सनसनीदार स्थितियों और घटनाओं को विश्वसनीय बनाना पड़ता है जो सामान्यत: जीवन में नहीं घटतीं। ऐसी अपराध कथाओं की परंपरा के लेखक हरिकृष्ण जौहर किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, दुर्गाप्रसाद खत्री हैं पर गहमरी जी की ऊँचाई उस युग में अपनी ही थी।

इतिहास को आधार बनाकर ऐतिहासिक रोमांस प्रस्तुत करनेवाले किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान ऐसे उपन्यासों के शुभारंभकर्ता का है। यद्यपि वे अपने उपन्यासों में ऐयारी और तिलस्मगीरी से मुक्त नहीं हैं, तो भी उनकी प्रेमकथाएँ काव्यात्मकता तथा वासना के उद्दाम वर्णनों के कारण विशेष जनप्रिय हुईं। इतिहास की अपेक्षा इन रोमांसों में उन्होंने कल्पना को अधिक प्रश्रय दिया और कहीं कहीं ऐसी ऊबड़ खाबड़ विकृत कल्पना भी की कि थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा आदमी भी उनकी ऐतिहासिक कल्पना से घबड़ा जाता है और कथा विश्वसनीयता खो बैठती है। कामोत्तेजना के चक्कर में इस प्रकार वे फेरे मारते हैं कि शील और अश्लील का भी बोध उन्हें नहीं रह जाता है।

गंगाप्रसाद गुप्त अपने उपन्यासों 'नूरजहाँ वा संसार सुंदरी', 'पूना में हलचल वा वनवासी कुमार', 'वीरपत्नी', 'कुँवरसिंह', 'सेनापति', 'वीर जयमल वा कृष्णकांता' तथा 'हम्मीर' के कारण, जो केवल दो वर्ष की लिखी कृतियाँ हैं, सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक रोमांस प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं। शौर्य और स्वाभिमान, प्रेम और युद्ध, शृंगार और योग इनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है।

जयरामदास गुप्त ने भी ऐतिहासिक रोमांस लिखे जिनमें प्रेमलीला से लेकर ऐयारी और जासूसी सभी कुछ हैं पर सब मिलाकर इनके रोमांस कुछ नहीं के बराबर हैं।

इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में काशीप्रसाद खत्री, बलदेवप्रसाद मिश्र, मथुराप्रसाद शर्मा, जयरामलाल रस्तोगी, ठाकुरप्रसाद खत्री, चुन्नीलाल के भी नाम हैं जिन्होंने रचना तो की किंतु उनका उल्लेख मात्र ही हो सकता है; उनका अवदान नहीं के बराबर ही है।

ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में मुंशी देवीप्रसाद, हरिचरण सिंह चौहान, ब्रजबिहारी सिंह, लालजी सिंह, गिरिजानंदन तिवारी, बलभद्र मिश्र, रामनरेश त्रिपाठी, मखौरी कृष्णप्रसाद, चंद्रशेखर पाठक, युगलकिशोर नारायण सिंह, ब्रजनंदन सहाय और मिश्रबंधु का नाम भी लिया जाता है। इन लेखकों ने अपनी कथाओं में इतिहास का मान रखा है और भारतीय जीवन का शौर्य उपस्थित किया है। ये उपन्यास चरित्रचित्रण की दृष्टि के लिखे गए हैं और इनके लिखने के पीछे कर्ता का संकल्प यह था कि कृति के माध्यम से ऐसे चरित्रों को उभाड़ें जिनसे वर्तमान देशकाल को प्रेरणा मिल सके और अतीत के चरित्रों और कृतियों से समाज में अपने प्रति और भारतीय जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न हो सके। चरित्रचित्रण उपन्यास का एक अंग है। उसका दर्शन इन कृतियों में होता है। इस क्षेत्र के उपन्यासकारों में इस युग के शीर्षक ब्रजनंदन सहाय हैं।

कार्तिकप्रसाद खत्री, जयंतीप्रसाद, कालिदास माणिक और हरिदास माणिक ने इतिहास कथाएँ लिखीं किंतु वे सीधे सादे प्रेरणाप्रद ऐतिहासिक घटनाओं एवं कर्तव्यों के आख्यान मात्र हैं, उपन्यास नहीं।

इस युग में संस्कृत, उर्दू, फारसी तथा उर्दू की पद्धति पर नवसाक्षरों के लिये रोमानी कथाएँ भी लिखी गईं। इन रोमानी कथाकारों में देवीप्रसाद उपाध्याय, अनिरुद्ध चौबे, चतुर्भुज सहाय, रूपनारायण, हरिकृष्ण जौहर, पुन्नलाल, जयरामदास गुप्त, रामलाल वर्मा, श्रीकृष्ण हसरत, जगन्नाथ मिश्र, आदि के नाम उल्लेख्य हैं। संस्कृत से जो कथाएँ ली गई वे संस्कृत गद्यकाव्य की अलंकृत शैली में अलौकिक रोमानी घटनाओं से खुले शृंगारिक वर्णनों के साथ नीति और धर्म को समेटे चलती हैं। जो कथाएँ फारसी की प्रेमकथाओं पर आधारित थीं उनमें 'लैला मजनूँ', 'शीरीं फरहाद' से लेकर 'बनारसी दुपट्टा' तक कामव्यापार, शेर शायरी और इश्क के फरियाद से भरी पड़ी हैं। इस युग में घटनाप्रधान रोमांस भी लिखे गए किंतु जो कुछ लिखे गए वे किसी उद्देश्य से नहीं, मनोरंजन के लिये और पैसा कमाने के लिये।

ये सारे के सारे उपन्यास औपन्यासिक तत्वों से कहीं कहीं जुड़े अवश्य हैं किंतु इन्हें सही अर्थों में उपन्यास नहीं कहा जा सकता। लेकिन उपन्यास की रूपरचना में इनका अवदान हिंदी में रहा है। इसलिये इनका अध्ययन किए बिना हिंदी के समग्र उपन्यासों का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

हिंदी में जिनकी कृतियाँ उपन्यास की कोटि में आती हैं उनमें किशोरीलाल गोस्वामी का नाम इसके शुभारंभकर्ता के रूप लिया जाएगा। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों का विषय प्रेम को बनाया और अपने उपन्यासों में उन्होंने काम-व्यापार का खुलकर खेल खेला, यद्यपि उनमें धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएं भी थीं। इनके उपन्यासों में रोमांस अधिक है, नाटकीयतापूर्ण कथा का प्रवाह भी मिलता है। गोस्वामी जी के उपन्यास अपनी प्रेमप्रवंचना तथा रुचिविशेष के कारण काफी प्रचलित हुए और उन्हें मान भी मिला। गोस्वामी जी रँगीले, छबीले, मस्त व्यक्तित्व के धनी थे और उनका वह रंग उनके उपन्यासों में कूट कूटकर भरा।

भुवनेश्वर मिश्र दूसरे उपन्यासकार हैं जिनका इस आलोच्य काल में केवल एक उपन्यास प्रकाशित हुआ--'बलवंत भूमिहार'। किंतु अपनी १८९३ की कृति 'घराऊ घटना' के कारण उनका विशेष मान है। वे एक सीमा तक उपन्यास के सही अर्थों में विधायक हैं। 'बलवंत भूमिहार' में दो जमीदार परिवारों के संघर्ष की कहानी है। इसमें उस युग और जमींदार परिवारों की स्थिति का सहज और यथार्थ चित्रण है। इसमें उपन्यास के पात्रों के चरित्र का सहज विकास होता है। भाषा भी इसकी सहज, सरल है। उपन्यास शिल्प की दृष्टि से यह इस युग का एक श्रेष्ठ उपन्यास है।

ब्रजनंदन सहाय जी ने सन् १८९७ में 'राजेंद्र मालती' के द्वारा साहित्यिक उपन्यास रचना के क्षेत्र में प्रवेश किया और आलोच्य काल में 'अद्भुत प्रायश्चित्त', 'सौंदर्योपासक', 'राधाकांत' तथा 'अरण्यबाला' नामक उपन्यास लिखे। सामाजिक धरातल पर सहाय जी के उपन्यास प्रस्तुत हुए और शृंगार भी उनमें आया, किंतु उनका उद्देश्य उन सामाजिक मूल्यों की उत्थापना है जो समाज की प्रगति में बाधक थे। उन्होंने शराबबंदी, तिलक, दहेज, वृद्धविवाह, स्त्रीशिक्षा आदि के विषय में भी अपने उपन्यासों में कुछ कहा। इनकी भाषा में चित्रात्मकता है।

मेहता विद्याराम शर्मा ने १८९९ से उपन्यास लेखन आरंभ किया और इस आलोच्य काल में 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दंपति', 'सुशीला विधवा', 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी', 'विपत्ति की कसौटी', और 'आदर्श हिंदू' उपन्यास लिखा। मेहता जी कट्टर सनातनी और हिंदू थे। इन्होंने उन विचारों को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया। शृंगार को भी उन्होंने नही छोड़ा। मनोरंजन के द्वारा चरित्र-संस्कार तथा उपदेश देना उनके उपन्यासों का लक्ष्य था।

अवधनारायण ने सामाजिक चरित्रसुधार के लिये 'विमाता' की रचना सन् १९१६ में की। इस उपन्यास में विमाता को आर्थिक और पारिवारिक वातावरण में उपस्थित कर पाठक के हृदय में उसके कृतित्व को विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया गया। इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त अनेक उपन्यासकार और

भी सामने आए जिनकी स्फुट रचनाओं ने अपने अपने ढंग से अपनी कला का प्रदर्शन किया। किंतु वे इतिहास नहीं बना सके या इतिहास के अंग नहीं बन सके।

इन लेखकों में विनोदशंकर व्यास और चतुरसेन शास्त्री आगे जाकर हिंदी के अच्छे कथाकार बने। इस प्रकार के लगभग १०० से अधिक उपन्यास लिखे गए। हरिऔध जी ने भी अपनी लेखनी इस क्षेत्र में आजमाई पर वे मूलतः कवि थे। इन अधिकांश उपन्यास लेखकों का विषय सामाजिक था। सामाजिक समस्याएँ, हिंदुओं के आचार व्यवहार, रूढ़ियाँ, कामव्यापार, आदर्श चरित्र, नारी की समस्याएँ, पतिभक्ति, विधवा विवाह, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा आदि इन उपन्यासों के विषय हैं।

इस युग में प्रेमचंद की अवतारणा बाबू नवाबराय बनारसी के रूप में हो चुकी थी। उनके उपन्यास 'हम खुर्मा हम सवाब' (१९०० ई०) का हिंदी में अनुवाद 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' १९०७ में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास विधवा विवाह विषयक है और इसमें चरित्रचित्रण के साथ ही साथ आर्यसमाज का जोश भी है। किंतु जिस गुणधर्म के कारण बाबू नवाबराय बनारसी प्रेमचंद हुए उसका प्रस्फुटन सन् १९१८ में 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ ही हुआ। अभी तक जितने उपन्यास लिखे गए थे वे उपन्यास लेखन की भूमिका मात्र थे। 'सेवासदन' के प्रकाशन के उपरांत हिंदी जगत् ने इस क्षेत्र में एक नए युग में प्रवेश किया। प्रेमचंद ने उपन्यास को जीवन से जोड़ा और हिंदी उपन्यास के धरातल को नया मान दिया। प्रेमचंद जी ने अपने समाज और जीवन को देखा था। उन समस्याओं से संघर्ष और अनुभूतिपरक ज्ञान प्राप्त किया था। काशी की दालमंडी वेश्यावृत्ति के लिये उस समय भारतविश्रुत थी। दहेज, सामाजिक अत्याचार, गरीबी आदि से प्रताड़ित महिलाएँ वेश्यावृत्ति धारण कर लेती थीं। ऐसे चरित्रों का चित्रण उन्होंने बखूबी किया है जो इसके जिम्मेदार हैं तथा नैतिकता के ठीकेदार हैं। अपने उपन्यास में उन्होंने इन सबको भली भाँति रूपायित किया है। इस उपन्यास में वे समाज के एक जागरूक प्रहरी के रूप में प्रकट होते हैं तथा मानवीय संवेदना को एक नया आयाम देते हैं। प्रेमचंद के 'सेवासदन' के चरित्र मनोवैज्ञानिक पहलू से भी सफल और खरे हैं। यह उपन्यास यद्यपि घटनाप्रधान है, तथापि पात्रों के चरित्र में व्यक्तित्व की भी उपस्थापना है। कथा तो इसमें है ही लोकजीवन की कथा कहने के लिये एक सुसंगठित भाषा प्रेमचंद जी ने इस उपन्यास में प्रस्तुत की है। वेश्याओं के उद्धार के लिये सेवासदन जैसे आश्रमों की कल्पना भी की। यद्यपि आर्यसमाज ऐसे आश्रमों का प्रवर्तक रहा है, तो भी 'सेवासदन' अपने ढंग का अलग आश्रम है जिसमें प्रेमचंद के व्यक्तित्व की साख भी है।

प्रेमचंद के 'सेवासदन' की रचना हिंदी उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में एक घटना है जहाँ से हिंदी उपन्यास की धारा ऊबड़ खाबड़ भूमि से समतल पर उतरती है और उसका प्रवाह दिनोत्तर विस्तृत और जीवनमय, गुणवत्ता और रचनाशिल्प दोनों दृष्टियों से, होता जाता है। इस दृष्टि से द्विवेदी युग का उपन्यास साहित्य हिंदी के उपन्यास साहित्य के अभ्युदय की गंभीर भूमिका प्रस्तुत करता है।

कहानी

आधुनिक हिंदी कहानियों का उद्भव द्विवेदी काल में हुआ, यद्यपि कुछ लोग यह मानते हैं कि 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी की पहली कहानी है। आधुनिक दृष्टि से उसी अर्थ में, जिसे पश्चिम की शिल्पविधि में कहानी मानते हैं, 'रानी केतकी की कहानी' कहानी नहीं है। कहानी कला विशुद्ध पश्चिम की देन है और कथा, आख्यायिका, आख्यान और वृत्तांत से इसका स्वरूप भिन्न है। १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में अमेरिका और यूरोप में कहानी का शुभारंभ हुआ और बँगला के माध्यम से यह हिंदी में अवतरित हुई। प्रथम हिंदी कहानी किसे कहा जाय, इसे लेकर विद्वानों में सदा मतभेद रहा है और कुछ लोग 'इंदुमती', कुछ लोग 'ग्यारह वर्ष का समय', कुछ लोग 'दुलाईवाली' को हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। क्रमशः किशोरीलाल गोस्वामी, रामचंद्र शुक्ल, राजेंद्रबाला घोष उर्फ बंग महिला की ये कहानियाँ हैं जो सभी 'सरस्वती' में क्रमशः १९०१, १९०३ और १९०७ में प्रकाशित हुईं। 'इंदुमती' के संबंध में ऐसी मान्यता थी कि वह टेंपेस्ट या किसी बँगला कहानी का अनुवाद है, किंतु सत्य यह है कि वह अनुवाद नहीं, स्वतंत्र कहानी है इसलिये उसे प्रथम कहानी मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए; हाँ भले ही वह पूर्ण प्रौढ़ कहानी न हो। हिंदी में प्रौढ़ कहानियों के लेखन का शुभारंभ 'उसने कहा था' कहानी से, जो सन् १९१६ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, होता है। गुलेरी जी की यह कहानी पुरातन होते हुए भी नित नूतन है और यहीं से हिंदी में प्रौढ़ कहानी रचना का साहित्य आरंभ होता है। इसलिये द्विवेदी युग की उन कहानियों को जो 'उसने कहा था' के पूर्व प्रकाशित हुईं, प्रयोगकालीन रचना मानना ही श्रेयस्कर होगा। इनपर विचार करने के पूर्व अनूदित कहानियों के संबंध में विचार करने से हिंदी कहानी साहित्य की आधारशिला का पता चलेगा।

हिंदी में इस युग में कहानियाँ अँग्रेजी, बँगला और संस्कृत से अनूदित हुईं। अँग्रेजी से अनुवाद करनेवालों में राधाकृष्णदास, पार्वतीनंदन प्रमुख थे और इनके अतिरिक्त रूपनारायण पांडेय, सत्यदेव, पृथ्वीपाल सिंह, सूर्यनारायण दीक्षित, शिवनारायण शुक्ल, कुंदनलाल आदि थे। ये कहानियाँ मूलतः 'सरस्वती' में छपीं। राधाकृष्णदास ने सिबेमियन, एथेंसवासी, टाइनन, पेनालिस कौतुक, मैकमिलन कहानियों का अनुवाद किया। ये कहानियाँ उपदेश तथा घटनाप्रधान सामाजिक

कहानियाँ हैं। अनुवाद की भाषा कहानी की न होकर संस्कृतनिष्ठ तत्समप्रधान गद्य की भाषा है। पार्वतीनंदन ने अमेरिकी और जर्मन कहानियों का अनुवाद और रूपांतर प्रस्तुत करते हुए मनोरंजन का ही विशेष ध्यान रखा। शेष कहानीकारों ने फ्रेंच और अंग्रेजी से अनुवाद किया। इस अनुवादों को देखने से यह लगता है कि पाश्चात्य शिल्प उतारने का प्रयत्न ये लोग कर रहे थे। घटना के घात प्रतिघात और अंतर्द्वंद्व से इन कहानियों में कथा का विकास हुआ है। वर्णनात्मक शैली में ये चरित्र-प्रधान कहानियाँ हैं। इन अनुवादों में हिंदी लेखकों के सामने पश्चिम की कहानी की शिल्पविधि की रूपरेखा प्रस्तुत हुई जिनसे हिंदी का कहानी साहित्य प्रभावित हुआ।

बँगला से अनुवाद करनेवालों में, जहाँ हिंदी से पहले ही मौलिक कहानी लेखन का आरंभ हो चुका था, बंगमहिला और पार्वतीनंदन का नाम उल्लेखनीय है। जिन कहानीकारों की कृतियों का अनुवाद इन लोगों ने किया उनमें रवींद्रनाथ ठाकुर, नीरदवरण घोष, सुधींद्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ थीं। इन कहानीकारों का शिल्प भी हिंदी कहानी के शिल्प के लिये माडल बना।

संस्कृत से जो कहानियाँ अनूदित हुईं वे कादंबरी, हर्षचरित, रत्नावली, मालविकाग्निमित्र तथा जैमिनीपुराण पर आधृत हैं। अनुवादक थे गदाधर सिंह, जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी और शिवनारायण दीक्षित आदि। ये सही अर्थ में कहानियाँ नहीं थीं किंतु परंपरा की विरासत इनमें थी।

प्रायः कहानियों के जो अनुवाद आए वे 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में 'सरस्वती' ने अनुवाद के साथ ही साथ मौलिक कहानी की रचना के कार्य में अप्रतिम भूमिका निभाई।

आधुनिक अर्थ में मौलिक कहानियों के लेखन का शुभारंभ इस युग में हुआ। कहानी में धीरे धीरे जीवन की जटिल समस्याओं को सहज स्वाभाविक रूप से उपस्थित किया जाने लगा। कल्पना और कौतूहल का उसमें संयोग किया गया। जीवन का अधिक गंभीर अर्थ कहानी में उतारा जाने लगा। मनोरंजन, कुतूहल, उपदेश की अपेक्षा जीवन की व्याख्या कहानी के जीवन का धर्म बना। विषय की दृष्टि से कहानियों का विभाजन प्रेमप्रधान कहानियाँ, मनोरंजक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक कहानियाँ, जासूसी कहानियाँ और पद्यबद्ध कहानियों के रूप में किया जा सकता है। वैसे बहुत से लोग इन कहानियों को भावनाप्रधान कहानियाँ, यथार्थवादी कहानियाँ और आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कहानियों के रूप में ही बाँटते हैं। कुछ लोग इन कहानियों को स्कूल में भी बाँटते हैं, यथा प्रेमचंद और प्रसाद स्कूल के कहानीकार। किंतु कहानियों का अध्ययन विषयगत ही मानना अधिक उपादेय होगा।

इस युग में जिन कहानीकारों ने हिंदी को अपने मौलिक अवदान से संपुष्ट किया उनमें किशोरीलाल गोस्वामी, केशवप्रसाद सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी,

गिरिजादत्त वाजपेयी, रामचंद्र शुक्ल, गिरिजाकुमार घोष, गोपालराम गहमरी, निजाम शाह, श्री राजेंद्रबाला घोष (बंग महिला), उदयनारायण वाजपेयी, वृंदावनलाल वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, विद्यानाथ शर्मा प्रारंभिक काल के कहानीकार हैं।

प्रौढ़ काल चंद्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद, जी० पी०श्रीवास्तव, राधिकारमणप्रसाद सिंह, प्रेमचंद, विश्वंभरनाथ जिज्जा, ज्वालादत्त शर्मा, छबीलेलाल गोस्वामी, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चतुरसेन शास्त्री और बालकृष्ण शर्मा नवीन की रचनाओं से संपुष्ट है।

'सरस्वती' के साथ ही साथ हिंदी में प्रौढ़ कहानी लेखन के विकास में 'इंदु' का भी योगदान महत्वपूर्ण है। कहानी की रचना के विकास के लिये यह युग विशेष महत्व का है। जयशंकर प्रसाद इसी पत्रिका के माध्यम से कहानीकार के रूप में प्रकट हुए और अनेक कहानीकारों की विस्तृत भूमिका इसके माध्यम से प्रकाशित हुई।

किशोरीलाल गोस्वामी के कहानियों के तीन संग्रह प्रकाशित हुए—चंद्रिका, इंदुमती और गुलबहार। गोस्वामी जी की कहानियाँ घटनाप्रधान जासूसी तत्वों से भरी प्रेम कहानियाँ हैं। कहानीकला की दृष्टि से ये केवल कहानी भर ही हैं।

केशवप्रसाद सिंह की कहानियाँ यात्राविवरण के रूप में हैं। 'चंद्रलोक यात्रा' और 'कश्मीर यात्रा' शीर्षक कहानियाँ सन् १९०० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। पहली कहानी डायरी पद्धति पर लिखी हुई हिंदी की पहली वैज्ञानिक कहानी होने का श्रेय प्राप्त करती है किंतु यह मौलिक नहीं, अंग्रेजी पर आश्रित है। लेकिन जहाँ तक प्रथम वैज्ञानिक कहानी लिखने का यत्न है, इसका ऐतिहासिक महत्व है। भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी प्लेग के आतंक का, जो उस समय व्याप्त था, एक यथार्थवादी चित्रण है। इस घटनाप्रधान कहानी में अनेक दोष हैं लेकिन जीवन और समाज का इसमें सत्य है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'स्वर्ग की झलक,' 'खानखाना', 'सुमेरु पर्वत,' 'शाहजहाँ,' 'शायरों के शाहंशाह,' 'अबू तालिब' कहानियाँ 'सरस्वती' में लिखीं। ये कहानियाँ १९०३ से लेकर १९११ के बीच प्रकाशित हुईं। ये सही अर्थों में कहानी नहीं, आख्यायिका हैं जो ऐतिहासिक हैं।

गिरिजादत्त वाजपेयी ने 'पंडित और पंडितानी', 'पति का पवित्र प्रेम' कहानियाँ रचीं जो १९०३ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। व्यंग्यप्रधान इस कहानी मे अनमेल विवाह की सफल अवतारणा की गई। दूसरी कहानी साधारण सी है।

रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' आत्मकथापरक शैली में लिखी गई कहानी है जो सन् १९०३ मे 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई। इस कहानी में

रहस्यपरक, अदृश्य प्रेम, प्रकृतिवर्णन के साथ उपस्थापित किया गया है जिसमें भिन्न भिन्न स्थितियों का चित्रण भी है। श्री गिरिजाकुमार घोष की मौलिक कहानियों का संग्रह सन् १६२० में प्रकाशित हुआ। साथ ही इनकी कहानियाँ 'सरस्वती' में ही छपती रहीं। वर्णनात्मक शैली में लिखी गई इनकी कहानियाँ घटना और मनोरंजनप्रधान हैं जिनमें सरसता और संवेदना है। इनकी कहानियों में कौतूहल भी मिलेगा।

गोपालराम गहमरी ने जासूसी कहानियाँ लिखीं। विपज्जनक घटनाओं और अपराध कथाओं के द्वारा जनसामान्य का मनोरंजन वर्णनात्मक शैली में इन्होंने किया। शिकारी जीवन से संबद्ध कहानी लेखन के संबंध में निजामशाह ने सबसे पहले कदम उठाया और इनकी कहानियाँ सन् १६०५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। आत्मकथापरक शैली में इन्होंने अनुभवजन्य साहसपूर्ण रोमांचकारी कहानियाँ लिखीं। इनकी सबसे प्रसिद्ध कहानी 'सूअर का शिकार' है। श्रीमती राजेंद्रबाला घोष (बंग महिला) हिंदी और बंगला दोनों में कहानी लिखती थीं। आपकी कहानियों का संग्रह सन् १६१२ में 'कुसुम संग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ। इनकी ख्याति हिंदीजगत् में 'दुलाईवाली' कहानी को लेकर है जो सन् १६०७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। यह सामाजिक कहानी कथानक, चरित्र, संवाद, भाषा, नाटकीयता के गुणों से मंडित है तथा उस युग की ग्रामीण अशिक्षित महिलाओं के चरित्र को सहज ढंग से पात्रानुसार भाषा में उजागर करती है। अपने समय की कहानी कला की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है; ऐतिहासिक महत्व तो इसका है ही। भारत भूमि की महिमा का आख्यान करने के लिये सन् १६०७ में उदयनारायण वाजपेयी ने 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' शीर्षक कहानी वर्णनात्मक शैली में लिखी। यह एक अति साधारण कहानी है।

हिंदी के संमान्य ऐतिहासिक कथाकार बाबू वृंदावनलाल वर्मा की कहानियों का आविर्भाव भी सन् १६०६ में 'सरस्वती' के माध्यम से हुआ और इनकी पहली कहानी 'राखीबंद भाई' इसमें छपी। इसके अतिरिक्त वर्मा जी की अनेक विख्यात कहानियाँ—'कलाकार का दंड,' 'शरणागत,' 'तातार', 'शेरशाह का न्याय', 'खजुराहो की दो मूर्तियाँ' आदि ऐतिहासिक कहानियाँ इस युग में प्रस्तुत हुई। वर्मा जी इतिहास के मर्मज्ञ थे। उन्होंने ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से वैभवशाली उदात्त चरित्रों के द्वारा भारत के अतीत को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि देश के लोगों के भीतर अपने कर्तृत्व के प्रति तथा अपने आचरण के प्रति आस्था के भाव का उदय हो। यह सब करते हुए भी उन्होंने कथाकार के धर्म को निभाया है। इतिहास के सत्य की रक्षा करते हुए भी कहानी में उसे ढालने का उनका शिल्प कलात्मक तो है ही कहानी की शिल्पविधि की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अपनी सामाजिक कहानियों में उन्होंने

मानव के उज्वल पक्षों को उपस्थित किया है। वे ऐसे आदर्शवादी कहानीकार हैं जिनकी कहानी जीवन में उन भारतीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है जो कर्तव्य, शौर्य, न्याय तथा उदारता से पूर्ण, शक्ति और प्रेरणा के पुंज हैं।

मैथिलीशरण गुप्त और विद्यानाथ शर्मा ने पद्य में भी कहानियाँ लिखीं। गुप्त जी की पद्यबद्ध कहानियाँ 'नकली किला' और 'निन्यानबे का फेर' राष्ट्रीयता से पूर्ण उपदेशप्रधान कहानियाँ हैं। विद्यानाथ मिश्र ने 'विद्या विहार' और 'कुलीनाथ पांडेय' कहानियाँ लिखीं। इनका विषय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव के द्वारा सफलता का रास्ता और खुशामद से आमद का मार्ग बताता है। इनका कोई विशेष महत्व साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं है।

अभी तक जिन कहानियों और कथाकारों की चर्चा की गई इनका अवदान हिंदी कहानी को प्रयोगावस्था में ले आने मात्र का है। चरित्रवर्णन, उपदेश, प्रेम, सामाजिक जीवन, ऐतिहासिक तथ्य आदि इन कहानियों के विषय हैं जो मनोरंजन और उपदेश की निष्पत्ति वर्णनात्मक शैली में करते हैं। इन कहानियों में शिल्प का निखार नहीं के बराबर है लेकिन स्थान स्थान पर कहानी के तत्वों का संयोग इनमें है। हिंदी कहानी का द्विवेदी काल के पूर्वार्ध में आरंभ यद्यपि गौरवशाली नहीं है, तो भी जो है वही विकास को देखते हुए, महत्व का है किंतु इसने द्विवेदी काल के उत्तरार्ध में प्रौढ़ रचना का शुभारंभ किया।

द्विवेदी युग में हिंदी में कहानियों की प्रौढ़ रचना का आरंभ 'इंदु' के प्रकाशन के साथ ही शुरू होता है। 'इंदु' के माध्यम से जयशंकर प्रसाद का इस क्षेत्र में पदार्पण हिंदी कहानी के भावलोक की ऐतिहासिक उपलब्धि है। इस दशक में ही हिंदी कहानी में नवोन्मेष उत्पन्न करनेवाले चंद्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, विश्वंभरनाथ जिज्जा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ज्वालादत्त शर्मा सुदर्शन, की कहानियाँ आईं, प्रेमचंद जैसा हिंदी का इस क्षेत्र का अनुपम कृती शिल्पी भी इस युग में प्रकट हुआ। जीवन के विविध क्षेत्रों को आधार बनाकर शिल्प का निखार और समाज तथा जीवन का संयोजन, घटनाओं और चरित्रों का सहज यथार्थ, अनुभूतिपरक अंतर्द्वंद्वों का मंडन इस युग की कहानियों में हुआ। राष्ट्र और राष्ट्रीयता की पुकार भी इन कहानीकारों की कहानियों में है। कहानी के विकास का भव्य इतिहास इन रचनाकारों ने द्विवेदी युग के दूसरे दशक में रचा।

जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिंदी साहित्य के काव्य और नाटक के सर्वोच्च शिखर तो हैं ही, कहानी के क्षेत्र में भी कवित्वमय, भावप्रधान, गंभीर, रसात्मक कहानी लिखने के क्षेत्र में वे बेजोड़ हैं। सन् १६११ में उनकी प्रेरणा से 'इंदु' का प्रकाशन आरंभ हुआ और उसमें उनकी पहली कहानी 'ग्राम' छपी। उसी 'इंदु' में

उनकी 'पंचायत', 'चंदा', 'चित्तौड़ उद्धार', 'चूड़ीवाली', आदि कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं। 'सरस्वती' को छोड़कर अन्य पत्र पत्रिकाओं में भी उनकी अन्य कहानियाँ छपीं। आलोच्य काल में जो कहानियाँ उन्होंने लिखीं वे 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में संकलित हैं। 'प्रसाद' जी भारतीय संस्कृति और इतिहास के गंभीर उपासक एवं पारखी, भारत की मूल सांस्कृतिक चेतना के पोषक और समर्थक, प्रेम और सौंदर्य के पुजारी, भावुकता, कल्पना और स्वच्छंदता के साथ हिंदी साहित्य में संदेशवाहक के रूप में प्रकट हुए। बंधन से मुक्ति और प्रेम के प्रति समर्पण, व्यक्ति, राष्ट्र और समाज के प्रेम का सांस्कृतिक समन्वय करनेवाले वे कुशल शिल्पी थे जिनमें बनारस का सांस्कृतिक ठाट और रंग भी था। वे कवि और नाटककार भी थे। वे सरस, संस्कृतनिष्ठ, मौलिक, भावात्मक भाषाशैली के भारवाहक भी थे। ये सारे के सारे गुण उनकी अलग अलग कहानियों में प्रकट हुए। हिंदी में नारीचरित्र का उनके जैसा चितेरा आधुनिक युग में कोई नहीं हुआ और उनकी यह विशेषता नारी के चरित्रचित्रण में सर्वत्र मिलेगी। दांपत्य प्रेम, अनमेल प्रेम, मानवीय प्रेम, मांसल प्रेम, राष्ट्र और विश्वप्रेम के प्रति समर्पण की जो भावना उनके पात्रों में है और उसका जैसा चित्रण उन्होंने किया वह अपनी अर्थवत्ता और भावुकता तथा चरित्र की मूर्तिवत्ता की दृष्टि से कहानी में कला की बारीकी का दृष्टांत उपस्थित करता है। उनकी कहानियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी, प्रसाद, ओज, माधुर्य से संवलित है और उसमें चित्र एवं भाव गढ़ने की अविरल शक्ति है। उनकी कहानियों में संवाद, नाटकीयता, चरित्रचित्रण, घटनाओं, भावों एवं अंतर्द्वंद्वों का विश्लेषण है। ये भावप्रधान कहानी लिखनेवाले सिद्ध शिल्पी हैं। चरित्र को उभारते हुए कहानी में वे आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं। वे हिंदी के विशिष्ट कहानीकार तो हैं ही, हिंदी में भावनाप्रधान कहानियों के अन्यतम स्रष्टा और प्रवर्तक भी।

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी हिंदी के अमर कहानीकार हैं जिन्होंने केवल तीन कहानियाँ—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'—लिखकर वह कीर्ति स्थापित की जो इस क्षेत्र मे किसी को नहीं मिली। सन् १९११ में 'सुखमय जीवन' नाम की उनकी पहली कहानी 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुई। उनकी अंतिम महान् कहानी संवत् १९७२ में 'सरस्वती' में छपी। 'उसने कहा था' कहानी ने हिंदी में कहानी का इतिहास बनाया। 'उसने कहा था' कहानी अपने देशकाल को देखते हुए एक ऐसी ऊँचाई है और ऐसी पूर्णता है कि जिस तक पहुँचना असहज कार्य है। गुलेरी जी वातावरणप्रधान कहानी लिखनेवाले संवेदनशील कर्तव्योन्मुख प्रेम के चितेरे हैं। 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' साधारण कहानियाँ हैं और उस प्रौढ़ता को स्पर्श मात्र करती हैं जो 'उसने कहा था' में है। उसके पहले की दोनों कहानियाँ सामाजिक जीवन पर आधृत प्रेम कहानियाँ हैं।

पहले में अनुभूतिहीन लेखक की किताबी जीवन की विडंबना की परिणति विवाह द्वारा सुखमय जीवन में होती है। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई यह कहानी साधारण ढंग की है। दूसरी कहानी भी प्रेम कहानी ही है। इसमें घटनाक्रम, कौतूहल, नाटकीयता बरकरार रखने में गुलेरी जी सफल रहे हैं, किंतु यह अप्रासंगिक वर्णन तथा अप्रासगिक कथा के अनावश्यक जोड़ से पैबंद सी लगती है। फिर भी इस कहानी में नाटकीयता और संवाद तथा चरित्र के चित्रण में निखार लाने के लिये लेखक का यत्न सफल हुआ है तीसरी कहानी 'उसने कहा था' में शीर्षक से लेकर अंतिम शब्द तक अपनी कलात्मक क्षमता, कहानी के सभी तत्वों के संतुलित प्रौढ़ प्रयोग, चरित्रचित्रण की मूर्तिमान् विशिष्टता के साथ अपना संदेश देने में सफल रहा है। कहानी का शिल्प भी सर्वथा मौलिक और निजी है। इस वातावरणप्रधान कहानी में वातावरण के एक एक तत्व को सहज और जीवंत रूप में यथावत्, ऐसी बारीकी से प्रकट किया गया है कि कहानी के अन्य तत्वों को वह जीवनी शक्ति देता है। कहानी के सारे के सारे तत्व, चाहे कहानी कहने का शिल्प या मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण या अंतर्द्वंद्व का विश्लेषण हो या आदर्श प्रेम, कर्तव्यपरायणता या देशभक्ति की बात हो या संवाद और नाटकीयता, इनका ऐसा यौगिक संमिश्रण करते हैं कि एक दूसरे से परस्पर मिलकर अपने सुंदर तत्वों से पूरी कहानी को सुंदरतम बना देते हैं। यह कहानी प्रेम की कहानी है, जिसमें प्रेम का एक अनन्य शाश्वत स्वर्गीय रूप है, जिसमें वासनात्मक कुंठा नहीं है। युद्धभूमि में, जहां देशभक्ति और कर्तव्यपरायणता की वेदी पर जीवदान किया जा रहा हो वहां भी, अपने कर्तव्य पर दृढ रहते हुए प्रेम के प्रति समर्पण का अलौकिक भाव इस कहानी में है। जो कभी कहा गया था उसे कर दिखाने और प्रेम की मर्यादा की रक्षा का यह कहानी जीवित, जागृत, कलात्मक उदाहरण है। जिन स्थानों, घटनाओं, स्थितियों और परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उसे जीवंत, सहज और बारीकी के साथ ऐसी भाषा में प्रकट किया गया है कि सारे के सारे दृश्य अपने देशकाल और भाषा में यथावत् मूर्तिवत् हो सवाक् स्पष्ट प्रकट होते हैं। भाषा भी पात्र, स्थान और स्थिति के अनुकूल है। भाषा के धनी और मर्मज्ञ विद्वान् गुलेरी जी तो थे ही, इस कहानी में नाटकीयता, भावुकता, आदर्शोन्मुखता, कौतूहल तथा कर्तृत्व का उदात्त आदर्श यथार्थ की भूमि पर प्रकट करने में श्रेष्ठ कलाकार की भूमिका में भी वे सफल रहे। यह कहानी अपनी विशिष्टता के कारण एक स्वर मे हिंदी की अनन्य, अभूतपूर्व, श्रेष्ठ कहानी मानी जाती है और सदा नई एवं ताजी लगती है।

जी० पी० श्रीवास्तव हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक हैं। सन् १९११ में 'इंदु' में इनकी पहली कहानी 'पिकनिक' छपी। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों का हास्य और व्यंग्य गंभीर धरातल पर न होकर सतही और गँवारू ढंग का है।

व्यंग्य और विनोद आधुनिक साहित्य में गंभीर रचना प्रक्रिया के जीवंत अंग हैं। इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन द्वारा लोगों को हँसाना था, जबकि हास्य और व्यंग्य का उद्देश्य स्मिति के साथ परिष्कार की चेतना का उद्‌बोध कराना भी है। हास्यास्पद चीजों को लेकर भद्दीभ्रा रचना, लोगों को हँसा देना तथा असंतुलित, अश्लील घटनाओं एवं कार्यव्यापारों को प्रस्तुत कर कुछ क्षणों के लिये सस्ता मनोरंजन करा देना उनकी कहानी का उद्देश्य रहा है। किसी की खिल्ली उड़ाना या जोकर के रूप में किसी को उपस्थित करना हँसी का कारण बन सकता है; किंतु गंभीर हास्य में तो बड़ी बारीक दृष्टि, मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जीवन की चेतना तथा ऐसी पारखी दृष्टि चाहिए जो अंतर को देख परखकर ऐसा दृश्य उपस्थित करे कि जिनपर चोट हो वे भी उनके कायल हो जायँ। हास्य रस की कहानियों में यह क्षमता द्विवेदी युग के बाद अन्नपूर्णानंद और बेढब जी की कहानियों में प्रकट हुई।

'इंदु' के माध्यम से सन् १९१३ में 'कानों में कँगना' लेकर राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह कहानी के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए। राजा साहब की कहानियाँ आदर्शवादी हैं। इन्होंने घटनाप्रधान रसात्मक कहानियाँ लिखीं जिनमें आदर्श और नैतिकता है। इनकी कहानियों में धार्मिक विवाद, राजनैतिक आंदोलन एव सामयिक सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। भावप्रधान भाषा लिखनेवाले राजा साहब अपने पात्रों का चयन अपने समाज से करते हैं और सभी प्रकार के चित्र और चरित्र लेते हैं। अपनी कहानियों में वे अत्याचार से पीड़ित नारी वर्ग के संरक्षक और संपोषक भी हैं। उनकी कहानियों में भावुकता के साथ ही आदर्श की निष्पत्ति होती है। वे इस युग के ऐसे सफल कहानीकार हैं जिन्होंने बहुत बड़ी संख्या में कहानियाँ लिखीं। वर्णनात्मक शैली के ये लेखक थे किंतु आत्मकथा-परक और संस्मरणात्मक शैली में भी इन्होंने कहानियाँ लिखीं।

हिंदी कथा के क्षेत्र को अपने अवदान से ज्योतिर्मान करनेवाले प्रेमचंद का प्रादुर्भाव हिंदी में 'सौत' कहानी से होता है। यह कहानी सन् १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकशित हुई। प्रेमचंद जी की कुल २५० से अधिक कहानियाँ उपलब्ध हैं जिनमें इस विवेच्य काल में 'सप्तसरोज' कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। ये कहानियाँ 'सरस्वती' और 'जमाना' में छपीं। इस आलोच्य काल में उन्होंने 'सौत', 'सज्जनता का दंड', 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'उपदेश', 'ईश्वरी न्याय', 'दुर्गा का मंदिर' और 'बलिदान' आदि कहानियाँ लिखीं। कुछ कहानियाँ इनकी पहले उर्दू में प्रकाशित हुईं फिर हिंदी में। वे भी इसी कालखंड की हैं जिनमें से अनेक महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचंद जी ने हिंदी कहानी साहित्य को नई दिशा दी

और उसके क्षितिज का विस्तार किया। वे कला को माध्यम माननेवाले, सामाजिक चेतना से पूर्ण जीवन के समर्थक और आदर्श के प्रतिष्ठापक थे। वे सुगठित कहानियों के, जो लोकजीवन से जीवंत हैं और जिनमें जीवन के मंगल की प्रतिष्ठा तथा एकान्वित प्रभाव है, जनक और प्रतिष्ठापक थे। उनकी कहानियों का प्रारंभिक काल द्विवेदी युग है। प्रारंभ में उन्होंने घटनाप्रधान कहानियाँ लिखीं जिनमें चरित्र तो है, किंतु चरित्रचित्रण का वह गंभीर कौशल इनमें नहीं है जो बाद को इनकी कहानियों में दिखाई पड़ा। प्रेमचंद जी सुधारवादी आंदोलन और राजनीतिक दृष्टि से उद्बुद्ध व्यक्तित्ववाले समाज के सजग प्रहरी थे। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी इस कहानीकार में समस्या के निदान का भाव भी था। उन्होंने घटना और चरित्रप्रधान कहानियों के अतिरिक्त भावप्रधान कहानियाँ भी लिखीं। कहानी लेखन में किसी एक शैली से वे बँधे नहीं थे अपितु कहानी लेखन की जितनी शैलियाँ हो सकती हैं, सबका उपयोग और प्रयोग उन्होंने समय समय पर किया। उन्होंने समाज, राजनीति, लोकजीवन, धर्म, कर्मकांड, इतिहास, पुराण, रीति कुरीति सभी क्षेत्रों से कहानियों के लिये उपादान जुटाया। देश की सारी जीवंत समस्याओं और गुण तथा अवगुण को अपनी कहानियों का विषय बनाया। पारिवारिक जीवन, संयुक्त-परिवार-प्रथा, घूसखोरी, जमींदारी, महाजनी वृत्ति, प्रेम, त्याग, बलिदान, समर्पण, मुक्ति की पुकार उनके प्रिय विषय हैं। आलोच्य काल की कहानियों में मूलतः उन्होंने सामाजिक समस्याएँ उठाई हैं। उन्होंने अपनी पहली कहानी 'सौत' में बहुविवाह से उत्पन्न कलहपूर्ण अशांत परिवार का चित्रण किया है। 'उपदेश' में जमींदारी प्रथा का विवेचन है तथा 'नमक का दारोगा' और 'सज्जनता का दंड' घूसखोरी की समस्या से संबद्ध हैं। 'पंच परमेश्वर' सद्गुण की नियामिका है। 'रानी सारंधा', 'गरीब की हाय', 'बेटी का धन', 'परीक्षा' आदि कहानी में मानवीय गुण, वीरता, त्याग, राष्ट्रीयता के सद्गुणों की महिमा उजागर की गई है। । इस युग की कहानियाँ बोलचाल की भाषा में लिखी गई हैं जिनमें उर्दू के शब्द भी काफी आते हैं। मूलतः प्रेमचंद जी उर्दू से हिंदी की ओर धीरे धीरे बढ़े इसलिये ऐसा होना स्वाभाविक था किंतु उनकी भाषा में रवानी है तथा सजीवता और सहजता भी; साथ ही भाषा मुहावरेदार भी है। प्रेमचंद जी ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने युग को दृष्टि दी। सामाजिक संवर्धन, राष्ट्र तथा लोक-मंगल के आदर्श से वे सदा उद्दीप्त रहे। आदर्शों के धरातल पर उन्होंने सामाजिक कहानियों का ऐसा सिलसिला प्रारंभ किया जो हिंदी कहानी के विकास के लिये वरदान सिद्ध हुआ।

श्री विश्वंभरनाथ जिज्जा की पहली कहानी 'इंदु' में अप्रैल, १९१५ में प्रकाशित हुई। कुछ लोग यह मानते हैं कि इनकी पहली कहानी 'परदेशी' थी जो

सन् १९१२ में प्रकाशित हुई। इनकी कहानियाँ 'इंदु' के अतिरिक्त 'स्त्री दर्पण', 'हिंदी मनोरंजन' और 'गल्पमाला' में भी प्रकाशित हुईं। इन्होंने अपनी कहानियों में यथार्थ के धरातल पर मनोरंजन की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया। इन्होंने सामाजिक कहानियाँ लिखीं जिनमें नारी का विविध रूप और चरित्र उपस्थित किया गया है। ये आदर्शोन्मुख यथार्थ के हामी वर्णनात्मक शैली के लेखक थे। इनकी कहानियों में नाटकीय तत्व है तथा भाषा सहज सरल और लोकप्रचलित शब्दों से भरपूर। प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार ये माने जाते हैं, यद्यपि इनका उद्भव हिंदी क्षेत्र में उनसे पहले हुआ था।

पं० ज्वालादत्त शर्मा घटनाप्रधान कहानी लेखक हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों का निदर्शन इन्होंने अपनी सामाजिक कहानियों में सुधारवादी दृष्टि से किया है। इन्होंने अपनी कहानियों में समस्याएँ ही नहीं उठाई हैं, अपितु उनका समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इनकी भाषा सरल और मुहावरेदार है। मूलतः ये वर्णनात्मक शैली के कहानीकार हैं, लेकिन पत्रात्मक और आत्मकथा-परक शैलियों को भी इन्होंने कुछ कहानियों में अपनाया। शिल्प की दृष्टि से ये बहुत उच्च कोटि के कहानीकार नहीं हैं, तो भी घटनाप्रधान सुधारवादी कहानी लिखनेवालों में इनका स्थान है।

छबीलेलाल गोस्वामी सन् १९१५ में 'विमाता' कहानी के माध्यम से 'सरस्वती' द्वारा प्रकट हुए। इनकी 'विमाता' कहानी प्रसिद्ध है। इनकी कहानी का लक्ष्य मनोरंजन है। ये वर्णनात्मक कहानी लिखते थे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से विश्वंभरनाथ शर्मा उर्दू से हिंदी के क्षेत्र में आए। सन् १९१६ में 'सरस्वती' में उनकी पहली कहानी 'रक्षाबंधन' प्रकाशित हुई। वे विशिष्ट सामाजिक कहानीकार थे जिन्होंने अपने जीवनकाल में लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं। कथा को महत्व देनेवाले घटनाप्रधान कहानीकार 'कौशिक' जी हैं। चरित्र की अपेक्षा घटनाओं का चित्रण उनकी कहानियों में अधिक मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है। वे मन के अंतर्द्वंद्वों का अपनी कहानियों में बारीकी से उद्घाटित नहीं कर पाए हैं, न उनका विश्लेषण। लेकिन कहानी कहने का उनका तरीका कलात्मक था। घटनाएँ उनकी कहानियों में चरित्र की नियामिका हैं और उनके पात्र हृदयपरिवर्तन में विश्वास रखनेवाले। इनकी भाषा लोकप्रचलित मुहावरेदार भाषा है। इन्होंने यथावश्यकता हास्य और व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। अपने युग के ये जाने माने ही नहीं, श्रेष्ठ कहानीकार थे। इनकी कहानियों में नाटकीयता है और संवादों में छटा। इनके संवाद कथानक तथा कहानी को बल देनेवाले हैं। ये प्रेमचंद जी की परंपरा के घटनाप्रधान आदर्शोन्मुख विशिष्ट कथाशिल्पी हैं। श्री सुदर्शन की कहानियाँ भी इसी वर्ग की हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की पहली कहानी 'झलमला' 'सरस्वती' में सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। 'नंदिनी' और 'अन्नपूर्णा के मंदिर में' भी कहानियाँ उसमें ही छपीं, आत्मकथात्मक शैली में लिखनेवाले बख्शी जी आदर्शवादी कहानीकार थे जिन्होंने प्रेम के विविध रूपों की व्यंजना संस्कृतप्रधान तत्सम शब्दावली में की।

चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी 'गृहलक्ष्मी' सन् १९१६ में प्रकाशित हुई और निरंतर उसके बाद ये लिखते रहे। इन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखीं। इन्होंने भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रबल मानवीय पक्षों और नारी के त्याग, बलिदान और समर्पण के चित्रों को अपनी कहानियों में उपस्थित किया। सामाजिक कहानियों में इन्होंने यथार्थ की प्रतिष्ठा की है जिनमें इन्होंने समाज के बीभत्स और कुत्सित रूप को भी उभारकर अति यथार्थ के धरातल पर रखा है। इस दृष्टि से पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के निकट वे पड़ते हैं और ऐतिहासिक कहानियों में 'प्रसाद' जी की धारा के। इनकी कहानियो में नाटकीयता है। इनकी भाषा व्यावहारिक, सरल और प्रवाहपूर्ण है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कहानी सर्वप्रथम 'सरस्वती' में सन् १९१६ में छपी। इनकी दूसरी कहानी 'संतू' दो वर्ष बाद 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई। 'संतू' कहानी अपने युग के परिप्रेक्ष्य में एक श्रेष्ठ कहानी थी और उसके भीतर राष्ट्र की स्वाधीनता के संकल्प को पूरा करने का मनोभाव है। स्वतंत्रता के संघर्ष की दीपशिखा निरंतर जलती रहे, इस भाव की चिंता यह कहानी प्रकट करती है। 'नवीन' जी केवल कवि और कहानीकार ही नहीं, स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी और योद्धा भी थे। उनके इस जीवन के संघर्ष का अंतर्द्वंद्व इस कहानी में भावात्मक ढंग से नाटकीय आर्जव लिए प्रकट हुआ है। अंतर्द्वंद्व की सफल अभिव्यक्ति उसमें हुई है। अपने युग की यह एक श्रेष्ठ भावनाप्रधान कहानी है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और काव्यात्मक है।

द्विवेदी युग का कहानी साहित्य अपनी विशेषताओं और गुणधर्म के कारण भावी विकास की दिशा के लिये नींव का पत्थर बना और इसमें दो व्यक्तियों और दो पत्रों का महत्तम योगदान है। महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के माध्यम से और जयशंकर प्रसाद 'इंदु' के माध्यम से इस क्षेत्र में सर्जनकारों का एक वर्ग तैयार करने में सफल हुए जिन्होंने इस क्षेत्र में भावी हिंदी कहानी साहित्य के उन्नयन और विकास के लिये राजपथ का निर्माण किया और अपनी कृतियों से हिंदी कहानी साहित्य को संपुष्ट और विकसित किया।

कविता

द्विवेदी युग की कविता का शुभारंभ भाषायी आंदोलन से हुआ, यद्यपि भारतेंदु युग मे ही यह यत्न प्रारंभ हो गया था कि खड़ी बोली में भी काव्य की रचना की

जाए। द्विवेदी युग में खड़ी बोली में ही रचना की जाए, यह आंदोलन था। काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग शताब्दियों से हो रहा था और उसके स्थान पर उसमें नई भाषा और उस भाषा का उपयोग करने का संकल्प जो अद्य सौ वर्ष पुराना भी नहीं था, प्रतिष्ठित एवं मूर्तित हुआ। ब्रजभाषा बचे खुचे रूप में समाप्ति की ओर अग्रसर हुई क्योंकि वह युगसापेक्ष नहीं रह गई थी। ऐसी स्थिति में उसके प्रेमियों और निष्णात शिल्पियों का संघर्ष नए लोगों से अनिवार्य था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल में श्रीधर पाठक खड़ी बोली के काव्य को रूप दे रहे थे। संस्कृत के वृत्त और छंद तथा लावनी और उर्दू के छंदों पर यह प्रयोग चल रहा था। उर्दू हिंदी की एक शैली थी, इसलिये उसके छंदों का विधान खड़ी बोली को काव्य का उपयुक्त माध्यम बना सकेगा, इस मान्यता पर प्रयोग निरंतर चल रहा था। किंतु संस्कृत का प्रेम और हिंदी का उसका उत्तराधिकार इस बात के लिये उत्प्रेरित कर रहा था कि संस्कृत के छंदों और वृत्तों में ही हिंदी को ढालना उसके संस्कार और रुचि के अनुकूल होगा। इसलिये श्रीधर पाठक ने 'एकांतवासी योगी' को जहाँ एक ओर लावनी में ढाला वहीं इस दिशा में स्वर और लय के अनुसार खड़ी बोली को भी उसके समीप के नए छंदों में ढालने का यत्न किया। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और लाला भगवानदीन ने भी यही रास्ता अपनाया। मैथिलीशरण गुप्त ने अधिकांश रचनाएँ संस्कृत छंदों और वृत्तों में की हैं। श्रीधर पाठक केवल उर्दू शैली-वाले ही नहीं थे, वे तो खड़ी बोली के लिये छंद व्यवहार का रास्ता ढूंढ़ रहे थे। इसलिये 'ऋतुसंहार' आदि में संस्कृत छंदों का उन्होंने सफल उपयोग किया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी काव्य में खड़ी बोली की प्रतिष्ठापना के सर्वसमर्थ नेता थे। वे अपने काव्य द्वारा यह सिद्ध कर रहे थे कि हिंदी काव्य के लिये संस्कृत छंद अधिक उपयुक्त हैं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० रूपनारायण पांडेय और श्री मैथिलीशरण गुप्त उनके मार्ग का अनुगमन कर रहे थे और इस तथ्य की सार्थकता सिद्ध कर रहे थे। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' ने इनकी मान्यता को सिद्धि प्रदान की। हरिऔध जी ने संस्कृत छंदों को माध्यम बनाकर मांजा और गुप्त जी ने संस्कृत वृत्तों को खड़ी बोली में सवारा। ब्रजभाषा के कवित्त और सवैए में भी खड़ी बोली को ढालने का यत्न किया गया, यद्यपि ब्रजभाषा का निखार न आ सका। छंद के संबंध में यह सिद्ध हो गया कि संस्कृत, ब्रजभाषा और उर्दू, जो देश की प्रचलित काव्य भाषाएँ हैं, सबके छंदों में खड़ी बोली में रचना की जा सकती है। केवल यही नहीं, नई अवतारणा भी इस क्षेत्र में की जाने लगी। श्रीधर पाठक का नाम इस क्षेत्र में शीर्षस्थ है। खड़ी बोली में स्वच्छंद छंद के वे आदि प्रयोगकर्ता थे। मैथिलीशरण गुप्त और उनके अनुज सियारामशरण गुप्त ने भी खड़ी बोली के लिये नए वृत्तविधान किए और वे उसके सर्जनहार भी बने।

इन प्रयोगों द्वारा प्राचीन कविताप्रेमियों का यह आरोप निस्सार सिद्ध हुआ कि खड़ी बोली छंद के क्षेत्र में दरिद्र है इसलिये यह काव्य की भाषा नहीं बन सकती। साथ ही आगामी युग की काव्यसर्जना के लिये नए छंदों का द्वार भी उसके माध्यम से खुला। छायावाद का आरंभ द्विवेदी युग के अंत में हुआ और भाव वहन करने के लिये इतने विविध छंदों की खोज और सर्जना हुई कि काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली माधुर्य, ओज और प्रसाद से संसार की समर्थ काव्यभाषा के रूप में प्रकट हुई और भारतीय कुल परिवार की भाषाओं में भी सशक्त भावाभिव्यक्ति का तेजस्वी माध्यम भी वह बनी।

जब नई भाषा में काव्यरचना होती है तो उसे प्रतिमानीकरण की दिशा में जाने पर मार्ग में मिलावटी शब्दरचना का सहारा लेना पड़ता है। भाषा पर अधिकार प्राप्त होने की बात उस समय नहीं होती जब नई भाषा पुरानी भाषा से अलग हो रही हो। ऐसी स्थिति में नई भाषा में पुराने शब्दव्यवहार स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यह हिंदी ही नहीं, सारी भाषाओं के इतिहास की कहानी से स्पष्ट है। इसलिये प्रारंभ की खड़ी बोली की कविताओं में भाषा की अराजकता मे स्पष्ट दर्शन होंगे। ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी के शब्द खड़ी बोली के शब्दों के वहाँ सहचर दिखाई पड़ेंगे और अपने मौलिक रूप में वहाँ विराजते मिलेंगे। शब्दप्रयोग यदि ठीक ठिकाने के नहीं हैं तो पद की शुद्धता की बात तो उठती ही नहीं। जहाँ ऐसा होगा वहाँ काव्य का बहिरंग शिथिल और विशृंखल लगेगा ही और उस युग में कहीं कहीं तो तुक और अनुप्रास का मोह इस विकार को विस्तार देने में और भी सहायक हुआ है। इस दिशा में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सच्चे संपादक और आदर्शवादी निरंकुश आचार्य की तरह कार्य कर खड़ी बोली के काव्य की भाषा के परिष्कर्ता के रूप में आगे आए। इन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से शुद्ध भाषा के काव्यलेखन को प्रोत्साहन दिया और स्वयं कवियों की कविताओं को अपने जाँगरतोड़ श्रम और प्रतिभा से सँवारकर नई दिशा दी। काव्य की इस विशृंखलता, अराजकता और अव्यवस्था के वे नियामक और शास्ता थे। जो प्रारंभ में निर्माण का काम करता है वह सारी सिद्धियों का जनक नहीं हुआ करता, सिद्धि के के पथ का मंत्र ऐसे लोगों द्वारा जागृत कर देना ही बहुत बड़ा श्रेयस्कर कार्य होता है। द्विवेदी जी इस दिशा में अपनी कमजोरियों के बावजूद सिद्ध और सफल रहे। वे संस्कृतबहुलता और समस्त-पद-प्रयोग की आदत की लाचारी के कारण उस युग की कविता को वह ठावँ नहीं दे सके जो हिंदी के काव्य को उनके बाद मिला। पर रास्ता उन्होंने बनाया और दिखाया। द्विवेदी जी ने काव्य को रूप तो दिया, किंतु

उसे रस वे न दे पाए। उन्होंने बहिरंग को सँवारा, अंतरंग या उस भावलोक की वह सृष्टि नहीं कर सके जो संस्कृत, प्राकृत या ब्रजभाषा में है।

इन रचनाकारों में श्रीधर पाठक का अवदान अपने स्थान पर अनोखा है। श्रीधर पाठक का नाम 'एकांतवासी योगी', 'श्रांत पथिक' तथा उनकी प्रकृति संबंधी रचनाओं को लेकर है। ब्रजभाषा में भी उन्होंने 'ऊजड़ ग्राम' की रचना की। पहले बताया जा चुका है कि छंद के क्षेत्र में उन्होंने नवोन्मेषशाली कार्य किया। इन्होंने व्यावहारिक और संस्कृतनिष्ठ दोनों प्रकार की भाषा का उपयोग काव्य में किया। कविता के विषय को उन्होंने विस्तार दिया। सामाजिक कुरीतियों से संबद्ध विषयों पर भी उन्होंने कविताएँ लिखीं। खड़ी बोली काव्य के प्रारंभिक युग में उन्होंने प्रकृतिप्रेम का, जो काव्य का एक उपेक्षित तत्व हो गया पर सदा से भारतीय काव्य की आराधना का जीवंत आधार था, पुनः योग हिंदी कविता से कराया। प्रकृति से संबद्ध कविताएँ बाद में हिंदी काव्य की मूल चेतना से जुड़ीं। उसका उद्गम पाठक जी की कविताएँ हैं।

हरिऔध जी इसी युग में काव्य के क्षेत्र में अवतरित हुए। 'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही वनवास' के माध्यम से उन्होंने पुराण पुरुषों को युगाराध्य बनाने की नई दृष्टि से उपस्थित किया। वर्तमान जीवन से अतीत को उन्होंने जोड़ा और मानवीय धरातल पर काव्य के नायक और नायिकाओं को उतारा। हरिऔध जी का अधिकार काव्य के क्षेत्र में सभी प्रकार की भाषाओं पर था और जहाँ संस्कृतबहुल पदावली और वृत्तों में उन्होंने 'प्रियप्रवास' का सफल कौशल प्रदर्शित किया, वहीं 'चोखे चौपदे' के द्वारा मुहावरेदार ठेठ हिंदी में भी काव्यरचना का चमत्कार उन्होंने दिखलाया। 'प्रियप्रवास' की पदावली मधुर है और उसमें सौदर्य तथा लालित्य है। हरिऔध जी ने हिंदी काव्य को उस युग में अपने कृतित्व से एक कदम और आगे बढ़ाया, क्योंकि रसवत्ता की जहाँ तक बात है, उसके उद्रेक की महिमा का प्राकट्य हरिऔध की रचनाओं से खड़ी बोली मे हुआ।

मैथिलीशरण गुप्त जी भी 'सरस्वती' के माध्यम से १९०३ में काव्यजगत् में प्रकट हुए और उसके बाद उनकी रचनाएँ दिनोत्तर विकासमान हो प्रगति के पथ पर बढ़ती गई। स्फुट काव्य, प्रबंध काव्य, मुक्तक सब साथ साथ लिखते रहे और निरंतर विकास की दिशा में आगे बढ़ते रहे। 'भारत भारती' की रचना ने उनकी कीर्ति को मानमंडित किया। वह देश भर में युवकों के लिये प्रेरणा का ग्रंथ बना। यह रचना राष्ट्रीय चेतना की संदेशवाहिका के रूप में मानवती हुई। युग की अंतश्चेतना का बोध इसके माध्यम से जनमन को हुआ। अतीत की विभूति वेदना के साथ वर्तमान पतन का चित्र इसके माध्यम से प्रस्फुटित हुआ। यद्यपि काव्यकाल की दृष्टि से यह

रचना उच्च कोटि की नहीं है, तथापि सुषुप्त चेतना जगाने के लिये यह कृति रंगमंच बनी। गुप्त जी के काव्य में विषयों की व्यापक विविधता है। इतने बड़े आयाम के चित्रफलक को अपनी काव्यतूलिका से रँगने का यत्न गुप्त जी ने किया जितना क्षेत्र-विस्तार अन्य किसी कवि में विरल ही है। उनकी उस युग की ऐसी राष्ट्रीय रचनाओं का संकलन 'मंगल घट' में भी हुआ। संस्कृति, राष्ट्रभक्ति, भारतीयत्व, मानवीय स्नेह, वीरपूजा, आदर्श वंदना, सत्य, अहिंसा, आदर्श पौराणिक तथा वीर ऐतिहासिक पुरुषों तथा उच्चादर्शों के प्रति उनका काव्य तथा जीवन समर्पित है। वे आदर्शों के प्रति समर्पित ऐसे रचनाकार हैं जो अपने युग के विधायक काव्य द्वारा बराबर अपनी कविता को प्रौढ़तर धरातल पर रखने का उत्तरोत्तर यत्न करते रहे। वे देश और काल के सदा साथ रहनेवाले इस कालखंड के प्रति श्रेष्ठ कवि हैं। 'रंग में भंग,' 'मंगल घट,' 'जयद्रथ बध,' 'विकट भट,' 'गुरुकुल', 'किसान,' 'यशोधरा,' सिद्धराज,' 'पंचवटी,' 'द्वापर,' और 'साकेत,' सभी इन तथ्यों के दृष्टांत हैं। वे महान् राष्ट्रीय कवि थे और युग के प्रति समर्पित अपने ढंग के अनूठे सांस्कृतिक कवि भी।

उस युग में पंडित कवि रामचरित उपाध्याय ने भी ऐतिहासिक महत्व का काम किया है। संस्कृत की शैली पर लिखा गया 'रामचरित चिंतामणि' उनका प्रबंध काव्य भाषावैदग्ध्य और अभिधान शक्ति के कारण विशेष महत्व का है।

लोचनप्रसाद पांडेय की रचनाओं में रसात्मकता तो है, किंतु भाषायी निखार नहीं है। जिन कवियों की चर्चा की गई है वे द्विवेदी युग के विकास के सोपान हैं। किंतु इन कवियों के अतिरिक्त अनेक और भी काव्य के स्तंभ हैं जिनका अपना महत्व है। रामनरेश त्रिपाठी ऐसे ही लोगों में थे। उनकी कृति 'पथिक' का नायक जीवनसंघर्ष से पलायित हो प्रकृति की गोद का आश्रित हुआ। निराश भावुक मन लोक और देशदर्शन के बाद असहयोग आंदोलन का समर्थक हुआ। स्वयं मृत्युदंड पाने के उपरांत उसकी पत्नी और पुत्र स्वयं अपनी बलि चढ़ते हैं। जनविद्रोह होता है और देश में सुख समृद्धि का राज्य होता है और अनाचार और बंधन से मुक्ति। देशभक्ति के भाव से प्रेरित यह रचना भाव का सूक्ष्म रूपविधान करती मिलती है और इतिवृत्तात्मक शैली से हिंदी को इस काव्य द्वारा दूर ले जाकर भावप्रवणता से संपृक्त कराती है। इसके पूर्व रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' नामक काव्य लिखा था। यह काव्य भी देशप्रेम की भावना से मंडित है। इस रचना का साध्य लोकसेवा, लोककल्याण और वसुधैव कुटुंबकम् की भावना है। दोनों काव्य कल्पनाप्रधान है किंतु वे उपदेश की पद्धति से विरत हो काव्य के गुण से मंडित हैं। इसलिये उनमें सरसता है। अपने युग के काव्य से अलग रूप के वे दीखते हैं। उन्होंने स्फुट काव्यों की भी रचना की। वे अपने युग के रससिद्ध कवि थे।

हिंदी काव्य में बाद में नया आर्जव प्रस्थापित करनेवाले बाबू जयशंकर प्रसाद भी इसी युग में आलोक में आए। आधुनिक हिंदी के वे सर्वोच्च शिखर हैं। १९०६ में ब्रजभाषा की कविता के माध्यम से, जो परंपरागत कविता है, वे 'भारतेंदु' पत्रिका द्वारा प्रकट हुए। उनकी प्रभा का विस्तार 'इंदु' के प्रकाशन के साथ ही हुआ। 'प्रेमराज्य' में जहाँ प्रेम की व्यापकता की झलक वे देते हैं वहीं इस युग में 'स्वर्गीय संगीत' की रचना भी वे करते मिलते हैं। इस युग में 'चित्राधार', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेमपथिक' तथा 'झरना' की कुछ स्फुट कविताओं की रचना उन्होंने की। वे रचनाएँ अधिकांशतः 'इंदु' और 'जागरण' में प्रकाशित हैं। इनकी प्रारंभिक रचनाएँ 'चित्राधार' में संकलित हैं जिनमें स्फुट प्रबंध और स्फुट रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में उनके विशाल काव्य-रूप का परिचय तो नहीं मिलता, किंतु उनके नवोन्मेष का बीजबिंदु अवश्य है। उनकी भाषा में अपेक्षाकृत दिनोत्तर निखार दिखाई पड़ता है। उनके काव्य में देशभक्ति का स्वर तथा नारी के चित्र का उज्वल रूप भी सामने आता है। भाव की प्रौढ़ता और प्रेम तत्व की प्रधानता तथा आनंद की महिमा का आख्यान उनके काव्य में है। 'करुणालय' का प्रकाशन सन् १९१२ में 'इंदु' में हुआ। यह पद्यबद्ध कहानी है और इसका शिल्प नाट्योन्मुख है। कथा को नया भावगांभीर्य प्रसाद जी ने 'करुणालय' में दिया है। यह प्रसाद जी की प्रायोगिक कृति है जो अतुकांत छंद में लिखी गई। इसकी प्रेरणा ब्लैंक वर्स या बँगला के अमित्राक्षर से मानी जा सकती है। यह कृति प्रसाद जी के प्रौढ़ काव्यजगत् में प्रवेश का भी संकेत देती है। उनकी प्रतिष्ठित रचना 'महाराणा का महत्व' सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुई। महाराणा प्रताप की महत्ता प्रदर्शित करनेवाले इस ग्रंथ में अकबर के युग और उस युग के चरित्रों का उदात्त चित्रण है। प्रकृति यहाँ स्वरूपवान होकर प्रसाद के भावी काव्यपथ का पता बताती है। प्रसाद की ये प्रारंभिक कृतियाँ इतिहास, पुराण से जीवन ग्रहण करती हैं किंतु उच्चादर्श, राष्ट्रप्रेम और प्रेम को उदात्त धरातल पर रखती हैं। भावों के मूर्तीकरण की शुरूआत भी इनकी रचनाओं मे होती है। युगबोध का भाव कवि में मिलता है। इतिवृत्तात्मकता से त्राण पा रसात्मकता और नए भाव आर्जव की अभिव्यक्ति के लिये व्याकुलता भी उनके इस युग के काव्य में दिखाई पड़ती है। मानवीय धरातल पर काव्य को उतारने का वे प्रयत्न करते हैं। प्रसाद जी के काव्य में जिन गुणों का विस्तार आगे हुआ उनके आदि तत्व भी यहाँ दिखाई पड़ते हैं।

पं० नाथूराम शंकर युग के विशिष्ट कवि थे। ये आर्य समाज की विचारधारा से प्रभावित और उसके पोषक थे। द्विवेदी जी इन्हे बहुत मान देते थे। वे अपने

समय के जाने माने साहित्यकार थे। गांधी जी की विचारधारा से प्रभावित और राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध थे। ये सिद्धांतों के पक्के और अपने आदर्शों पर इतने दृढ़ थे कि अपनी पुरानी शृंगारी कविताओं को इन्होंने स्वयं नष्ट कर दिया। इनकी सारी रचना 'शंकर सर्वस्व' के नाम से प्रकाशित हुई है। पहले ये रचनाएँ 'शंकर सरोज', 'अनुराग रत्न', 'गर्भरंडा रहस्य', 'गीतावली', 'कविताकुंज', 'कल्प कलेवा' और 'शंकर सतसई' के नाम से प्रकाशित हुई थीं। 'कलित कलेवर' इन्होंने स्वयं नष्ट कर दिया था और 'शंकर सतसई' की अग्निसमाधि अनायास हो गई थी। इनके काव्य का विषय समाजसुधार, पाखंड, सामाजिक अन्याय तथा रूढ़ि का विरोध है। राष्ट्र की चेतना से अनुप्राणित काव्य भी इन्होंने लिखे और उन तत्वों पर सशक्त प्रहार किया जो विषमता, गुलामी, दरिद्रता तथा अशिक्षा के कारण हैं। इनकी कविताएँ हृदय पर चोट करनेवाली व्यंग्यप्रधान तो हैं ही, उनमें काव्य की कला का उत्कर्ष भी है। इनकी कविता में जहाँ आर्य समाज का कट्टर रूप प्रकट हुआ है वहाँ वे कवि न रहकर आर्य समाज के प्रचारक बन गए हैं। इनकी कविता में मुहावरों का अच्छा प्रयोग है, परंतु कहीं कहीं भाषा में व्याकरण की दृष्टि से अनगढ़ता भी है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' इस युग के सुप्रसिद्ध समाजसेवी कवि थे तथा सनातनी व्यक्ति थे। ये सन् १९१५ में गोरखपुर के हिंदी साहित्य संमेलन के अध्यक्ष भी हुए थे। ये प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे और 'मेघदूत' का ललित अनुवाद ब्रजभाषा में 'धाराधर धावन' के नाम से किया था। इन्होंने देशभक्ति, स्वदेशी, सांप्रदायिक एकता, हिंदू विश्वविद्यालय, प्रदर्शनी आदि विषयों पर खड़ी बोली में रचनाएँ कीं। नाना प्रकार की भाषा का इन्होंने अपने काव्य में प्रयोग किया है। ये लक्ष्यपरक कविता लिखनेवाले अपने युग के प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने देश के पुराने वैभव का भी अपनी कविता में आख्यान किया है। पं० लोचनप्रसाद पांडेय और उनके अनुज श्री मुकुटधर पांडेय का अवदान द्विवेदी युग में कविता के क्षेत्र में महत्व का है। 'सरस्वती' के माध्यम से ये हिंदी जगत् के सामने आए और प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं। इन्होंने नैतिकता, राष्ट्रप्रेम, इतिहासगाथा को अपने काव्य का विषय बनाया। इन्होंने प्रकृतिप्रेम संबंधी रचनाएँ भी लिखीं। धीरे धीरे इनकी काव्यकला में सुधार होता गया और दिनोत्तर प्रौढ़ता आती गई। ये अपने समय के जाने माने कवि थे। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' उपनाम 'त्रिशूल' से भी रचना करते थे। ये 'सरस्वती' में लिखनेवाले द्विवेदी युग के विशिष्ट कवि थे जो अभी कुछ समय पूर्व तक वर्तमान थे। इन्होंने कवियों की बहुत बड़ी जमात पैदा की और यह काम उन्होंने अपनी पत्रिका 'सुकवि' के द्वारा किया। वे 'तरंगी' और 'अलमस्त' नामों से भी लिखते थे। उन्होंने अपने काव्य का विषय समस्यापूर्ति से लेकर शृंगार

तक और राष्ट्रीयता से लेकर समाजसुधार तक को बनाया। वे ब्रजभाषा और खड़ी बोली में समान अधिकार से लिखते थे। उनके काव्य का परिप्रेक्ष्य बड़ा व्यापक है और उसमें कौशल, भावुकता एवं सरसता है। लोकगीत भी उन्होंने लिखे हैं। वे द्विवेदी युग के उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित कवि थे जिनके काव्य में रस है।

पं० रूपनारायण पांडेय अपने युग के निष्णात् अनुवादक, प्रतिष्ठित संपादक, लेखक और कवि थे। पहले वे ब्रजभाषा में कविता करते थे, बाद में खड़ी बोली में रसपूर्ण रचनाएँ करने लगे। राष्ट्रीयता और सामाजिकता के साथ ही साथ प्रकृति भी उनके काव्य का विषय है। उनकी कविताएँ भावनाप्रधान तथा सरस हैं और उनके भीतर आत्मचिंतन भी है। उनकी भाषा प्रौढ़ और प्रसाद गुण से संपन्न है।

ठाकुर गोपालशरण सिंह 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी काव्यजगत् में आए। ब्रजभाषा और संस्कृत काव्य का संस्कार उनके ऊपर था। प्रकृति, सौंदर्य, नारी, अध्यात्म और सामाजिक चेतना इनके काव्य का विषय है। इनकी कविताओं में माधुर्य है।

पं० मुकुटधर पांडेय छायावाद के संस्थापक कवियों में से हैं। सन् १९०९ में उनकी पहली रचना प्रकाशित हुई। दर्शन, प्रकृति और प्रेम के वे प्रेमी थे और इस युग के काव्य में स्वच्छंदतावादी कवि के रूप में वे प्रतिष्ठित हैं। इनकी कविताएँ रसपूर्ण हैं तथा इनकी काव्यशैली सहज और प्रसादमयी हैं। इनके काव्य में इनका अंतरपक्ष भी अंकुरित हुआ है। इस युग के अन्य प्रमुख कवि हैं---मिश्रबंधु, कामताप्रसाद गुरु, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, माधव शुक्ल, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, लक्ष्मीधर वाजपेयी, लाला भगवानदीन, केशवप्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर खत्री, गोविंददास। यद्यपि द्विवेदी युग में ही अनेक और प्रतिष्ठित कवियों ने रचना आरंभ कर दी थी, जैसे सुमित्रानंदन पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, राय कृष्णदास आदि ने, तथापि उनका कृतित्व द्विवेदी युग के बाद मानवान् हुआ, इसलिये उनका अध्ययन छायावाद के कवियों के रूप में किया जाता है।

इस युग के कवियों में ब्रजभाषा के अंतिम महान् कवि जगन्नाथदास रत्नाकर हुए जिन्होंने केवल ब्रजभाषा मे रचनाएँ कीं और ब्रजभाषा काव्य को खड़ी बोली के युग मे भी एक नवीन शक्ति और आर्जव से मंडित किया। उनकी समस्त काव्यरचनाओं का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है। इसमें उनकी निम्नलिखित रचनाएँ संकलित हैं---'शृंगार लहरी', 'हिंडोला', 'समालोचनादर्श', 'हरिश्चंद्र', 'कलकाशी', 'शृंगार लहरी', 'गंगालहरी', 'श्री विष्णुलहरी', प्रकीर्ण पदावली, 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक', 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक'। इनमें मौलिक कवित्व दृष्टि थी तथा अभिव्यंजना की दृष्टि

से इनके काव्य का शिल्प बड़ा उच्च कोटि का था । 'गंगावतरण' में ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप सामने आता है और ध्वनिमयता से युक्त ओजभरी पदावली-वाला यह काव्य ब्रजभाषा के प्रबंध काव्यों में प्रथम कोटि का है । 'हरिश्चंद्र' काव्य भी अपनी शैलीगत विशेषता, रसवत्ता और प्रबंध के गुण के कारण महत्व का है । 'उद्धव शतक' घनाक्षरियों में लिखा प्रबंध मुक्तक है जिसके विभिन्न छंद स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । 'उद्धव शतक' की अलंकार योजना तथा अभिव्यंजना कौशल अनूठा है । स्फुट पदों का जहाँ तक संबंध है, 'समालोचनादर्श' में उनके अनुवादक रूप की प्रौढ़ भव्यता तथा अन्य कविताओं में रसात्मकता तथा ब्रजभाषा काव्य के घनीभूत संस्कार का नव आर्जव है । बीसवीं शती में ब्रजभाषा के वे अपने ढंग के अकेले कवि हैं और यह कहा जाय कि ब्रजभाषा के अंतिम महाकवि हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

द्विवेदी युग के काव्य ने खड़ी बोली की हिंदी कविता की पूर्ण प्रतिष्ठापना की । कविता को समाज और जीवन के विराट् सत्य से जोड़ा । काव्य को नया आयाम दे लगभग हजार वर्ष की काव्यपरंपरा को नवीन व्यापक धरातल पर रखा । द्विवेदी युग के अंतिम समय में छायावाद का उद्भव हुआ जिसने खड़ी बोली के काव्य को माधुर्य और रस प्रदान किया । हिंदी के उन महान् शिखरों का इस युग में प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने खड़ी बोली की कविता को अपने अवदान से महान् बनाया । कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युग का अवदान जिस सार्थकता की स्थापना करता है उसकी सिद्धि के माध्यम से हिंदी और विशेषकर खड़ी बोली का काव्य संसार के प्राणवान् काव्यों में अधिष्ठित होने की दिशा में महान् प्रयोगशाला है जिसकी उपलब्धि मैथिली-शरण गुप्त, हरिऔध हैं और जिसका भविष्य प्रसाद, पंत और निराला हैं ।

द्विवेदी युग में आधुनिक हिंदी साहित्य की सभी विधाओं की नींव ऐसे धरातल पर पड़ी जो गौरवशाली है और उसकी चेतना ने भविष्य की साहित्यरचना को सभी क्षेत्रों में ऐसी शक्ति और ऊर्जा प्रदान की कि हिंदी का साहित्य भारत में ही नहीं, विश्व के साहित्य जगत् में प्रतिष्ठाप्राप्ति का अधिकारी हुआ ।

अनुक्रमणिका

(क)—रचनाकार

(ख)—रचनाएँ

फ

य

र

ल
